❀ धर्म-विज्ञान ❀

सनातनधर्मके विविध अंगोंपर दार्शनिक
एवं वैज्ञानिक विवेचन

प्रथम खण्ड

द्वितीय संस्करण

लेखक--स्वामी दयानन्द

श्रीविश्वनाथो जयति

धर्म-विज्ञान

प्रथम खण्ड

सनातनधर्मके विविध अंगोंपर दार्शनिक एवं वैज्ञानिक विवेचन
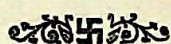
श्रीभारतधर्ममहामण्डलके प्रतिष्ठाता
भगवत्पूज्यपाद श्री १९०८ श्रीस्वामी ज्ञानानन्दमहाराजके सुयोग्य
शिष्य श्रीस्वामी दयानन्दजी महाराजद्वारा विरचित

प्रकाशक—
श्रीभारतधर्ममहामण्डल, शास्त्रप्रकाशक विभाग
लहुराबीर, वाराणसी

 सम्वत् २०३४ (सन् १९७७) [मूल्य–१० रुपया

श्रीविश्वनाथो जयति

धर्म-विज्ञान प्रथम खण्डके

द्वितीय संस्करणकी भूमिका

धर्म-विज्ञानके प्रथम खण्डका यह दूसरा संस्करण प्रकाशित हुआ। इसका प्रथम संस्करण पहले ही प्रकाशित हुआ था।

इसका प्रथम संस्करण श्रीभारत-धर्ममहामण्डलके शास्त्रप्रकाशन-विभागद्वारा सन् १९३९ ई० में प्रकाशित हुआ था। सनातनधर्मका यह अद्वितीय ग्रन्थ भगवत्पूज्यपाद महर्षि १०८ स्वामी श्रीज्ञानानन्दजी महाराजके शिष्य स्वामी दयानन्दजीमहाराजने अपने गुरुदेवके आदेशसे लिखा था। इससे अनेक वर्षों पहले पूज्यपाद श्रीजीमहाराजने "धर्मकल्प-द्रुम" नामक ग्रन्थका प्रणयन किया था। पूज्यपाद श्रीजीमहाराज कहीं किसी ग्रन्थमें अपना नाम नहीं दिया करते थे; अतः उन्होंने इस ग्रन्थके प्रणेताकेरूपमें अपने प्रिय सुयोग्य शिष्य स्वामी दयानन्दजी महाराजका नाम दिया था। यह सनातनधर्मका अद्वितीय ग्रन्थ है; जिसमें सनातनधर्मके सभी अंगप्रत्यंगोंका विस्तृत विवेचन किया गया है। यह वृहद् ग्रन्थ आठ खण्डोंमें प्रकाशित हुआ था और इसमें सनातनधर्मके सभी अंगों एवं उपांगोंका ऐसा विवेचन किया गया है, इस एक ही ग्रन्थके अध्ययनसे सनातनधर्म का कोई भी ज्ञातव्य विषय शेष नहीं रह जाता है। वह ग्रन्थ बहुत वृहद् था और सबके लिये उसका अध्ययन सुलभ नहीं था, अतः पूज्यपादके योग्य प्रिय शिष्य स्वामी दयानन्दजी महाराजने उन्हींका सार लेकर इस धर्म-विज्ञान नामक ग्रन्थका प्रणयन किया। इस ग्रन्थकी यह विशेषता है कि, इसमें सनातनधर्मके सिद्धान्तोंके संबंधमें पश्चिमी देशों-के विद्वानोंके मतोंका भी तुलनात्मक विवेचन किया गया है, जैसे सतीधर्मके विषयमें हमारे विद्वानोंने क्या कहा है और पश्चिमके विद्वानोंने क्या कहा है, आधुनिक अंग्रेजी पढ़े लिखे लोगोंका ऐसा स्वभावसा बन गया है कि, हमारे शास्त्रीय सिद्धान्तोंके संबंधमें अंग्रेज विद्वानोंका भी उद्धरण हो तो वे लोग उसको प्रामाणिक मानते हैं। इसी विचारसे इस ग्रन्थमें विदेशी विद्वानोंके विचार भी उद्धृत किये गये हैं। अतः यह ग्रन्थ अंग्रेजी शिक्षित लोगोंको अपने शास्त्रीय सिद्धान्तोंके संबंधमें आस्थावान् बनानेकेलिये बहुत ही उपयोगी प्रमाणित हुआ है। हिन्दी जगत्में ऐसा ग्रन्थ अबतक प्रकाशित नहीं हुआ है। अपनेको बहुत विद्वान् और पण्डित माननेवाले सज्जनोंको इस ग्रन्थका अवश्य जिज्ञासाभावसे अध्ययन करना चाहिये, ऐसा करनेसे उनकी आध्यात्मिक दृष्टि खुलेगी और आचार, विचार, जन्मसे जाति, पिता-माता एवं कुल परम्परासे प्राप्त होने

वाले मनुष्यके दोष-गुणआदि विषयोंको जानने तथा ज्ञानवृद्धिमें बड़ी सहायता मिलेगी। बड़ेसे बड़े नास्तिक मनुष्योंको भी मृत्युके समय अवश्य ही परलोकके सम्बन्धमें जिज्ञासा उत्पन्न होती है। मृत्युके पश्चात् क्या स्थिति होगी कहाँ जायेगें, क्या भोग प्राप्त होगा इत्यादि जिज्ञासाका उत्तर सनातनधर्मके अतिरिक्त किसी धर्मसिद्धान्तमें प्राप्त नहीं होता है। केवल एक सनातनधर्म है, जहाँ जीवतत्व, ईश्वरतत्व, परमात्मातत्व, परलोकतत्वआदि सभी सूक्ष्म विषयोंका विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है, तथा मनुष्यकी सभी जिज्ञासाओंका समुचित उत्तर मिल जाता है।

नास्तिक हो या आस्तिक मृत्युसे कोई भी इनकार नहीं कर सकता। मृत्यु उस शक्तिका नाम है, जो मूर्ख, पण्डित, शक्तिशाली, शक्तिहीन, राजा तथा रंक सभीको एक दिन अपने अधीन कर ही लेती है। मृत्युके वाद जीवको क्या स्थिति होती है, इसका सम्यक् समाधान सनातनधर्मके अतिरिक्त कहीं भी प्राप्त नहीं होता है।

हमारे शास्त्रीय सिद्धान्तोंके अनुसार एक ब्रह्माण्डमें चतुर्दश भुवन होते हैं। इन चौदह लोकोंमें सात नीचे और सात ऊपर हैं। नीचेसे आठवाँ और ऊपरका पहला भूलोक कहलाता है। भूलोकके चार भाग हैं, इनको मृत्युलोक, प्रेतलोक, पितृलोक और नरकलोक कहते हैं। इन चार लोकोंमें भी केवल मृत्युलोक ही स्थूल है, शेष सभी लोक सूक्ष्म हैं। मृत्युलोक ही सबका केन्द्र है और एकमात्र यही कर्मभूमि भी है शेष तीन सभी भोग लोक हैं। केवल मृत्युलोकमें ही मनुष्य कर्म करनेमें स्वतंत्र है। यहाँ मनुष्य शुभ या अशुभ जैसा कर्म करता है, उसीके अनुसार उसकी दूसरे लोकोंमें गति होती है। पुण्यात्मा जीव अपने पुण्यके फलको भोगनेकेलिये स्वर्गके विभिन्न लोकोंमें जाते हैं। पापी जीव अपने पापके फल विविध दुःख भोगनेकेलिये विभिन्न नरकोंमें जाते हैं। नरकोंके रोमांचकारी दुःखभोगोंका कुछ वर्णन श्रीमद्भागवतमें पाया जाता है।

इस अद्वितीय ग्रन्थमें उपर्युक्त सभी विषयोंका सरल रीतिसे विवेचन किया गया है। सभी शिक्षित नर-नारियोंको इस अद्वितीय ग्रन्थका एकबार अवश्य अध्ययन करना चाहिये और आत्मा, परमात्मा, परलोकआदि विषयोंमें जानकारी प्राप्त करनी चाहिये। ऐसा करनेसे मनुष्य पापसे अपनेको वचा सकेंगे और इस लोक तथा परलोकमें भी सुखी हो सकेंगे।

मंत्री
श्रीभारतधर्म महामण्डल
लहुराबीर, वाराणसी

श्रीकृष्णजन्माष्टमी
सम्वत् २०३४
सन् १९७७ ई०

श्रीविश्वनाथो जयति

धर्म-विज्ञान

प्रथम खण्ड

विज्ञप्ति

श्रीजगदम्बाको असीम कृपासे ब्रह्मलीन श्रद्धेय श्रीस्वामी दयानन्दजी महाराजद्वारा विरचित धर्म-विज्ञान नामक ग्रन्थके दूसरे प्रथम खण्ड संस्करणका यह प्रकाशित हो रहा है। इस ग्रन्थके बहुत वृहत् होनेसे और पूरे ग्रन्थके एक साथ निकालनेमें अधिक समय लगनेकी सम्भावना देखकर उसका यह प्रथम खण्ड प्रकाशित किया गया।

ब्रह्मीभूत स्वामीजी महाराजने अपने श्रीगुरुदेवके उपदेशसे "धर्मकल्पद्रुम" नामक वृहद् ग्रन्थको आठ खण्डोंमें लिखकर प्रकाशित किया था। वह महाग्रन्थ सनातनधर्मावलम्बी धार्मिक सज्जनोंकेलिये प्रधान अवलम्बनीय है, परन्तु वह ग्रन्थ अतिवृहत् है और उसका मूल्य भी सर्वसाधारणकेलिये अधिक है, दूसरी ओर देश-काल-पात्रका भी परिवर्तन हो गया है, अतः धर्मकल्पद्रुमका सार संग्रह करके और दार्शनिक युक्ति तथा सायन्सका प्रमाण देकर धर्मशिक्षा देनेकी आवश्यकता होनेके कारण धर्मशिक्षाके पाठ्य पुस्तकरूपसे इस ग्रन्थका प्रणयन किया था और अब पूज्यपाद श्रीमहाराजकी आज्ञासे इस अमूल्य ग्रन्थको संशोधित कर प्रकाशित किया जाता है। इसमें धार्मिक, सामाजिक, आध्यात्मिक, राजनैतिक, नैतिकआदि समस्त विषयोंपर धर्मकी पूर्ण मर्यादाको रखते हुए वर्त्तमान देश-काल-पात्रानुसार यथेष्ट प्रकाश डाला गया है। इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थमें सनातनधर्मके आचारोंपर पश्चिमी सायन्सके अनुसार समग्र विषयोंका विचार किया गया है, जिससे पश्चिमी शिक्षाप्राप्त जिज्ञासुओंके लिये यह ग्रन्थ बहुत ही उपकारसाधन करेगा इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं है। इसमें स्थान स्थानपर पश्चिमी विद्वानोंके विचार उद्धृत करके समस्त विषयोंकी पुष्टि की गयी है और प्रत्येक विषयपर प्राच्य प्रतीच्य तुलनात्मक विचारद्वारा धार्मिक, सामाजिक, और आध्यात्मिक सभी प्रकारके विषय विवेचनको सर्वाङ्ग सुन्दर बना दिया गया है।

वाले मनुष्यके दोष-गुणआदि विषयोंको जानने तथा ज्ञानवृद्धिमें बड़ी सहायता मिलेगी। बड़ेसे बड़े नास्तिक मनुष्योंको भी मृत्युके समय अवश्य ही परलोकके सम्बन्धमें जिज्ञासा उत्पन्न होती है। मृत्युके पश्चात् क्या स्थिति होगी कहाँ जायेगें, क्या भोग प्राप्त होगा इत्यादि जिज्ञासाका उत्तर सनातनधर्मके अतिरिक्त किसी धर्मसिद्धान्तमें प्राप्त नहीं होता है। केवल एक सनातनधर्म है, जहाँ जीवतत्व, ईश्वरतत्व, परमात्मातत्व, परलोकतत्वआदि सभी सूक्ष्म विषयोंका विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है, तथा मनुष्यकी सभी जिज्ञासाओंका समुचित उत्तर मिल जाता है।

नास्तिक हो या आस्तिक मृत्युसे कोई भी इनकार नहीं कर सकता। मृत्यु उस शक्तिका नाम है, जो मूर्ख, पण्डित, शक्तिशाली, शक्तिहीन, राजा तथा रंक सभीको एक दिन अपने अधीन कर ही लेती है। मृत्युके वाद जीवको क्या स्थिति होती है, इसका सम्यक् समाधान सनातनधर्मके अतिरिक्त कहीं भी प्राप्त नहीं होता है।

हमारे शास्त्रीय सिद्धान्तोंके अनुसार एक ब्रह्माण्डमें चतुर्दश भुवन होते हैं। इन चौदह लोकोंमें सात नीचे और सात ऊपर हैं। नीचेसे आठवाँ और ऊपरका पहला भूलोक कहलाता है। भूलोकके चार भाग हैं, इनको मृत्युलोक, प्रेतलोक, पितृलोक और नरकलोक कहते हैं। इन चार लोकोंमें भी केवल मृत्युलोक ही स्थूल है, शेष सभी लोक सूक्ष्म हैं। मृत्युलोक ही सबका केन्द्र है और एकमात्र यही कर्मभूमि भी है शेष तीन सभी भोग लोक हैं। केवल मृत्युलोकमें ही मनुष्य कर्म करनेमें स्वतंत्र है। यहाँ मनुष्य शुभ या अशुभ जैसा कर्म करता है, उसीके अनुसार उसकी दूसरे लोकोंमें गति होती है। पुण्यात्मा जीव अपने पुण्यके फलको भोगनेकेलिये स्वर्गके विभिन्न लोकोंमें जाते हैं। पापी जीव अपने पापके फल विविध दुःख भोगनेकेलिये विभिन्न नरकोंमें जाते हैं। नरकोंके रोमांचकारी दुःखभोगोंका कुछ वर्णन श्रीमद्भागवतमें पाया जाता है।

इस अद्वितीय ग्रन्थमें उपर्युक्त सभी विषयोंका सरल रीतिसे विवेचन किया गया है। सभी शिक्षित नर-नारियोंको इस अद्वितीय ग्रन्थका एकवार अवश्य अध्ययन करना चाहिये और आत्मा, परमात्मा, परलोकआदि विषयोंमें जानकारी प्राप्त करनी चाहिये। ऐसा करनेसे मनुष्य पापसे अपनेको वचा सकेंगे और इस लोक तथा परलोकमें भी सुखी हो सकेंगे।

श्रीकृष्णजन्माष्टमी
सम्वत् २०३४
सन् १९७७ ई०

मंत्री
श्रीभारतधर्म महामण्डल
लहुराबीर, वाराणसी

श्रीविश्वनाथो जयति

धर्म-विज्ञान

प्रथम खण्ड

विज्ञप्ति

श्रीजगदम्बाको असीम कृपासे ब्रह्मलीन श्रद्धेय श्रीस्वामी दयानन्दजी महाराज-द्वारा विरचित धर्म-विज्ञान नामक ग्रन्थके दूसरे प्रथम खण्ड संस्करणका यह प्रकाशित हो रहा है। इस ग्रन्थके बहुत वृहत् होनेसे और पूरे ग्रन्थके एक साथ निकालनेमें अधिक समय लगनेकी सम्भावना देखकर उसका यह प्रथम खण्ड प्रकाशित किया गया।

ब्रह्मीभूत स्वामीजी महाराजने अपने श्रीगुरुदेवके उपदेशसे "धर्मकल्पद्रुम" नामक वृहद् ग्रन्थको आठ खण्डोंमें लिखकर प्रकाशित किया था। वह महाग्रन्थ सनातन-धर्मावलम्बी धार्मिक सज्जनोंकेलिये प्रधान अवलम्बनीय है, परन्तु वह ग्रन्थ अति-वृहत् है और उसका मूल्य भी सर्वसाधारणकेलिये अधिक है, दूसरी ओर देश-काल-पात्रका भी परिवर्तन हो गया है, अतः धर्मकल्पद्रुमका सार संग्रह करके और दार्शनिक युक्ति तथा सायन्सका प्रमाण देकर धर्मशिक्षा देनेकी आवश्यकता होनेके कारण धर्मशिक्षाके पाठ्य पुस्तकरूपसे इस ग्रन्थका प्रणयन किया था और अब पूज्यपाद श्रीमहाराजकी आज्ञासे इस अमूल्य ग्रन्थको संशोधित कर प्रकाशित किया जाता है। इसमें धार्मिक, सामाजिक, आध्यात्मिक, राजनैतिक, नैतिकआदि समस्त विषयोंपर धर्मकी पूर्ण मर्यादाको रखते हुए वर्त्तमान देश-काल-पात्रानुसार यथेष्ट प्रकाश डाला गया है। इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थमें सनातनधर्मके आचारोंपर पश्चिमी सायन्सके अनुसार समग्र विषयोंका विचार किया गया है, जिससे पश्चिमी शिक्षाप्राप्त जिज्ञासुओंके लिये यह ग्रन्थ बहुत ही उपकारसाधन करेगा इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं है। इसमें स्थान स्थानपर पश्चिमी विद्वानोंके विचार उद्धृत करके समस्त विषयोंकी पुष्टि की गयी है और प्रत्येक विषयपर प्राच्य प्रतीच्य तुलनात्मक विचारद्वारा धार्मिक, सामाजिक, और आध्यात्मिक सभी प्रकारके विषय विवेचनको सर्वाङ्ग सुन्दर बना दिया गया है।

यद्यपि धर्मकल्पद्रुम एक प्रकारसे सनातनधर्मका विश्वकोष ग्रन्थ (इन्साइक्लोपीडिया) रूपसे प्रकाशित किया गया था और उसमें सनातनधर्मके सम्बन्धमें प्रायः सब आवश्यकीय विषयोंका समावेश किया गया था, परन्तु वह महाग्रन्थ सनातनधर्मके प्रचारके निमित्त अत्यन्त उपयोगी होनेपरभी धर्मशिक्षाके निमित्त पाठ्यपुस्तकरूपसे काम नहीं आ सकता है, इस कारण उसका सार संग्रह कर सब श्रेणीके धर्मजिज्ञासु, धर्मके उपदेष्टा और धर्मशिक्षकों तथा धर्मप्रचारकोंकी सहायताके निमित्त, भारतद्वीपभरके स्कूलों, कालेजों और पाठशालाओंकी उच्च श्रेणीके विद्यार्थियोंके निमित्त तथा कन्या-विद्यालयोंकी उच्च कक्षाओंके निमित्त सनातनधर्मशिक्षाके उद्देश्यसे यह ग्रन्थरत्न बहुत ही उपयुक्त होगा। जिन विश्वविद्यालयोंमें सनातनधर्मशिक्षा और धार्मिक परीक्षाआदिका प्रबन्ध है, उनकेलिये भी यह ग्रंथ अत्यन्त लाभदायक होगा, इसमें संदेह नहीं।

परमपूज्यपाद श्रीमहाराजके उपदेश और आज्ञासे सनातनधर्मकी रक्षा, उसके प्रचार और उसकी शिक्षाका विस्तार तथा जगत्में आध्यात्मिक ज्ञानज्योतिके प्रकाशके निमित्त अनेक ग्रन्थरत्न प्रकाशित हुए हैं उन सब ग्रन्थोंको निम्नलिखित श्रेणीमें विभक्त किया जा सकता है यथा—

(१) मंत्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग सम्बन्धीय ग्रन्थ।

(२) वैदिक सप्तदर्शन सम्बन्धीय टीका तथा भाष्यग्रन्थ।

(३) भारतवर्षके प्राचीन इतिहास सम्बन्धीय ग्रन्थ।

(४) कर्मकाण्डकी शिक्षा और वर्तमान समयमें उसके प्रचारके उपयोगी ग्रन्थ तथा कर्मविज्ञानके गम्भीर रहस्य प्रकाशक ग्रन्थ।

(५) उपासना और भक्ति सम्बन्धीय रहस्य प्रकाशक ग्रन्थ तथा पूजापद्धतिके छोटे-छोटे ग्रन्थ।

(६) ज्ञानकाण्ड सम्बन्धीय तथा दर्शनशास्त्र-सम्बन्धीय ग्रन्थोंके अतिरिक्त श्रीमद्भगवद्गीता तथा दुर्गासप्तशती आदिपर मौलिक टीकाग्रन्थ।

(७) अंग्रेजी भाषा-भाषियोंके धर्मशिक्षाके निमित्त अंग्रेजी भाषाके मौलिकग्रन्थ।

(८) स्कूल, कालेज, कन्याविद्यालय और संस्कृत पाठशालाओंमें नियमित तथा श्रेणीबद्ध क्रमपूर्वक धर्मशिक्षाके पाठ्यग्रन्थ।

(९) सनातनधर्मी सद्गृहस्थोंके घर-घरमें स्त्री तथा पुरुषोंके धर्मशिक्षा विस्तारके-लिये धर्मग्रन्थ और प्रथम अवस्थासे बालक-बालिकाओंको धर्मशिक्षा देनेके निमित्त छोटी छोटी धर्म-पाठ्यपुस्तकें।

(१०) भारतद्वीपके साधु-संन्यासियोंके मंगलार्थ संस्कृत भाषामें सिद्धान्त ग्रन्थ और पद्धति ग्रन्थ।

(११) परलोक तत्त्वसम्बन्धीय ग्रन्थ।

(१२) सनातनधर्मके बृहत् कोषग्रन्थ जैसे धर्मकल्पद्रुम।

(१३) संसारभरमें आध्यात्मिक ज्ञान-ज्योति-प्रकाशके सम्बन्धसे सर्वधर्म तथा सब प्रकारके धर्ममार्गोंके आचार-सम्बन्धीय और विचार-सम्बन्धीय तुलनात्मक ग्रन्थआदि।

यह तो सभी दूरदर्शी सज्जन स्वीकार करेंगे कि, ईश्वरज्ञानविहीन, परलोकविचार-रहित और धर्माधर्मशिक्षासे रहित जो शिक्षाप्रणाली होगी उससे मनुष्य-समाजका कदापि अभ्युदय नहीं हो सकता है। इस प्रकारकी शिक्षाप्रणालीके प्रचारसे साधारणतः मनुष्यसमाज और विशेषतः हिन्दूजातिकी कितनी अवनति हो रही है यह प्रत्यक्ष है। दूसरीओर सारा संसार इस समय ध्वंसकी ओर जा रहा है। सायन्सके जितने आविष्कार हो रहे हैं, विद्याकी जितनी उन्नति हो रही है और चिन्ताशील मनुष्य लोक शिक्षाके निमित्त जितनी चिन्ता कर रहे हैं, उनका फल न तो जगत्की रक्षाके निमित्त मिल रहा है और न उससे मनुष्य समाजकी आध्यात्मिक उन्नति होनेकी आशा है। चारों ओर केवल नश्वर इन्द्रियसुख-प्राप्तिकी चेष्टा और परस्परमें द्वेष, घोर अशान्ति तथा जगत्नाशकारी युद्धके आयोजनके लक्षण दिखायी पड़ते हैं। ऐसे समय आध्यात्मिक उन्नति-शील हिन्दूजातिको अपनी आत्मरक्षा करनेके निमित्त अपनेमें स्वधर्मज्ञान, स्वधर्म उन्नति और यथायोग्य स्वधर्मपालन करनेको अत्यन्त आवश्यकता है। ऐसा न होनेपर यह धर्मप्राण तथा जगत्की सबसे प्राचीन मनुष्यजाति नष्ट-भ्रष्ट हो जायगी। धर्मशिक्षा विस्तारकी इस अत्यन्त आवश्यकताको भारतखण्डके बुधजन अब समझते जाते हैं; इस कारण पूर्वकथित ग्रन्थावलियोंके नियमित प्रकाशित करनेकी आवश्यकतापर किसी विज्ञ पुरुषका मतभेद नहीं हो सकता है।

सभी विचारशील व्यक्ति इसको उचित समझेंगे कि, साधारणतः मनुष्यजाति और विशेषतः हिन्दूजातिके नर-नारियोंमें जबतक धर्मशिक्षाका नियमित प्रचार और धर्मज्ञानकी विशेषरूपसे अभिवृद्धि नहीं होगी, तबतक न वर्तमान समयकी घोर अशान्ति दूर होगी और न यथार्थ अभ्युदय हो सकेगा। इस कारण धर्मग्रन्थोंके वर्तमान देशकालपात्रके उपयोगी संस्करण प्रकाशित किये जाँय और उनका अधिक प्रचार किया जाय। स्कूल, कालेज, कन्या-विद्यालय, संस्कृत-विद्यालयआदिमें जहाँतक सम्भव हो, सुकौशलपूर्ण उपायोंद्वारा धर्मशिक्षाका आयोजन किया जाय और धर्मशिक्षासम्बन्धीय छोटी-छोटी पुस्तिकायें

प्रकाशित करके घर-घरमें धर्मशिक्षाका प्रबन्ध करते हुए कोमलमति बालक-बालिकाओंके हृदयमें धर्मका बीज बोया जाय तभी इस समय हिन्दूधर्मका विशेषत्व, हिन्दूजातिका चिरंतन महत्त्व और भारतद्वीपका सबप्रकार कल्याण हो सकता है।

यदि धर्मप्रेमी नर-नारीगण शास्त्रप्रकाशनके इस महत्त्वको समझकर इस अति पुण्यकार्यमें सहयोग देंगे और इस स्वदेशसेवा, स्वजातिसेवा तथा स्वधर्मसेवाके सहायक होंगे तो हमारा यह मनोरथ पूर्ण हो सकता है। सर्वशक्तिमयी और सर्वकल्याण-कारिणी श्रीजगदम्बाके राजीव चरणोंमें यही प्रार्थना है कि, वे सबके हृदयमें धर्मज्ञानकी अभिवृद्धि करें।

काशी,
श्रीकृष्णजन्माष्टमी: सम्वत् २०३४

प्रधान मन्त्री
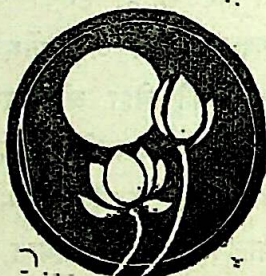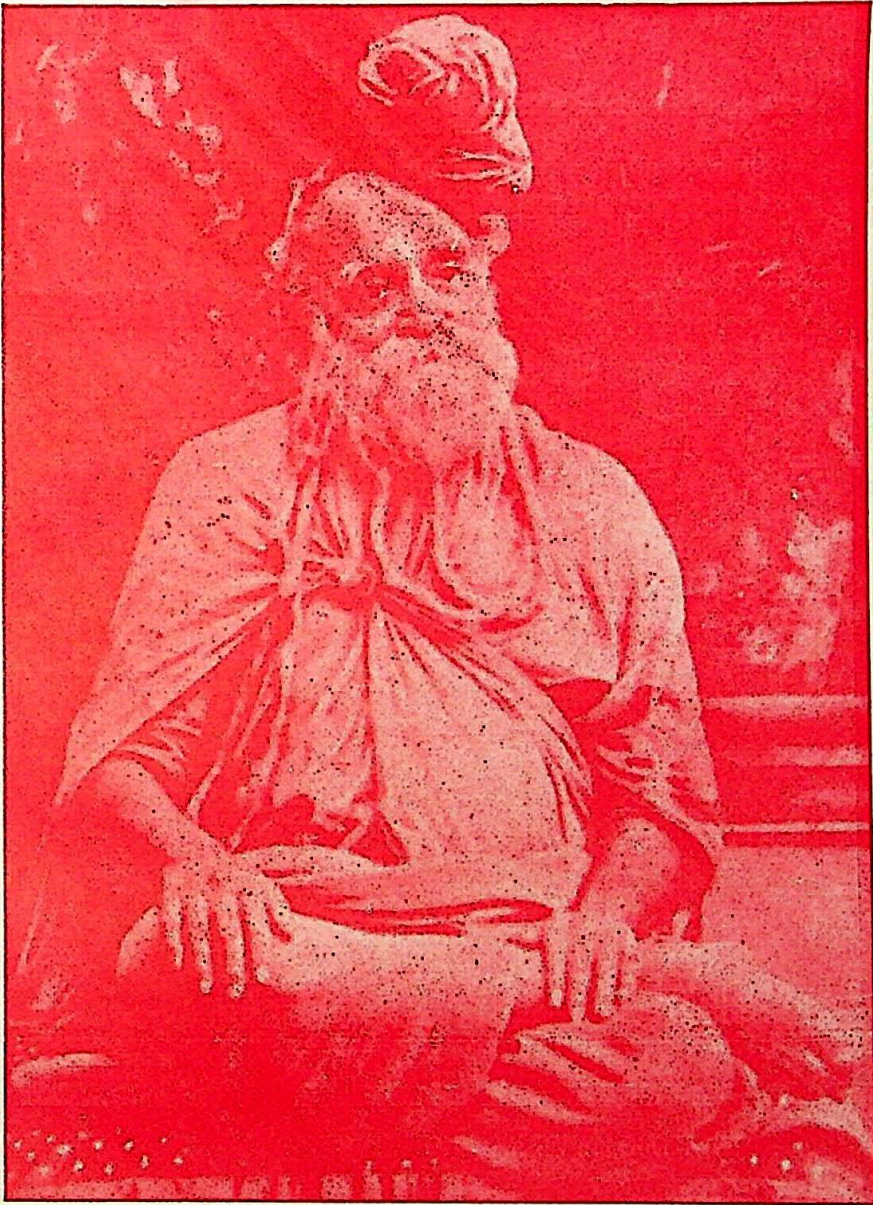
श्रीभारतधर्ममहामण्डलके संस्थापक एवं संचालक भगवत्पूज्यपाद
अनन्तश्रीविभूपित महर्षि स्वामी ज्ञानानन्दजीमहाराज प्रभु

भगवत्पूज्यपाद अनन्त श्रीविभूषित महर्षि स्वामी ज्ञानानन्दजी
महाराज प्रभुके सुयोग्य शिष्य स्वामी दयानन्दजी महाराज

श्रीजगन्मात्रे नमः

धर्म-विज्ञान

(प्रथम खण्ड)

विषय-सूची

* ॐ तत् सत् *

धर्म-विज्ञान ।

मङ्गलाचरण

वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि । वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहासीरनेनाधीतेनाऽहोरात्रान् संदधाम्यृचं वदिष्यामि । सत्यं वदिष्यामि । तन्मामवतु । तद्वक्तारमवतु । अवतु मामवतु वक्तारम् ।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

आधुनिक विज्ञान और सनातन धर्म

आयर्य्यशास्त्र तथा अन्य शास्त्रोंमें 'विज्ञान' शब्द के अनेक प्रकार, लक्षण और अर्थ बताये गये हैं । कोषकार अमरसिंहने "मोक्षे धीर्ज्ञानमित्याहुर्विज्ञानं शिल्पशास्त्रयोः" ऐसा कहकर वर्त्तमान शिल्पशास्त्रज्ञान तथा पश्चिमी सायन्सके ज्ञानको ही 'विज्ञान' नाम दिया है । किन्तु वैदिक दर्शन शास्त्रोंने ज्ञानके दो भेद किये हैं, उनका नाम तटस्थज्ञान और स्वरूप ज्ञान है । जिस ज्ञानमें ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयरूपी त्रिपुटी रहती है, उसको तटस्थ-ज्ञान कहते हैं । सत्, चित, आनन्दमय अद्वैत भावापन्न आत्मामें जो ज्ञानको अवस्थिति रहती है, उसको स्वरूपज्ञान कहते हैं । तटस्थज्ञानके अनेक भेद हैं, क्योंकि उसके स्तर अनेक हैं । उन अनेक भेदोंको दो प्रधान भागमें विभक्त कर सकते हैं । एक वहिर्जगत् सम्बन्धीय ज्ञान और दूसरा अन्तर्जगत् सम्बन्धीय ज्ञान । वहिर्जगत् सम्बन्धीयज्ञान प्रथम दशामें शिल्प (Art) के साथ और उन्नत दूसरी दशामें पदार्थ-विद्या (Science) के साथ सम्बन्ध रखता है । इसीप्रकार अन्तर्जगत् सम्बन्धीय ज्ञान पहली दशामें दर्शन-शास्त्रीय तत्त्वज्ञानके साथ और उन्नत दूसरी दशामें मोक्षप्रद आत्मज्ञानके साथ सम्बन्ध रखता है । इस कारण दोनोंको उन्नत अवस्थाओंका विज्ञान कहते हैं, यही मानना पड़ेगा ।

* ॐ तत् सत् *

धर्म-विज्ञान ।

मङ्गलाचरण

वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि । वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहासीरनेनाधीतेनाऽहोरात्रान् संदधाम्यृचं वदिष्यामि । सत्यं वदिष्यामि । तन्मामवतु । तद्वक्तारमवतु । अवतु मामवतु वक्तारम् ।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

आधुनिक विज्ञान और सनातन धर्म

आयर्य्यशास्त्र तथा अन्य शास्त्रोंमें 'विज्ञान' शब्द के अनेक प्रकार, लक्षण और अर्थ बताये गये हैं। कोषकार अमरसिंहने "मोक्षे धीर्ज्ञानमित्याहुर्विज्ञानं शिल्पशास्त्रयोः" ऐसा कहकर वर्त्तमान शिल्पशास्त्रज्ञान तथा पश्चिमी सायन्सके ज्ञानको ही 'विज्ञान' नाम दिया है। किन्तु वैदिक दर्शन शास्त्रोंने ज्ञानके दो भेद किये हैं, उनका नाम तटस्थज्ञान और स्वरूप ज्ञान है। जिस ज्ञानमें ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयरूपी त्रिपुटी रहती है, उसको तटस्थ-ज्ञान कहते हैं। सत्, चित, आनन्दमय अद्वैत भावापन्न आत्मामें जो ज्ञानकी अवस्थिति रहती है, उसको स्वरूपज्ञान कहते हैं। तटस्थज्ञानके अनेक भेद हैं, क्योंकि उसके स्तर अनेक हैं। उन अनेक भेदोंको दो प्रधान भागमें विभक्त कर सकते हैं। एक वहिर्जगत् सम्बन्धीय ज्ञान और दूसरा अन्तर्जगत् सम्बन्धीय ज्ञान। वहिर्जगत् सम्बन्धीयज्ञान प्रथम दशामें शिल्प (Art) के साथ और उन्नत दूसरी दशामें पदार्थ-विद्या (Science) के साथ सम्बन्ध रखता है। इसीप्रकार अन्तर्जगत् सम्बन्धीय ज्ञान पहली दशामें दर्शन-शास्त्रीय तत्त्वज्ञानके साथ और उन्नत दूसरी दशामें मोक्षप्रद आत्मज्ञानके साथ सम्बन्ध रखता है। इस कारण दोनोंको उन्नत अवस्थाओंका विज्ञान कहते हैं, यही मानना पड़ेगा।

उपनिषदादि शास्त्रोंमें अनुभवगम्य विद्या तथा पराविद्याके अर्थमें भी 'विज्ञान' शब्दका प्रयोग देखनेमें आता है। यथा—

'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' वृहदारण्यक उ०।
'विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः' कठोपनिषत्।
'विज्ञानं प्रज्ञानम्' ऐतरेय आरण्यक।
'विज्ञानेन वा ऋग्वेदं विजानाति' छान्दोग्य उ०।
'अज्ञानेनावृतं लोकं विज्ञानं तेन मुह्यति'।
'विज्ञानं निमलं सूक्ष्मं निर्विकल्पं यदव्ययम्' कूर्म पु० २य अध्याय।

इन सब प्रमाणोंके द्वारा 'विज्ञान' शब्दका आत्मोपलब्धिमूलक ज्ञान, प्रपञ्चसे अतीत शुद्ध निर्विकल्प ज्ञान यही अर्थ प्रतिपादन किया गया है। 'ज्ञानंतेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः' (गीता ७।२) ऐसा कहकर श्रीभगवान्ने गीतामें अनुभवात्मक ज्ञानको ही 'विज्ञान' कहा है। अतः स्थूल सूक्ष्म दोनों के उन्नत अवस्थाका जो ज्ञान है उसके अर्थमें ही 'विज्ञान' शब्दका प्रयोग होता है, यह निश्चय हुआ। तथापि 'आधुनिक विज्ञान' कहनेसे आजकल लोग प्रायः अमरकोषके लक्षणानुसार अधिभौतिक सायन्स, पश्चिमी सायन्स, स्थूल शिल्प-चमत्कार इत्यादि भावसे ही इस शब्दका ग्रहण करते हैं। अतः इस ग्रन्थमें भी 'विज्ञान' शब्दका प्रयोग स्थूल अर्थमें ही किया जायगा। इस प्रकार आधुनिक विज्ञानका धर्मके साथ क्या सम्बन्ध या भेदभाव है, इसीका तत्त्वनिर्णय करना वर्त्तमान प्रबन्धका आलोच्य विषय है।

चिन्ताशील पश्चिमी विद्वान् हर्वर्ट स्पेन्सरने विज्ञान शास्त्र और दर्शन शास्त्रका भेद निर्णय करते समय कहा है—

Science is partially unified knowledge and philosophy is completely unified knowledge. अर्थात् वस्तुका समभावयुक्त केवल आंशिक, असम्पूर्ण ज्ञान सायन्सके द्वारा होता है, किन्तु उसका पूर्णज्ञान करानेवाला दर्शन शास्त्र ही है। पूज्यपाद महर्षियोंने स्थूल और सूक्ष्म राज्य-सम्बन्धीय विद्याओंके जो अधिकार निर्णय किये हैं, उसका सारांश यह है कि शिल्पका अधिकार उन्नत दशामें प्रकृतिके सौन्दर्य्यकी नकल करना है। पदार्थ विद्याका लक्ष्य प्रकृतिके आधिभौतिक शक्तिपर अधिकार जमाना है; और दर्शन शास्त्रका लक्ष्य प्रकृति आधिभौतिक राज्यसे परेकी बातोंको बताकर आध्यात्मिक राज्यमें पहुंचाना है। इस विषयमें India's Enternal religion ग्रन्थमें ऐसा लिखा है—The aim of art is to copy Nature, that

of Science is to control its material aspect and that of philosophy is to know its super-material condition and to reach where matter ends. सायन्सकी वास्तविक गति वस्तुज्ञानके विषयमें कितनी है इस विषयमें वैज्ञानिक पण्डित टिन्ड्याल साहबने कहा है—Science understands much of the intermediate phase of things that we call nature, of which it is the product; but science knows nothing of the origin or destiny of nature. Who or what made the sun and gave his rays their alleged power? Who or what made and bestowed upon the ultimate particles of matter their wondrous power of varied interaction? Science does not know the mystery, though pushed back, remains unaltered. (Fragments of Science Vol. II.) अर्थात् प्रकृतिराज्यके बीचके कुछ व्यापारोंको सायन्स प्रकट कर सकता है, किन्तु उसके आदि अन्तका कुछ भी पता सायन्स नहीं लगा सकता है। सूर्यका उत्पत्ति-कर्त्ता कौन है या कैसे सूर्य उत्पन्न हुआ? सूर्यकिरणोंको असीम शक्ति किसने दी है? अणु परमाणुओंको किसने बनाया और उन्हें अद्भुत, असीम कार्यकारिणी शक्ति किसने दी? इन विषयोंका कुछ भी रहस्यज्ञान सायन्सको नहीं है, उसने इस ओर हाथ तो बढ़ाया था, किन्तु असमर्थ ही रह गया। इसी प्रकार हर्बर्ट स्पेन्सर साहबने भी धर्म और सायन्सकी समता बतानेके प्रसङ्गमें कहा है—

If religion and science are to be reconciled, the basis of reconciliation must be this deepest, widest and certain of all facts-that the power which the universe manifests to us is utterly inscrutable. (First Principles.) अर्थात् धर्म और सायन्स इन दोनोंकी यदि एकता करनी हो तो एकताकी यह निश्चित भित्ति होनी चाहिये कि समस्त विश्व में गूढ़ रूपसे निहित, समस्त विश्वमें प्रकाशमान और समस्त विश्वकी हेतुभूत कारणशक्तिको हम जान ही नहीं सकते। अर्थात् इस शक्तिको जानना सायन्सकी ज्ञानकोटिके बाहर है, अतः इसके छोड़े बिना, धर्म और सायन्सकी एकता नहीं हो सकती। इसी विषयका प्रतिपादन अन्य ग्रन्थमें भी किया गया है यथा—

"In the matter of evidence in psychological question, the sense perceptions, with which science naturally deals, are only second rate criteria and ought to be received with caution."

'The closing of the external channels of sensation is usually the signal for the opening of the psychic and from all the evidence it would seem that the psychic sense is more extensive, acuter and in every way more dependable than tne physical.' Second Sight P. 12 and 13 Sepharial.

वस्तुनिर्णयमें ऐन्द्रियिक अनुभूति जो कि सायन्सका विषय है, केवल असम्पूर्ण प्रमाण मात्र है और ऐसे प्रमाणों पर विशेष भरोसा भी नहीं करना चाहिये। वहिरिन्द्रियका पथ बन्द कर देने पर हो अन्तरिन्द्रियका मार्ग खुलता है और समस्त विचार द्वारा यही प्रतिपन्न हुआ है कि अतीन्द्रिय सूक्ष्म अनुभव, ऐन्द्रियिक स्थूल अनुभवकी अपेक्षा अधिक व्यापक, तीव्र तथा निर्भर करने योग्य है। इन सब प्रमाणों के द्वारा तत्व-निर्णयराज्यमें आधुनिक विज्ञानकी पहुंच कहाँ तक है सो स्पष्ट प्रमाणित हो जाता है।

आज दिन समस्त संसारमें सायन्सकी भरमार है। प्रकृतिका अनंक चमत्कार सायन्सके द्वारा प्रकाशित होनेसे सायन्सका आदर आजकल बहुत कुछ बढ़ गया है। किन्तु सायन्स 'कैसे' (how) के सिवाय 'क्यों' (why) को नहीं बता सकती है। प्रकृतिके नियम (Law of nature) विश्वसंसारमें उत्ताप, आलोक, सौदामिनीरूपसे या कठिन तरल वायवीय वस्तु आदिके भेदसे 'कैसे' काम करते हैं, इसीका चमत्कार बताना सायन्स-का काम है। ऐसे चमत्कार 'क्यों' होते हैं, कौन अदृश्य, अलौकिक शक्ति कारणरूपसे सबके भीतर निहित रह कर प्रकृतिमाताकी ऐसी मनोहारिणी मूर्तिको जगज्जनोंकी नयन-रञ्जनी रूपसे प्रकट करती है, इसका पता सायन्सको अबतक नहीं लग सका है। इसका पता अध्यात्मशास्त्र (Philosophy) को प्राप्त है। स्थूल, सूक्ष्म प्रकृतिकी लीलाको सायन्स और कारण प्रकतिके अलौकिक रहस्यको अध्यात्मविद्या प्रकट करती है। पश्चिम देशमें अब तक सायन्सका ही बहुत प्रचार हुआ है, अध्यात्मविद्याका नहीं। प्राचीन महर्षियोंने सायन्स तथा अध्यात्मविद्या दोनोंसे काम लिया था और इसी कारण आर्यशास्त्रमें लौकिक प्रकृतिराज्य तथा अलौकिक ब्रह्मराज्य दोनोंका तत्त्वनिरूपण उत्तम तथा पूर्ण रीतिसे किया जा सका है। वास्तव में सनातनधर्म ही पूर्ण विज्ञानानुकूल (Scientific) धर्म है। क्योंकि यह कोई दस-बीस नियमोंसे जकड़ा हुआ 'मजहब' नहीं है। इसके अनन्त नियम हैं। जीव जगतमें जन्म लेकर परमात्मामें लय होने तक क्रमोन्नतिके पथमें चलनेके लिये अनेक जन्मोंमें स्वभावतः जिन नियमोंका आश्रय करता है, उन सभीकी समष्टि सनातन-धर्ममें है। ये नियम प्रकृतिके निम्नस्तरमें कुछ और होते हैं, मध्यस्तरमें कुछ और होते हैं और उच्च, उच्चतर, उच्चतम स्तरोंमें कुछ विशेष हो होते हैं। ये सब प्रकृतिके नियम हैं और

सायन्स भी प्रकृतिके ये नियमको (Law of nature) ही व्यक्त करती है। अतः सनातनधर्म सायन्स अनुमोदित धर्म है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि आज दिन सायन्सजगत्में जितनी उन्नति हो रही है और नव नव आविष्कार हो रहे हैं, उतने ही सनातनधर्मान्तर्गत विषयोंकी सत्यता प्रमाणित हो रही है। आत्मा तथा प्राण मनुष्येतर जड़जगत् तकमें व्याप्त है इसको विज्ञानाचार्य जगदीशचन्द्र वसुने स्पष्ट प्रमाणित कर दिया है। असवर्ण विवाहसे क्या क्या दोष उत्पन्न होते हैं इसको अमेरिकाके विज्ञानवित् पण्डितोंने यन्त्र द्वारा रक्तपरीक्षा करके पूर्णरूपसे दिखा दिया है। मनुष्यकी तरह वृक्ष भी किस प्रकार सोते-जागते देखते-सुनते हैं इसका भी भूरि भूरि प्रमाण वसु महाशयने संसारके सामने प्रकट कर दिया है। गङ्गाजलमें किस प्रकार विषनाशिनी तथा रोगकीटाणुनाशिनी अद्‌भुत शक्ति है इसको इंजिनियर हैंकिन्स साहबने यन्त्रोंकी सहायतासे सबको दिखा दिया है। एक स्त्रीके अनेक विवाह होनेसे किस प्रकार उपदंश आदि दुखसाध्यरोग्य वंशमें फैल जाते हैं इसको पूर्ण रूपसे हैभूलक साहबने प्रमाणित कर दिया है। इत्यादि, इत्यादि सनातनधर्मके सभी गूढ़ तत्त्व जिन्हें पूज्यपाद सत्यदर्शी, अतीन्द्रियदर्शी महर्षियोंने योगदृष्टि द्वारा प्रकट किये थे, उनकी सत्यता तथा चमत्कारिता आज सायन्सकी उन्नतिके साथ साथ निखिल विश्वमें परिव्याप्त हो रही है। इन सब विषयोंका प्रचुर वर्णन क्रमशः दिया जायगा।

इन सब वर्णनोंसे स्पष्ट प्रमाणित होता है कि सायन्स सनातनधर्मसे भिन्न या विपरीत वस्तु नहीं है, किन्तु उसके एक अंशका प्रकाशक मात्र है। प्रकृतिके स्थूल, सूक्ष्म, कारण और तुरीय ये चार विभाग होते हैं। इनमेंसे स्थूल विभागका और सूक्ष्मके कुछ अंशका प्रकाशन सायन्सके द्वारा होता है। बाकी सूक्ष्म, कारण, तुरीय इन तीनोंका प्रकाश करनेवाला अध्यात्म-शास्त्र है। जहाँ पर प्रकृति पुरुषमें विलीन है और पुरुष से उसकी भिन्नता प्रतीत नहीं होती है, उसका नाम तुरीय दशा है। जहाँ पर प्रकृति पुरुषकी शक्तिको पाकर ब्रह्मा-विष्णु-रुद्र क्रमसे अनन्तविश्वकी जननी बनती है वह उसकी कारण दशा है। सूक्ष्मदशामें विविध दैवीशक्ति, विद्युत्‌शक्ति आदि रूपसे प्रकृतिका कार्य देखनेमें आता है, उनमेंसे विद्युत् शक्ति आदिके कार्यका पता सायन्सको लगा है अर्थात् सौदामिनी कैसे कैसे कार्य करती है सो सायन्स बता सकती है, किन्तु किस अचिन्त्य मौलिक शक्तिके प्रभावसे, क्यों इस प्रकारसे कार्य करती है, उसका पता सायन्सको अभी तक नहीं लग सका है, और न लग सकेगा। यही आधुनिक विज्ञान तथा अध्यात्म विद्यामें पार्थक्य है। इसी कारण कहा जाता है कि सनातनधर्म आधुनिक विज्ञानसे विपरीत वस्तु नहीं है। आधुनिक विज्ञान उसके एक अंशका प्रतिपादक है, बाकी वह अंश तथा प्रकृतिके अन्य

तीन अंश और प्रकृतिके परपारमें विराजमान सत्-चित्-आनन्दरूप परमात्मा सभीका प्रतिपादक, पथप्रदर्शक श्रीसनातनधर्म है। इसी प्रकारसे आधुनिक विज्ञान और सनातन-धर्मका चिरन्तन सम्बन्ध सिद्ध किया गया है और इस तथ्यको पश्चिम देशके कतिपय विद्वानोंने स्वीकार भी किया है यथा—

"Religion and science are necessary correlatives. They stand respectively for those two antithetical modes of consciousness which cannot exist asunder" *Spencer*.

Science is a part of religion. 'Both astronomy and medicine' say Weber 'received their first impules from the exigencies of religious worship.' The laws of phonetics were investigated because the warth of the gods followed the wrong ronunciation of a single letter of the sacrificial formulas; grammar and etymology had the task of securing the right understanding of the holy texts. Geometry was develop in India from the rules for the construction of alters. All the astronomical knowledge of the Babylonians had as its ends the regulation of religious worship. In Egypt the majority of the books relating to Science are sacred works, composed and revealed by the gods themselves.

Spencer's Principles of Sociology Vol. III.

अर्थात् धर्म और सायन्सके भीतर आवश्यक सम्बन्ध विद्यमान है। वे यथाक्रम ऐसी दो अनुभूतिके उपायरूपसे रहते हैं जिनको पृथक् करना असम्भव है। सायन्स धर्मके एक अंशका प्रतिपादक है। बेवार साहबका कहना है कि ज्योतिःशास्त्र और चिकित्साशास्त्र रूपी दोनों सायन्सकी उत्पत्ति—निदान धार्मिक पूजा व्यापार ही है। ध्वनिविज्ञानकी उत्पत्तिका कारण ही यह है कि वैदिकयज्ञमें वेदमन्त्रका दुष्ट उच्चारण हो गया था। व्याकरण आदि शब्दशास्त्र धार्मिक पुस्तकोंके यथार्थ परिज्ञान करानेके लिये ही विरचित किये गये हैं। यज्ञवेदी निर्माणके नियमोंके आधार पर ही ज्यामिति नामका विज्ञान शास्त्रकी उन्नति हुई है। धार्मिक उपासनाकी व्यवस्थाके लक्ष्यसे ही वेविलोनियन जातिने ज्योतिषका ज्ञान लाभ किया था। मिश्रदेशमें सायन्सविषयक जितनी पुस्तकें हैं उनमेंसे प्रायः सभी देवताओंके कहे हुए पवित्र ग्रन्थ नामसे प्रसिद्ध हैं। इस प्रकारसे पश्चिमी तथा एतद्देशीय विद्वानोंने धर्म, सायन्स और अध्यात्मशास्त्रका पृथक् पृथक् स्थान

निर्देश करके इन तीनोंका परस्पर अभिन्न सम्वन्ध बता दिया है। आदि गुरु भारत द्वीप (India) किस प्रकारसे भारतवर्ष (world) में सब श्रेणीकी ज्ञान-शैलीका आदि प्रकाशक है, इसका विस्तारित वर्णन सप्रमाण 'भारतवर्षका इतिवृत्त' नामक ग्रन्थमें भली भांति प्रकाशित है। अब धर्म क्या वस्तु है इसीका तत्त्वनिर्णय किया जायगा।

पश्चिम देशके लोग धर्मको रिलिजन (Religion) कहते हैं। किन्तु रिलिजन शब्दके व्युत्पत्तिलभ्य अर्थसे आर्यशास्त्र वर्णित 'धर्म' का पूर्ण लक्षण चरितार्थ नहीं होता है। रिलिजन शब्द re-back, ligo—to bind, that which binds one back from doing wrong अर्थात् जो शक्ति मनुष्यको पाप करनेसे बचावे इसी भावका द्योतक है। नैतिक जीवनको उत्तम बनाना, पश्चिमी रिलिजन शब्दसे यही अर्थ निकलता है। किन्तु आर्यशास्त्रवर्णित 'धर्म' शब्दका तात्पर्य इससे बहुत व्यापक है। धर्म शब्द 'धृ' धातुसे बनता है जिसका अर्थ यह होता है कि 'जो शक्ति चराचर समस्त विश्वको धारण करे उसीका नाम धर्म है'। धर्मकी सर्वतोव्याप्त शक्ति जड़ चेतनात्मक समस्त विश्वकी रक्षा करती है। 'धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा' यह तैत्तिरीय आरण्यकका मन्त्र है। अर्थात् समग्र विश्वकी स्थिति धर्मके द्वारा हो होती है। आर्यशास्त्रमें ब्रह्माण्डके रक्षक विष्णुकी मूर्ति धर्ममूर्ति कही गई है। 'यज्ञो वै विष्णुः' यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः' इत्यादि श्रुति इसी अर्थकी बोधक है। श्रीभगवान् धर्ममूर्ति विष्णु धर्मकी रक्षाके लिए समस्त विश्व में व्याप्त रहते हैं। यथा ऋग्वेदसंहिता १।१।२२।१८ "त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः। अतो धर्माणि धारयन्"। अनन्तशक्तिधारी विश्वरक्षक विष्णुधर्मकी रक्षाके लिये तीन चरणसे तीनों लोक व्याप्त किये हुए रहते हैं। धर्मकी मूर्ति विष्णुमूर्ति है इस लिये उनके चार हाथ होते हैं। उनका चक्रयुक्त हाथ धर्मका, गदायुक्त हाथ अर्थका, कमलयुक्त हाथ काम (शिल्पकला) का और शंखयुक्त हाथ मोक्षका देनेवाला है। क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और ब्राह्मण इन चार वर्णोंके साथ यथाक्रम इन चार हाथोंका सम्बन्ध है। इसी कारण आर्यशास्त्रमें धर्मसे बाहर कोई वस्तु नहीं है। पश्चिम देशमें लड़ना, शत्रुओंको मारना युद्धविद्या है, किन्तु आर्यशास्त्रमें यह क्षत्रिय धर्म है। वहाँ की राजनीति यहाँ का राजधर्म है। वहाँका वाणिज्य, व्यापार, अर्थसंग्रह आदि यहाँका वैश्यधर्म है। वहाँकी कारीगरी शिल्प कलाकौशल यहांका शूद्रधर्म है। इस प्रकारसे आर्यशास्त्रमें धर्म और अधर्मके सिवाय कोई तीसरी वस्तु नहीं बताई गई है। वही धर्मको व्यापकताका लक्षण है। धर्महीन पश्चिमी शिक्षाके फलसे आजकल हम धर्मके इस व्यापक लक्षणको भूलकर उसे अतिसंकीर्ण 'रिलिजन' या 'मजहब' समझ बैठे हैं। यह हमारी बड़ी भारी भूल है।

अब भगवान् श्रीकृष्ण तथा महर्षि कणाद कथित धर्मलक्षणके विषयमें बताया जाता

है। महाभारतके कर्णपर्वमें श्रीभगवानने कहा है—

धारणाद्धर्म्ममित्याहुर्धर्म्मो धारयते प्रजाः।
यत्स्याद्धारणसंयुक्तं स धर्म्म इति निश्चयः॥

धारण करता है इसलिये धर्म्मको धर्म्म कहा गया है, धर्म्म प्रजाओंको धारण करता है, जो धारण करनेको योग्यता रखता है वही धर्म्म है।

ईश्वरकी जो अलौकिक शक्ति सम्पूर्ण संसारकी रक्षा करती है, उसीका नाम धर्म्म है। जो शक्ति पृथिवीके भीतर व्यापक रहकर पृथिवीमें पृथिवीपन बनाये रखती है, जो शक्ति जलमें रहकर जलका जलत्व और उसकी तरलता सम्पादन करती है, जो शक्ति तेजमें रहकर उसकी उष्णताको रक्षा करती है, जिस शक्तिके न रहनेसे पृथिवी, जल या तेज रूपमें पलट जाती अथवा तेज कठिन और वजनदार हो जाता, आज पृथिवी रूपमें है कल वह आकाश रूपमें या आकाश ही पृथिवीके समान स्थूल दिखाई देता, जो शक्ति इस पञ्चभूतको एवं मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष और ग्रह, नक्षत्र आदि पाञ्चभौतिक पदार्थोंको अपने-अपने स्वरूपमें स्थित रक्खे, उसी शक्तिको धर्म्म कहते हैं।

इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्डकी प्रत्येक वस्तुमें तथा प्रत्येक अणु परमाणुके भीतर आकर्षण और विकर्षण नामकी दो शक्तियां हैं। इन दोनोंकी असमानताके कारण ही इस असीम शून्य महाकाशमें वर्त्तमान अनन्त ब्राह्मण्डोंमें अनन्त सूर्य्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, अपनी-अपनी कक्षामें घूमते हुए कभी कोई अपनो कक्षासे गिरकर दूसरे ग्रहादिके साथ टक्कर नहीं खाते हैं, जलमय चन्द्रलोक तेजोमय सूर्य्यलोकमें प्रवेश करके नष्ट नहीं होता है अथवा बड़ा ग्रह छोटे ग्रहको अपने भीतर खींचकर नष्ट नहीं करता है। जो ईश्वरकी शक्ति इस प्रकारसे आकर्षण और विकर्षण दोनोंकी समानता रखकर सृष्टिके सब पदार्थोंकी रक्षा करती है, वही धर्म्म है।

संसारमें धर्म्मकी इस धारिका शक्तिका प्रभाव दो रूपोंमें दिखाई देता है, एक-एक पदार्थको दूसरे पदार्थ से पृथक् रखकर उसको ठीक अपनी अवस्थामें रखना और दूसरा, क्रमशः उन्नति कराकर पदार्थको पूर्णताकी ओर ले जाना।

क्रमाभिव्यक्ति (क्रमशः प्रकट होना) के नियमसे जीवभावका विकाश उद्भिज्जसे आरम्भ होता है और क्रमशः स्वेदज, अण्डज एवं जरायुज पशु आदि योनियोंको पारकर मनुष्ययोनिमें पूर्ण हो जाता है। प्रत्येक जीवमें अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय, ये ही पांच कोष या पांच विभाग हैं। इन पञ्चकोषोंके विकाशके तारतम्यसे ही वृक्ष और मनुष्यमें इतना भेद है। उद्भिज्जमें केवल अन्नमय कोषके विकाशसे

ही ऐसो शक्ति देखनेमें आती है कि केवल शाखा (डाली) रोपने से वृक्ष बन जाता है। स्वेदजमें अन्नमय और प्राणमय कोषोंका विकाश है। प्राणमय कोषका विकाश होनेसे ही स्वेदज कीट आदिमें अनेक प्राणक्रियाएँ देखनेमें आती हैं जैसा कि रोगके कीटसे शरीरमें रोग उत्पन्न होकर देशभरमें महामारीका फैल जाना और रुधिरमें शुक्लकीटकी प्रबलतासे रोगका विनाश होना इत्यादि। अण्डजमें अन्नमय, प्राणमय और मनोमय कोषोंका विकाश है, मनोमय कोषके विकाश होनेसे ही साधारण पक्षियोंमें अपने बच्चोंके साथ स्नेह करना अथवा कबूतर एवं चक्रवाक (चकवा) आदि विशेष पक्षियोंमें दाम्पत्यप्रेम आदि देखनेमें आते हैं जो मनोवृत्तिके स्पष्ट लक्षण हैं। जरायुज पशु आदिमें विज्ञानमय कोषका विकाश होनेसे ही घोड़ा, हाथी और कुत्ते आदिमें स्वामोकी भक्ति आदि बुद्धिकी अनेक वृत्तियोंका परिचय मिलता है। मनुष्यमें पाँचों कोषोंका विकाश है। आनन्दमय कोषका विकाश होनेसे मनुष्य हँस कर अपने मनका आनन्द प्रकट कर सकता है। और और जीवोंमें आनन्दमयकोषके रहने पर भी उनमें उसका विकाश नहीं है इसलिये वे हँस नहीं सकते! जीव कोष-विकाशके अनुसार उद्भिज्जसे स्वेदज, स्वेदजसे अण्डज, अण्डजसे जरायुज पशु आदि, और पशु आदिसे मनुष्य योनिमें आता है! वहाँ भी क्रमशः असभ्यसे अनार्य्य, अनार्य्यसे आर्य्यशूद्र, शूद्रसे वैश्य, वैश्यसे क्षत्रिय, क्षत्रियसे ब्राह्मण, ब्राह्मणमें भी मूर्ख जातिमात्रोपजीवी ब्राह्मण, उससे कर्मी ब्राह्मण, उससे विद्वान् ब्राह्मण, विद्वान्से तत्त्वज्ञ, तत्त्वज्ञसे आत्मज्ञ ब्राह्मण होकर पञ्चकोषोंके विकाशकी पूर्णताको लाभ करता है, उसके बाद आत्मज्ञानको प्राप्त करके जोव मुक्त हो जाता है। जीवकी यह क्रमोर्द्ध्वगति या जीवभावका क्रमविकाश धर्म्मका ही कार्य्य है। इसलिए यह सिद्ध हुआ कि जिस शक्तिने जीवको जड़से पृथक् कर रक्खा है और जो प्रत्येक विभिन्नजीवकी स्वतन्त्र सत्ताकी रक्षा कर रही है एवं जो शक्ति वृक्ष आदि स्थावरसे लेकर जीवको क्रमशः उन्नत करती हुई अन्तमें मोक्षप्राप्त करा देती है, उसी एकमात्र व्यापक शक्तिका नाम धर्म्म है। इसलिए वैशेषिक दर्शनके कर्त्ता महर्षि कणादने कहा है कि—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

जिससे ऐहिक तथा पारलौकिक अभ्युदय और मोक्ष प्राप्त हो, वही धर्म्म है।

ज्ञान और बुद्धिका विकाश न होनेके कारण उद्भिज्ज आदि मनुष्यसे नोचेके सब जीव प्राकृतिक नियमके आधीन रहकर क्रमशः उन्नत होते हैं। किन्तु मनुष्ययोनिमें आकर जीव स्वाधीन हो जाता है और प्रकृति पर आधिपत्य जमाकर उसके नियमोंको तोड़ने लगता है। पशु आदि जीव, आहार, निद्रा, भय और मैथुन विषयमें प्राकृतिक नियमके सर्वथा आधीन होकर चलते हैं। वे कभी भी समयके नियमका उल्लङ्घन नहीं

करते हैं। मनुष्य स्वतन्त्र होनेसे उस नियमको तोड़ देता है और इस प्रकारकी स्वाधीनताके कारण ही प्राकृतिक नियमभङ्ग होनेसे प्रकृतिका जो क्रमोन्नतिकारी प्रवाह है, जिसने जीवको उद्भिज्जसे लेकर क्रमशः उन्नत करता हुआ मनुष्ययोनितक पहुँचा दिया था, वह प्रवाह मनुष्ययोनिमें आकर बाधाको प्राप्त होता हुआ फिर नीचे की ओर लौटने लगता है। जिस शक्तिके द्वारा निम्नगति बन्द होकर क्रमशः प्रवाह बेरोक-टोक ऊपरकी ओर बहता रहे और जिसका अवलम्बन करके जीव मनुष्ययोनिमें प्राप्य मुक्तिपदको पा सके, वही धर्म है। जीव मनुष्ययोनिमें धर्मके आश्रयसे प्रकृतिके अनुकूल चलकर प्रकृतिकी क्रमोन्नतिशील धारामें अपनेको अनायास छोड़ देता हुआ धीरे-धीरे शूद्रसे वैश्य, वैश्यसे क्षत्रिय, क्षत्रियसे ब्राह्मण, ब्राह्मणमें भी विद्वान, कर्मी, तत्वज्ञ एवं आत्मज्ञ होकर अन्तमें मोक्षको प्राप्त होता है। यही चेतन जगत्में अभ्युदय और निःश्रेयस देनेवाला प्रकृतिके अनुकूल धर्मका अनुशासन है। इसी प्रकारसे धराधारिका धर्मशक्तिके द्वारा जड़चेतनसम्बन्धी विशेष धारण क्रिया सम्पन्न होती हैं।

विश्वको धारण करनेवाली यह शक्ति नित्य है, इसी कारण धर्मका नाम सनातन धर्म है। विश्वधारक सर्वव्यापक धर्मशक्तिके द्वारा जैसे जड़चेतनात्मक सब वस्तु सुरक्षित होती है, उसीप्रकार मानव धर्मद्वारा मानव जाति और आर्य्य धर्मद्वारा आर्य्य जाति सुरक्षित रहती है। यज्ञ, दान, तप, कर्म, उपासना, ज्ञान आदि इसके अनेक अङ्ग होते हैं। सनातनधर्मके अङ्गों और उपाङ्गोंके विस्तार पर जब विज्ञानवित् पुरुषगण ध्यान देते हैं तो उनको प्रमाणित होता है कि सनातन धर्मके किसी न किसी अङ्गोपाङ्गकी सहायतासे पृथिवी भरके सब उपधर्म, पन्थ और सम्प्रदायोंको धर्मसाधनोंकी सहायता प्राप्त हुई है। इसी मूल धर्मके आधार पर शाखा प्रशाखा या इसकी छायारूपसे संसारके सभी 'मजहब' बने हैं। जङ्गली कोलभील आदि जातियोंकी भूतप्रेत-उपासना भी इसके भीतर है, जापानियोंकी पितृ-पूजा भी इसी धर्मके भीतर है, प्राचीन रोमन कैथोलिककी एञ्जेल (Angel) उपासनारूपसे देवोपासना तथा पारसियोंके जोरोस्तार (Zoroastrian) धर्मान्तर्गत समुद्र अग्नि आदि विभूतिउपासनारूपसे देवोपासना भी इसके भीतर है। महम्मदीय और ईसामसीय भक्तिप्रधान उपासना भी इसीकी छायासे बनी हुई है। बौद्धों तथा जैनोंको बुद्धदेवपूजा, ऋषभदेवपूजा आदि तथा तीर्थङ्करपूजा अवतारोपासना-रूपसे इसीके भीतर है। शाक्त, शैव, वैष्णव आदि साम्प्रदायिकजनोंकी पञ्चदेवोपासना भी इसके भीतर है। सिख आदि नानकपंथियोंकी गुरुपूजा भी बिभूतिपूजा तथा अवतारोपासनारूपसे इसीके भीतर है और राजयोगपरायण वैराग्यवान् साधककी निर्गुण निराकार अन्तिम ब्रह्मपूजा भी इसीके भीतर है। अतः जब सभी 'मजहब'

(Religion) इसीके भीतर आये तो सनातनधर्मको छोड़कर अन्य मजहबोंमें फंसना और फंसकर सनातनधर्मकी ही निन्दा करना अज्ञानमात्र है इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। मनुष्य इसी मूलधर्मकी शरणमें रहकर अपने अपने अधिकारके अनुसार सभी प्रकार उन्नति इसीके द्वारा कर सकता है। पूर्ण भवरोगवैद्य महर्षियोंने इस धर्मके भीतर किसी भी रोगका इलाज बाकी नहीं छोड़ा है। केवल उनपर विश्वास रखनेसे सभी अधिकारी कल्याण प्राप्त कर सकते हैं।

अब धर्मकी आवश्यकताके विषयमें कुछ बताया जाता है वृहदारण्यकोपनिषद् चतुर्थ ब्राह्मणमें इस विषयमें एक सुन्दर मन्त्र मिलता है, यथा—

"ब्रह्म वा ईदमग्र आसीदेकमेव तदेकं सन्न व्यभवत्। तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत क्षत्रं यान्येतानि देवत्रा क्षत्राणीन्द्रो वरुणः सोमो रुद्रः पर्जन्यो यमो मृत्युरीशान इति..................श नैव व्यभवत्स विशमसृजत यान्येतानि देवजातानि गणश आख्यायन्ते वसवो रुद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरुत इति। स नैव व्यभवत्स शौद्रं वर्णमसृजत पूषणमियंवै पूषेयं हीदं सर्वं पुष्यति यदिदं किञ्च। स नैव व्यभवत्तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत धर्मं तदेतत् क्षत्रस्य क्षत्रं यद्धर्मस्तस्माद्धर्मात्परं नास्त्यथ अवलीयान् पलीयांसमांशंसते धर्मेण यथा राज्ञैवं यो वै स धर्मः।"

प्रथम सृष्टिके समय सब ब्राह्मण थे, अन्य वर्ण नहीं थे। उससे काम नहीं चला। इसलिये परमात्माने पालनादि कार्यके लिये क्षत्रिय-वर्णकी उत्पत्ति की, जो पृथ्वीमें क्षत्रिय नामसे कहे गये और दैवजगत्में इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र, पर्जन्य, यम, मृत्यु और ईशान इत्यादि नामसे अभिहित हुए। फिर भी केवल ब्राह्मण और क्षत्रिय-वर्णसे भी काम पूरा न चला, क्योंकि, रक्षार्थं अर्थोपार्जनकी आवश्यकता हुई। इसलिये परमात्माने वैश्य-वर्णकी उत्पत्ति की; जो मनुष्यलोकमें वैश्य कहलाते हैं और देवजगत्में 'गण' नाम प्राप्त करते हैं। देवताओंमें वैश्य यथाः—अष्टवसु, एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य, त्रयोदश विश्वेदेवा और उनचास मरुत्गण। तदनन्तर उससे भी सब काम नहीं चला। तब सेवाके लिये परमात्माने शूद्र-वर्णकी उत्पत्ति की, दैवलोकमें पोषणकारिणी पृथिवी इस वर्णके अन्तर्गत है और मनुष्यलोकमें शूद्रजाति है। इस प्रकारसे चार वर्णोंकी सृष्टि करने पर भी व्यवस्था नहीं चली। यथेष्ट वृत्ति सबमें बनी रही, कोई किसीका सञ्चालक नहीं रहा। क्षत्रिय प्रबल होकर दुर्बल अन्य जातिको पीड़ित करने लगे। अन्य जातियोंमें भी यथेच्छाचार फैलने लगा। तब परमात्मा चार वर्णके ही सञ्चालक-रूपसे धर्मरूपी महाशक्तिकी उत्पत्ति की, जिसकी अधीनतामें रहकर चारों वर्ण ठीक ठीक अपना अपना

कर्म करने लगे और संसारकी सब व्यवस्था ठीक ठीक हो गई। इस प्रकारसे श्रुतिने विश्वके जावकरूपसे धर्मकी ही महिमा वर्णन की है।

आर्यशास्त्रमें मनुष्यजीवनके समस्त पुरुषार्थके चार लक्ष्य बताये गये हैं, यथा—काम, अर्थ, धर्म और मोक्ष। वास्तवमें मनुष्य संसारमें उत्पन्न होकर जो कुछ करता है सभीका लक्ष्य इन चारोंमेंसे कोई न कोईहोता है। इसी कारण आर्य्यशास्त्रमें साधनाके सभी अधिकारानुसार ये ही चार लक्ष्य बताये गये हैं। कोई साधक धर्मलक्ष्य करके भगवान्‌की उपासना करता है, कोई अर्थ प्राप्तिके लिये उनकी पूजा करता है, कोई कामना सिद्धिके लिये भगवद्भक्त बनता है और कोई मोक्ष प्राप्तिके अर्थ परमात्माकी आराधनामें रत रहता है। भगवान् अपने चारों हाथोंसे अधिकारानुसार अपने आर्त्त, अर्थार्थी आदि सभी प्रकारके भक्तोंको चतुर्वर्ग प्रदान करते हैं। धर्म, अर्थ, काम, मोक्षरूपी चतुवर्ग प्रदानके लिये ही उनके चार हाथ हैं। उनका चक्रयुक्त हस्त धर्मका देनेवाला है, शङ्खयुक्त हस्त मोक्ष प्रदाता है, गदायुक्त हस्त अर्थको देता है और सकमल हस्त कामद है। इसी प्रकार शिवरूपमें भी 'परशुमृगवराभीति' हस्तोंसे भगवान् चतुर्वर्ग ही देते हैं। परशुधारी हस्त अर्थप्रद है, मृगयुक्त हस्त काम प्रदाता है, वर मुद्रायुक्त हस्त वरणीय धर्मका देनेवाला है और अभयमुद्रायुक्त हस्तसे भवभयनाशकारी मोक्षकी प्राप्ति होती है। अतः सिद्ध हुआ कि जगत्‌में चतुर्वर्ग ही सकल जीवोंके सकल पुरुषार्थका लक्ष्य होता है। कर्म तथा अधिकारके तारतम्यानुसार लक्ष्यमें भी तारतम्य होता है। इसी कारण कोई व्यक्ति या जाति अर्थ या कामको लक्ष्य करके पुरुषार्थ करती है और कोई व्यक्ति या जाति धर्म या मोक्षको लक्ष्य करके पुरुषार्थ करती है। उपनिषद्‌में लिखा है "यदा वै करोति सुखमेव लब्ध्वा करोति नासुखं लब्ध्वा करोति, सुखमेव लब्ध्वा करोति" अर्थात् सुखहीको लक्ष्य करके जीवकी सकल चेष्टा होती है। दुःखके लिये किसीकी भी कोई चेष्टा नहीं होती है। अतः धर्मार्थकाममोक्षमेंसे किसी वर्गमें भी प्रवृत्ति सुखके लिये ही होती है। अर्थकाम-लक्ष्यपरायण जाति अर्थ काममें ही परमसुख मानकर उसीके लिये पुरुषार्थ करती है। धर्ममोक्षलक्ष्यपरायण जाति धर्म मोक्षमें ही आत्यन्तिक सुख जानकर उसीके लिये पुरुषार्थमें प्रवृत्त हो जाती है। लक्ष्य सुखलाभ करना सभीका है केवल अधिकार तथा विचार तारतम्यानुसार ही पुरुषार्थ प्रवृत्तिमें तारतम्य दृष्टिगोचर होता है।

पूज्यपाद दूरदर्शी प्राचीन आर्य्यमहर्षियोंने अनेक विचार करके अर्थ कामकी अपेक्षा धर्ममोक्षको ही श्रेष्ठतर लक्ष्यरूपसे निर्णय किया है और इसी लिये आर्य्यजातिके आत्यन्तिक सुख साधन तथा जातीय लक्ष्यरूपसे धर्ममोक्षको ही बताया है। उन्होंने अर्थकामके प्रति आर्य्यजातिको उपेक्षा करनेका उपदेश नहीं दिया है। वेदके संहिता तथा ब्राह्मणभागमें

अर्थकामप्रधान प्रवृत्तिमार्गका ही इसलिये वर्णन है। महर्षियोंने केवल अर्थकामके लिये ही अर्थकामकी सेवा न करके धर्मानुकूल अर्थकामकी सेवा करनेको कहा है ताकि धर्म्मरहित अर्थकामका जो दुःखमय परिणाम है सो जीवको प्राप्त न होकर धर्मानुकूल अर्थकामके द्वारा अन्तमें आनन्दमय मोक्षपदमे जीवकी प्रतिष्ठा हो। यही उनके इस प्रकार उपदेश करनेका तात्पर्य है और यह तात्पर्य कितना गंभीर, दूरदर्शिता तथा सत्यदर्शितासे पूर्ण है सो अर्थकामलक्ष्यके विषयमें धीर होकर थोड़ा विचार करनेसे ही पता लग जायगा। अर्थकाम जीवके चित्तमें विषयवासनाको उत्पन्न करता है। जीव अर्थकामका दास होकर इन्द्रियसुखके लिए उन्मत्त हो जाता है। विषयवासनाका स्वरूप यह है कि—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते॥
(मनुसंहिता २ अ०)

विषयभोगके द्वारा विषयवासना निवृत नहीं होती है, किन्तु घृतपुष्ट अग्निकी तरह उत्तरोत्तर वृद्धिगत होती रहती है। इसलिये जिस जातिमें अर्थकाम ही लक्ष्य है, धर्मानुकूल अर्थकाम लक्ष्य नहीं है वह जाति वासनाका दास बनकर उसीकी तृप्तिके लिए संसारमें किसी प्रकारके अधर्माचरणमें भी संकोच नहीं करती है। काञ्चनमें आसक्त जीव मिथ्या, प्रतारणा, चोरी, कपट व्यवहार, दूसरेको ठगना नरहत्या आदि सभी पापकर्मके द्वारा अर्थसंग्रहमें रात दिन व्यग्र रहता है। काममें आसक्त जीव उससे भी अधिक पशुभावको प्राप्त हो जाता है; क्योंकि एक तो कामसेवाके द्वारा कामाग्नि बढ़ती ही रहती है, दूसरा कामसुख मनका अभिमानमात्र होनेसे नवीन भोग्यवस्तुमें कामुक स्त्रीपुरुषको अधिक सुखकी प्रतीति हुआ करती है। इसलिए जिस जातिमें धर्महीन काम ही लक्ष्य है वहाँके स्त्री-पुरुषोंमें व्यभिचारका विस्तार होना स्वतः सिद्ध है। इसीसे विचारवान पुरुष समझ सकते हैं कि धर्म्महीन अर्थकामपरायण जातिकी अन्तिम दशा क्या होगी। अर्थलोलुप बनकर सम्पत्तिसंग्रहके लिए दूसरोंकी सम्पत्ति तथा दूसरोंका धन उन्हें ठगकर या उनसे लड़कर लेनेकी स्वभावतः ही इच्छा होगी। कामका दास बनकर परस्त्रीके छीननेकी या दूसरेकी बञ्चना करके लेनेकी स्वतः ही इच्छा होगी। फल यह होगा कि अर्थकामपरायण जातिके भीतर अन्तर्विवाद, परस्परमें कलह, प्रतारणा और संग्राम सदा ही बना रहेगा और यह दोष जब समस्त जातिके भीतर फैल जायगा तो ऐसी जाति दूसरी जातिका सम्पत्ति-हरण अथवा बलात्कारसे युद्धादि द्वारा सम्पत्ति आत्मसात् करनेकी चेष्टा करेगी। इसीसे जातीय संग्राम या जातीय महासमर भीषणरूपसे प्रवृत्त होकर जातीय शान्ति, जातीय प्रेम सभीको ग्रास कर लेगा। यूरोपका महासमर इसी

धर्महीन अर्थकामपरताका ही विषमय परिणामस्वरूप था और जब तक समस्त संसारमें धर्म्ममूलक अर्थकाम संग्रहकी प्रवृत्ति नहीं होगी तब तक बीच बीचमें इस प्रकारका संग्राम सर्वथा अपरिहार्य है। कुरुक्षेत्रका महासमर जिसके तीव्र अनलमें चिरकालके लिए भारतीय वीरता भस्मीभूत हो गई है, वह भी कौरवोंको धर्महीन अर्थकामपरायणता का ही चरम परिणाम था। अर्थकाम तथा राजसिक शक्तिके मदमें उन्मत्त होकर दुर्योधनने जब धर्मकी कुछ भी परवाह नहीं की और कपटता, प्रवञ्चना तथा घोर अधर्मका आश्रय लेकर धार्मिक पाण्डवोंको अनन्त दुःख दिया तभी कुरुक्षेत्रका महासमर प्रारम्भ हुआ था। इसी प्रकारसे जगत्प्रसिद्ध प्राचीन रोमन जातिका भी विनाश धर्महीन अर्थकामसेवाके द्वारा हुआ था। यूरोपके नाना देशों पर अधिकार विस्तार करके सम्पत्ति तथा प्रभुताके मदमें अत्यन्त उन्मत्त होकर रोमनजातिमें विषयलालसा बहुत बढ़ गई थी। अति घृणितरूपसे कामसेवा, व्यभिचार, पशु तकके साथ अप्राकृतिक इन्द्रिय संसर्ग ये सब उनके सामाजिक आचारमें परिगणित तथा निर्दोष आनन्दके उपादानके माने जाने लग गये थे। प्रकाश्य थियेटर आदिमें स्त्रीपुरुष मिलकर इन सब वीभत्स नारकीय दृश्योंको करने और देखने लग गए थे। तभी पापके गुरुभारसे वसुन्धरा कांप उठी थी और भीषण भूकम्पके द्वारा इटाली देशका अधिक अंश विध्वस्त हो गया था। और पश्चात् इसी अर्थकाममूलके महापापके फलसे रोमन जाति स्वाधीनताच्युत, विदेशीय जातिके द्वारा विदलित और नष्ट भ्रष्ट हो गई थी। यही सब धर्महीन अर्थकामपरायणताका अवश्यम्भावी कुपरिणाम है। इसी कारण दूरदर्शी प्राचीन महर्षियोंने आर्य्यजातिके लिए अर्थकामको लक्ष्य न बताकर आत्माको लक्ष्य बताया है और धर्मानुकूल अर्थकाम सेवा द्वारा अन्तमें मोक्षपदवीपर प्रतिष्ठा हो उसी आत्माराम अवस्थाको प्राप्त करनेके लिए उपदेश किया है।

पहले ही कहा गया है कि 'सुखार्थाः खलु भूतानां मताः सर्वाः प्रवृत्तयः" अर्थात् जीवकी यावतीय चेष्टा सुखलाभके लिए ही होती है। इस कारण अदूरदर्शी जीव अर्थकामकी भी सेवा सुखलालसासे ही करता है। किन्तु ऊपर लिखित वर्णनोंसे स्पष्ट होगा कि अर्थकाम जीवको वास्तवमें सुख न देकर अन्तमें घोर दुःखानलमें ही दग्ध करता है। शास्त्रमें त्रिगुणभेदसे जो तीन प्रकारके सुख बताये गये हैं उनमें अर्थकामजन्य सुख राजसिक तामसिक है। राजसिक सुखका लक्षण यह है कि—

विषयेन्द्रियसंयोगाद् यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥

विषयके साथ इन्द्रियोंके संयोगसे राजसिक सुख उत्पन्न होता है, वह प्रथमतः

अमृतकी तरह होनेपर भी परिणाममें विषवत् दुःखदायी तथा प्राणघातक है। पूज्यपाद महर्षियोंने शास्त्रोंमें भलीभांति इस बातको सिद्ध कर दिखाया है कि मोक्षकी तो बात ही नहीं है, धर्मको अपने सम्मुख न रखकर केवल अर्थ और कामके लिये जो अर्थकामका संग्रह जीव करता है, उससे उपस्थित राजसिक और तामसिक सुख कुछ होनेपर भी अन्तमें वह व्यक्ति अवश्य ही घोर नरकका अधिकारी होता है। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। विषयसुखमें दुःख क्या है इस विषयमें भगवान् पतञ्जलिने योगदर्शनमें कहा है—

"परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः।" विषय सुखके साथ परिणामदुःख, तापदुःख, संस्कारदुःख आदि अनेक प्रकारके दुःख होनेसे विवेकी पुरुषके निकट विषयसुख दुःखरूप है। चित्तकी शान्ति ही सुखका कारण है, किन्तु विषयसेवा द्वारा विषयस्पृहा पुनः पुनः बलवती होकर चित्तको कदापि शान्त होने नहीं देती है इसलिये भोगकालमें भी भोगीका चित्त भोगमुग्ध तथा चंचल होकर दुःखी ही रहता है। मन चंचल रहता है किन्तु इन्द्रियाँ शक्तिहीन होकर काम नहीं देती हैं, भोगान्तमें प्रतिक्रिया द्वारा समस्त शरीर तथा मन अवसन्न, क्लान्त, मृतवत् होकर अगाध दुःख तथा अनुतापके समुद्रमें डूब जाता है, वासनाकी शान्ति नहीं, किन्तु उसकी तृप्तिके पहले ही शरीर भोग परिणाममें अवश्यम्भावी अति कठिन रोगोंके द्वारा ग्रस्त हो जाता है, जिससे अकाल मृत्यु, अति कष्टप्रद मृत्यु आदि सभी दुःख जीवको प्राप्त होते हैं—यही सब विषयसुखके साथ अवश्य भोक्तव्य परिणामदुःख है। भोगदशामें समभोगी या अधिकभोगीको देखकर ईर्षादिद्वारा महान् तापःदुःख भोगीको प्राप्त होता है और अन्तमें भोगमें अशक्त वृद्धावस्थामें भोग्यवस्तुओंका स्मरण करके संस्कारदुःख होता है। इस प्रकारसे विषयसुखके साथ परिणाम दुःख, तापःदुःख तथा संस्कारदुःखका नित्य सम्बन्ध होनेसे विचारवान् पुरुषगण विषयसुखको दुःखरूप ही समझते हैं। जब राजसिक विषयसुखके साथ ही इतना है तो उसके तामसिक हो जानेपर प्रमाद, मोह आदि द्वारा विषयसुख कितना दुःखप्रद होगा इसका वर्णन नहीं हो सकता है। द्वितीयतः केवल इहजन्ममें ही विषयसुखसहचर दुःखकी समाप्ति नहीं होती है। उसका संस्कार कर्माशयमें एकत्रित होकर मृत्युके समय, मृत्युके अनन्तर प्रेतादियोनि, तथा नरकादिमें पुनः पुनः जन्म मरणमें जीवके लिये अशेष दुःखका कारण बनता है। आजीवन सेवित विषयको जीव मृत्युके समय छोड़ नहीं सकता है, किन्तु भोगसे तृप्ति होनेसे पहिले ही काल जीवनतरुका छेदन कर देता है, अतृप्त विषयी अत्यन्त दुःखके साथ संसारको छोड़कर परलोकमें जाता है, विषयके उन्मादमें अनुष्ठित अधर्माचरणोंका स्मरण करके अनुतापसे अनलमें दग्ध होने लगता है, वासनाके केन्द्र स्त्री पुत्रपरिवारोंको सामने विलाप करते हुए देखकर उसका प्राण फटता है और इस प्रकारसे विषयमुग्ध होकर मरनेसे निश्चय ही

जीवको मरणानन्तर प्रेतयोनि प्राप्त होती है। प्रेतयोनिमें वासनाविदग्ध जीवको दारुण-दुःख भोगना पड़ता है, उसको क्षणभरके लिये भी उस योनिमें शान्ति नहीं मिलती है, वासना हृदयमें बलवती रहनेपर भी उसके भोगनेमें असमर्थताके कारण प्रेतके हृदयमें अशान्तिकी अग्नि सदा ही जलती रहती है, इत्यादि इत्यादि अनेक दुःख भोगके बाद अर्थकामपरायण जीवको पूर्व असत्कर्मानुसार नरकलोकमें भी अनेक प्रकारके कष्ट भोगने पड़ते हैं। रौरव, कुम्भीपाक, असिपत्रबन आदि नरकोंका दुःख शास्त्रमें प्रसिद्ध ही है। उनमें भीषण कष्ट पानेके बाद पुनः मातृगर्भमें प्रविष्ट होकर दस महीने तक जीवको अनेक कष्ट भोगने पड़ते हैं। तदनन्तर गर्भसे निकलने समय अनेक कष्ट पाकर पूर्व मन्दकर्मा-नुसार हीन योनियोंमें जीवका जन्म होता है। अन्यायरूपसे अर्थोपार्जनकारी दरिद्रके घरमें उत्पन्न होकर आजीवन दुःख पाते हैं। कामपरायण पापी कामसम्बन्धीय अनेक कष्टोंको झेलते हैं। इसी प्रकारसे अर्थकामवासना द्वारा नवीन नवीन संस्कार उत्पन्न होकर जीवको जन्म-मरण चक्रमें घुमाया करते हैं और सहस्र प्रकारसे जीवहृदयमें अनन्त दुःखके दारुण दाहको बढ़ाया करते हैं। क्षणभंगुर अर्थकाममूलक विषयसुखके साथ इतना परिणामादि दुःख सम्बन्ध होनेसे ही दूरदर्शी महर्षियोंने आर्य्यजातिके लिये अर्थकामको जीवनका लक्ष्य न बताकर आत्माको ही जीवनका लक्ष्य बताया है और धर्मके अवलम्बनसे मोक्षमार्गमें अग्रसर होकर उसी नित्यानन्दमय आत्माकी उपलब्धिको ही आत्यन्तिक लक्ष्य करके वर्णन किया है। यही मनुष्य-जीवनमें अभ्युदयनिःश्रेयसप्रद धर्मकी आवश्यकता है, जिसका अनुभव कर लेनेपर जीव अशेषकल्याणका अधिकारी हो सकता है। अतः विज्ञानशब्दके पूर्व कथित लक्षणसे यही सिद्ध हुआ है कि बहिजगत् सम्बन्धीय उन्नत ज्ञानरूपी (Scientific) साइंटिफिक ज्ञानको भी विज्ञान कहते हैं और अन्तर्जगत सम्बन्धी उन्नत ज्ञानरूपी आत्म-ज्ञानको भी विज्ञान कहते हैं। सर्वव्यापक, सर्वजीवहितकारी, सब मनुष्योंको अभ्युदय और निःश्रेयस देनेवाला सनातनधर्म साइंटिफिक (Scientific) ज्ञान और आत्म-ज्ञान-रूपी दोनों श्रेणीके विज्ञानसे पूर्ण है। सनातनधर्म मनुष्य प्रणीत नहीं है। वह सृष्टिका नियामक और धारक तथा मनुष्यको अभ्युदय और निःश्रेयस देनेवाला ईश्वरीय नियम है।

देशसेवा और सनातनधर्म

आधुनिक विज्ञानके साथ सनातनधर्मका सम्बन्ध बताकर अब देशसेकाके साथ सनातनधर्मका सम्बन्ध बताया जाता है। नवशिक्षित लोगोंमेंसे कोई ऐसा सन्देह करते हैं कि सनातनधर्मके साथ देशसेवाका सम्बन्ध नहीं है। परन्तु जो लोग आर्यशास्त्रके रहस्यसे परिचित हैं वे भलीभांति जानते हैं कि आर्यजातिमें देशसेवा संस्कार बहुत ही महत्त्व तथा वैज्ञानिक रहस्यसे पूर्ण है। आर्यजातिने अपने शास्त्रमें देशको तीन भागोंमें विभक्त किया है। यथा शरीर देश, जन्मभूमि देश और समस्त विश्व देश !

प्रथम दशामें साधक अपने शरीरकोही देश मानता है। और शरीरकी सहायतासे आत्मोन्नतिमें तत्पर होकर योग्यता लाभ करता है। इस दशामें वह शरीरकी स्वास्थ्यरक्षा आदि शरीरके भोगविलासके लिये नहीं करता है, किन्तु जन्मभूमिरूपी देशकी सेवाके लिये ही शरीररूपी देशकी रक्षा करता है। दूसरी अवस्थामें मनुष्य अपनी जन्मभूमिको देश समझकर उसकी सेवासे निःस्वार्थ पुरुषार्थकी शिक्षा द्वारा पुण्य सञ्चय करता है। इसी पुण्यका अन्तिम फल आधिभौतिक मुक्ति अर्थात् देशकी स्वतन्त्रता है। इसी पुण्यकार्यमें रुचि बढ़ानेके लिये ही शास्त्रमें लिखा है 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी'। अर्थात् माता और मातृभूमि स्वर्गसे भी बढ़ कर है अतः सदा सेवा करने योग्य है। तीसरी अवस्थामें सर्वोत्तम परमहंसके लिये समस्त विश्व ही स्वदेश है। इसीके विषयमें श्रीभगवान् शंकराचार्यने कहा है—

"बान्धवाः शिवभक्ताश्च स्वदेशो भुवनत्रयम्"

भगवान् वेदव्यासने भी कहा है—

"उदारचरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम्"

अर्थात्—समस्त भगवद्भक्त अपने मित्र और समस्त विश्व अपना देश है। किन्तु आर्यजाति अन्य जातियोंकी तरह मोह, राग या परकीय द्वेषमूलक अभिमानके द्वारा ग्रस्त होकर स्वदेशकी सेवा नहीं करती है। क्यों आर्यजातिको ज्ञात है कि ये सभी वृत्तियां क्लिष्ट तथा बन्धनकारिणी हैं। राग, मोहादि द्वारा देशसेवा करनेसे उस सेवाका यह परिणाम निकलता है कि यदि कार्यमें सफलता हुई तो अहंकार और कर्त्तृत्वाभिमान बढ़ जायगा। यथा गीतामें—

अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।

समष्टिजीवके कर्मानुसार ही फलाफल होता है, किन्तु आसक्तियुक्त कर्त्ता यहां समझता है कि मानो उसने ही देशका उद्धार कर दिया। इस प्रकार अहंकारजन्य कर्त्तृत्वा-

भिमान जीवका बन्धनकारक तथा अधोगतिप्रद होता है। पक्षान्तरमें यदि प्रारब्धवशात् कार्यमें विफलता हुई तो मोह, या अनुरागमें धक्का लगनेसे सकाम देशसेवक नैराश्यके समुद्रमें डूब जायगा और कदाचित् नैराश्यके तीव्र आघातसे भग्नहृदय होकर सेवाव्रतको त्याग भी दे सकता है। इसके सिवाय तृतीय पथ, जिसमें कि परकीय द्वेषपर स्वकीय प्रेमकी प्रतिष्ठा है अर्थात् अपने देशकी उन्नतिके लिये दूसरे देश पर अत्याचार करना है, वह तो परम द्वेषमूलक होनेसे महातमोगुणमय, संग्राममय, अशान्तिकर, आध्यात्मिक-अवनति-कर तथा सर्वथा परित्याज्य है क्योंकि स्थितिका लक्षण प्रेममूलक सत्त्वगुणमें है द्वेषमूलक तमोगुणमें नहीं है। तमोगुण नाशकर्त्ताहै, इस लिये जो जाति अन्य जाति पर अत्याचार तथा द्वेषके वर्त्ताव द्वारा अपनी श्रीवृद्धि चाहती है, वह कदापि चिरकालस्थायिनी, शान्तिमयी श्रीको नहीं प्राप्त कर सकती है। उसके स्वार्थपरतामय, अनुदार नीच आचरणोंसे अन्तर्जातीय संग्राम तथा विप्लव होता है, कदापि यथार्थ उन्नति नहीं होती है। इस कारण पूज्यपाद दूरदर्शी महर्षियोंने आर्यजीवनमें मोह-राग-अभिमानहीन गीतोक्त कर्मयोगके सिद्धान्तानुसार स्वदेशसेवाका उपदेश किया है। उनका उपदेश यह है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्म्मणि ॥
योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय !
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥

कर्ममेंही अधिकार है, फलमें अधिकार नहीं फलाकांक्षासे कभी कर्म नहीं करना चाहिये और फल नहीं मिलेगा इस विचारसे कर्मका त्याग भी नहीं करना चाहिये। आसक्तिशून्य तथा सिद्धि असिद्धिमें समभावापन्न होकर कर्म करना चाहिये, इस प्रकार समभाव ही योग कहलाता है। आर्यजातिके आदर्श लक्षणोंमें परधर्मी विद्वेष या परजाति विद्वेष है ही नहीं। इन दोनोंको आर्यजाति निन्दनीय तथा जातो कलङ्करूप समझती है। जिस जातिके धर्ममें यह उदार सिद्धान्त है कि :—

'धर्मं यो बाधते धर्मो न स धर्मः कुधर्म तत्'

अर्थात् जो धर्म अन्य धर्मको बाधा देवे वह कुधर्म है उस जातिमें परधर्मी विद्वेष हो नहीं सकता। और जिस जातिके उदार लक्ष्यमें 'उदारचरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम्' ऐसी आज्ञा है, उस जातिके आदर्शचरित्रमें परजाति-विद्वेषका कलङ्क रह ही नहीं सकता। आर्यशास्त्रमें कहीं कहीं जो अनार्यदेशमें जाने अथवा वहाँ वास करने आदिके विरुद्ध वचन पाये जाते हैं अथवा समुद्रयात्रा या विदेशयात्रा आदिकी निन्दा पायी जाती है उसका

कारण परधर्मीविद्वेष या परजातिविद्वेष नहीं है। किन्तु उसका कारण आर्यजातिमें आध्यात्मिक भावकी पुष्टिका संरक्षण ही है। आर्यजातिकी जो मनुष्यश्रेणी केवल आध्यात्मिक लक्ष्यको ही मुख्य समझती है, अथवा जो ब्राह्मणमण्डली केवल मोक्षधर्मकी ही पक्षपातिनी हो उन्हींको लक्ष्य करके ये सब आज्ञाएँ आर्यशास्त्रमें दी गई हैं। आर्यजीवन अध्यात्मलक्ष्यमय है, इस लिये आर्यजातिको स्वदेशसेवामें भी आध्यात्मलक्ष्य ही प्रधान रहता है। आर्यजाति भगवत्पूजारूपसे स्वदेश तथा स्वजातिकी सेवा करती है। उसके सिद्धान्तानुसार समस्त संसार श्रीभगवान्‌का विराट् रूप तथा स्वदेश उस विराट् पुरुषका हृदय है। इसलिये आर्यजातिकी स्वदेश-सेवा विराट् भगवान्‌की पूजा है। मोक्षप्रिय आर्यजातिनिष्कामभावसे ही इस विराट् पुरुषकी पूजा करती है और सफलता या विफलताको पूजाफल रूपसे श्रीभगवान्‌में ही समर्पण करती हैं। इसलिये स्वदेश-सेवामें उसको मोह, आसक्ति, अभिमान, अहंकार आदि क्लिष्ट वृत्तियोंके द्वारा आक्रान्त होनेका कोई भी अवसर नहीं रहता है। वह स्वदेशसेवा द्वारा विराट् भगवान्‌की ओर ही अग्रसर होती हैं। स्वदेश सेवामें उसकी मृत्यु, मृत्यु नहीं कहलाती है, किन्तु अमृतत्व प्राप्तिकी सोपानस्वरूप बन जाती है। स्वदेश-सेवामें प्राण समर्पण करके आर्यजाति प्राणहीन नहीं होती है, किन्तु विश्वप्राण भगवान् में ही जा मिलती है। अतः इस प्रकार अलभ्य लाभके लिये प्राणदान देनेमें आर्यजातिको कुछ भी सङ्कोच नहीं रहता है। अन्यजातिके लोग मोहादिवृत्तियोंके वशीभूत होकर स्वदेशवासियोंको भ्राता कहकर उनके सुखके लिये आत्मसुखत्याग करनेमें पुरुषार्थ करते हैं। किन्तु आर्यजातिको इस प्रकार वृत्तिके वशीभूत होने का प्रयोजन नहीं रहता है। उसका धर्ममय, अध्यात्मलक्ष्यमय जीवन ही आत्मैकत्वज्ञानसे जीवमात्रके प्रति, विशेषतः स्वदेशवासियोंके प्रति भ्रातृभाव उत्पादित करता है। वास्तवमें अपने देशवासियोंको 'भाई' कहनेका अधिकार आर्यजातिको ही है। क्योंकि आर्यजाति ही आर्यशास्त्रानुभवसे जानती है कि—

"ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति"
"ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः"

प्रत्येक जीवमें जीवात्मारूपसे अद्वितीय परमात्माका ही अंश विद्यमान है, अतः परमात्माके अंश होनेसे सभी आत्मा भ्रातृभावसे युक्त हैं। समस्त जीवोंमें विशेषतः स्वदेशवासियोंमें यह भ्रातृभावसे स्वाभाविक तथा अध्यात्मकारणजन्य है। इन्हीं सिद्धान्तोंके अनुसार आर्यजाति स्वदेश सेवामें विराट् भगवान्‌की पूजा और नरपूजामें नरायणको पूजा करती है। और फलनिरपेक्ष होकर इस प्रकारसे अनुष्ठित महती पूजा आर्यजातिके लिये यथार्थतः स्वराज्य प्राप्तिकी कारणस्वरूप बन जाती है।

आर्यजातिके इस स्वदेशसेवाव्रतमें सनातनधर्मकी ओरसे विशेष प्रोत्साहन प्राप्त होता है। जीवभाव स्वार्थमय है, इसलिये दूसरेके लौकिक सुखके लिये प्राण देकर अपना लौकिक सुख खोनेवाला मनुष्य इस संसारमें बहुत ही कम मिलता है। किन्तु यदि जीवको इस प्रकारका विश्वास हो जाय कि इस दुःखमिश्रित सुखमय मनुष्यलोकसे ऊपर ऐसे अनेक लोक हैं, जहाँ दुःखलेशहीन अनुपम सुख मिलते हैं और जहां पर इस लोकमें स्वधर्म तथा स्वदेशके लिये प्राणदानके फलसे मनुष्य जा सकते हैं, तो परलोकपर विश्वास-शील आस्तिक मनुष्यको परार्थके लिये प्राणसमर्पण, परम वाञ्छनीय तथा प्रीतिकर वस्तु हो जाती है, क्योंकि इस प्रकारसे प्राणदान तथा ऐहलौकिक सामान्य सुखत्याग अधिक सुखलाभका हो कारण हो गया। वृहदारण्यकोपनिषत्में लिखा है कि उन्नत देवादि लोकोंमें मनुष्यलोकसे शतशत गुण अधिक आनन्द है। स्वर्गलोकके विषयमें शास्त्रमें प्रमाण है—

"यन्न दुःखेन संभिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्।
अभिलाषोपनीतं च तत् सुखं स्वःपदास्पदम्॥"
"स्वर्गे लोके न भयं किञ्चनास्ति
न तत्र त्वं न जरया बिभेति।
उभे तीर्त्वा अशनायापिपासे
शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके॥"
"अश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान्।"

स्वर्गसुखके साथ दुःख मिला हुआ नहीं है या उसके बाद भी दुःख नहीं होता है, वहां इच्छानुसार सभी भोग्य वस्तु प्राप्त होती है स्वर्गलोक भयशून्य है वहां मृत्युका अधिकार नहीं है और जराका भी भय नहीं है, क्षुत् पिपासा तथा दुःखशोकसे मुक्त होकर वहां लोग आनन्दके साथ दिव्य भोगोंको भोगते हैं। इस प्रकार स्वर्ग तथा अन्यान्य ऊर्द्ध्वलोकोंमें गति कैसे होती है, इस विषयमें गीतामें लिखा है—

"हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गम्"
"यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ ! लभन्ते युद्धमीदृशम्॥" (गीता)

धर्म तथा देशसेवाके लिये मृत्यु और युद्ध स्वर्गका खुला हुआ द्वार स्वरूप है। अतः इस प्रकार अनुपम सुखप्रद देशसेवाके लिये किसकी रुचि नहीं होगी? यही आर्य-जीवनको स्वदेशसेवामय बनानेके लिये धर्मकी ओरसे पवित्र प्रोत्साहन है। केवल

इतना ही नहीं, अधिकन्तु स्वदेशसेवादि उत्तम कर्मोंके फलसे बहुत वर्ष तक उन्नत लोकोंमें सुख भोगानन्तर पुनः जब मनुष्यलोकमें जीवका जन्म होता है, तो अति उत्तम सुखमय उन्नत कुलमें वे सब जन्मते हैं। जैसा कि छान्दोग्य उपनिषद्में लिखा है—

"ये रमणीयचरणा अभ्याशो ते रमणीयां योनिमापद्येरन्"

रमणीय आचरणकारिगण उन्नत रमणीय योनियोंको प्राप्त होते हैं। अतः धर्मसे परलोक पर विश्वास और उससे देशसेवादि उत्तम कार्योंमें प्रवृत्ति स्वभावतः होती है, इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है।

ऊपर वर्णित कारणोंसे आर्यजाति देशसेवाके कार्यमें शास्त्रविरुद्ध उपायोंका अवलम्बन न कदापि कर सकती है और न करनेको आवश्यकता ही समझती है क्योंकि उनको निखिलशास्त्रयोनि श्रीभगवान्‌के गीतावाक्य पर सम्पूर्ण विश्वास है यथा—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्त्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्त्तुमिहार्हसि॥

अर्थात् जो शास्त्रमें बताये हुए उपायोंको छोड़ कर मनमाना काम करता है, उसको कार्यमें न सिद्धि ही मिलती है, न सुख मिलता है और न उत्तम गति मिलनी है। इस लिये कर्त्तव्य अकर्त्तव्यका निर्णय करते समय शास्त्रमें क्या लिखा है जान कर तदनुसार कर्त्तव्य ठीक करना चाहिये, तभी सच्ची सफलता मिलती है और ऐसा करनेसे कभी धोखा नहीं होता है। आजकल शास्त्रज्ञानहीन देशनेता कहानेवाले कुछ मनुष्य देशसेवा तथा दोशोन्नतिकार्यमें शास्त्रोंको तथा सनातनधर्मको बाधक समझते हैं यह उनकी सम्पूर्ण भूल है। उनको आर्यजातिके लिये सच्चो उन्नतिका क्या मार्ग है यदि इसका पूर्ण परिज्ञान होता तो वे कभी ऐसा कहने या सोचनेकी चेष्टा नहीं करते। विचार करने पर पता लगेगा कि इतने झगड़ेके बाद स्वराज्यलाभके लिये स्वदेशीवस्त्र व्यवहार आदि जिन उपायों पर निर्भर किया जाता है, उन सबका प्रयोग आर्यशास्त्रमें सदाचाररूपी प्रथम धर्मके भीतर ही अनादिकालसे रक्खा गया है। केवल वस्त्रकी ही बात क्या, आर्यशास्त्रमें तो दैव या लौकिक कार्यमें अनार्य प्रस्तुत या अनार्य संस्पृष्ट वस्तुओंका सर्वथा वर्जन लिखा हैं। महाभारतके आदि पर्वमें पाण्डुराजाके अन्त्येष्टि प्रकरणमें—'अथाऽतो देशजैः शुभ्रै र्वासोभिः समयोजयन्' ऐसा कहकर दैव तथा पितृकार्यमें स्वदेशी वस्त्रका ही व्यवहार

होना चाहिये ऐसी आज्ञा की गई है आह्निकतत्त्वमें इसी प्रकरणके अनुसार प्रमाण उद्धृत किया गया है यथा—

न स्यूतेन न दग्धेन पारक्येण विशेषतः।
मूषिकोत्कीर्णजीर्णेन कर्म कुर्याद् विचक्षणः॥

अर्थात् देवकार्यमें सिया हुआ, जला हुआ, या चूहेसे कटा हुआ वस्त्र जिस प्रकार काम नहीं आता है उसी प्रकार विदेशजात वस्त्र भी काम नहीं आता है। आर्यशास्त्रके सिद्धान्तानुसार पहिले देवताको समर्पण करके तब वस्त्र पहिनना चाहिये अतः अपने व्यवहारमें भी विदेशी वस्त्रादिका उपयोग करना सर्वथा शास्त्र तथा सदाचार गर्हित है। मन्वादि स्मृतियोंमें 'उपपातक कौन-कौन हैं' इसके वर्णन प्रसङ्गमें लिखा है कि गोवध, अयाज्ययाजन, परदारसेवा, आत्मविक्रय, अभोज्यभोजन आदि जिस प्रकार उपपातक हैं ऐसा ही 'महायन्त्रप्रवर्त्तन भी उपपातक है। बड़ी-बड़ी मशीनें—वस्त्रादि द्रव्य अथवा आटा आदि खाद्यद्रव्य प्रस्तुत करनेके लिये जो होती हैं, उन्हें महायन्त्र कहते हैं। इनके द्वारा श्रमसामञ्जस्य नष्ट होकर पूंजीपतिका दल बढ़ता है और मजदूर तथा मध्यवित्तका दल हीनबल हो जाता है। इससे देशमें अन्तःकलह, अशान्ति, रागद्वेष फैल जाता है। इसी कारण आर्यशास्त्रमें मशीनसे काम लेने को उपपातक कह कर उसकी बड़ी निन्दा की गई है और गृहशिल्पका ही आदर तथा प्रशंसा की गई है। श्राद्धतत्त्वमें तो दशाहीन वस्त्रका देवपितृकार्यमें व्यवहार ही निषिद्ध किया गया है यथा—

ईषद्धौतं नवं शुभ्रं सदशं यन्न धारितम्।
अनाहतमिति प्रोक्तं प्रशस्तं सर्वकर्मसु॥

स्वच्छ, नवीन, शुभ्र वस्त्र, जिसको किसीने पहिना नहीं और जिसकी दोनों ओर दशा बनी हुई हो उसको अनाहत कहते हैं और समस्त देव तथा पितृ कार्यमें ऐसा ही वस्त्र प्रशस्त है। मशीनमें एक साथ लम्बे लम्बे बहुत कपड़े तैयार होते हैं, इस लिये उसमें 'दशा' नहीं रक्खी जा सकती है, जैसा कि हाथके बुने हुए वस्त्रमें रक्खी जा सकती है अतः हाथका बुना हुआ वस्त्र ही शुभकार्यमें उत्तम है, यही शास्त्रका सिद्धान्त निश्चित हुआ। यजुर्वेदीय श्राद्धतत्त्वमें इसी प्रकार अन्यान्य चीजोंके विषयमें भी कहा गया है कि—

'असुरं चक्रनिष्पन्नं दैविकं हस्तनिर्मितम्'

मिट्टीके वर्त्तन, अन्यान्य धातु या उपकरणनिर्मित वस्तु इन सबमें जो चक्र या यन्त्रके द्वारा निर्मित हो वह आसुरी वस्तु कहलाती है और हाथके द्वारा निर्मित हो तो दैवी वस्तु कही जाती है। आसुरी वस्तुओंके द्वारा देवकार्य नहीं हो सकते। इस प्रमाणसे मेशीन

निर्मित यावतीय द्रव्य अव्यवहार्य बताये गये हैं। इतना तक कि दियासलाई आदि जिसमें अशुद्ध हड्डी आदिसे उत्पन्न फास्फरस लगते हैं उसका भी परित्याग यज्ञादिकार्यमें अग्नि प्रज्वालनार्थ कर दिया गया है—यथा 'क्रव्यादमग्निं प्रहिनोमि दूरम्'। क्रव्यसे उत्पन्न अग्नि द्वारा कोई उत्तम कार्य नहीं करना चाहिये अपना भोजनादि कार्य भी यज्ञ है, क्योंकि भगवान्‌को निवेदन किये बिना अन्नग्रहण करना पाप तथा चोरका काम है यथा गीतादि शास्त्रमें लिखा है—

'अन्नं विष्ठा पयो मूत्रं यद्विष्णोरनिवेदितम्'।
यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः॥
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्।
'तैर्दत्तानप्रदायेभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः'॥ (गीता)

जो अन्न या दुग्ध भगवान्‌को निवेदन नहीं किया जाता है वह विष्ठा मूत्र तुल्य ग्रहणके अयोग्य है। यज्ञशेष भोजन करने पर मनुष्य सब पापसे मुक्त हो जाता है, केवल अपने ही लिये पकानेवाला पाप भोजन करता है। देवताओंका दिया हुआ अन्न जो उन्हें बिना भोग लगाये खाता है वह चोर है। अतः प्रतिदिन भोजन बनानेमें भी दियासलाई आदि अशुद्ध वस्तुका व्यवहार निन्दनीय है, फिर विशेष यज्ञादि कार्यमें तो इनका व्यवहार हो ही नहीं सकता है। इसी कारण अरणि मथकर यज्ञाग्नि प्रकट की जाती है इसके अतिरिक्त विदेशी चीनी, विदेशी नमक, विदेशी औषधि इत्यादि सभीमें कहीं हड्डीका, कहीं खूनका, कहीं शराबका, कहीं अन्य किसी अपवित्र वस्तुका अवश्य सम्बन्ध रहनेसे वे सभी आचारवान व्यक्ति के लिये त्याग करने योग्य हैं। क्रिकेट, हाकी, टेनिस, बलीबाल, केरम, विलियार्ड आदि खेलनेकी चीजें, भेसेलीन, एमेंटम, लेवेण्डर, ब्रश, कोकोजेम; बिस्कुट, वार्ली, मेलिन्सफूड, मल्टेड्मिल्क आदि कितनी ही चीजें—सबके सब अनार्य संस्पर्शदूषित होनेके कारण आर्य सदाचारके विचारसे गर्हित समझे जाते हैं। सदाचार सनातनधर्मका प्रमथ अङ्ग है। जिससे प्रथम धर्मका ही पालन नहीं होता है, वह आगेके धर्मका क्या पालन करेगा? इस लिये विदेशी द्रव्य वहिष्कार द्वारा देशसेवा सनातनधर्मजगत्‌का सर्वप्रथम कर्त्तव्य है, यही सिद्ध हुआ। दूसरी ओर आचारसे प्रतिकूल होनेके कारण राजकीय सन्धि, सामयिक राजनीति, व्यापार वाणिज्यमें सुविधा-असुविधा आदि किसी भी कारणसे विदेशी वस्तुका बलपूर्वक ग्रहण नहीं हो सकता है, क्योंकि इसके साथ धर्म विचारसे आत्माका चिरसम्बन्ध है। श्रीभगवान् मनुने अपनी संहिताके ९ अध्यायके ७५ श्लोकमें स्त्रियोंके चरखा कातनेका स्पष्ट उपदेश किया। यथा—

विधाय प्रोषिते वृत्तिं जीवेन्नियममास्थिता ।
प्रोषिते त्वविधायैव जीवेच्छिल्पैरगर्हितैः ॥

प्रवास जाते समय पति यदि भोजन वस्त्रकी व्यवस्था कर गये हों तो सती स्त्रीको नियमके साथ उसीसे दिन काटती रहनी चाहिये, नहीं तो सूत्र निर्माण आदि निर्दोष शिल्पके द्वारा धन कमाकर जीविका चलाती रहनी चाहिये। इस प्रकारसे स्वदेशी भावमय जीवन बनाना और हर प्रकारसे देशकी सेवा करना सनातनधर्मका उत्तम अङ्ग है यही सिद्धान्त स्पष्ट होता है।

यदि आजकल समस्त पृथिवीमें प्रचलित भिन्न भिन्न धर्ममतोंके सिद्धान्त पर ही विचार किया जाय तौभी देशसेवाके विषयमें सनातनधर्मका सिद्धान्त ही सबसे बढ़ कर पाया जायगा। क्योंकि सनातनधर्मका यह अटल सिद्धान्त है कि बिना देशसेवारूपी विराट पूजाके मनुष्यको मोक्ष मिल ही नहीं सकता। आर्यशास्त्रमें तो दोके सिवाय कोई तीसरे प्रकारकी मृत्यु लिखी ही नहीं है। मनुसंहितामें स्पष्ट लिखा है—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ ।
परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः ॥

जिस प्रकार योगबलसे ब्रह्मरन्ध्र द्वारा प्राणके निकालनेसे योगी सूर्यमण्डल भेदकर उत्तम गतिको पा सकता है, उसी प्रकार देश तथा धर्मके लिये पीठ न बताकर युद्धमें जो वीर मरता है उसको भी योगीकी उत्तमा गति प्राप्त हो जाती है।

श्रीमद्भागवतमें तो यह भी लिखा है कि देशसेवा छोड़कर केवल व्यक्तिगत पूजा करनेसे यथार्थ शान्ति नहीं मिलती है। यथा—

अहं सर्वेषु भूतेषु भूतात्मावस्थितः सदा ।
तमवज्ञाय मां मर्त्यः कुरुतेऽर्चाविडम्बनम् ॥
द्विषतः परकाये मां मानिनो भिन्नदर्शिनः ।
भूतेषु बद्धवैरस्य न मनः शान्तिमृच्छति ॥
अथ मां सर्वभूतेषु भूतात्मानं कृतालयम् ।
अर्हयेद् दानमानाभ्यां मैत्र्याभिन्नेन चक्षुषा ॥ (४ स्कन्ध)

श्रीभगवान् जीवात्मारूपसे घट घटमें व्याप्त हैं, अतः जीवसेवा न करके केवल पूजा करना पूजाका विडम्बनमात्र है। जो मन्दिरादिकी तरह शरीररूपी मन्दिरमें भी भगवान्की स्थितिको न मानकर जीवोंसे वैरभाव रखता है उसका मन शान्तिको नहीं पा सकता है।

इसलिये सकल शरीरमें आत्माको मानकर मित्रकी दृष्टि सबके प्रति रखनी चाहिये और दान मान आदि द्वारा सबकी सेवा करनी चाहिये। श्रीभगवान्‌ने गीतामें स्पष्ट बताया है कि निर्गुण ब्रह्मोपासकगण यदि जीवसेवा न करें तो निर्वाण मोक्षपदको कदापि सहजमें नहीं पा सकते है। यथा—

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्य्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥
संनियम्येन्द्रियग्राम सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥ (१२ अध्याय)

मन वाणीसे परे, इन्द्रियातीत, कूटस्थ, चिन्तासे अतीत, सर्वव्यापी, अचल, अव्यक्त, निर्गुण, निराकार ब्रह्मको वे ही योगिगण पा सकते हैं, जिनने इन्द्रियोंका विशेष निग्रह किया है, स्त्री पुरुष पशु मानव आदि सर्वत्र ब्रह्मभावसे जिनकी समबुद्धि उत्पन्न हुई है और जो विश्वको ब्रह्मका रूप मानकर भूतहितमें सदा रत रहते हैं। और भी—

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः॥ (५–२५)

निष्पाप ऋषिगण द्विधाभावहीन, संयतेन्द्रिय तथा भूतहितमें रत होकर ही ब्रह्म निर्वाण को पाते हैं, अन्यथा नहीं। इन सब प्रमाणों से स्पष्ट होता है कि देशसेवा कार्यमें सनातनधर्मका विचार बहुत कुछ उन्नत है। अब ऐसी आज्ञा शास्त्रोंमें क्यों की गई है इस पर विचार किया जाता है। जीव भाव संकीर्ण तथा स्वार्थपरतामय है। क्रमोन्नतिमें पशुयोनिके बाद मनुष्ययोनिके होनेसे साधारणतः मनुष्योंके भीतर भी पशुभाव बहुत कुछ भरा हुआ रहता है। इन्द्रियपरता स्वार्थपरता इत्यादि पशु भावके लक्षण हैं। बिलाड़, शेर, सिंह, लङ्गुर आदि पशु स्वार्थवश अपने बच्चे को भी मार डालते हैं। इस प्रकार क्षुद्रहृदय जीव ब्रह्मको नहीं पा सकते हैं, क्योंकि 'वृहत्त्वाद् ब्रह्म गीयते' ब्रह्मसत्ता असीम है, देश काल से सीमाबद्ध नहीं है, बड़ेको पानेके लिये हृदयको बड़ा बनाना होता है।

इस लिये जब तक जीव अपने व्यष्टि शरीरके ऊपर ही ममताग्रस्त होकर उसीकी सेवामें लालायित रहता है तब तक उसकी आत्मा न उदार बन सकती है और न जीवकी क्षुद्रता नष्ट होकर विराट् ब्रह्मके साथ एकता हो सकती है। निष्काम कर्मयोगके द्वारा जीव अपनी क्षुद्रसत्ताको उदार करता हुआ तथा अनुदार मलोंको दूर करता हुआ ब्रह्मकी विराट्सत्ताके साथ धीरे-धीरे एकतायुक्त हो सकता है। इस लिये वेदमें कर्मयोगका उपदेश किया गया है। कर्मयोग स्वराज्य प्राप्तिका एक प्रधान उपाय है। निष्कामता,

स्वार्थ सङ्कोच तथा दूसरेके सुखके लिये आत्मसुख विसर्जन इसके प्रधान साधन हैं। इसका प्रथम अनुष्ठान पारिवारिक राज्यमें ही प्रारम्भ होता है। Charity begins at home उदारता घरमें ही प्रारम्भ होती है ऐसा वचन भी मिलता है। मनुष्य एक परिवारमें रहकर स्त्री पुत्र आत्मीय स्वजनोंके लिये अपना स्वार्थ त्याग करना सीखता है। उनके सुखमें सुखी होना, उनके दुःखमें दुःखी होना, उनके सुखके लिये अपना सुख त्याग करना—इस प्रकारसे अभ्यास करते-करते जीव भाव सुलभ स्वार्थपरताका सङ्कोच और ईश्वर भाव सुलभ परार्थपरताका विकाश होने लगता है। तदनन्तर यही परार्थभाव उदार होता हुआ ग्राम सेवा, प्रदेश सेवा, जाति सेवा इत्यादि क्रमसे समग्र देश सेवामें जब जीव के चित्तको नियोजित करता है तभी वह महान् आत्मा कर्मवीर, स्वदेश सेवी कहलाता है। प्राचीन रोम जातिमें इस प्रकार कर्मवीरकी पूजा देवताकी तरह हुआ करती थी और इसका नाम Heroworship या वीरपूजा था। आधुनिक यूरोपियन जातिके भीतर भी कर्मवीरोंका सम्मान होता है। यहीं तक स्थूल स्वदेश सेवाकी कोटि है। इसके बाद धर्म सेवाकी कोटि है जिसमें प्रथमतः समस्त संसार व्यापी स्वधर्मवालोंके प्रति प्रेम किन्तु परमधर्म वालोंके प्रति द्वेष होता है। यह कोटि मुसलमान धर्म की है जिसके अनुयायिगण मुसलमानोंसे तो प्रेम करते हैं, किन्तु अन्य धर्मवालोंको 'काफिर' कहकर उनको बध करनेमें भी पुण्य समझते हैं। इसके अनन्तर ईसाई धर्मकी कोटि है जिसमें duty to God and love to man अर्थात् मनुष्य मात्रके प्रति प्रेम और ईश्वर भक्ति बताई गई है। किन्तु वर्त्तमान क्रिश्चियन जगतमें वह आदर्श नामशेष रह गया है। वे सार्वजनिक प्रेमका उपदेश दूसरोंको तो करते हैं, किन्तु स्वयं इसका आचरण नहीं करते। वर्त्तमान क्रिश्चियन जगत्का स्वधर्म तथा स्वदश प्रेम बहुधा परदेश तथा परजाति पीड़न पर ही निर्भर करता है। वे परकीय द्वेषके द्वारा आत्मीय प्रेमका परिचय प्रदान करते हैं। इसी कारण यूरोपकी स्वदेश तथा स्वधर्म सेवामें शान्ति नहीं फैल रही है, किन्तु द्वेषकी अग्नि क्रमशः बढ़कर जातीय घोर संग्राम फैल रहे हैं।

इसके बाद जैन तथा बौद्धधर्मकी कोटि है जिसमें मनुष्यप्रेमके अतिरिक्त मनुष्येतर पशु, पक्षी कीटादि तकसे प्रेम तथा उनकी रक्षा करनेकी आज्ञा है। इसी कारण ईश्वरसत्ताके मानने पर भी इन धर्मों में अहिंसामूलक परम प्रेमकी प्रतिष्ठा है। मुसलमान तथा ईसाई लोग मनुष्येतर प्राणियोंमें प्रेम नहीं रखते, किन्तु उन्हें अपना खाद्य समझकर खा जाया करते हैं इसी कारण सेवा विचारसे इन धर्मोंकी कोटि जैन बौद्ध धर्मोंसे हीन है। इसके बाद सनातन धर्मकी कोटि है, जिसमें ईश्वरसत्ताको सकल जीवोंमें मानकर सबकी रक्षाकी जाती है, विश्व प्रेम और भगवद्भाव दोनोंके होनेसे ही यह कोटि इतनी उन्नत है। इस कारण उदार

सनातनधर्मी कर्मयोगी मनुष्य मात्रके साथ साथ जीव मात्रके प्रति प्रेम करते हैं मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग, वृक्ष, लता सभीमें भगवत्कला जानकर सभीके साथ अपने उदार हृदय का सम्बन्ध स्थापन करते हैं। जैसा कि भागवतमें लिखा है—

मनसैतानि भूतानि प्रणमेद् बहुमानयन्।
ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति ॥ (४ स्कन्ध)

ईश्वर सकल जीवों में व्याप्त हैं इसलिये सभीको आत्माका अंश समझकर सभीका सत्कार करना चाहिये, इस सिद्धान्तके अनुसार उदारचेता कर्मयोगी विश्वके समस्त जीवोंके प्रति प्रीति परायण हो जाते हैं। इसके भी अनन्तर जब कर्मयोगीका आध्यात्मिक सम्बन्ध सजीव निर्जीव समस्त भूतोंमें, मनुष्येतर पश्वादि जीव, मनुष्य, देवता, ऋषि, पितृ सभीमें तथा सबसे परे विराजमान परब्रह्ममें प्रतिष्ठित हो जाता है, तभी उनको यथार्थमें पूर्ण स्वराज्यकी प्राप्ति होती है। पूज्यपाद महर्षियोंने 'स भवति स्वराट्' इत्यादि वेद वचनोंके द्वारा इसी स्वराज्यकी ओर लक्ष्य कराया है। श्रीभगवान् मनुजीने भी कहा है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
समं पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति ॥ (१२ अ०)

आत्माको सकल भूतोंमें तथा सकल भूतोंको आत्मामें देखकर आत्मायज्ञ परायण महात्मा स्वराज्यलाभ करते हैं। इस स्वराज्यका लाभ करनेसे ही सिद्ध योगी समस्त संसारको ब्रह्मरूपमें देखकर सभीसे प्रेम तथा सभीसे पवित्र आनन्द लाभ कर सकते हैं, उनको शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक सभी प्रकारकी स्वतन्त्रतापूर्ण रूपसे प्राप्त हो जाती है और तभी श्रीभगवान् शंकराचार्यके वचनानुसार उनको अनुभव होता है कि—

सम्पूर्णं जगदेव नन्दनवनं सर्वेऽपि कल्पद्रुमाः।
गाङ्गं वारि समस्तवारिनिवहः पुण्याः समस्ताः क्रियाः॥
वाचः प्राकृतसंस्कृताः श्रुतिगिरो वाराणसी मेदिनी।
सर्वावस्थितिरस्य वस्तुविषया दृष्टे परे ब्रह्मणि ॥

आनन्दमय ब्रह्मका सर्वत्र अनुभव हो जानेसे समस्त जगत् ही नन्दनकानन है, सभी वृक्ष कल्पवृक्ष हैं, सभी जल गंगाजल है, सभी कार्य धर्मकार्य हैं, प्राकृत संस्कृत सभी वाक्य वेदवाक्य हैं, सभी भूमि वाराणसी है और सभी स्थिति ब्राह्मी स्थिति है, यही स्वराज्यमें

विराजमान योगीका आनन्दमय अनुभव है। यही आध्यात्मिक लक्ष्यसम्बन्धमें आर्यजातिकी अन्य जातियोंसे परम विशेषता है और देशसेवासम्बन्धमें अन्य धर्ममतोंसे सनातनधर्म मतकी श्रेष्ठताका अकाट्य उज्ज्वल दृष्टान्त है।

ऊपर लिखित वर्णनोंसे यह स्पष्ट होगा कि आर्यजातिकी देशसेवामें भौतिक विज्ञान (Material Science) की उन्नति ही चरम उन्नति नहीं समझी जा सकती है। यद्यपि प्राचीनकालमें अर्थकामसम्बन्धीय समस्त आभावको दूर करनेके लिये भौतिक विज्ञानकी भी विशेष उन्नति आर्यजातिने की थी, जिसका पूरा वृत्तान्त अन्य प्रबन्धमें दिया जायगा तथापि निम्नलिखित कारणोंसे आर्यजाति आधुनिक पाश्चात्यजातियोंकी तरह भौतिक विज्ञानोन्नतिको हो उन्नतिकी पराकाष्ठा नहीं समझ सकती।

(क) भौतिक विज्ञानोन्नतिका लक्ष्य अर्थकाम है, धर्ममोक्ष नहीं है, जो कि पूर्ववर्णित हेतुओंके अनुसार आर्यजातिको एकान्त अभीष्ट नहीं हो सकता है।

(ख) भौतिक विज्ञानोन्नति अप्राकृतिक समस्त कलाकौशलको प्रकट करके मनुष्य जीवनको एकवार ही अस्वाभाविक बना देती है। वह प्रथमतः कुछ दिनों तक अच्छी लगनेपर भी पीछेसे मनुष्य शरीर, मनुष्य मनको दुःखशोक रोगग्रस्त तथा कुछसे कुछ बना देती है। उसके द्वारा मनुष्यजीवनमें स्वाभाविक भावका आनन्द एकबार ही जाता रहता है।

(ग) भौतिक विज्ञानोन्नति भौतिक होनेके कारण मनुष्यके अन्तःकरणमें दम्भ अहङ्कारको खूब ही उत्पन्न करती है, जिससे मनुष्य अहंभावग्रस्त होकर प्रायः यही समझने लगता है कि संसारमें प्राकृतिक विज्ञानके सिवाय और कोई पदार्थ ही नहीं है। समस्त संसारकी सृष्टि स्थिति या नाश रासायनिक संयोग वियोग द्वारा प्राकृतिकरूपसे ही होता है, इसके ऊपर किसी अलौकिक परमात्मा आदि वस्तुके माननेकी कोई भी आवश्यकता नहीं है। इस प्रकारसे भौतिक विज्ञानके मदमें आकर लोग प्रायः नास्तिक हो जाते हैं और अर्थकाम परायण परलोक भयवर्जित नास्तिक बनकर अपने तथा सामाजिक जीवनको अधःपातमें ले जाते हैं।

(घ) भौतिक विज्ञान-उन्नतिके द्वारा अर्थकामकी पुष्टि होकर प्रबल राग द्वेष तथा उसके परिणामरूप अन्तर्विवाद, जातीय कलह, जातीय संग्राम आदि तो अवश्य ही उत्पन्न होते हैं, किन्तु यह सब विपत्तियोंके निवारणके लिये भौतिक विज्ञानके पास कोई भी साधन नहीं है। अन्य पक्षमें आसुरी अस्त्र शस्त्र बनाकर भौतिक विज्ञान उल्लिखित संग्राम, नरहत्या तथा देशनाशक विप्लवोंको और भी बढ़ा देता है। थोड़ा ही विचार करनेसे स्पष्ट होगा कि भौतिक विज्ञान उन्नतिके द्वारा युद्धकार्यमें प्राचीन कालकी तरह यथार्थ वीरताकी परीक्षाके लिये कोई भी यन्त्र नहीं बना है, किन्तु किस प्रकारसे छल कपटके द्वारा अतिदूरसे या

प्रच्छन्न होकर स्वकल्पकालमें अनेक मनुष्य मारे जा सकते हैं इसीके अनेक यन्त्र बने हैं। आकाशयान (Airoplane) पनडूबी (Submarine), बड़ी बड़ी तोपें Maxim gun) आदि सभी यन्त्र भीषण नरहत्याके यन्त्र (Engines of destruction) हैं। इनके द्वारा संग्राममें वीरताकी कोई भी परीक्षा नहीं होती है, केवल नरहत्याकारी भौतिक मस्तिष्क शक्तिकी परीक्षा होती है। अतः इस प्रकार उन्नतिके द्वारा संसारमें वास्तविक शान्ति कदापि नहीं प्रतिष्ठित हो सकती है किन्तु केवल विद्रोह, अशान्ति, मदोन्माद, राग द्वेष और प्रबल हत्याकाण्ड ही बढ़ता है, जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण आजकल समस्त संसारमें दीख रहा है और इसका अन्तिम परिणाम यह होगा कि समस्त सभ्यताभिमानी जातियाँ असभ्य बन जायगी।

(ङ) भौतिक विज्ञानके द्वारा क्रमशः स्थूल सूक्ष्म दोनों हीं जगत्में प्रबल असामञ्जस्य (discord, disbalance) उत्पन्न होता है जिसके फलसे स्थूल संसारका स्वास्थ्य नैरोग्य तथा मानसिक शान्ति नष्ट होकर दुर्भिक्ष, हाहाकार, महामारी तथा प्रबल अशान्तिसे संसार परिपूर्ण हो जाता है। यह विचार सूक्ष्म तथा गम्भीर है इस कारण नीचे विस्तारके साथ इसपर विवेचन किया जाता है।

प्रत्येक पदार्थ तभी तक, अपनी नीरोग अवस्थामें रह सकता है जबतक उस पदार्थकी प्राणशक्तिकी समतामें किसी प्रकारकी हानि उत्पन्न न हो। प्राणशक्तिके अधिक व्यय या अपव्ययसे उसकी समतामें हानि हो जाती है जिससे कई प्रकारके रोग उत्पन्न हो जाते हैं। दृष्टान्त रूपसे समझ सकते हैं कि मनुष्य शरीरमें प्राणशक्तिकी समता रहनेसे वात, पित्त, कफ और अन्यान्य धातुओंका भी सामञ्जस्य रहता है जिससे मनुष्यशरीर नीरोग रहती है। परन्तु ब्रह्मचर्य्यनाश, अधिक परिश्रम, काम, मोह, क्रोध आदि वृत्तियोंके वशीभूत होना आदि कारणोंसे मनुष्यकी प्राणशक्ति घट जाती है, उसकी समतामें विरोध पड़ता है जिस कारण वात, पित्त, कफ और अन्यान्य धातुओंमें विकार उत्पन्न होकर वह शरीरको रोगग्रस्त तथा अल्पायु कर देता है। जिस प्रकार व्यष्टि शरीरमें है ठीक उसी प्रकार समष्टि अर्थात् ब्रह्माण्ड शरीरमें जो प्राणशक्ति विद्यमान है उसकी समता और सामञ्जस्यके द्वारा ब्रह्माण्डशरीरान्तर्गत वात, पित्त, कफ तथा अन्यान्य धातुओंकी समता रक्षित होकर ब्रह्माण्डशरीर नीरोग रहता है और उस नीरोगताके फलसे देशकालानुसार ऋतुओंका ठीक-ठीक परिवर्त्तन शस्य सम्पत्तिकी वृद्धि, प्रजाका सुख, दुर्भिक्ष आदिका अभाव, महामारी तथा देशव्यापी रोगोंकी अनुत्पत्ति आदि महत्फल उत्पन्न होते हैं। ब्रह्माण्डशरीरव्यापी इस प्राणशक्तिकी समता यदि किसी तरहसे बिगड़ जाय तो इसका परिणाम यह होगा कि ब्रह्माण्डके वात, पित्त, कफ तथा अन्यान्य धातुओंमें भी विकार होगा, पञ्चतत्वोंमें विकृति उत्पन्न होगी जिससे ब्रह्माण्डशरीर रोगग्रस्त होकर, ऋतुविपर्यय, अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि कुलक्षण,

दुर्भिक्ष, महामारी आदि रोगोंको उत्पन्न करेगा। पञ्चतत्त्वोंके जिस प्रकार परिणामके द्वारा सुफला वसुन्धरा अपनी निर्दिष्टगतिको प्राप्त कर रही है और विराट् पुरुषका स्थूल ब्रह्माण्ड-शरीर, नीरोगतापर प्रतिष्ठित है, उस प्राकृतिक गतिपर यदि बलात्कार किया जाय अर्थात् प्रकृतिको तोड़कर इच्छानुसार अप्राकृतिक बनाया जाय – जल जिस गतिके अनुसार नदी समुद्र आदि रूपमें चलनेसे जगद्-जीवनकी रक्षा कर सकता है, वायु जिस गतिसे प्रवाहित होने पर संसारका स्थितिविधान कर सकता है, पृथ्वी जिस प्रकारसे परिसेविता होने पर सुफल प्रदान कर सकती है, इन सबोंमें यदि बलात्कार द्वारा अप्राकृतिक अनुष्ठान किया जाय तो पञ्चतत्त्वोंमें अवश्य ही विकार उत्पन्न होकर ऋतुविपर्यय, महामारी, अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि दुर्लक्षण प्रकाशित करेगा जिससे समस्त जगत्‌की शान्ति नष्ट होकर अशान्ति और दुःखदारिद्रय बढ़ जायगा। इसके सिवाय ब्रह्माण्डकी प्राणरूप वैद्युतिक शक्तिको तत्त्वोंके भीतरसे यदि खींचकर अन्यान्य कार्यमें लगा दिया जाय तौ भी प्राणशक्तिहीन ब्रह्माण्ड-शरीर मृतवत् हो जायगा, इसकी जीवनीशक्ति घट जायगी जिससे इसमें शस्योत्पादिका शक्ति, उत्तम सन्तानोत्पादिका शक्ति, ऋतुओंका क्रमविकाश आदि सभी नष्ट हो जायगा और विराट् धातुमें विकार होकर तथा वात, पित्त, कफका सामञ्जस्य बिगड़ कर देशमें महामारी दुर्भिक्ष, संग्राम, दुःख दारिद्रय और अशान्ति फैल जायगी। आस्तिकता विहीन भौतिक विज्ञानोन्नति (Godless scientific improvement) के फलसे ब्रह्माण्डकी प्राणशक्तिकी ऐसी ही हानि और पञ्चतत्त्वोंमें ऐसा ही वैषम्य (elemental disturbance) उत्पन्न होता है जिसको सभी लोग देख सकते हैं। इसमें ब्रह्माण्डव्यापिनी वैद्युतिक शक्ति आकर्षित करके अन्यान्य कार्यमें लगाई जाती है और स्वाभाविक रूपसे प्रवाहशील तत्त्वोंपर बलात्कार करके उनको मनमाने कार्यमें लगाया जाता है अर्थात् उनकी प्राकृतिक गतिमें बाधा दी जाती है, जैसा कि नदनदियोंके प्रवाहको नहर आदि रूपसे इधर उधर करना, उनमेंसे बिजली खींच लेना इत्यादि भौतिक विज्ञानोन्नतिके द्वारा विराट् धातुमें विकट उत्पन्न होकर देशमें संग्राम, दुर्भिक्ष, महामारी, दारिद्रय और अशान्ति आदिका उत्पन्न होना निश्चित है। संसारमें जिस जिस समय ऐसा संग्राम अथवा महामारी, अनावृष्टि, दुर्भिक्ष आदिका प्रकोप देखा गया है, उसके मूलको अन्वेषण करनेसे अवश्य ही पता लगेगा कि आसुरी शक्तिके अयथा प्रयोग द्वारा प्रकृति राज्यमें वैषम्य, आसुरी अस्त्रोंके प्रयोग द्वारा पञ्चतत्त्वोंमें विकार अथवा ब्रह्माण्ड शरीरके प्राणशक्तिनाश या प्राणवैषम्यके द्वारा ही ऐसी बहुदेशव्यापी दुर्घटना हुई है। महर्षि वशिष्ठजीने कहा है—

विराट्धातुविकारेण बिषमस्पन्दनादिना।
तदङ्गावयवस्यास्य जनजालस्य वैषमम्॥

दुर्भिक्षावग्रदोत्पातपातमानयति ।

विराट् शरीरमें तत्त्वविकार, धातुविकार तथा प्राणशक्तिके विषम स्पन्दन विराट्के अङ्गीभूत जीवोंकी प्रकृतिमें विषमता उत्पन्न होती है, जिससे दुर्भिक्ष, अपग्रहोंका उदय, उल्कापात, धूमकेतु आदिका उदय, महामारी आदि उत्पात होने लगते हैं। प्राचीन कालमें भौतिक विज्ञान (material science) की उन्नति विशेषरूपसे होनेपर भी महर्षियोंकी दूरदर्शिताके कारण वह इस प्रकारसे नहीं अनुष्ठित होती थी, जिससे प्रकृतिपर किसी प्रकारका बलात्कार हो। अवश्य आसुरी शक्तिका अत्याचार उस समय भी था, किन्तु उसके प्रकोपको दूर करनेके लिये ऋषिगण आवश्यकतानुसार कभी यज्ञ द्वारा, कभी दैवानुष्ठान और देवपूजा द्वारा या कभी अन्य प्रकारसे भी दैवीशक्ति उत्पन्न करके आसुरी शक्तिको दबाकर देशव्यापी अकल्याणको दूर कर देते थे। यही कारण है कि प्राचीनकालमें सभी प्रकारकी उन्नति होने पर भी कहीं पर वैषम्य नहीं था और सर्वत्र शान्ति ही विराजमान थी। देशसेवामें यह एक विशेष मननयोग्य तथ्य है।

आर्य जातिके इतिहासमें प्रायः यह देखा गया है कि जब कभी देश या जाति पर विदेशियोंका आक्रमण हुआ है तो उसके प्रतिकारके लिये आर्यजातीय देशोद्धारक वीरों ने—एकता तपस्या, उन्नत दैवशक्तिकी सहायता-संग्रह—इन तीन उपायोंसे काम लिया है। देशसेवाका सम्बन्ध जहां पर धर्मके साथ है वहां ही इस प्रकारकी सहायता ली जाती है। क्योंकि बिना धर्माचरण किये दैवशक्तिकी सहायता मिलती नहीं। दशम सिख गुरु गोविन्दसिंहजी ने 'हिन्दुस्तानकी जनेऊ और चोटीकी रक्षा' के लिये भवानीकी उपासना कर शक्ति प्राप्त की थी और उसी शक्तिके प्रतापसे किसी समय विधर्मियोंके प्रबल अत्याचारसे आर्य जातिको बचाया था। महावीर अर्जुनने भी कुरुक्षेत्रके रणाङ्गन में आसुरी प्रजाके नाशके लिये श्रीभगवान्की आज्ञासे महाशक्तिकी ही आराधना की थी यह बात महाभारतमें लिखी है। महाराणा प्रतापने भी एक लिङ्ग महादेवकी शक्ति से शक्तिमान होकर असीम तपस्याके साथ अपनी जन्म भूमिकी रक्षा की थी। छत्रपति शिवाजी महाराजको भी शिव-शक्तिका विशेष सहारा था, जिससे हिन्दुस्तानमें उन्होंने यवन जातिका पग जमने नहीं दिया था। इन सब दृष्टान्तोंसे स्पष्ट प्रमाणित होता है कि बड़े कामके लिये हमारे देशके धर्म वीरोंने केवल अपने लौकिक बल पर पूर्ण निर्भर न करके अलौकिक दैव बलका भी सहारा लेना उचित समझा था। वे सभी हमसे अधिक मर्मज्ञ, यथार्थ देशसेवा परायण तथा सच्चे वीर थे। अतः देश सेवा कार्यमें उनका अनुकरण हमें अवश्य करना चाहिये। केवल इस लोककी ही बात कही जाय, दैव जगत्में भी जब कभी आसुरी अत्याचारसे देवतागण पीड़ित हुए तो एकता और तपस्याके साथ कहीं

पर देवादिदेव महादेवके अलौकिक, असीम दैवबलकी सहायता और कहीं पर विश्वजननी महाशक्तिकी अपूर्व सहायताको पाकर ही वे स्वर्ग राज्यका अधिकार पुनः प्राप्त कर सके हैं। महिषासुर और वृत्रासुरके द्वारा स्वर्ग राज्य अधिकृत हो जाने पर तो देवताओंने घोर तपस्या की थी और एकताका वर्णन कहां तक किया जाय महिषासुर वधके लिये तो ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र सभीको अपने हृदयकी, प्राणकी समग्र शक्तिको पुञ्जीभूत करनी पड़ी थी, जिस पुञ्जीभूत शक्तिसे निःशेष–देवगण शक्ति–समूह मूर्ति' रुपिणी देवी दशभुजा प्रकट हो गई थी और उन्होंने महिषासुरको मार दिया था। ब्रह्माका कार्य सृष्टिका निर्माण करना है और रुद्रका कार्य सृष्टिका नाश करना है, दोनों परस्पर विपरीत कार्यके करने वालोंने भी अपने देश पर शत्रुका अत्याचार देखकर अपनी २ मर्यादाको रखते हुए एकता कर ली थी। यही एकताका मूलमन्त्र है, अन्यथा त्रिगुण वैषम्यमय संसारमें अपने अस्तित्वको खोकर एकता करना सम्भव नहीं होता। श्री भगवान् शंकराचार्यने कहा है—

भावाद्वैतं सदा कुर्यात् क्रियाद्वैतं न कर्हिचित्।
अद्वैतं सर्वभूतेषु नाद्वैतं गुरुणा सह॥

अद्वैत भावमें होना चाहिये, क्रियामें नहीं। माता, कन्या, भगिनी, स्त्री सबमें एकात्माके विचारसे अद्वैतका भाव रह सकता है, किन्तु क्रिया जगत्में वर्त्तावका भेद बहुत कुछ रहता है। श्री भगवान्ने गीतामें भी कहा है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

उत्तम ब्राह्मण, गौ, हाथी, श्वान और चण्डाल इन सबमें एकही आत्माके विचार से पण्डितगण 'समदर्शी' तो हो सकते हैं, किन्तु 'समवर्त्ती' नहीं हो सकते। गाय, हाथी कुत्ता तीनोंके साथ एकसा वर्ताव कभी सम्भव ही नहीं है। इसका उत्तम दृष्टान्त श्रीभगवान् रामचन्द्रके जीवनमें प्राप्त होता है। श्रीभगवान् रामचन्द्रने चन्डाल, भील, निषाद, राक्षस, प्रेत, देवता, मनुष्य, वानर, रीछ, गिल्हेरी सबके साथ मैत्री की थी, किन्तु अपनी मर्यादासे कभी च्युत नहीं हुये थे। भील स्त्रीने उनको उच्छिष्ट बेर खिलाये थे, यह उक्ति केवल कविकल्पना मात्र है। हो सकता है कि एक बेर चख कर उसने देख लिया हो कि बेर कैसे हैं, किन्तु वे उन्हें उच्छिष्ट बेर देती गई और वे खाते गये, ऐसी कथा न रामायणमें है और न महात्मा तुलसीदासजीने ही लिखा है। इस प्रकार से एकता, तपस्या और अलौकिक दैवीशक्तिकी सहायता मिलने पर तब देशभक्त वीर देशकी पूर्ण सेवा कर सुफल लाभ कर सकते हैं। मायाके राज्यमें प्रत्येक कार्यमें प्रतिमुहूर्त शक्तिका क्षय होता है। काम, क्रोध,

लोभ, मोह आदि वृत्तिमात्रके उदय होनेसे प्राणक्षय, आयुक्षय, शक्तिक्षय हो जाता है। इस प्रकार दैनन्दिन क्षयद्वारा उत्पन्न हानिसे बचनेका एकमात्र उपाय तपस्या, संयम और साधना है। उपासना ही मनुष्यके शक्तिभण्डारको सदा भरपूर रख सकती है। अतः कर्मवीर देशभक्तको भगवद्भक्तभी अवश्य होना चाहिये। यही देशसेवाके साथ सनातनधर्मका अच्छेद्य सम्बन्ध है, जिसको हृदयङ्गम कर कार्यक्षेत्रमें अग्रसर होनेसे कर्मवीर देशसेवी—शरीरदेश, जन्मभूमिदेश और त्रिभुवनदेश—सभीकी योग्य सेवा कर कृतकृतार्थ हो सकते हैं, इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है।

स्वराज्य और सनातनधर्म।

आधुनिक विज्ञान और देशसेवाके साथ सनातनधर्मका सम्बन्ध बताकर अब स्वराज्यके साथ इसका सम्बन्ध बताया जाता है।

आर्य्यशास्त्रमें आत्माको नित्यमुक्त, स्वराट् तथा स्वराज्यमें विराजमान कहा गया है। श्रीमद्भागवतके पहले ही श्लोकमें—

'जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्'

इस प्रकार कहकर श्रीभगवान् वेदव्यासने आत्माको नित्यमुक्त स्वराट् कहा है। आत्मा नित्यमुक्त है। जीव जब तक मायाकी प्रतारणामें पड़कर आत्माके इस नित्यमुक्त स्वभावको अनुभव नहीं करता है तभी तक जीवका बन्धन तथा आवागमनचक्र बना रहता है। तभी तक जीवको परिणामशील संसारमें अनेक प्रकारके दुःख झेलने पड़ते हैं। किन्तु आत्माके नित्यमुक्त, स्वराट् स्वराज्यमें बिराजमान स्वरूपको देखते ही जीवका समस्त दुःख नष्ट हो जाता है और तभी जीव अपनेको ब्रह्म जानकर नित्यानन्दमय हो जाता है। अतः सिद्ध हुआ कि स्वराज्यप्राप्तिमें आत्माका नैसर्गिक अधिकार (Natural right, birth right) है और स्वराज्यप्राप्ति तथा परतन्त्रताको दूर करना ही सकल सुखोंका निदान है। इसीलिये श्रीभगवान् मनुने सुखदुःखका लक्षण निर्णय करते समय अपनी संहितामें कहा है—

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्।
इति विद्यात् समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः॥

सकल प्रकारकी परतन्त्रता हो दुःख है और स्वतन्त्रता एकमात्र सुखनिदान है, संक्षेपसे सुखदःखका यहो लक्षण जानना चाहिये। आत्मा नित्यस्वतन्त्र है, जीव वही आत्मास्वरूप है, अतः सुख तथा स्वतन्त्रताके लिये जीवकी इच्छा क्यों नहीं होगी ? अवश्य होगी। क्योंकि जो जिसका नैसर्गिक स्वरूप है उसके लिये उसके हृदयकी आकांक्षा होनी और बनी रहनी स्वाभाविक है। जन्मसिद्ध अधिकार (Birth right) तथा स्वभावसिद्ध अधिकार (Natural right) के लिये लालसा अवश्य ही उत्पन्न होती है। इसके बिना जोवका अस्तित्वही वृथा है, क्योंकि स्वाधीन आत्माने यदि अपनी स्वाधीनताका ही अनुभव न किया तो उसके अस्तित्वका कोई भो प्रयोजन नहीं रह सकता है। यही कारण है कि सभी जीव स्वतन्त्रता अर्थात् स्वराज्यको चाहते हैं। अब जोवको यह स्वराज्य, यह स्वतन्त्रता कैसे प्राप्त होती है सो ही विवेच्य है। मनुसंहितामें लिखा है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
समं पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति ॥

आत्माको सकल भूतोंमें और सकल भूतोंको आत्मामें देखकर आत्मयज्ञपरायण महात्मा स्वाराज्यका लाभ करते हैं। यही आर्य्यशास्त्रके सिद्धान्तानुसार स्वाराज्य सिद्धिका लक्षण है।

क्या भूमण्डलस्थित सभी जातियोंने आर्य्यशास्त्रके सिद्धान्तानुसार स्वाराज्यका लाभ किया है? कभी नहीं। प्रकृति-राज्यमें उन्नतिके तारतम्यानुसार जिस जातिने 'स्व' को जितना समझा है उसके स्वका राज्य भी उतनाही लाभ किया है। जिसने स्थूल शरीर मात्रको 'स्व' समझा है उस जातिका स्वाराज्य स्थूल शरीर पर ही प्रतिष्ठित है अर्थात् स्थूल शरीरको अन्य किसी जातिके अधीन न होने देकर उसे स्वतन्त्र रखनेमें ही वह जाति अपना स्वाराज्य समझती है। जिस जातिने सूक्ष्मशरीरको 'स्व' समझा है उसके लिये मनोराज्य तथा बुद्धिराज्य पर आधिपत्य विस्तार करना ही स्वाराज्य सिद्धिका लक्षण है। मनको विषयोंका तथा इन्द्रियोंका अधीन न बनाना, बुद्धि पर अविद्याका आवरण आने न देना, मन बुद्धि दोनोंका इहलोक परलोकमें अभ्युदय सम्पादन करना इस स्वाराज्यसिद्धिका निदर्शनरूप है। और जिस जातिने 'स्व' का अर्थ आत्मा समझा है, वह जाति केवल स्थूल शरीरको पराधीनतासे बचानेमें ही पूर्ण स्वाराज्य नहीं समझती तथा मन बुद्धिकी उन्नतिमें ही स्वाराज्यसिद्धिको नहीं मानती, किन्तु शरीर, मन, बुद्धि तीनोंके ही साथ आत्माको भी निज नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वरूपमें प्रतिष्ठित करके तब पूर्ण तथा यथार्थ स्वाराज्यलाभ हुआ ऐसा विचार रखती है। समस्त पृथिवीके

इतिहासका पाठ करनेसे बुद्धिमान् व्यक्तिको अवश्य ही ज्ञात होगा कि अब तक पृथिवीकी अन्य सभी जातियोंने केवल स्थूल शरीरको ही 'स्व' समझ रक्खा है और इसलिये स्थूल शरीरकी स्वतन्त्रताको ही वे स्वाराज्य समझती हैं! केवल आर्य्यजातिके पिता पितामह महर्षियोंने ही 'स्व' का यथार्थ अर्थ आत्मा है यह अनुभव किया था और तदनुसार केवल स्थूल शरीरको स्वतन्त्रतामें ही पूर्ण स्वराज्य न समझकर शरीर, मन, बुद्धि, आत्मा सभीकी स्वतन्त्रतामें सच्चा स्वाराज्य समझा था। इसलिये आर्य्यजातिके लक्षण वर्णन करते समय यास्क आदि मुनियोंने "आर्य्यः ईश्वरपुत्रः" "आर्यश्च पृथिवीपालाः" इत्यादि लक्षण वताये हैं। अतः शरीर, मन, बुद्धि, आत्मा सभीको परतन्त्रतासे बचाना — यही आर्य्यजातिके सिद्धान्तानुसार स्वाराज्यसिद्धिका लक्षण है।

इस प्रकार चार पादोंसे पूर्ण स्वाराज्यसिद्धिका विधान महर्षियोंने क्यों किया था? क्या पश्चिम देशियोंकी तरह केवल स्थूल शरीरमात्रकी स्वाधीनतामें ही स्वाराज्य समझना यथेष्ट नहीं है? ऐसी शङ्काएँ हो सकती हैं। और इनका समाधान भी पृथिवीके इतिहासमें जातीय उत्थान पतनके कारणान्वेषी पुरुषोंके निकट प्रच्छन्न नहीं रहेगा। गत कई सहस्र वर्षोंके भीतर जितनो जातियाँ कालसमुद्रके गर्भमें अनन्तकालके लिये एक बार ही डूब चुकी हैं उनके इतिहासोंपर विचार तथा मनन करनेसे स्पष्ट सिद्धान्त होगा कि अर्थ काम तथा पशुबल (Brute force) के द्वारा कोई भी जाति अपने स्थूल शरीरको स्वतन्त्र कर सकती है किन्तु यदि मन, बुद्धिको आसुरभावसे स्वतन्त्र करनेके लिये उसके पास धर्म्मबल न होगा तथा आत्माको अज्ञानान्धकारसे मुक्त रखनेके लिये उसके पास ज्ञानबल यथार्थ आत्म-बल (Soul forcc) न होगा तो अर्थकाम और पशुबलकी प्रतिक्रियामें आसुरी उन्माद तथा अनाचार-अत्याचार-दुराचार-व्यभिचारयुक्त पशुभावकी अत्यन्त वृद्धि द्वारा वह जाति थोड़े ही वर्षोंके भीतर अवश्य ही नाशको प्राप्त हो जायगी इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है। दृष्टान्त रूपसे सोच सकते हैं कि गत कई सहस्र वर्षोंके भीतर वेविलोनियन्, ऐसिरियन्, इजिप्सि-यन्, ग्रीसियन्, रोमन् आदि अनेक जातियोंका पूर्णरूपसे नाश हो गया है, किन्तु सबों के नाशके मूलमें धर्म्महीन, आत्मज्ञानहीन पशुभाव-प्रधान अर्थकाम ही प्रबल था। उन जातियोंने प्रधानतः पाशविकबल (Brute force) के द्वारा अपने स्थूल शरीरको स्वतन्त्र किया था और अन्यान्य दुर्बल जातियों पर भी पशुबलके ही प्रभावसे अपना आधिपत्य जमाया था। किन्तु जैसा कि पहले कहा गया है अर्थकामके मूलमें धर्म न रहनेसे घृताहुत वह्निकी तरह अर्थलालसा और कामलालसा अत्यन्त बलवती होकर राज्याधिकारप्राप्त उन जातियोंको शीघ्र ही मनुष्यसे पशु बना दिया।

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते ॥

उपभोगसे कामनाकी शान्ति नहीं होती है, किन्तु घृतपुष्ट अग्निकी तरह कामना उत्तरोत्तर बढ़ने ही लगती है यह बात निश्चित है। संसारमें धर्म्मकी ही शक्ति इस कामना-नलको नियन्त्रित करके इसके प्रबल वेगको शान्त करती है। मेरे पास जितना धन है इससे अधिक धन यदि मैं ठगी, चोरी, झुठाई आदिसे कमा सकू तो चित्तकी इस कामनाका रोकने वाला कौन है? मेरे पास काम भोगके लिये स्त्री आदि जो कुछ सम्पत्ति है, उससे भी अधिक सामानका संग्रह व्यभिचार, बलात्कार आदि द्वारा करनेको मुझे कौन रोकता है? क्यों नहीं मैं यथाशक्ति अन्यान्य उपायोंके द्वारा अपनी बलवती विषयलालसा, धनलालसा, कामलालसाको चरितार्थ करूँगा? संसारमें धर्म्म ही एक शक्ति है जिसने अर्थकामपरायण मनुष्यको इस युक्तिसे रोका है कि यदि वह अन्यान्य उपायोंसे अर्थकामका संग्रह करेगा तो वासनाकी अग्नि बढ़ती बढ़ती प्रलयाग्नि बनकर कुछ दिनोंमें उसे ही भस्म कर देगी, उसके मनुष्यत्वका नाश कर उसको पूरा पशु बना देगी और नाना प्रकारके रागद्वेष रोगशोक आदिके निर्यातन द्वारा थोड़े ही दिनोंमें उसको मार देगी। केवल इतना ही नहीं, धर्मकी भविष्यद्भेदी ज्ञानमयी शक्ति उसको यह भी बता देगी कि अधर्म्मसे, अन्याय उपायोंसे अर्जित अर्थकाम बहुत दिनों तक रहता नहीं है बल्कि उसकी प्रतिक्रियामें आगामी जन्ममें या अत्युत्कट होने पर इसी जन्ममें अर्थकामको ही नाश कर देता है। "अस्तेयप्रतिष्ठायाँ सर्व-रत्नोपस्थानम्' अस्तेय अर्थात् चोरी न करना इसकी प्रतिष्ठा जिसने शरीर, मन, वचनके द्वारा की है उसको महर्षि पतञ्जलिके कथनानुसार जिस प्रकार सकल रत्नोंकी प्राप्ति होती है, उसी प्रकार चोरी, ठगी, झुठाई, प्रवञ्चना आदि अन्यान्य उपायोंसे धनार्जन करनेपर उसकी प्रतिक्रियामें इस जन्ममें या आगामी जन्ममें उस पापीको भीषण दारिद्रय दुःख भोगना पड़ता है। उसी प्रकारसे परस्त्री लोभी मनुष्य आगामी जन्ममें स्त्रीहीन या असतीं स्त्री के द्वारा दुःखको प्राप्त होता है एवं पर-पुरुष-लोभी स्त्री आगामी जन्ममें पतिहीना या कदाचारी पतिको प्राप्त होती है। इसी कारण श्रीभगवान् वेदव्यासने कहा है कि—

"धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते"

धर्मसे ही चिरकालस्थायी अर्थकामकी प्राप्ति होती है, तथापि लोग धर्मसेवा क्यों नहीं करते? तृतीयतः अर्थकामके मूलमें धर्म न रहनेसे लालसाग्रस्त अतृप्त अर्थकाम-परायण मनुष्य दूसरेकी अर्थकामसामग्रीको छीनकर अपनी अर्थकामलालसाको अधिका-धिक तृप्त करना चाहता है, जिसके फलसे द्वेषानल, अन्तर्विवाद और अन्तमें घोर

अन्तर्जातीय संग्राम (Revolution) होकर अर्थकामलोलुप जाति रसातलको चली जाती है। रोमन, ग्रीसियन, बेवीलोनियन आदि जातियाँ इसी तरहसे नाशको प्राप्त हो गई हैं। पशुबलके द्वारा अर्थकाम तथा स्वराज्य, परराज्यको संग्रह करके धर्मबलसे पशुबलको नियन्त्रित तथा आत्माकी ओर दृष्टि न रखने पर समस्त जाति इसी प्रकारसे मनुष्यपदसे च्युत, अनाचारी, व्यभिचारी, महापापग्रस्त तथा पशुत्वकी चरमसीमा पर पहुंचकर अन्तमें नष्ट हो जाती है। यही कारण है कि दूरदर्शी, तत्त्वदर्शी पूज्यपाद महर्षियोंने केवल अर्थकाम तथा पशुबलके प्रभावसे स्थूल शरीरकी स्वतन्त्रताकोही स्वतन्त्रता नहीं कहा है, किन्तु अर्थ, काम, धर्म, मोक्ष चारोंकी सहायतासे शरीर, मन, बुद्धि, आत्मा चारोंकी स्वतन्त्रताको ही यथार्थ स्वाराज्यसिद्धिका लक्षण कहा है। जीवका मन या बुद्धि यदि विषयोंके परतन्त्र रहे तो केवल स्थूल शरीरकी स्वतन्त्रता अनर्गलतामात्रको उत्पन्न करके जीवको और भी दुर्दशा तथा अधोगतिमें डाल देती है इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है। इसलिये अर्थकाम तथा क्षात्रशक्तिके द्वारा स्थूलशरीरका स्वाराज्य, धर्मबलसे मन बुद्धिका स्वाराज्य तथा ज्ञानबलसे आत्माका स्वाराज्य इस प्रकारसे चारोंको स्वाराज्यसिद्धिमें ही पूर्ण स्वाराज्यसिद्धि होती है जिसका उपदेश पूज्यपाद महर्षियोंने आर्यजातिके लिये किया है।

वह उपदेश क्या है ? अर्थात् शरीर, मन, बुद्धि, आत्मा चारोंकी स्वाराज्यसिद्धिके लिये महर्षियोंने क्या क्या उपाय बनाया है सो ही अब विचार करने योग्य विषय है। विचार करने पर पता लगेगा कि आर्यजातिकी चातुर्वर्ण्यव्यवस्थाके द्वारा अनायासही चतुष्पादपूर्ण स्वाराज्यसिद्धि हुआ करती है और इसीलिये पूज्यपाद महर्षियोंने वर्णधर्मपर इतना जोर दिया है तथा प्राकृतिकविधिके अनुसार चारवर्ण अपने अपने कर्त्तव्यको पूर्णरीति से पालन करें। इसका विशेष अनुशासन बताया है। मीमांसा शास्त्रका सिद्धान्त है कि—

कामप्रधानः शूद्रः।
अर्थप्रधानो वैश्यः॥
धर्मप्रधानः क्षत्रियः।
मोक्षप्रधानो ब्राह्मणः॥

शिल्पकला, कारीगरी, वस्त्रादि निर्माण इत्यादि इत्यादि स्थूल कामनापूर्त्तिका सामान प्रस्तुत करके जातिकी शारीरिक सेवामें सहायता करना शूद्र वर्णका प्राकृतिक धर्म है। कृषि वाणिज्य आदि द्वारा यथेष्ट अर्थसंग्रह करके जातिका स्थूल शरीर बहुमूल्य रत्नोंसे सुसज्जित कर देना तथा जातीय दरिद्रताका एक बार ही आमूल नाशकर देना वैश्यवर्णका

प्राकृतिक धर्म है। शिल्पकला, धन, रत्न, भूसम्पत्तिको विदेशी आकर लुण्ठित तथा अधिकृत न कर सकें, इसलिये बाहुबल, अस्त्रबल, सैन्यबल, युद्धकौशल द्वारा जातिको विजातीय आक्रमणसे सुरक्षित रखना क्षत्रियवर्णका प्राकृतिक धर्म है। अनर्गल अर्थ काममें या अनर्गल क्षात्रशक्तिमें जो जातीय अवनतिकर उन्मादकी स्वाभाविक स्थिति है, उसको धर्मबलसे रोककर समग्रजातिको आत्मा तथा मोक्षकी ओर नियोजित रखना ब्राह्मणवर्णका स्वाभाविक धर्म है। इसीसे बुद्धिमान् मनुष्य समझ सकते हैं कि दूरदर्शी महर्षियोंने केवल चार वर्णकी नैसर्गिक व्यवस्थाके द्वारा ही शरीर-मन-बुद्धि-आत्मामय चतुष्पाद पूर्ण स्वराज्यसिद्धिकी पूर्ण अनुशासनविधि बता दी है। वैश्य, शूद्र, क्षत्रियके ऊपर शारीरिक स्वराज्य-प्राप्तिका भार है और क्षत्रिय ब्राह्मणके ऊपर मन-बुद्धि-आत्मा सम्बन्धीय स्वराज्य लाभका भार है। बिना क्षात्र शक्ति तथा ब्राह्मणशक्तिकी समवेत सहायतासे वैश्यशक्ति और शूद्रशक्ति भी निरापद नहीं रह सकती है, इसलिये महर्षियोंकी यह आज्ञा थी कि, क्षात्रशक्ति और ब्राह्मणशक्ति परस्पर सहायक बनकर सबकी रक्षा करें। यथा मनुसंहितामें—

नाब्रह्म क्षत्रमृघ्नोति नाक्षत्रं ब्रह्म वर्द्धते।
ब्रह्मक्षत्रं तु संपृक्तमिह चामुत्र वर्द्धते॥

ब्राह्मणशक्ति के बिना क्षत्रिशक्ति उन्नतिको प्राप्त नहीं हो सकती है और क्षात्रशक्तिके बिना ब्राह्मणशक्ति भी वृद्धिगत नहीं हो सकती हैं। दोनों शक्तियाँ परस्पर मिलकर ही इहलोक परलोकमें सम्यक् वर्द्धित तथा कल्याणकारिणी हो सकती हैं। जिस प्रकार किसी रोपित वृक्षको पूर्णकलेवर बनानेके लिये केवल वृक्षमूलमें जलसेचन ही यथेष्ट नहीं होता, किन्तु वृक्षके चारों ओर वेष्टनी लगाकर उसे छाग, मेष, महिष, गौ आदि के आक्रमणसे भी बचाना पड़ता है, ठीक उसी प्रकार जातिरूप विशाल वृक्ष क्षत्रियवर्णरूप वेष्टनी द्वारा विदेशियों तथा विधर्मियोंके आक्रमणसे सुरक्षित रहता है और ब्राह्मणवर्णकृत धर्मजल-सिञ्चनसे पुष्टकलेवर बनकर जातिके प्रत्येक व्यक्तिको शान्तिछाया प्रदानमें समर्थ हो सकता है।

इस प्रकारसे प्राचीनकालमें ब्रह्मशक्ति और क्षात्रशक्तिकी समवेत सहायतासे धर्म-अर्थ-काम-मोक्षरूपी चतुवर्गकी सिद्धि तथा शरीर-मन-बुद्धि-आत्मरूपी चतुष्पादसे पूर्ण स्वराज्यकी प्राप्ति आर्यजातिको हो सकी थी। इन दोनों शक्तियोंमें जब कहीं कुछ विरोध आजाता था तो श्रीभगवान् स्वयं अवतार धारण करके विपथगामी शक्तिकी निरंकुशताको दबा कर पुनः दोनोंका सामञ्जस्य विधान कर दिया करते थे। त्रेतायुगमें कार्तवीर्यार्जुन-क्षत्रियोंकी शक्ति निरंकुश तथा अत्याचारी बनकर ब्राह्मणशक्तिके नाशका कारण हो उठी

थी, इसलिये श्रीभगवान्‌को ब्राह्मणकुलमें परशुरामरूपमें अवतीर्ण होकर पापी क्षत्रियोंके नाश द्वारा दोनों शक्तियोंका सामञ्जस्य करना पड़ा। पुनः जब कुछ वर्षों के वाद ब्राह्मण-शक्ति बिगड़ गई और ब्राह्मणवंशमें रावण जैसे राक्षस उत्पन्न होकर अधर्माचरणकरने लग गये तो श्रीभगवान्‌को निरङ्कुश ब्राह्मणशक्तिके दमनके लिये श्रीरामचन्द्ररूपमें क्षत्रिय कुलमें जन्म लेना पड़ा। उन्होंने रावण वंशका नाश करके ब्राह्मणशक्तिके अपलापको दूर किया और आदर्श क्षत्रिय नरपतिका धर्माचरण करके आर्य्यजातिको शान्ति प्रदान की। पुनः द्वापरयुग के अन्तमें दोनों ही शक्तियाँ विपथगामिनी हो गई, जिससे देवांशोत्पन्न भीष्म कर्णादि क्षत्रिय वीरगण तथा द्रोणाचार्य्य, अश्वत्थामादि ब्राह्मणकुलभूषण पुरुषगण भी धर्म्मपक्षको छोड़कर पापपक्षानुकूल संग्राममें प्रवृत्त हो गये। अपने सामने कुलवधूको विवस्त्रा होती हुई देखकर भी किसीको विचार नहीं आया, धर्मके सिर पर पापका पदाघात देखकर भी किसीके हृदयमें आघात नहीं लगा, क्षत्रियधर्मको तिलाञ्जलि देकर निरस्त्र अभिमन्युके प्राणाहननमें किसीको लज्जा नहीं आई, निद्रित कुमारोंके सिर काटनेमें ब्राह्मणधर्मका अमानुष अपलाप नहीं प्रतीत हुआ, विश्वबन्धननाशकारी श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रको बाँधनेके लिये भी महापापमय स्पर्धा होने लगी, इधर कंस, शिशुपाल, अघासुर, बकासुर, जरासन्ध, दन्तवक्र आदि आसुरीशक्ति सम्पन्न क्षत्रियोंके भीषण अत्याचारसे ससागरा धरा विकम्पित होने लगी, तब श्रीभगवान्‌को कृष्णरूपसे पूर्णकलामें अवतीर्ण होकर दोनों शक्तियोंकी ही उद्दण्डताको दबाकर दोनोंका सामञ्जस्य करना पड़ा। उन्होंने कुरुक्षेत्रादि महासमरमें पापी क्षत्रियोंका नाश कर कर धर्मराज्य स्थापन कराया और गीता आदिके उपदेश द्वारा ज्ञानमयी ब्राह्मणशक्तिकी प्रतिष्ठा की। इस प्रकारसे जब जब दोनों शक्तियोंमें असामञ्जस्य या वैमनस्य फैला तभी श्रीभगवान्‌ने कभी स्वयं आवश्यकतानुसार अंशकला या पूर्णकलामें अवतीर्ण होकर औ: कभी साम्प्रदायिक या राजनैतिक आचार्यादि विशिष्ट विभूतियोंके रूपमें प्रकट वैमनस्यको विदूरित किया और चातुर्वर्ण्यको धर्मानुकूल व्यवस्था विधान करके अर्थकामका पोषण, अर्थकाम तथा प्रजाकी रक्षा और अर्थकामके धर्मानुकूल विनियोग द्वारा मोक्षमार्ग को निष्कंटक राजमार्गकी तरह बना रक्खा। और जबतक इस प्रकार चतुष्पाद पूर्ण स्वराज्यकी सिद्धि रही तबतक आत्मासम्बन्धीय स्वराज्यके साथ साथ स्थूलशरीर सम्बन्धीय स्वराज्य भी आर्य्यजातिके भाग्यमें पूर्णरूपसे विराजमान रहा, जिससे यह जाति तथा यह भारतभूमि विजातीय आक्रमण तथा अधिकारविस्तारसे सदा सुरक्षित रही है। यही सत्य, त्रेता, द्वापर तथा कलियुगके प्रथमचरणांश तक चतुष्पादपूर्ण स्वाराज्यका गूढ़ तत्त्व है।

पूज्यपाद महर्षियोंकी दूरदर्शितासे प्राप्त चतुष्पादपूर्ण यह स्वाराज्य भाग्यचक्रके विपरीत परिवर्त्तनके कारण आर्यजातिके अधिकारसे कैसे निकल गया, अब यही विचारणीय

विषय है। श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रके द्वारा भूभारहरणके बाद कुछ दिनों तक भारतवर्षमें शान्ति रही। किन्तु जो भ्रातृविद्वेषरूपी विषवृक्षका बीज भारतीय क्षत्रियभूमिमें एक बार उग चुका था, वह कदापि नष्ट नहीं हो सका। इसलिये पाण्डववंशीय कुछ नरपतियोंके एकच्छत्र साम्राज्य चलानेके बाद भारतवर्षमें एकच्छत्र नरपति कोई भी नहीं रह सके। समग्र भारतमें छोटे-छोटे अनेक राज्यवंशियोंके राज्य हो गये। इधर बौद्धविप्लवके प्रतापसे ब्राह्मणशक्तिमें बहुत ही दुर्बलता आ गई, जिस कारण परस्पर विद्वेषभावापन्न, संग्रामनिरत उन राजवंशियोंको संग्रामनिवृत्ति, एकता तथा शान्तिप्राप्तिके लिये धर्मानुशासन बतानेवाली ब्राह्मणशक्तिकी विशेष सहायता नहीं प्राप्त हो सकी। "संघे शक्तिः कलौ युगे" एकता द्वारा ही कलियुगमें राजकीय शक्ति लाभ हो सकता है, यह श्रीभगवान् वेदव्यासकी भविष्यद् वाणी है। किन्तु भारतके भाग्यमें इसका ठीक विपरीत फल ही हुआ। एक ओर क्षुद्र-क्षुद्र राज्यके अधिपति राजागण एकताकी महिमाको भूलकर पारस्परिक अन्तर्विवादसे दुर्बल होने लगे, दूसरी ओर अन्तःसारहीन ब्राह्मणशक्ति द्वारा यथेष्ट सहायता न मिलनेके कारण क्षत्रियजातिमें राजसिक शक्तिहीनता और धार्मिक दुर्बलता बढ़ती ही गई। इस प्रकार दोनों शक्तियोंके विषमगामी होनेके कारण शिल्पकलापरायण शूद्रशक्ति तथा धनरत्नप्रसू वाणिज्य-परायण वैश्यशक्तिका यथोचित रक्षक कोई न रहा। इस अवसरको देखकर विदेशसे भारत-वासियोंपर मुसलमानोंका आक्रमण प्रारम्भ हुआ। महमूद गजनवी, महम्मद गोरी आदि अनेक मुसलमानोंने रत्नप्रसविनी भारतमाताके रत्नभण्डारको खूब लूटा और अन्तमें दुर्बल क्षत्रिशक्तिको पराजित करके आर्य्यजातिपर अपना शासनाधिकार जमा लिया। जिस प्रकार स्वाधीनता सकल सुख तथा सकल उन्नतिका अद्वितीय निदान है, उसी प्रकार पराधीनता आत्महननका अद्वितीय अमोघ अस्त्र है। इसी अमोघ अस्त्रके निरन्तर आघातसे आर्य्य-जाति दिन पर दिन निर्वीर्य्य साहसहीन, पराक्रमहीन, प्राणहीन बनने लगी। कलियुगके प्रभावसे तथा धर्मद्वेषी विजातीय अत्याचारके परिणामसे धर्मजीवनमें भी बहुत ही शिथि-लता आ गई। लोग अर्थकामप्रिय होकर स्वधर्म छोड़ म्लेच्छसम्बन्ध स्थापनमें भी सङ्कोच नहीं करने लगे। केवल शिशोदीय, राठौर आदि दो-चार वंशके क्षत्रियोंने स्वधर्मपालन द्वारा आत्मरक्षा तथा इस अवनतिकर प्रवाहसे जातिको कुछ रक्षा की। इधर इन्द्रियपरायणता, अत्याचार, प्रजापीड़न, परधर्मविद्वेष, परजातिविद्वेष, प्राणिहिंसा आदि अनेक दोषोंसे यवन-शक्ति भी दिन पर दिन हीनबल होने लगी और नरपति औरङ्गजेबमें इन दुर्गुणोंकी पराकाष्ठा होनेके कारण उन्हींके राज्यकालसे यवनजातिका पतन प्रारम्भ हो गया। अकबर आदि मुसलमान सम्राटोंने अपने बुद्धिबल तथा राजनैतिक कौशलसे हिन्दू मुसलमानके भीतर जो कुछ एकतास्थापन किया था, औरङ्गजेब आदिके परधर्म्म विद्वेष तथा परजातिविद्वेषके

प्रभावसे वह सभी एकता नष्ट हो गई, जिससे हिन्दू-मुसलमानके भीतर निरन्तर संग्राम द्वारा दोनों जातियाँ और भी क्रमशः हीनबल होने लग गईं। इस प्रकारसे हिन्दुशक्ति तथा मुसलमानशक्तिका परस्पर संघर्ष और उसके परिणामरूप दोनोंकी शक्तिहीनताको देखकर पश्चिम देशकी कुछ जातियोंने वाणिज्यके व्याजसे भारतवर्षमें प्रवेशाधिकार लाभ किया। चूँकि उन जातियोंका स्वभाव ही ऐसा है, कि वह वाणिज्यशक्तिके साथ राजशक्तिको मिलाये रखती है (Flag follows the trade) इसलिये उन्होंने हिन्दुजाति तथा मुसल्मान जातिके भीतर वाणिज्यशक्तिके साथ धीरे-धीरे राजशक्तिका भी प्रवेश करना प्रारम्भ कर दिया, जिसका अन्तिम परिणाम यह हुआ, कि दोनों शक्तियोंकी क्रमदुर्बलताको देखकर पश्चिमीय उन जातियोंमेंसे किसी एक राजनैतिक कलाकुशल जातिने भेदनीतिके अवलम्बनसे दोनों जातियोंपर अपना शासनाधिकार जमा लिया। आर्यजातिका गौरव-रवि तो पहिले ही अस्तमित हो चुका था, अब मुसलमान जातिका भी गौरवसूर्य चिरकालके लिये कालसमुद्रमें निमग्न हो गया।

जिस जातिने हिन्दू-मुसलमान दोनों जातियोंपर शासनाधिकार विस्तार किया है, उसकी राजनैतिक चतुरता बहुत ही विचित्र है। उस समुद्रके ऊपरकी लहरें ऐसी मनोमुग्धकर हैं, कि भीतर कितने मकर नक्रादि जल जन्तु हैं, इसका न पता लगता है और न पता लगानेकी एकाएक इच्छाही होती है, केवल लहरोंके शुभ दर्शनसे मुग्ध होकर समुद्रमें गोता लगानेकी ही तीव्र इच्छा होती है। हिन्दू-मुसलमान दोनों जातियों ने वर्षों खूब गोता लगाया, लवणाक्त कितनाही जल पेटमें जाकर पेटको बिगाड़ा तथा शरीरको अस्वस्थ कर दिया। फिर भी जबतक वे जलमें गोता खाते रहे, तबतक उन्हें कुछ भी पता न चला। राजनीतिकुशल शासकजातिने शासितजातिको विजातीय शिक्षा द्वारा कुछसे कुछ कर दिया। सबसे पहिले उन्हें यही शिक्षा मिली कि वह इस देशके नहीं हैं, उसका प्राचीन घर भारतवर्ष नहीं है, वह किसी समय मध्यएशियामें कास्पियनह्रदके पास निवास किया करता था, पीछेसे जब शासकजातिके लोग पश्चिमकी ओर चले गये, तो वह पूर्वकी ओर आकर भारतभूमिमें बस गया। अब वे भी यहीं आगये हैं। अतः भारतको अपना घर कहना मिथ्या है। भारतमाता उसकी माता नहीं है। और वह जो अपने पिताको आर्य कहकर दूसरेको अनार्य कहता है, वह भी सिद्धान्त मिथ्या है। क्योंकि दोनोंका ही काकेसियन मुख होनेसे दोनोंही आर्य हैं। उसके पुराने इतिहासमें कोई वीर या उत्तम पुरुष हुएही नहीं हैं। उसके राम, कृष्ण आदि असभ्य, चरित्रहीन, बुद्धिहीन लोग थे। उसके पौराणिक भीष्म, अर्जुन, भीम आदिकी कथा उपकथा मात्र है, सत्य बात नहीं है, क्योंकि भीम अर्जुन आदि नामके कोई पुरुष हुएही नहीं। इत्यादि-इत्यादि शिक्षाके द्वारा आर्य्यजाति अपने गृह तथा

पिता-माता सभीको भूल गयी। किन्तु सब कुछ भूलनेपर भी जबतक जातीय भाव तथा जातीय अभिमान है, तबतक जातिका नाश कोई भी नहीं कर सकता है। जातीय भावके प्रकट करनेके लिये तीन वस्तु हैं, यथा–जातीय भाषा, जातीय वेश और जातीय धर्म लौकिकजगत्‌में देखा जाता है, कि जिसके भीतर जो भाव होता है, उसके मुखसे शब्द भी ऐसे ही निकलते हैं, उसका रूप भी ऐसा ही बन जाता है और धर्म भी वह वैसा ही होता है। भीतर क्रोधका भाव होनेसे शब्द क्रोधके निकलते हैं, रूप क्रोधीकी तरह भीषण बन जाता है और आचरण भी क्रोधी जैसा ही होने लगता है। भीतर प्रेम या भक्तिका भाव होनेसे शब्द प्रेमभक्तिपूर्ण निकलते हैं, मधुररूप प्रेमी भक्तके बन जाते है, और धर्माचरण भी प्रेमी भक्तका ही होने लगता है इत्यादि इत्यादि। अतः सिद्ध हुआ, कि शब्द, रूप और धर्मके द्वारा ही भाव प्रकट होता है। इस कारण यदि किसी जातिके भावका नाश करना हो तो उसकी भाषा, उसका वेश तथा उसके धर्मका नाश करना चाहिये। भाग्य चक्रसे आर्य्यजातिको तीनोंका ही नाश देखना पड़ा है। उसकी भाषा देववाणी मृतभाषा बनाई गई है, उसका जातीय वेश, जातीय खान-पान, जातीय रूप विगड़कर विजातीय हो चला है और उसका अनादि प्रसिद्ध सनातनधर्म आस्तिकताहीन भौतिक विज्ञान इतना (Godless material science) के भँवरमें पड़कर डूबता हो जा रहा है। अब जब तक हो गया कि आर्यजाति गृहत्यागी, मातृत्यागी, पितृत्यागी, भावत्यागी भाषात्यागी, वेशत्यागी, धर्मत्यागी हो गई, तो बाकी छोटी-मोटी बातोंके त्यागनेमें क्या देर लगती है। इस लिये शूद्रोंने कर्णकी तरह वृद्धांगुलि गुरुदक्षिणामें चढ़ाकर शिल्पकलाको परित्याग किया। वैश्योंने वाणिज्यलक्ष्मीको छोड़कर मन-ही-मन सन्तोषव्रत धारण कर लिया। क्षत्रियोंने रक्षाधर्मके पालनका प्रयोजन न देखकर अस्त्र-शस्त्रोंका परित्याग कर दिया और ब्राह्मणोंने ब्रह्मपूजनको छोड़कर अर्थकाम सेवामें ही मन प्राणको सौंप दिया। इस प्रकारसे आर्यजातिको चतुष्पादपूर्ण स्वराज्यके स्थान पर षोडशकलासम्पूर्ण पराधीनता ही मिल गई है। इसके अतिरिक्त अपने स्वरूपको भूलकर चिर उदार आर्यजातिने स्वधर्म विद्वेषी और स्वजाति-विद्वेषी बन अपनी पराधीनता शृङ्खलाको और भी कठिन बना लिया है।

किन्तु अन्तर्यामी विधाताके विधानको कौन रोक सकता है? गत यूरोपीय महासमरमें पाश्चात्य सभ्यताके कुपरिणामको देखकर आर्य्यजाति तथा समस्त संसार चौंक उठा है और आर्य्यजातिको यह मालूम हो गया है कि, पाश्चात्य सभ्यताके ऊपरी चमत्कारमें मुग्ध होकर महर्षि प्रणीत प्राचीन आर्य्यसभ्यताके प्रति उपेक्षा करना उसकी भूल थी। यूरोपीय महासमरमें मन प्राण शरीर आत्मीयस्वजन सभीके समर्पण करने पर भी—उसके बदले जो कुछ मिला है उससे भी आर्य्यजातिकी आंखें खुल गई हैं। यही सिद्धान्त निश्चय हो गया है कि, संसार स्वार्थपरता, नीचता, कृतघ्नता तथा पशु भावसे भरा हुआ है, यदि कोई जाति अपनी

उन्नति करना चाहे तो दूसरी जातिका मुखापेक्षी न होकर स्वावलम्बनकी सहायतासे अपनेही पाँव पर खड़ा होनेका पुरुषार्थ करना ही यथार्थतः उन्नति लाभ करनेका उपाय है। वास्तवमें भिखारीकी तरह दूसरेके कृपाकटाक्ष-भिक्षु होनेकी अपेक्षा अपने आत्मबलिदान द्वारा जगन्माताको प्रसन्न करके मातृभूमिसे शक्तिमान् होना ही उन्नतिका मूलमंत्र है। अब राजनैतिक चक्रकी गति प्रजातन्त्र (Republic) की ओर प्रबल वेगसे हो रही है। यह भी प्रत्यक्ष देखनेमें आ रहा है कि, एक दो को छोड़कर पृथ्वीके जितने महादेश हैं वे सभी राजतन्त्र को छोड़कर प्रजातन्त्र प्रथाको ग्रहण कर रहे हैं। ऐसा अकस्मात् क्यों हुआ इसका मूलान्वेषण करनेसे अनेक हेतु देखनेमें आते हैं। उनमेंसे चार हेतु विशेष प्रबल हैं यथा—(१) पश्चिमी सभ्यता (Western Civilisation) का अवश्यम्भावी परिणाम, (२) राजाओंमें राजशक्तिके अपलाप द्वारा तपस्यानाश तथा राजोचित गुणावलीका अभाव (३) प्रजाओंमें धैर्य्य, त्याग तथा सहनशीलता द्वारा तपःसञ्चय, और (४) मनुष्य समाजमें आस्तिकता और दैवी जगत पर विश्वासका अभाव नीचे इन चारोंका वर्णन किया जाता है।

पश्चिमी सभ्यताके भौतिक विज्ञान (Material Science) मूलक होनेसे उसके द्वारा संसारका सामञ्जस्य बिगड़ता है। संसार यदि एक ओर सौ दो करोड़ धनपतियों के द्वारा और दूसरी ओर दस बीस करोड़ अतिदरिद्र मजदूरोंके द्वारा पूर्ण होजाय, तो संसार कभी यथार्थ सभ्यताके शिखर पर चढ़ नहीं सकता। मध्यवित्त लोगोंके द्वारा ही संसारमें सकलप्रकारकी जातीय उन्नति प्राप्त हो सकती है, क्योंकि उनको मजदूरोंकी तरह अन्नचिन्ता भी नहीं रहती और करोड़पतियोंकी तरह धन-मद भी नहीं रहता है। वे दोनों असामञ्जस्यकी आशङ्कासे बचकर व्यक्तिगत तथा जातिगत-जीवनकी यथार्थ उन्नतिके लिये विशेष पुरुषार्थ कर सकते हैं। किन्तु भौतिक विज्ञानका जो मूलतत्त्व है उससे संसारमें मजदूर दल (Labour Class) और धनीदल (Capitalist) ही बढ़ते हैं, मध्यवित्तलोग (Middle Class) घट जाते हैं। किसी एक कारखाने या मिल आदिके दृष्टान्तसे इस विचारको मिलाकर देख सकते हैं। एक वस्त्रकी या आटेकी मिल चलनेपर क्या होता है? जिस धनीकी मिल है वही करोड़पति बनता है, बाकी उसमें काम करनेवाले मजदूर लोग चिरदरिद्र ही रहते हैं। एक मिलमें अनेक वस्त्रादि प्रस्तुत होनेके कारण मध्यवित्त लोगोंके लिये श्रमविभाग (Distribution of Labour) का सिलसिला एकबार ही नष्ट हो जाता है। वे स्वतन्त्ररूपसे शिल्पकलाका अभ्यास या उन्नतिसे वञ्चित होकर केवल नौकरी करने वाले ही रह जाते हैं। इस प्रकारसे भौतिक विज्ञान द्वारा श्रम सामञ्जस्य तथा अर्थसामञ्जस्य बिगड़ कर एक ओर तो मध्यवित श्रेणी नष्ट हो जाती है और दूसरी ओर मजदूर तथा धनियों में संग्राम शुरू हो जाता है। क्योंकि परिश्रम करें मजदूर फायदा उठावें आलसी

प्रमादी धनो, इससे मजदूरोंका चित्त बिगड़ता है. वे धनियोंके प्रति द्वेष तथा ईर्ष्यापरायण होकर संग्राम करने लगते हैं, जिसका अवश्यम्भावी फल अन्तर्विवाद (Civil war) और एकाकार होना (Bolshevism) है जो आज संसारके सामने प्रत्यक्ष दीख रहा है। आज जो समस्त यूरोपमें मजदूर दल और धनी दलोंमें भीषण संग्राम चल रहा है और बोल-शेविज्मका प्रभाव बढ़कर धनियोंके धन लूटे जा रहे हैं, प्रताप घटाये जा रहे हैं, इसका आदि कारण भौतिक विज्ञान प्रधान पश्चिमी सभ्यता ही है। किन्तु दुःख इस बातका है कि, इस प्रकार अशान्ति तथा जातीय संग्रामको मिटाकर शान्ति स्थापन करनेके लिये पश्चिमी सभ्यताने अभी तक कोई स्थायी उपाय नहीं सोचा है, उलटा संग्राम, अशान्ति, नरहत्या, जीवहत्या आदिकी पुष्टिके लिये मेशिनगन, जेप्लिन, हवाई जहाज, पनडुब्बी आदि नाशके ही सामान (Engines of destruction) तैयार किये हैं। इसका अन्तिम परिणाम यही होगा कि छोटे बड़ेको नहीं मानेंगे, प्रजा राजाको नहीं मानेगी, राजा-प्रजामें भीषण संग्राम छिड़ जायगा और अन्तमें राजतन्त्रके बदले प्रजातन्त्र राज्य चल जायगा और इसके परि-णाममें एकाकार बोल्शेविज्म फैल जानेकी आशङ्का हो जायगी। इन्हीं बातों पर विचार करके पूज्यपाद दूरदर्शी महर्षिगण भौतिक विज्ञानको ही जातीय उन्नतिका एक मात्र निदान नहीं समझते थे और मिल आदिकी सहायतासे वाणिज्यश्रीको न बढ़ाकर गृहशिल्प (Home Industries) की सहायतासे उसे पुष्ट करके श्रमसामञ्जस्य (Balance of labour) मध्यवित्त श्रेणीकी उन्नति तथा अर्थसामञ्जस्य विधान करते थे। अतः विचार द्वारा यही सिद्धान्त निश्चित हुआ कि पश्चिमी सभ्यताका कुपरिणामही राजतन्त्र नाशका एक कारण है।

पश्चिमी सभ्यता आस्तिक्यहीन भौतिक विज्ञान (Godless Material Science) मूलक होनेसे इसकी जितनी वृद्धि होती है, मनुष्य हृदयसे आस्तिकता, ईश्वरभक्ति, देवताओं पर भक्ति, सूक्ष्म जगत्पर विश्वास तथा स्थूल जगत्को ही सब कुछ न समझनेकी बुद्धि उतनी ही नष्ट हो जाती है, जिसका फल यह होता है कि ईश्वर तथा देवताओंकी विभूतियों परसे भी प्रजाकी श्रद्धा भक्ति उठ जाती है। स्वधर्मसेवी यथार्थ राजामें ईश्वर तथा देवताओंकी विभूति है।

"अष्टानां लोकपालानां मात्राभिर्निर्म्मितो नृपः।"

यह आर्यशास्त्रका सिद्धान्त ही है। इसलिये राजभक्ति ईश्वरभक्तिमूलक है। ईश्वर भक्ति जितनी नष्ट होगी, राजभक्ति भी उतनी ही नष्ट होगी। अतः ईश्वरभक्तिहीन भौतिक विज्ञानके प्रभावसे संसारमें राजभक्ति अवश्य ही उठ जायगी और राजतन्त्रके बदले प्रजा-तन्त्र प्रथा चल जायगी यह निश्चय है। इस प्रकारसे पश्चिमी सभ्यता ही राजतन्त्रका नाश करके प्रजातन्त्र राज्य स्थापनका मूल कारण हो रहा है।

पश्चिमी सभ्यता अर्थकामके ऊपर प्रतिष्ठित है, इसमें धर्ममोक्षका नाम मात्र नहीं है, धर्महीन अर्थकाम किस प्रकारसे वासनाको बढ़ाकर मनुष्यको उन्मत्त कर देता है, इसका वृत्तान्त पहले ही कह चुके हैं। इस कारण यह बात निश्चय है कि, जिस जातिमें धर्महीन अर्थकामकी वृद्धि होगी उसमें वासनाका अन्त न रहेगा, मनुष्य वासनाको बढ़ाता हुआ चक्रवर्ती राजाकी पदवी तक पानेको ललचायेंगे, जिसका फल यह होगा कि राजाकी राजसम्पत्तिको देख ईर्ष्या द्वेषसे जल मरेंगे और राजाको बड़ा न मानकर स्वयं राजा बननेकी इच्छा करेंगे और इससे यह भी परिणाम निकलेगा कि, सावधान न होनेपर प्रजाओंमें दिन पर दिन निरङ्कुश स्वाधीनताप्रवृत्ति बलवती हो जायगी। अतः देखा गया कि धर्ममोक्ष-हीन पश्चिमी सभ्यताके परिणामसे राजतन्त्रकी प्रधानता नष्ट होकर प्रजातन्त्रप्रथा अवश्य ही हो जायगी।

राजाओंमें राजशक्तिके अपलाप द्वारा तपोनाश—जगन्नियन्ता श्रीभगवान्का नियम ही यह है कि, इस संसारमें अनावश्यक कोई भी पदार्थ रहने नहीं पाता। प्रकृतिमाता आवश्यक वस्तुको शीघ्र ही प्रलयके गर्भमें डुबा देती है। इस नियमके अनुसार मनुष्योंमें भी यदि भगवान्के द्वारा प्राप्त किसी वस्तुका उपयोग न हो या दुरुपयोग हो तो वह वस्तु पानेवालेके पास बहुत दिनों तक नहीं रहेगी या आगे जन्ममें वह उससे शून्य होकर उत्पन्न होगी। दृष्टान्त रूपसे समझ सकते हैं कि इस जन्ममें धन पाकर जो अच्छे कार्यमें उसका उपयोग नहीं करेगा या पापकार्यमें उसका दुरुपयोग करेगा वह तीव्र पापसे इसी जन्ममें या साधारणतः आगामी जन्ममें निर्धनता को प्राप्त हो जायगा। चक्षुको पाकर उसका अपव्यव-हार करनेवाला नेत्रशक्तिसे हीन होकर उत्पन्न होगा। बुद्धि पाकर उसका दुरुपयोग करने वाला निर्बुद्धि होकर जन्मेगा। यह सब क्रिया प्रतिक्रियामय प्राकृतिक नियम है। पूर्वजन्म की सकाम तपस्याके फलसे मनुष्यको राज्य मिलता है। तपस्याके प्रभावसे अपूर्व उत्पन्न होनेके कारण राजाके शरीरमें सूर्य, चन्द्र, वरुण, यमादि आठ देवताओंकी विभूति प्रकट हुआ करती है। किन्तु, यदि राजा इन दैव विभूतियोंका उपयोग न करे या दुरुपयोग करे, यथा—सूर्यका अंश पाकर भी प्रजाओंमें प्रकाश विस्तार न करके अज्ञान या अन्धकारका ही विस्तार करे, चन्द्रका अंश पाकर भी प्रजाको निजगुणसे आनन्द न देकर निज स्वार्थसिद्धिके लिये दुःख ही देवे; वरुणका अंश पाकर भी धन दानद्वारा प्रजाको पुष्ट न करके दुर्भिक्षके कराल ग्रासमें पतित करे और प्रजा शोषणसे धनोपार्जन द्वारा अपने ही ऐश्वर्य, सुख, गौरवकी वृद्धि करे अथवा राज्यमें व्ययाधिक्यनीति चलाकर राज्यको दुर्बल तथा प्रजाको दारिद्र्य दुःखसे पीड़ित करे; यमराजका अंश पाकर भी न्यायानुसार विचार न करके अन्याय तथा पक्षपातके साथ विचार करे तो इस प्रकार देवांशके दुरुपयोगके फलसे राजामें

से दैवविभूतियां नष्ट हो जायँगी और उनमें राक्षसका अंश प्रकट होकर भीषण प्रजापीड़नका कारण हो जायगा जैसा कि शुक्रनीतिमें—

> यो हि धर्मपरो राजा देवांशोऽन्यश्च रक्षसाम् ।
> अंशभूतो धर्मलोपी प्रजापीडाकरो भवेत् ॥

धर्मानुसार प्रजापालक राजामें देवांश प्रकट होता है, अन्यथा राक्षसांश प्रकट होकर राजाको प्रजापीड़क बनाता है और इसी प्रजापीड़नरूपी पापसे राजाकी क्या दुर्गति होती है सो भी महर्षि याज्ञवल्क्यने बताया है, यथा—

> प्रजापीड़नसन्तापात् समुद्भूतो हुताशनः ।
> राज्यं कुलं श्रियं प्राणान् नाऽदग्ध्वा विनिवर्तते ॥

प्रजापीड़नजन्य सन्तापसे उत्पन्न अग्नि राजाके राज्य, वंश, सम्पत्ति और प्राणके जलाये बिना निवृत्त नहीं होती है । इतिहासकी पर्यालोचना करनेसे ऐसा ही मालूम होता है । नहुष इन्द्र बनकर भी प्रजापीड़न पापसे ही गिर गया था । वेण, दुर्योधन, कंस, आदिका नाश भी इसी प्रकारसे हुआ था । वर्त्तमान समयमें भी समस्त जगत्के राजाओंमें दैवविभूतियोंका विरल ही विकाश देखनेमें आ रहा है । उलटा आसुर या राक्षस विभूतिके विकाश द्वारा प्रजापीड़न तथा तज्जन्य पापसे राजाओंका तपःक्षय हो रहा है । यह पूर्वजन्मकी तपस्या जब तक थोड़ी बहुत बाकी है तबतक तो उनका राज्य चलेगा, उसके बाद सम्पूर्ण तपस्याके नाश होते ही वे सब नष्ट हो जायेंगे और संसार में राजतन्त्रके बदले प्रजातन्त्र राज्य हो जायगा, यही वर्त्तमान समयमें राजनैतिक जगत्के अदृष्टचक्रका परिवर्त्तन दृष्टिगोचर हो रहा है ।

प्रजाओंमें धैर्य्य, त्याग तथा सहनशीलता द्वारा तपःसञ्चय और भगवत्कृपा लाभ—एक ओर तो राजागण पापाचरण, प्रजापीड़न, दुर्व्यसन आदिके द्वारा पूर्वतपस्याको खोकर शक्तिहीन हो रहे हैं और दूसरी ओर प्रजा त्यागी नेताओंकी वशवर्त्तिनी होकर धैर्य्यके साथ अन्यायी राजाके अत्याचारोंको सहन करती जाती है और धैर्य्य, त्याग, सहिष्णुता आदि सद्गुणोंके प्रभावसे विशेष तपःसञ्चय तथा दैवकृपालाभ कर रही है । इसका फल क्या होगा सो अनायास ही मालूम हो सकता है । राजाकी ओरसे भगवत्कृपा हट जायगी । और प्रजाके ऊपर करुणानिधान भगवान्की कृपादृष्टिको वृष्टि होगी । संसारमें सहनशीलता त्याग और आत्मवलिदानके द्वारा ही निखिल शक्ति प्राप्त होती है । वसुदेव देवकी यदि कंसके अत्याचारको सहन न करते तो श्रीभगवान् कृष्णचन्द्र उनके पुत्र बन, संसारमें प्रकट

होकर उनका दुःखनाश व कंसविनाश न करते। द्रौपदीके वस्त्रहरणके समय यदि पाण्डव गण धैर्य्य और धर्मको न रखते तो श्रीभगवान्‌की कृपा तथा कुरुक्षेत्र युद्धमें उनको जयश्री नहीं प्राप्त होती। महात्मा ईसामसी यदि यहूदियोंके मरणान्त अत्याचारको सहन न करते, तो ईसाई धर्म आज समस्त संसारमें इतना विस्तृत न हो जाता। अतः सहिष्णुतासे तपोलाभ और उससे दैवकृपा, भगवत्कृपालाभ तथा अन्तमें तपस्याके फलसे राज्यलाभ विधाताका अवश्यम्भावी विधान है। इन्हीं तीन विशेष कारणोंसे राजनैतिक जगच्चक्रकी गति कलियुगके इस अंशमें प्रजातन्त्रकी ओर चल रही है यही विचार तथा अनुभवसिद्ध सत्य जान पड़ता है।

जिस प्रकार प्रजातन्त्रकी ओर गति आजकल समस्त जगत्‌में हो रही है, यद्यपि प्राचीन हिन्दु-राज्यके समय ऐसी प्रजातन्त्रप्रथा नहीं थी, तथापि राज्यशासनमें प्रजामत और बहुमतका बड़ा ही सम्मान था और प्रकारान्तरसे उस समय धर्मानुशासन मूलक ऐसा राज्यतन्त्र था जिसको प्रजातन्त्र भी कह सकते हैं। इसके उदाहरणके लिये बहुत दूरतक ढूंढ़ना नहीं पड़ेगा। आदर्श क्षत्रिय नरपति रामचन्द्रके राज्यतन्त्रपर विचार करनेसे ही सिद्धान्त निर्णय हो जायगा। श्रीरामचन्द्रके राज्याभिषेकके समय दशरथने प्रजाओंके भिन्न भिन्न पञ्चों की सम्मति लेकर तब गुरु वशिष्ठसे अभिषेक कार्य कराया था, ऐसा रामायणमें लिखा है। श्रीरामचन्द्र अपने राज्यकालमें प्रजामतको कितना मानते थे सो रामायणके पत्र-पत्रमें स्पष्ट है। यह उनके प्रजामतके माननेका ही पूर्ण निदर्शन था कि बहुबार परीक्षा द्वारा संसारके सम्मुख सम्पूर्ण निर्दोषा प्रमाणित होने पर भी—परमसती सीताका केवल प्रजा-सन्तोषके लिये ही उन्होंने वनवास कराया था। प्रजामत माननेका एतादृश दृष्टान्त जगत्‌के इतिहासमें अतीव दुर्लभ है। प्राचीन आर्यमतानुसार क्षत्रिय वर्णमेंसे ही नरपति हो सकते थे, अन्य वर्णोंमेंसे राजा नहीं हो सकते थे। इसका हेतु यह है कि, सत्त्वगुणमें क्रिया शक्तिका अभाव होनेसे सत्त्वगुण प्रधान ब्राह्मण वर्णमेंसे राजा नहीं हो सकते। तमोगुणमें प्रमाद अधिक होनेसे तमोगुणप्रधान शूद्रवर्णमेंसे भी राजा नहीं हो सकते। वैश्यवर्णमें क्रियाशक्तिमूलक रजोगुण होनेपर भी उसकी प्रवृत्ति तमोगुणकी ओर है इस कारण वैश्यवर्णमेंसे भी राजा नहीं हो सकते। केवल सत्त्वगुणकी ओर झुकते हुए रजोगुणसे युक्त क्षत्रिय वर्णमेंसे ही आर्यशास्त्रानुसार राजा हो सकते हैं। उनमें रजोगुणके कारण क्रियाशक्ति, युद्धशक्ति आदिका प्राचुर्य रहेगा और सत्त्वगुणके कारण धर्मभावका आधिक्य होनेसे धर्मानुसार प्रजापालन तथा राजकर्म सञ्चालन हो सकेगा। इसी प्रकारसे राजतन्त्र प्रणाली सञ्चालनका भार प्राचीनकालमें क्षत्रिय जाति पर था। किन्तु कोई भी तन्त्र स्वतन्त्र या निरंकुश नहीं था, दोनों ही तन्त्र धर्मतन्त्रके द्वारा नियमित था, जिससे राजतन्त्रकी स्वेच्छाचारिता तथा प्रजा-तन्त्रकी निरंकुशता किसीकी भी सम्भावना न थी और उस धर्मतन्त्रकी व्यवस्थाका भार

सर्वश्रेष्ठ ज्ञानी त्यागी प्रजा दूरदर्शी महर्षियों पर था। निर्लोभ अरण्यवासी, तपस्वी महर्षिगण समस्त प्रजाके प्रतिनिधि रूप होकर ज्ञान दृष्टि तथा धर्मशास्त्रके सिद्धान्तानुसार राज्यशासन को प्रक्रिया क्षत्रिय नरपतिको बताया करते थे और इसी प्रकारसे धर्ममन्त्रके अधीन होकर नरपति प्रजामतके अनुसार राज्य चलाया करते थे। जहां पर कभी किसी राज्यके द्वारा धर्मतन्त्र की अवमानना अथवा अवहेलना होती थी, प्रजामतके प्रतिनिधि महर्षिगण उसी समय निरंकुश राजाको सावधान कर दिया करते थे। धर्मतन्त्रके पूर्णनाशकी आशङ्का देखने पर अन्यायी अधार्म्मिक राजाको गद्दीसे उतारकर योग्य धार्मिक क्षत्रिय वीरको राजसिंहासन पर अभिषिक्त करते थे। यही प्राचीन प्रथानुसार धर्मतन्त्र द्वारा राजतन्त्र और प्रजातन्त्रका सामञ्जस्य तथा क्षत्रिय नरपतिकी धर्मानुकूल राज्यशासन व्यवस्था है। यह हम पहिले ही कह चुके हैं कि, प्राचीनकालमें राजतन्त्र प्रथा प्रचलित रहने पर भी वह वस्तुतः एक प्रकारसे उस समय धर्मानुशासन मूलक राज्यतन्त्र था जिसको प्रजातन्त्र भी कहा जा सकता है, जिसके निम्नलिखित लक्षण पर विचार किये जा सकते हैं।

उस समय ग्राम-ग्राम नगर-नगरमें स्वतन्त्र-स्वतन्त्र पञ्चायतें थीं। जिसका प्रमाण मध्ययुगके इतिहाससे भूरि-भूरि मिल सकता है। धर्म परिषद्की व्यवस्थाकी दृढ़ आज्ञा स्मृतिशास्त्रमें है जिसके अनुसार उस राजकीय सभाके सभासद् प्रजाओंमेंसे चुने जाते थे। राजधर्म तथा प्रजाशासनप्रणालीके निर्णयमें राजागण निरंकुश होने ही नहीं पाते थे, क्योंकि अरण्यवासी ज्ञानी तपस्वी ब्राह्मणोंके द्वारा वे सब नियम बनाये जाते थे। ब्राह्मणगण निःस्वार्थव्रतधारी तथा तपोधन होनेके कारण और विशेषतः उनमें अन्तर्दृष्टि रहनेसे उनके सिद्धान्त दोषरहित, सर्वजीवहितकारी और दूरदर्शितासे पूर्ण होते थे। अतः उस समय नवीन प्रजातन्त्रप्रणाली न रहने पर भी वस्तुतः वह प्रजातन्त्र ही थी, केवल उसमें विलक्षणता यह थी कि, उस प्रणालीमें राजा प्रजा दोनों ही निरङ्कुश नहीं होने पाते थे। प्रजा राजाकी सन्तति समझी जाती थी और राजा अपनेको भगवानकी ओरसे राजसम्पत्ति के रक्षक तथा आश्रयदाता समझते थे।

कालके प्रभावसे अब इस प्रकार सर्वहितकर राजप्रणाली नष्टप्राय होगई है। न ऐसे धर्मपरायण वीर क्षत्रिय नरपति ही रहे और न उस प्रकार धर्मतन्त्रकी सम्भावना ही रही। अब तो सर्वत्र अर्थकामका दोर्दण्डप्रताप, स्वार्थपरता, प्रजापीड़न, प्रजाका धनरत्नलुंठन, अविचार अनाचार ही देखनेमें आ रहा है। आर्यजाति स्वधर्मविद्वेषवह्निसे दग्ध होकर जब भारतसाम्राज्यको खो बैठी थी तब श्रीभगवान्नें आर्यजातिको स्वधर्मप्रेमशिक्षामें सहायता देनेके लिये स्वधर्मप्रेमी मुसलमानजाति पर भारतसाम्राज्यका शासनभार सौंपा था। किन्तु कुछ वर्ष राज्य करने के बाद औरङ्गजेबप्रमुख यवननरपतियोंने आर्यजातिका स्वधर्मप्रेम न

रखकर जब आर्यधर्मके मूलमें ही कुठाराघात करना प्रारम्भ कर दिया तो भगवदिच्छाके विरुद्ध होनेसे भारतवर्षमेंसे मुसलमान राज्यका नाश हो गया। तदन्तर आर्यजातिमें स्वजाति विद्वेषवह्निको प्रबल देखकर श्रीभगवान्ने आर्यजातिको स्वजातिप्रेमशिक्षामें सहायता देनेके लिये स्वजाति प्रेमी अँगरेज जाति पर भारतका शासनभार सौंपा था। किन्तु दुर्भाग्यवस भारतवासीको स्वजाति प्रेमकी शिक्षा नहीं मिली, उलटा हिन्दू जातिमें भ्रातृविद्वेष, अनैक्य, स्वजाति विद्वेषका बीज बोना प्रारम्भ हो गया है। अतः जिस उद्देश्यसे श्रीभगवान्ने उनको यहां पर भेजा था वह पूर्ण न हो सका। इधर ऊपर कथित तीनों कारणोंसे धर्मतन्त्रका नाश, तपस्याका नाश तथा सहनशील प्रजाओंमें दिन दिन तपोवृद्धि हो रही है। अतः काल-चक्रकी गति पर अनुसन्धान कर देखनेसे यही अनुभवमें आता है कि, अब कलियुगके आगामी कुछ वर्षों तक संसारमें प्रजातन्त्रका ही जोर रहेगा और इस प्रकारसे नाना जाति तथा राज्यका उत्थान पतन होते होते कलियुगके अन्तकालमें वही होगा जैसा कि श्रीभगवान् वेदव्यासने श्रीमद्भागवतके १२ स्कन्धमें कहा है—

देवापिः शन्तनोर्भ्राता मरुस्त्विक्ष्वाकुवंशजः।
कलापग्राम आसाते महायोगबलान्वितौ॥
ताविहेत्य कलेरन्ते वासुदेवानुशिक्षितौ।
वर्णाश्रमयुतान् धर्मान् पूर्ववत् प्रथयिष्यतः॥

सूर्यवंशीय मरुराजा और चन्द्रवंशीय देवापि राजा अतीन्द्रिय योगशरीरमें कलाप-ग्राममें निवास करते हुए अभीसे योग तथा तपस्या कर रहे हैं। कलियुगके अन्तमें जब श्रीभगवान् कल्किरूपमें ब्राह्मणवंशमें अवतार धारण करेंगे और पापी म्लेच्छोंका नाश करके धर्मतन्त्रकी व्यवस्था करेंगे उस समय देवापि और मरु-कल्किभगवान्‌की आज्ञानुसार आर्य-जातिके अधिपति होकर भारतवर्षका शासनभार अपने हाथमें लेंगे और उसी समयसे पुनः वर्णाश्रमानुकूल धर्मानुकूल राजतन्त्रकी प्रतिष्ठा होगी। अतः हिन्दूजातिको वर्तमान राज-नैतिक जगच्चक्रकी गतिके अनुसार आत्मरक्षा तथा चतुष्पाद पूर्ण स्वाराज्य लाभके लिये पुरुषार्थ करना चाहिये और श्रीभगवान् वेदव्यास कथित भावी शुभ समयकी शुभ उदय आकाङ्क्षासे आर्यशास्त्र सम्मत पवित्र वर्णाश्रम धर्मकी बीजरक्षा करनी चाहिये—यही दूर-दर्शी मुनिगणका अकाट्य सिद्धान्त है।

'आधुनिक विज्ञान और सनातनधर्म' नामक प्रबन्धमें आध्यात्मविद्या और सायन्सके परस्पर भेद तथा प्रतिपाद्य विषय बतानेके प्रसङ्गमें यह कहा गया है कि आध्यात्मविद्या प्राकृतिक नियमोंके आदि निदान (why) को बताती है किन्तु सायन्स केवल प्राकृतिक नियम कैसे (how) कार्य करते हैं इतने ही भरको बताया करती है। पश्चिमी विद्वान् स्टैन्ले रेडग्रोभ (H. Stanley Redgrove) साहबने इस विषयमें स्पष्ट कहा है— "The business of Science is the generalisation of Phenomena, it is the function of philosophy to explain. Stated otherwise, the Scientist endeavours to answer 'How,' the philosopher to answer 'why.' We must beware of the error of saying that such and such an event happens because of certain laws of nature. The laws of nature provide in themselves no real explanation of phenomena. It is simply a statement in terms as general as possible of what happens under given circumstances in the exprerssion of an observed order or uniformity in natural phenomena. Science is concerned only with phenomena as phenomena. It shows us a marvellous harmony in nature. But it is a problem for philosophy to solve the 'why' of nature's harmony."

(The Purpose of philosophy—Kalpaka).

किसी प्राकृतिक व्यापारकी नियमित शृङ्खलाको बता देना सायन्सके अधिकारका काम है। किन्तु उसके निदानको ढूंढ़ निकालना दर्शनशास्त्र या अध्यात्म विद्याका काम हैं। दूसरे शब्दमें—'कैसे' का उत्तर देना सायन्सका और 'क्यों' का उत्तर देना दर्शनशास्त्रका काम है। हमें भूलसे ऐसा नहीं कहना चाहिये कि 'प्राकृतिक इन नियमोंके कारण ऐसी घटना होती है'। क्योंकि प्राकृतिक नियम किसी प्राक्रतिक व्यापारके निदानको नहीं बता सकता है। उसके द्वारा केवल प्राक्रतिक घटनाएँ कैसे घटा करती हैं उनके सिलसिलेवार प्रकार ही प्रकाशित किये जाते हैं। किसी प्राक्रतिक व्यापारको व्यापारके रूपमें दिखाना और प्रक्रतिराज्यमें उसके सुन्दर सामञ्जस्यको प्रकट कर देना सायन्सका काम है। किन्तु उस सामञ्जस्यके आदि कारणको अन्वेषण कर प्रकट कर देना दर्शनशास्त्र या आध्यात्मविद्याका काम है। इस प्रकारसे पश्चिम देशके विज्ञानवित् पण्डितोंने भी—आधुनिक विज्ञान और

अध्यात्मविद्याका पार्थक्यनिरूपण करना प्रारम्भ कर दिया है, जिससे इस देशके अध्यात्म-शास्त्रका चमत्कार संसारके सामने और भी उज्वल हो उठेगा इसमें सन्देह नहीं है।

वर्त्तमान प्रबन्धका विषय हिन्दू सदाचार है। धर्मानुकूल शारीरिक व्यापारको 'आचार' कहते हैं। प्रातःकालसे लेकर रात्रिको सोनेके समय तक किस किस प्रकार शारीरिक चेष्टाओंके करनेसे शरीरकी यथार्थ उन्नति और उसके द्वारा मानसिक तथा आध्यात्मिक उन्नति हो सकती है, इन्हींका नाम सदाचार है। क्योंकि शरीर रक्षाके लिये इसकी विशेष आवश्यकता है 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्' प्रथम धर्मसाधन शरीरकी रक्षा ही है, इसी कारण स्मृतिशास्त्रमें आचारको प्रथम धर्म कहा गया है, यथा मनु—

आचारः प्रथमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त्त एव च।
तस्मादस्मिन् सदा युक्तो नित्यं स्यादात्मवान् द्विजः॥

श्रुति स्मृतिमें कथित आचार प्रथम धर्म है। अतः द्विजगणको आचार पालन करते हुए शरीर रक्षा तथा आत्माकी उन्नति करनी चाहिये। इसके करनेसे क्या होता है और न करनेसे क्या होता है इस विषयमें पूर्व पश्चिम दोनों देशके विद्वानोंने नवीन नवीन बहुत कुछ आविष्कार किये हैं।

आचाराल्लभते ह्यायुराचाराल्लभते श्रियम्।
आचाराल्लभते कीर्ति पुरुषः प्रेत्य चेह च॥
सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवान् भवेत्।
श्रद्दधानोऽनसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति॥ (मनु)
अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात्।
आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्रान् जिघांसति॥ (मनु)

सदाचारके पालनसे आयु तथा श्रीकी वृद्धि और इहलोक परलोकमें मनुष्यको यशोलाभ होता है। और कोई विशेष लक्षण न रहने पर भी केवल आचार और शास्त्रमें श्रद्धाके बलसे मनुष्य सौ वर्ष तक जीवित रह सकता है। आत्मोन्नतिकर शास्त्रके नियमित न पढ़नेसे, आचारहीन होनेसे, आलसी होनेसे और खराब अन्नके खानेसे मनुष्य अल्पायु हो जाता है। ठीक इसी सिद्धान्तका अनुभव करके जे० मिलट सेवर्न (J. Millott Severn) साहबने लिखा है—

That one may attain to the age of one hundred years or more is no visionary statement. According to physiological and natural laws

the duration of human life should be at least five times the period necessary to reach full growth. This is a prevailing law which is fully exemplified in the brute creation. The horse grows five years and lives to about twenty-five or thirty ; the dog two and a half and lives to about twelve or fourteen, the camel grows eight years and lives forty. Man grows to about twenty or twenty-five years; hence if accidents could be excluded, his normal duration of life should not be less than one hundred.

A study of the skeleton shows that man is capable of increase of stature upto about the age of twenty-five years. At this period the last of the growing areas of the long bones becomes calcified and further growth in a longitudinal direction ceases.

The secrets of longevity may be based chiefly upon discretion in the choice of food and drink, temperance, sobriety, chastity and a hopeful optimistic outlook on life. Neither gluttons, drunkards, the idle, dissipated or lazy can reasonably hope to attain old age. The quakers, who are very temperate in their habits and in the exercise of control over emotional feelings, are generally a long-lived people. The French, whose social habits, appetites and passions are less restrained, are not so long-lived.

There are many maxims helpful to the attainment of old age. Be hopeful, active, useful, moderate in all things. Avoid all excesses, passion and undue contention. Keep both mind and body reasonably employed. Cultivate tranquility of mind and self-control. We must be useful if we would be healthful. Nature, like the industrious bees, refuses to tolerate drones.

(Live to be hundred, Kalpaka)

मनुष्य सौ वर्ष या उससे भी अधिक उमर पा सकता है ऐसा कहना कोई काल्पनिक वर्णन नहीं है। शरीरविज्ञान या प्राकृतिक नियमानुसार मनुष्य के अवयवकी पूर्णता जितने वर्षोंमें होती है उसकी कमसे कम पांचगुनी आयु मनुष्योंकी होनी चाहिये। पशुजगत्‌के

दृष्टान्तसे भी यह सिद्धान्त सत्य प्रमाणित होता है। घोड़ा ५ वर्षमें पूर्णावियव हो जाता है, इसलिये उसकी आयु भी २५।३० वर्ष होती है। कुत्ता अढ़ाई वर्षमें होता है, इसलिये १२।१४ वर्ष तक जीवित रहता है। ऊँट आठ वर्षमें पूरा बढ़ता है इसलिये आयु भी ४० वर्षकी पाता है। मनुष्यर्क वृद्धिकी उमर २०।२५ वर्ष तक है, अतः यदि कोई दैव कारण न हो, तो उसे भी सौ वर्षसे कम आयु नहीं पानी चाहिये। मनुष्यकङ्कालकी परीक्षा करके देखा गया है कि मनुष्यावयवकी वृद्धि प्रायः २५ वर्ष तक होती है। इस समय हड्डियोंका बढ़ना रुक जाता है और उसका परिणाम मज्जाके रूपको धारण कर लेता है।

दीर्घायुलाभके लिये प्रधानतः इन विषयों पर ध्यान रखना होता है, यथा—खाने पोनेकी वस्तु विचारके साथ ठीक करनी चाहिये। मिताहार, संयम, सच्चरित्रता, शान्तमन और शान्तियुक्त जीवन होना चाहिये। अतिभोजी, मद्यपायी, आलस्यपरायण, अपनी प्राणशक्तिके क्षय करनेबाले दीर्घायुको नहीं पा सकते हैं। क्वेकार नामक धर्ममतवाले जिनके अभ्यास बहुत ही नियमित और मनोवृत्ति संयत हैं, प्रायः विशेष दीर्घजीवी होते हैं। फ्रान्सदेशनिवासीगण इन विषयोंमें कम संयत होनेके कारण प्रायः अल्पायुः होते हैं।

दीर्घायुलाभके लिये अनेक नियम सूत्ररूपसे बताये जा सकते हैं, यथा—जीवन आशामय, कर्म्मठ, समाजके लिये हितकारी और सभी विषयोंमें 'अति' से वर्जित होना चाहिये। अति मानसिक वेग, अति विद्रोह तथा सभी विषयोंमें अतिको त्याग देना चाहिये। शरीर और मन दोनोंको अच्छे कार्यमें लगाये रखना चाहिये। मानसिक शान्ति और आत्मसंयम का अभ्यास बढ़ाते रहना चाहिये यदि हम स्वास्थ्य को चाहते हैं तो हमारा शरीर मन जिससे समाजके कामका उपयोगी हो ऐसा हमें करना चाहिये। प्रकृतिमाता श्रमजीवी मधुमक्खीको तरह आलस्यपरायण पुरुषोंको पसन्द नहीं करती है। इन वर्णनों-से स्पष्ट हो जाता है कि सदाचारके फलाफलके विषयमें पूर्व, पश्चिम दोनों देशोंके विद्वानों-का अभिन्न मत है।

सनातन धर्म के शास्त्रीय सदाचार के अन्तर्गत समस्त शारीरिक व्यापार माने गये हैं जो सब प्रकृतिके नियमोंके पूर्ण अनुकूल हैं, क्योंकि प्रकृतिके नियमानुकूल चलने पर ही स्वास्थ्यकी रक्षा तथा मानसिक और आध्यात्मिक उन्नति होती है। प्रकृतिके नियमोंको (Laws of Nature) सामञ्जस्यके साथ प्रकट कर देना सायन्सका काम है। अतः समस्त आचारके मूलमें वैज्ञानिक चमत्कार है। इसीका दिग्दर्शन प्रकृत प्रबन्धमें कराया जायगा।

अब द्विजमात्रके सेवनीय कुछ दैनन्दिन सदाचारोंका वर्णन किया जाता है। सदाचारोंमें प्रथम कृत्य ब्राह्ममुहूर्त्तमें शय्यात्याग है ब्राह्ममुहूर्त्तके विषयमें शास्त्रमें निम्नलिखित वर्णन मिलते हैं—

ढाई घड़ीका एक घण्टा होता है। रात्रिके अन्तकी चार घड़ियोंमेंसे पहली दो घड़ियोंको ब्राह्ममुहूर्त और पिछली दो घड़ियोंको रौद्र मुहूर्त कहते हैं। इसी ब्राह्ममुहूर्तमें शय्यात्याग देनी चाहिये। आर्य्यशास्त्रोंमें ब्राह्ममुहूर्तमें शय्या त्याग करनेको बड़ी प्रशंसा लिखी है। इसका कारण यह है कि, ब्राह्ममुहूर्तमें श्री सूर्यभगवान् समस्त रात्रिके पश्चात् अपनी ज्योति और शक्तिका विस्तार करते हैं, अतः उसी समय जागने पर श्रीसूर्य्यभगवान्की शक्तिसे अपनी क्षुद्रशक्ति बहुत बढ़ जाती है और उनकी ज्योतिके प्रभावसे मन और बुद्धि आलोकित होती है, तथा मन, बुद्धि और शरीरमें रात्रिके प्रभावसे जो कुछ जड़ता आगई थी, सूर्य्यकी शक्ति और ज्योतिके प्रभावसे हटकर वे नव जीवनको प्राप्त होते हैं। ब्रह्ममुहूर्तमें उठनेको उपदेश करनेमें महर्षियोंका यही अभिप्राय है। प्राणके देवता श्रीसूर्य्यभगवान् हैं। ब्राह्ममुहूर्तमें उनके महाप्राणके साथ अपने प्राणोंको मिलाकर मन-ही-मन उनको प्रणाम करते हुए 'ब्रह्मा मुरारिस्त्रिपुरान्तकारी' आदि स्तोत्र पाठ करना चाहिये। इन स्तोत्रोंसे सभी कार्य भगवत्कार्य हो जाता है। सूर्यकी इस असीम शक्तिके तथा इस शक्तिसे लाभ उठानेके विषयमें पश्चिमी विद्वानोंने भी बहुत कुछ कहा है। यथा—

Tyndall teaches that every mechanical action on the face of the earth, every manifestation of power, organic or inorganic, vital and physical, is produced by the sun which is the reservoir of the electrical, magnetic and vital forces required by our system, which are taken in by all men, animals, vegetables, minerals and by them translated into various life-forces.

(Artie Mae Blackburn—Kalpaka)

Get as much sunshine as possible into yourself. Sunshine contains vitality. Admit lots of sunshine into your house.

(Capt. Walter Carey—Kalpaka)

टिन्ड्याल साहब कहते हैं कि संसारमें समस्त क्रिया तथा समस्त शक्तिकी उत्पत्ति करनेवाला सूर्य ही है। विद्युत्शक्ति, चुम्बकशक्ति और प्राणशक्ति सभीकी खान सूर्य है। मनुष्य नीचेके सब जीव और धातु तक सभी इसी शक्तिको लेते हैं और यथाक्रम अपने शरीरोंमें भिन्न-भिन्न प्राणशक्तिरूपसे प्रेरित करते रहते हैं।

जितना सम्भव होसके सूर्यकिरणको अपने भीतर ले लेना चाहिये। सूर्यकिरणमें प्राणशक्ति है। अपने घरमें भी उसका सञ्चार कराना चाहिये।

ब्राह्ममुहूर्तमें उठनेसे और भी कई एक लाभ हैं। सारी रात चन्द्र और नक्षत्रोंके किरणोंके साथ जो अमृत बरसता रहता है, उषाकालमें उसीको लेकर वायु प्रवाहित होता है। इस अमृत भरे वायुको 'वं रवायु' कहते हैं। वीरवायु शरीरमें लगनेसे शरीरके बलकी वृद्धि होती है, मुखकी कान्ति बढ़ती है। बुद्धि सतेज होती है, मन प्रफुल्ल और शरीर नीरोग होता है। हमारे सांसारिक पिताको छोड़कर पितृलोकमें अनेक प्रकारके पितृगण होते हैं जो अर्यमा आदि एक श्रेणीके देवता हैं जो बलवीर्य और वंशतन्तुको बढ़ाने वाले हैं और स्थूल शरीरके स्वास्थ्यको सँभालनेमें सहायक होते हैं। प्रातःकालमें पितृगण प्रसन्न होते और उनके बलकी वृद्धि होती है। यही बल वे संसारमें प्रचारित करते हैं। इस कारण ब्राह्ममुहूर्तमें उठनेपर पितृगणका बल प्राप्त होता है, जिससे स्वास्थ्य सुरक्षित रहता है और शक्ति बढ़ती है। यही सब शीघ्र शय्यात्यागकी महिमा है।

शय्यात्याग करनेके बाद मुख धोकर मलमूत्र त्यागके लिये जाना चाहिये। प्रातःकाल में ही मलमूत्र त्याग करनेसे शरीर अधिक नीरोग रह सकता है। जीवशरीरका यह स्वभाव है कि, भीतर चेष्टा होते ही शारीरिक रसका शोषण होने लगता है। अतः यदि प्रातःकालमें पहिले शौच न होकर कोई दूसरे काममें लग जाय, तो मलका दूषित रस रक्तमें मिल जायगा, जिससे मल कठिन होकर अनेक प्रकारकी पीड़ाएं उत्पन्न होंगी, मलका दूषित रस रक्तमें मिलनेसे रक्तविकार होंगे, रक्त-दूषित होनेसे फोड़े, खुजली आदिरोग होंगे और शरीर तथा मुख दुर्गन्धयुक्त बना रहेगा, इसलिये शय्यात्याग करते ही मलमूत्र विसर्जन करना आवश्यक है। जो मनुष्य मलमूत्रके वेगको रोकते हैं, उनको नाना प्रकारके रोग होते हैं। अतः कभी मलमूत्रके वेगको रोकना न चाहिये। मलमूत्र त्यागके सम्बन्धमें हिन्दुशास्त्रों-में कुछ नियम हैं, यथाः—

(१) 'वाच्यं नियम्य यत्नेन ष्ठीवनोच्छ्वासवर्जितः' अर्थात् शौचाचारके समय बोलना, थू-थू करना अथवा हाँपना न चाहिये।

(२) 'वाय्वग्निविप्रानादित्यमपः पश्यन् तथैव च' अर्थात् अग्नि, जल, सूर्य, वायु और पूजनीय लोगोंके आगे मलमूत्र त्याग करना निषिद्ध है।

(३) 'तिष्ठन्नातिचिरं तस्मिन्' जहां मलमूत्र त्याग करे, वहाँ अधिक समय तक न ठहरे। इन नियमोंमें विज्ञान भरा हुआ है। शरीरके ऊपरी भागमें जो स्नायु हैं उनमें यदि क्रिया उत्पन्न हो, तो शरीरके नीचेके भागके स्नायु और पेशीके कार्य भलीभाँति हो नहीं

सकेंगे। मलमूत्र-त्यागके समय यदि नीचेके स्नायु और पेशी अच्छा कार्य न कर सकें तो कोष्ठ किसी प्रकारसे विशुद्ध न हो सकेगा। कोठा शुद्ध न रहनेसे सब तरहके रोग शरीरपर आक्रमण करेंगे। मलमूत्र त्यागके समय बोलने, थू थू करने अथवा हाँपनेसे शरीरके ऊपरी-भागके स्नायु कार्य करने लगेंगे, और निम्न भागकी पेशियाँ स्नायु आदि कार्य्यक्षम नहीं रहेंगे। काठा शुद्ध न होने से अनेक प्रकारका रोग होना स्वाभाविक है अग्नि, जल, सूर्य्य आदिके आगे शौच करनेसे आपही आप शरीरके ऊपर भागके स्नायु कार्य्य करने लगेंगे। क्योंकि अत्युज्ज्वल, चञ्चल अथवा सबल वस्तुके दर्शन-स्पर्शनसे स्वभावतः स्नायु उद्दीपित होते हैं, इससे कोष्ठशुद्धिमें बाधा होकर रोग होना स्वाभाविक है। अग्नि, सूर्य, जल आदि प्रत्यक्ष देवता हैं। उनके सामने मलमूत्र त्याग जैसे घृणाजनक कार्य करनेसे तेज और शक्तिकी अवश्य ही हानि होगी। इसी विचारसे शास्त्रोंमें उक्त आज्ञाओंका उल्लेख है। इसके अतिरिक्त हिन्दुशास्त्रोंमें निवासस्थानसे कुछ दूर नगर या ग्रामके बाहर जाकर एकान्त स्थानमें मलमूत्र त्याग करना चाहिये इत्यादि अनेक आज्ञाएं मिलती हैं। श्रीभगवान् मनुने लिखा है—

न मूत्रं पथि कुर्वीत न भस्मनि न गोव्रजे।
न फालकृष्टे न जले न चित्यां न च पर्वते॥
न जीर्णदेवायतने न वल्मीके कदाचन।
न ससत्वेषु गर्तेषु न गच्छन्नापि न स्थितः॥

रास्तेके ऊपर, भस्मपर, गोचारणभूमि, कर्षितभूमि, जल, चिता, पर्वत, जीर्ण देव-मन्दिर या वाल्मीकिके ऊपर, प्राणियुक्त गर्तमें, चलते चलते या खड़े होकर कदापि मलमूत्र-त्याग नहीं करना चाहिये।

ग्राम वा नगरके बाहर मलमूत्रादिका त्याग करनेसे देशमें रोगोत्पत्ति होनेकी सम्भावना कम रहती है। आजकल नगरोंमें इस नियमका पालन होना कठिन हो गया है, ग्रामोंमें हो सकता है। इसी कारण नगर निवासियोंकी अपेक्षा ग्रामवासियोंका स्वास्थ्य अच्छा रहता है। इस प्रक्रियासे प्रातःकालकी वीरवायुका अनायास सेवन हो जाता है। हिन्दू-शास्त्रोंमें ओससे भींगी हुई घास परसे खाली पैर चलनेका माहात्म्य बताया गया है, इससे स्वास्थ्य अच्छा रहकर चक्षुरोग दूर होते हैं और नेत्रोंकी ज्योति बढ़ती है। बाल्यावस्थामें ही चश्मा चढ़ानेकी आवश्यकता नहीं होती। केवल मलत्यागकी विधिमें ही इतने काम अनायास बन जाते हैं।

मलत्यागान्तर शौचक्रियामें मिट्टी और निर्मल जलका व्यवहार करना चाहिये। मन्वादिसंहिताओंमें लिखा है।

वसाशुक्रमसृङ् मज्जामूत्रविट्कर्णविन्नखाः ।
श्लेष्माश्रु दूषिका स्वेदो द्वादशैते नृणां मलाः ॥
आददीत मृदोऽपश्च षट्सु पूर्वेषु शुद्धये।
उत्तरेषु तु षट्स्वद्भिः केवलाभिर्विशुध्यति॥

चर्वि, शुक्र, रक्त, मज्जा, मूत्र, विष्ठा, कर्णमल, नख, श्लेष्मा, अश्रु, अक्षिमल और स्वेद—मनुष्यशरीरमें ये बारह प्रकारके मल होते हैं। इनमेंसे पहले छः मलोंके लिये मिट्टी तथा जल दोनोंसे ही शौच करने होते हैं, और दूसरे छः मलोंके लिये केवल जलसे ही शुद्धि हो सकती है। इसी कारण मल त्यागानन्तर मिट्टीसे हाथ धोने चाहिये।

मिट्टीसे जैसे हाथ साफ होते हैं वैसे साबुन आदि द्रव्योंसे नहीं होते, क्योंकि पृथिवी गंधवती है। हाथोंकी दुर्गन्धि पृथिवीको मिट्टीसे जैसी दूर होगी, वैसी और किसी वस्तुसे नहीं हो सकती। पित्तके संयोगसे विष्ठामें तेलकी तरह एक प्रकारका लसीला पदार्थ रहता है, वह केवल मिट्टीसे ही छूटता है, अतः शौच कर लेने पर हाथ मिट्टीसे ही धोने चाहिये। तीन बार मिट्टी लगाकर फिर शुद्ध जलसे हाथ पैर धो डालने चाहिये।

मूत्रत्यागके अनन्तर भी पैर धोना उचित है। इससे शरीर स्निग्ध और स्वस्थ रहता है। लघुशङ्का कर लेने पर मूत्रयन्त्रको ठण्डे जलसे धो देना चाहिये, क्योंकि मूत्र अत्यन्त पित्तप्रधान होता है और उसमें कितनी ही विषैली वस्तुएँ रहती हैं। इन्द्रियमें अथवा धोती में मूत्र लगा रहनेसे अनेक प्रकारके रोग हो जाते हैं, अतः इन्द्रियको धोना आवश्यक है। उपस्थ इन्द्रियमें विशेषतया उसके अग्रभागमें कितने ही ऐसे स्नायु रहते हैं, जिन्हें थोड़ी उत्तेजना मिलते ही वे उत्तेजित हो जाते हैं। मूत्रत्यागके समयमें उष्ण और दूषित मूत्र-द्रव्योंके संस्पर्शसे उन स्नायुओंमें उत्तेजना आ जाती है। शीतल जलसे धोनेसे वह भय नहीं रहता। प्रायः देखा जाता है कि, स्कूलोंमें या अन्यत्र भी एक ही स्थानमें अनेक मनुष्य लघुशङ्का करते हैं यह ठीक नहीं, क्योंकि मूत्रत्यागके साथ दूसरोंके रोग उसी इन्द्रियके द्वारा संक्रामित हो जाते हैं। अन्ततः एक व्यक्ति जहाँ मूत्रत्याग करे, वहीं दूसरेको नहीं करना चाहिये। यदि मूत्रत्यागका एकही स्थान बना हो, तो वहाँ पहिले जल छोड़कर तब लघुशङ्का करे। उपदंशादि विकार पैतृक भी होते हैं। जिस मनुष्यके माता-पिताको यह रोग हो गया हो उसने जहां लघुशङ्का की है, वहीं यदि दूसरा लघुशङ्का करे, तो पहिलेका रोग दूसरेमें संक्रामित हो जायगा। इसलिये यदि हर एक मनुष्य लघुशङ्काके समय जल लेनेका

अभ्यास करे, तो आपही इस रोग भयसे दूर रहेगा। दूसरी ओर लघुशंकाके समय जलका उपयोग करना सदाचार और धर्म है।

मिट्टीसे हाथ धोकर मुख-आँखें धोनी चाहिये। मुँहमें ठण्डे पानीका कुल्ला भरकर शुद्ध जलसे आँखें धोई जायं, तो नेत्रोंकी शिराएं अधिक सतेज होंगी और आंखें शीघ्र नहीं बिगड़ेंगी। मुंह धोकर दन्तधावन करना चाहिये। दन्तधावनके लिये शास्त्रमें लिखा है कि:—

तिक्तं कषायं कटुकं सुगन्धि कण्टकान्वितम्।
क्षीरिणो वृक्षगुल्मानां भक्षयेद्दन्तधावनम्॥

तिक्त, कषाय, कटु, सुगन्धयुक्त, कण्टकयुक्त, और दुग्धविशिष्ट वृक्ष तथा गुल्म आदिका काष्ठ दतून बनानेमें प्रशस्त है। तदनुसार दन्तधावनके लिये शास्त्रोंमें खैर, कदम्ब, आम, नीम, बेल, ऊमर, बकुल आदिकी टेहुनी प्रशस्त कही गई है। बकुल (मौलश्री) की दतूनका प्रभाव तो—

"दन्ता भवन्ति चपला अपि वज्रतुल्याः"

दांत वज्रके समान दृढ़ बन जाते हैं, ऐसा लिखा है। दतुअन करनेकी प्राचीन प्रथाके क्रमशः उठ जानेसे ही अब पायरिया आदि नवीन रोगोंकी उत्पत्ति हो रही है। दन्तधावनके बाद स्नान करना चाहिये। इस विषयमें लिखा है:—

स्नानं पवित्रमायुष्यं श्रमस्वेदमलापहम्।
शरीरबलसन्धानं केश्यमोजस्करं परम्॥

स्नानक्रिया पवित्रताजनक, आयुको बढ़ानेवाला, श्रमनाशक, स्वेदनिवारक, मलनाशक, शारीरिक बलवर्द्धक, केशवर्द्धक तथा परम तेजस्कर है। इसलिये स्नान करना चाहिये। स्नानके विषयमें निम्नलिखित नियम अवश्य पालन करने योग्य हैं, यथा:—

न स्नानमाचरेद् भुक्त्वा नातुरो न महानिशि।
न वासोभिः सहाजस्रं नाविज्ञाते जलाशये॥

भोजनके पश्चात्, शरीरमें पीड़ा हो तो, रात्रिके दूसरे और तीसरे प्रहरमें तथा अधिक कपड़े पहिनकर स्नान करना उचित नहीं है। छोटे वा अपरिचित जलाशयमें स्नान न करे। नदी हो तो उसमें नहाना बहुत उत्तम है, परन्तु वर्षाकालकी बाढ़में नदीमें नहानेसे बचना चाहिये। प्रवाहके जलमें नहाना हो, तो जिस ओरसे प्रवाह आ रहा हो, उस ओर मुंह करके और घरमें नहाना हो, तो सूर्याभिमुख होकर नहावे। स्नान करते समय बकवाद करना अथवा पहिरे हुए कपड़ोंसे देह मलना अच्छा नहीं। शरीर अच्छा हो, तो ठंढे जलसे स्नान करना उत्तम है। शास्त्रोंमें समुद्र स्नानकी बड़ी प्रशंसा की है, यथा:—

जन्मान्तरसहस्रेण यत्पापं कुरुते नरः।
मुच्यन्ते सर्वपापेभ्यः स्नात्वा क्षारार्णवे सकृत्॥

समुद्रस्नानसे जन्म जन्मान्तरके पाप नष्ट होते हैं आचारके साथ पुण्य-संचय, पापनाश और परलोक सम्बन्धी अभ्युदय आदि फल श्रुति देखनेसे शंकायें उठ सकती हैं, इस कारण शंका-समाधानके लिये कहा जाता है कि हमारे सब सदाचार धर्ममूलक हैं और धर्मके साथ इहलोक और परलोक दोनोंका सम्बन्ध है। दूसरी ओर आचार सत्त्वगुण वर्धक है इस कारण आयु आरोग्य बल श्री सबका स्वतः ही वह देने वाला है। विशेषतः पूज्यपाद महर्षिगण कर्मकी गति और पारलौकिक तत्त्वको करामलकवत देखा करते थे। इस कारण ऐसी शंकाओंका अवसर ही नहीं है। और अब तो सायन्सकी उन्नति होते हुए दिन दिन सायन्स विद्या भी साक्षी देने वाली बनती जाती है।

Dr.C.E. Saleeby writes in the Daily Mail—Here in Switzerland there are many advantages, but the air and the lake water are very poor in iodine, whereas the sea is the natural reservoir of that precious element. सलिवि साहबकी सम्मति है कि 'आयोडिन' नामक रासायनिक पदार्थकी प्रचुरताके कारण समुद्र-स्नान बड़ा ही लाभदायक है।

कुछ भी हो स्नान बड़ी ही पवित्र वस्तु है। स्नानके द्वारा अशुचि शरीर शुचि होकर भगवान्‌की पूजाके योग्य बनता है, इसीसे स्नान पवित्र कार्योंमें समझा गया है। स्नानमें भी प्रातः स्नानकी बड़ी महिमा है। प्रातः स्नानका वर्णन करते हुए शास्त्रकार कहते हैं:—

गुणा दश स्नानपरस्य मध्ये,
रूपञ्च तेजश्च बलञ्च शौचम्।
आयुष्यमारोग्यमलोलुपत्वं,
दुःस्वप्नघातश्च तपश्च मेधा॥

प्रातःस्नान करनेसे रूप, तेज, बल, शौच, आयु, आरोग्य, लोभहीनता, दुःस्वप्ननाश, तप और मेधा, इन दश गुणोंका लाभ होता है। इन दश गुणोंके लाभ करनेमें चन्द्र और सूर्य ही कारण हैं। रात्रिभर चन्द्रामृतसे जल पुष्ट रहता है। सूर्योदयके बाद सूर्यकिरण द्वारा वह अमृत आकृष्ट हो जाता है। अतः सूर्योदयसे पहले नहा लेने पर वह अमृत स्नान करने वालेको प्राप्त होगा। इसी प्रकार दिनभर सूर्यरश्मिके द्वारा जो शक्ति जलमें प्रवेश करती है वह रात्रिकी ठंढकके कारण जलमें ही रह जाती है। इसी कारण शीतकालमें प्रातःकाल जल गरम रहता है। उसी जलमें सब ऋतुमें विशेषतः शीतऋतुमें स्नान करनेसे बड़ा ही लाभ होता है। रोगके कीटाणु प्रायः जलमें ही रहते हैं। सूर्योदयसे पहिले वे गंभीर जल में चले जाते हैं, सूर्यकिरण देखकर वे ऊपर जलमें आ जाते हैं। अतः प्रातः स्नान करनेपर रोग-कीटाणुका संस्पर्श भी नहीं होता। अतः बुद्धिमान् पुरुषोंको सबेरे ही नहा लेना चाहिये।

स्नानके बाद चन्दन, भस्म, तिलक आदि धारण करना चाहिये क्योंकि जो जिस देवताके भक्त होते हैं, वे अपने उपास्यके चिह्न धारण करें, तो उनके हृदयमें भक्ति और पूजाके भाव स्वतः ही होने लगते हैं। इस प्रकार शुद्ध शरीर और पवित्र अन्तःकरण होकर, पिता, माता, गुरुजन तथा घरमें जो कुल देवता इष्टदेवता हों, उनको भक्तिभावसे प्रणाम, सन्ध्योपासना, पुष्पचयन तथा इष्टदेवकी पूजा करनी चाहिये।

आर्य्य शास्त्रमें पिता माता ज्येष्ठ भ्राता तथा आचार्य्यकी सेवा और इष्टदेवपूजाकी बड़ी महिमा बताई गई है! वेदमें तो पितृदेवो भव, मातृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, इस प्रकारके मन्त्र ही मिलते हैं। मनुसंहिताके द्वितीयाध्यायमें लिखा है—

आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः पिता मूर्तिः प्रजापतेः।
माता पृथिव्या मूर्तिस्तु भ्राता स्वो मूर्त्तिरात्मनः॥
आचार्यश्च पिता चैव माता भ्राता च पूर्वजः।
नार्तेनाप्यवमन्तव्या ब्राह्मणेन विशेषतः॥
तयोर्नित्यं प्रियं कुर्यादाचार्य्यस्य च सर्वदा।
तेष्वेव त्रिषु तुष्टेषु तपः सर्वं समाप्यते॥
इमं लोकं मातृभक्त्या पितृभक्त्या तु मध्यमम्।
गुरुशुश्रूषया त्वेव ब्रह्मलोकं समश्नुते॥
सर्वे तस्यादृता धर्मा यस्यैते त्रय आदृताः।
अनादृतास्तु यस्यैते सर्वास्तस्याफलाः क्रियाः॥

आचार्य ब्रह्मकी मूर्ति, पिता प्रजापतिकी मूर्ति, माता वसुमतीकी मूर्ति और भ्राता अपनी ही मूर्त्ति है। इसलिये इनके द्वारा पोड़ित होनेपर भी कदापि इनकी अवमानना किसीको, विशेषतः ब्राह्मणको नहीं करना चाहिये। प्रति दिन पिता माता तथा आचार्यका प्रियानुष्ठान करना चाहिये। इन तीनोंके प्रसन्न रहनेसे सकल तपस्या पूर्ण होती है। मातृभक्ति द्वारा भूर्लोक, पितृ भक्ति द्वारा मध्यमलोक और गुरुभक्ति द्वारा ब्रह्मलोक प्राप्त होते हैं। इन तीनोंका आदर करनेपर धर्मका आदर होता है। इनके अनादरसे सभी धर्म कर्म वृथा होता है। इस प्रकारसे आर्यशास्त्रमें पितृमातृसेवा तथा गुरुसेवाकी महिमा बताई गई है।

पिता-मातादिके प्रणामके अनन्तर सन्ध्योपासना, पुष्पचयन और इष्टदेवपूजा करनी चाहिये। पुष्पचयन तथा तुलसी दूर्वादिचयनको बड़ी महिमा शास्त्रमें कही गई है। समस्त रात्रि चन्द्रामृत पान करके कुसुमसमूह अमृतमय बने रहते हैं, इसलिये उनके स्पर्शसे भी शरीर मन दोनोंका स्वास्थ्य तथा शक्तिलाभ होता है। प्रातःकालकी हरियाली नेत्रोंको

प्रफुल्लित तथा नीरोग बनाती है। मैलेरिया आदि रोगनाशिनी शक्ति तुलसी, दूर्बा, विल्व-पत्र आदिमें यथेष्ट है, यह बात आधुनिक पश्चिमी विज्ञानके द्वारा भी प्रतिपादित हो चुकी है। अतः प्रातःकाल भी पुष्पचयन, तुलसीवायुसेवन, तुलसीचयन आदि शरीर मन आत्मा सभी के लिये उन्नतिप्रद है, इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं। इस प्रकारसे पुष्पचयनादिके अनन्तर इष्टदेवकी पूजा करनी चाहिये। इतनेहो में पूर्वाह्णकृत्य समाप्त होता है।

पूर्वाह्णकृत्यके अनन्तर मध्याह्नकृत्य करनेकी विधि है। उसमें भोजन ही प्रधान कृत्य है। किन्तु सबको खिलाये विना गृहस्थोंका स्वयं भोजन करना शास्त्रविरुद्ध है। इस कारण होम, वैश्वदेव, बलि, अतिथिसेवन, नित्य श्राद्ध, गोग्रासदान और पञ्चमहायज्ञके बाद तब भोजन करनेकी आज्ञा आर्यशास्त्रमें दी गई है। होमके विषयमें शास्त्रमें लिखा है—

गृहमेधिनो यदशनीयं तस्य
होमावलयश्च स्वस्वपुष्टिसंयुक्ताः।

गृहीके जो खाद्य हैं, उन्हींसे हवन करना होता है। असमर्थपक्षमें 'जुहूयादम्बुनापि च' जलमें जलसे हवन हो सकता है, ऐसा शास्त्रमें कहा गया है। हवनसे देवतागण तृप्त होते हैं। वैश्वदेवके विषयमें शास्त्रमें लिखा है:—

सायं प्रातर्वैश्वदेवः कर्तव्यो बलिकर्म च।
अनश्नतापि कर्तव्यमन्यथा किल्विषी भवेत्॥

सायंकाल तथा प्रातःकाल भोजनसे पहले बलिवैश्वदेव करना चाहिये। अन्यथा गृहस्थको पाप स्पर्श करता है। वैश्वदेवकी पूजा 'सप्रणव विश्वदेवाय नमः' इतने ही मन्त्रसे की जाती है। जिस प्रकार हवनसे देवतागण प्रसन्न होते हैं, ऐसे ही वैश्वदेवसे श्रीभगवान् विष्णु प्रसन्न होते हैं। वैश्वदेवके बाद बलि दी जाती है। इसमें समस्त प्राणियोंको लक्ष्य करके अन्न दिया जाता है, यथा—

देवा मनुष्याः पशवो वयांसि सिद्धाः सयक्षोरगदैत्यसङ्घाः।
प्रेताः पिशाचास्तरवः समस्ता ये चान्नमिच्छन्ति मया प्रदत्तम्॥
पिपीलिकाः कीटपतङ्गकाद्या बुभुक्षिताः कर्मनिबन्धबद्धाः।
प्रयान्तु ते तृप्तिमिदं मयान्नं तेभ्यो विसृष्टं मुदिता भवन्तु॥
येषां न माता न पिता न बन्धुर्नैवान्नसिद्धिर्न तथान्नमस्ति।
तत् तृप्तयेऽन्नं भुवि दत्तमेतत् प्रयान्तु तृप्तिं मुदिता भवन्तु॥

देव, मनुष्य, पशु, पक्षी, सिद्ध, यक्ष, उरग, दैत्य, प्रेत, पिशाच, वृक्ष, पिपीलिका, कीट, पतङ्ग आदि सभी जो अन्न चाहते हैं या बुभुक्षित हैं, सब मेरे प्रदत्त अन्नसे तृप्त हो जायँ।

जिनके पिता माता या बान्धव नहीं हैं या अन्नसंस्थान नहीं है उन सबकी तृप्तिके लिये यहां अन्न देता हूँ। यही सब बलिप्रदानके मन्त्र हैं। इस प्रकार उदार मन्त्रका रहस्य यह है—

भुवि भूतोपकाराय गृही सर्वाश्रयो यतः।
श्वचण्डालविहङ्गानां भुवि दद्यात् ततो नरः।

क्योंकि गृहस्थ ही सकल जीवोंका आश्रय है, इसलिये स्वयं भोजनसे पहले सबको भोजन देकर तब गृहस्थको भोजन करना चाहिये। बलिप्रदानके बाद अतिथिसेवा गृहस्थका प्रधान कार्य है। उसके लिए शास्त्रमें लिखा है:—

प्रियो वा यदि वा द्वेष्यो मूर्खः पण्डित एव वा।
सम्प्राप्तो वैश्वदेवान्ते सोऽतिथिः स्वर्गसंक्रमः॥
देशं नाम कुलं विद्यां पृष्ट्वा योऽन्नं प्रयच्छति।
न स तत्फलमाप्नोति दत्वा स्वर्गं न गच्छति॥

प्रिय द्वेष्य, मूर्ख पण्डित जो कोई हो, वैश्वदेवके अन्तमें जो गृहस्थके मकान पर आवे, वही अतिथि और उनकी सेवा स्वर्गप्रद है। अतिथिका देश, नाम, कुल, विद्या पूछकर अन्नदान करनेसे वह सेवा स्वर्गप्रद नहीं होती है। इसलिये –

'हिरण्यगर्भबुद्ध्या तं मन्येताभ्यागतं गृही।'

अतिथिको हिरण्यगर्भ भगवानका रूप मानकर इसी भावसे उनकी सेवा करनी चाहिये। यही गृहस्थाश्रमका प्रधान कर्तव्य अतिथि सत्कार है। इसके अनन्तर नित्यश्राद्ध-विधि है। नित्य श्राद्धमें इस प्रकार विधिकी आवश्यकता नहीं होती है। इसमें केवल पितृ-पक्षके तीन और मातृपक्षके तीन व्यक्तियोंका स्मरण करके उनके उद्देश्यसे कुछ कुछ अन्न दान किया जाता है और अभावपक्षमें—

'अशक्तावुदकेन तु'

इस आज्ञाके अनुसार थोड़ा जल देने पर भी नित्यश्राद्धकी क्रिया सम्पादित होती है। इसके अनन्तर गो ग्रास है। इसमें सकल भूतोंसे विशेषताके कारण गो माताको ग्रास दिया जाता है। उसका मन्त्र यह है—

सौरभेय्यः सर्वहिताः पवित्राः पुण्यराशयः।
प्रतिगृह्णन्तु मे ग्रासं गावस्त्रैलोक्यमातरः॥

सकलहितकारिणी, पवित्रा, पुण्यराशिमयी, त्रैलोक्यजननी, सुरभी सन्तान गौवें मेरे दिये इस ग्रासको ग्रहण करें। यही गोग्रास है। इसके अनन्तर पञ्च महायज्ञ करके मध्याह्नमें

भोजन क्रिया होती है। इन सबका और भी विस्तृत वैज्ञानिक रहस्य आगेके अध्यायमें बताया जायगा।

आर्यशास्त्रमें अन्यान्य यज्ञोंकी तरह भोजन व्यापारको भी एक नित्ययज्ञ कहा गया है। इस नित्ययज्ञके यज्ञेश्वर भगवान् वैश्वानर कहे गये हैं, यथा श्रीमद्भगवद्गीतामें—

"अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥"

श्रीभगवान् वैश्वानर (जठराग्निके अधिदैव) रूपसे प्रत्येक प्राणीमें बैठकर प्राण और अपान वायुकी सहकारितासे चर्व्य, चोष्य, लेह्य तथा पेय, इन चार प्रकारके भोज्य अन्नोंको भक्षण करते हैं। अन्ततः सनातन धर्मियोंकेविचारानुसार भोजनसे केवल उदरपूर्ति ही नहीं होती, किन्तु श्रीभगवान्की पूजा भी होती है; इससे हमारे शास्त्रोंमें भोजनकी पवित्रतापर विशेष विचार किया गया है। इस सम्बन्धमें सबसे प्रथम स्थानका विचार करना चाहिये; अर्थात् चाहे जिस स्थानमें बैठकर या खड़े खड़े भोजन करना ठीक नहीं; क्योंकि अशुचि स्थानमें पूजा करनेसे कोई फल नहीं होता, भगवान् असन्तुष्ट होते हैं। भोजनका स्थान पवित्र और एकान्त और गोमय जल आदिसे शुद्ध किया हुआ होना चाहिये। द्वितीयतः स्वयं पवित्र होकर भोजन करें; क्योंकि अपवित्र शरीर और अशुचि मनसे भगवत्पूजा करनेसे कोइ फल नहीं होता। तृतीयतः जिस वस्तुसे पूजा करनी हो, वह पवित्र और सात्त्विक होनी चाहिये, क्योंकि अशुद्ध और तामसिक वस्तुओंसे भगवान्की पूजा नहीं की जाती। उससे शरीर, मन, बुद्धि और आत्माका कलुषित होना सम्भव है। अन्तः खाद्यद्रव्य शुद्ध और सात्त्विक होना आवश्यक है। चतुर्थतः पूजा की वस्तु जिसमें संग्रह की जाय, वह पात्र अच्छा परिष्कृत होना चाहिये।

और वह किसी अपवित्र व्यक्ति अथवा जीवसे छुआ हुआ न हो; क्योंकि पूजाके फूल, नैवेद्य आदि नीच जीव या पापियोंसे छुए जाने पर पूजाके योग्य नहीं रहते; इसीसे पापी या नीच जीवोंका अन्न ग्रहण करना निषिद्ध है। यही नहीं, किन्तु उनका छुआ अन्न भी ग्रहण न करना चाहिये। शुद्धाशुद्ध विवेकका विस्तारित विज्ञान स्थानन्तरमें दिया जायगा। इसी कारण हमारे प्राचीन ऋषियोंने आहार पर बहुत विचार कर आहार सम्बन्धीय नाना प्रकार के आचारों का निर्णय किया है।

भोजनके विषयमें भगवान् मनुने लिखा है :—

'आयुष्यं प्राङ्मुखो भुंक्ते यशस्यं दक्षिणामुखः'

आयु चाहनेवालेको पूर्वमुख और यश चाहनेवालेको दक्षिणमुख हो भोजन करना चाहिये।

पूर्वदिशासे प्राण और शक्तिका उदय होता है। प्राण स्वरूप सूर्य्यदेव पूर्वसे ही उदित होते हैं, इस कारण पूर्वाभिमुख होकर भोजन करनेसे आयुका बढ़ना स्वभाविक है। इस विषयमें पश्चिमी पंडितोंने भी अन्वेषण किया है, यथा—Dr. George Starr White of the New York Medical College discovered that a healthy person had a slight difference in sound over each organ when faced east than he had when he faced north and he deduced that the reason for this is that when a person faces north the magnetic lines of force cut through a larger surface of the sympathetic nervous chain. डा० जार्जका सिद्धान्त है कि उत्तरकी ओर मुंह कर खानेसे वैद्युतिक प्रवाह नसोंके द्वारा अधिक वेग तथा विस्तारके साथ चलता है, इसलिये वह आयुर्वृद्धिकर उतना नहीं है जितना कि पूर्वाभिमुख भोजन। इसी प्रकार यश देनेवाले पितरोंका सम्बन्ध दक्षिण दिशाके साथ रहनेके कारण दक्षिण मुख भोजनसे यशोलाभ होता है। स्नान, पूजादिसे शरीर और मनकी पवित्रता बढ़ती है, इसलिये शास्त्रमें कहा है—

'अस्नात्वाशी मलं भुंक्ते अजपी पूयशोणितम्'

नीरोग शरीर होने पर भी बिना स्नान खानेसे मलभोजन और बिना जप पूजा खानेसे पूय शोणित भोजनका दोष होता है। इसलिये स्नानके बाद भोजन करना चाहिये।

शास्त्रोंमें लिखा है :—

"पञ्चार्द्रो भोजनं कुर्यात्प्राङ् मुखो मौनमास्थितः।
हस्तौ पादौ तथैवास्यमेषा पञ्चार्द्रता मता॥"

दोनों हाथ, दोनों पाँव और मुंह धोकर, पूर्वाभिमुख हो, मौन अवलम्बन कर भोजन करे। योगशास्त्रमें मनुष्यके स्वाभाविक श्वासकी गति १२ अंगुल, किन्तु भोजनकालमें २० अंगुल बताई गई है। श्वासगति अधिक होने पर आयु घटती और कम होने पर बढ़ती है। लोभसे भोजन करनेमें तथा हाथ पाँव न धोकर भोजन करनेमें श्वासगति बढ़ती है। इसी कारण भगवानको भोग लगाकर प्रसाद रूपसे तथा हाथ पाँव धोकर खानेकी विधि है। मनुने कहा है कि :—

आर्द्रपादस्तु भुञ्जीत नार्द्रपादस्तु संविशेत्।
आर्द्रपादस्तु भुञ्जानो दीर्घमायुरवाप्नुयात्॥

भींगे पैर भोजन करे, परन्तु शयन न करे। भींगे पैर भोजन करनेसे आयु बढ़ती है और शयन करनेसे घटती है। मौन होकर भोजन करनेको इसलिये कहा है कि, भोजन करते करते बकवाद करनेसे लाला (लार) कम उत्पन्न होगी, जिससे मुंह सूखकर बीच बीचमें पानी पीना पड़ेगा। लार कम उत्पन्न होने और मुंह सूखनेके कारण पानी पीनेसे पाचनक्रिया

में बाधा उत्पन्न होगी। महाभारतमें लिखा है, "एकवस्त्रो न भुञ्जीत" केवल एक वस्त्र-धारण कर भोजन न करे। भोजन करते समय एक उत्तरीय (दुपट्टा) ओढ़ लेना चाहिये। वह रेशमी हो तो अधिक अच्छा है। भोजन करते हुए शरीर यन्त्रकी जो क्रियाएँ होती हैं, उनमें बाहरी वायु बाधा न पहुंचा सके, इसीलिये यह व्यवस्था है। रेशमी वस्त्र इस कारण अच्छा समझा गया है कि, रेशम भीतरी शक्तिको सुरक्षित रखकर बाहरी शक्तिका उसपर परिणाम नहीं होने देता। इस प्रकार पवित्र भावसे भोजन करना चाहिये। स्नानके पश्चात् ही भोजन करना उचित है, क्योंकि भगवत्पूजा बिना स्नान किये नहीं की जाती और पूजा किये बिना भोजन करना निषिद्ध है। शरीर अस्वस्थ रहने पर गीले कपड़ेसे शरीर पोंछकर वस्त्र बदल दे और भस्मस्नान अथवा मानसिक स्नान करले। मानसिक स्नान, श्रीविष्णु भगवान्‌का स्मरण कर 'स्वर्गसे गङ्गाकी धारा आई और उसमें स्नान कर मैं पवित्र हुआ, ऐसी दृढ़ भावना करनेसे होता है। भस्म स्नान शिव मन्त्रसे अग्निहोत्रकी विभूतिको अभिमन्त्रित कर देहमें लगानेसे होता है।

भोजनके पहिले भोज्य पदार्थोंका भगवानको नैवेद्य दिखाकर, तब प्रसाद समझकर भोजन करे। प्रसादरूपसे भोज्य पदार्थोंका सेवन करनेसे अन्नमें अनुचित आसक्ति न रहेगी। जब कि संसारकी सब वस्तुएँ भगवान्‌की उत्पन्नकी हुई हैं, तब उन्हें पकाकर भगवानको बिना अर्पणकर खानेसे निस्सन्देह पाप होगा। गीता में कहा है :—

"तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः॥

देवताकी दी हुई वस्तु उन्हें बिना समर्पण किये जो खाता है, वह चोर है। अतः भगवान्‌को समर्पण करके ही अन्नग्रहण करना चाहिये।

खाद्य वस्तुएँ पवित्र और सात्त्विक होनी चाहिये। इसका कारण छान्दोग्य श्रुतिमें बताया गया है। यथा -६।१६ - ५।६

"अन्नमशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरीषं भवति यो मध्य-मस्तन्मांसं योऽणिष्ठस्तन्मनः" (६—५)

"दध्नः सोम्य मथ्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्द्ध्वःसमुदीषति तत् सर्पिर्भवति। एवमेव खलु सोम्यान्नस्याश्यमानस्य योऽणिमा स उर्द्ध्वः समुदीषति, तन्मनो भवति।"

और भी—

"आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिशुद्धौ सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः।"

खाया हुआ अन्न तीन भाग में विभक्त हो जाता है—स्थूल असार अंश मल बनता है,

मध्यम अंशसे मांस बनता है और सूक्ष्म अंशसे मनकी पुष्टि होती है। जिस प्रकार दधिके मथने पर उसका सूक्ष्म अंश ऊपर आकार घृत बनता है, उसी प्रकार अन्नके सूक्ष्मांशसे मन बनता है। मन अन्नमय ही है। आहार शुद्धिसे सत्त्वशुद्धि, सत्त्वशुद्धिसे ध्रुवा स्मृति और स्मृतिशुद्धिसे संसार ग्रन्थियोंका मोचन होता है। अतः सिद्ध हुआ कि, अन्नके सात्त्विकादि गुणानुसार मन भी सात्त्विकादि भावापन्न होगा। साधारणतः देखा जाता है कि, अन्न न खाने से मन दुर्बल हो जाता है, चिन्ताशक्ति नष्ट होने लगती है, और अन्न खानेसे मन सबल तथा चिन्ताशक्ति बढ़ने लगती है। अतः यही अन्न तामसिक हो, तो मन, बुद्धि, प्राण और शरीर तामसिक होगा; जिससे ब्रह्मचर्य धारण और साधना आदि असम्भव हो जायगी। इसी तरह राजसिक अन्नसे भी मन और बुद्धि चञ्चल होती है, अतः पवित्र और सात्त्विक अन्न ही ग्रहण करना चाहिये। खाद्याखाद्यके सम्बन्धमें पश्चिमी देशोंमें जिस प्रणालीसे विचार किया है, वह सर्वाङ्ग दृष्टिपूर्ण नहीं है। उन्होंने केवल इतना ही विचार किया है कि, किस वस्तुमें कौनसा रासायनिक द्रव्य कितना है। कैलसियम, प्रोटिड, विटामिन अथवा अम्लजान, यवक्षारजान जिसमें न्यून हो, वह अखाद्य और जिसमें अधिक हो, वह खाद्य, इतना ही मोटा सिद्धान्त उन्होंने बना लिया है। कौन सी वस्तु. किस ऋतुमें, किस प्रकारके शरीरके लिये, किस प्रकारसे सेवनकी जाय, जिससे शरीर और मनका स्वास्थ्य परिवर्धित हो, इसकी विधि पश्चिमी चिकित्साशास्त्रकी पोथियोंमें नहीं मिलती। उन देशोंमें शीत अधिक है, अतः एकसी ही वस्तुओंके बारहों मास सेवन करनेसे तद्देशवासियोंका काम बन जाता है; परन्तु इस देशमें छहों ऋतु एकसे ही बलवान् हैं। ऋतु भेदसे वात, पित्त और कफकी न्यूनाधिकता होनेके कारण शारीरिक तथा मानसिक अवस्थामें कितना परिवर्तन होता है, यह जाननेकी वे अब तक चेष्टा नहीं करते। द्वितीयतः पश्चिमी देशोंकी यह निर्णयविधि बड़ी जटिल है। वहाँके प्रसिद्ध विद्वान् भी खाद्याखाद्यके सम्बन्धमें अभी एकमत नहीं हैं, तृतीयतः उदरमें जाकर इन सब खाद्य द्रव्योंका किस प्रकार विश्लेषण होता है, और उससे शरीर पोषणकारी कौनसे गुण उत्पन्न होते हैं, साधारण रासायनिक विश्लेषण द्वारा उसका निरूपण नहीं हो सकता। चतुर्थतः इस देशके खाद्य द्रव्योंके साथ उस देशके खाद्यद्रव्योंके गुणावगुणका निर्णय नहीं हो सकता। सबसे बढ़कर बात यह है कि, खाद्यद्रव्योंके साथ मनका क्या सम्बन्ध है, सो पश्चिमी लोग नहीं जानते। अतः हमारे देशके खाद्याखाद्यका विचार हमारे शास्त्रीय विधियोंके अनुसार ही होना चाहिये। उसमें किसी खाद्य वस्तुमें चाहे कितना ही विटामिन हो यदि उसके परिणाम द्वारा शरीरमें या मनमें विषय-भाव, तमोगुण आदि बढ़ेंगे तो वह अवश्य ही वर्जित माना जायगा। श्रीभगवान् कृष्णने सात्त्विक, राजसिक और तामसिक भेदसे खाद्यद्रव्योंको तीन भागोंमें विभक्त किया है। यथा—

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्द्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥
कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥
यातयामं गतरसं पूति पर्युषितञ्च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥

सरस, स्निग्ध, सारवान् और हृदय-ग्राही आहार सात्त्विक होता है। अधिक कटु, अम्ल, लवण, उष्ण, तीक्ष्ण, रूक्ष और उग्र आहार राजसिक है, और बासी, रसहीन, दुर्गन्धयुक्त, जूठा और अपवित्र आहार तामसिक है। सात्त्विक आहारसे आयु, बल, उत्साह, आरोग्य, सुख और प्रीतिकी वृद्धि होती है। और चित्तमें सत्त्वगुणवृद्धि तथा आध्यात्मिक उन्नति भी होती है। राजसिक आहारसे दुःख, शोक और रोग उत्पन्न होते हैं, और तामसिक आहारसे जड़ता, अज्ञान, कुरोग और पशुभाव बढ़ता है। अतः राजसिक यौर तामसिक खाद्यद्रव्योंका परित्याग कर सात्त्विक आहार करना चाहिये। इसी कारण आर्यशास्त्रमें पियाज, लहसुन आदि राजसिक तामसिक वस्तुओंका भोजन निशिद्ध है, यथा—

लशुनं गृञ्जनञ्चैव पलाण्डु करकानि च ।
अभक्ष्याणि द्विजातीनां अमेध्यप्रभवानि च ॥

लहसुन, गाजर, पियाज, छला आदि तथा विष्ठादि अपवित्र वस्तुसे उत्पन्न शाकादि द्विजातिओंको सर्वथा अभक्ष्य है। इन वस्तुओंके खानेसे मन, बुद्धि, शरीर, प्राण, आत्मा सभी मलिन हो जाते हैं, और ब्रह्मचर्यनाश, पशुभाववृद्धि, कामवृद्धि, चित्तचाञ्चल्य आदि उत्पन्न हो कर आध्यात्मिक उन्नतिका मार्ग एक बार ही बन्द हो जाता है।

यह डाक्टरी विज्ञान सम्मत है कि स्पर्शसे एकके शरीरसे दूसरेके शरीरमें रोग संक्रामित होते हैं! Miss Helen M. Mathews of the University of British Columbia demonstrated that bacili were readily transferred from one to another by even hand-shaking or shake-hand. अर्थात् मिस हेलेनने यन्त्रके द्वारा स्पष्ट प्रमाणित कर दिखाया है कि हाथके साथ हाथका स्पर्श होने पर भी रोगके बीज एकसे दूसरेमें चले जाते हैं। केवल रोग ही नहीं किन्तु स्पर्शसे शारीरिक और मानसिक वृत्तियोंमें हेरफेर हो जाता है। प्रत्येक मनुष्यमें एक प्रकारकी विद्युत्शक्ति रहती है, जो मनुष्यको प्रकृति और चरित्रके भेदसे प्रत्येकमें विभिन्न जातीय होकर स्थित है। तामसिकोंमें तमोमयी, राजसिकोंमें रजोमयी और सात्त्विकोंमें सत्त्वमयी विद्युत् विराजमान है। अन्ततः जिस वृत्ति

के लोगोंके साथ रहा जाय, जिस वृत्तिके लोगोंका छुआ या दिया अन्न सेवन किया जाय उसी प्रकारकी वृत्ति सहवासियों अथवा अन्न ग्रहण करने वालोंमें संक्रामित होगी। भिन्न-भिन्न प्रकारकी विद्युत्का प्रकृतिपरिणाम एक दूसरे पर हुए बिना न रहेगा। अतः चाहे जिसका भी हो, छुआ या दिया हुआ अन्न ग्रहण न करना चाहिये। हिन्दुशास्त्रोंमें नीच, अपवित्र, पापी और चाण्डालादिका छुआ अन्न ग्रहण करनेका जो निषेध है, और ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रको अलग अलग पंक्तियोंमें बैठकर भोजन करनेकी जो आज्ञा है, इसका कारण भी यही है कि प्रत्येक वर्णकी विद्युत् (प्रकृति) जन्मसे ही विभिन्न प्रकारकी होती है, और उसका अन्य प्रकृतिमें संक्रमण होना स्वाभाविक है। अपनेसे निम्न श्रेणीके लोगोंके साथ बैठकर भोजन करनेसे अपनी उच्चगुणविशिष्ट विद्युत् मलिन हो जाती है। अथवा नाना जातिकी बिजलीके विपरीत संघर्षसे किसीका भी भोजन परिपक्व नहीं होता है।

भोजनके समय इन नियमोंका पालन करना आवश्यक है। एक वर्णमें पंक्ति भोजनके समय यह भी नियम अवश्य रखना चाहिये कि जितने एक साथ बैठें, सब भोजनका प्रारम्भ तथा समाप्ति एक ही साथ करके उठें। क्योंकि पंक्ति भोजनके समय सबके शारीरिक यन्त्रमें क्रियाविशेष होनेसे तथा एक साथ बैठनेके कारण सबोंके भीतर एक वैद्युतिक श्रृङ्खला (Electric line or cirle) बन जाती है। उसीमेंसे जो आगे उठ जायगा, वह यदि दुर्बल है, तो उसकी वैद्युतिक शक्तिको बाकी बैठने वाले खींच लेंगे, जिससे उस पहले उठनेवालेके पेटमें भोजन पचेगा नहीं वह और दुर्बल हो जायगा। द्वितीयतः उठनेवाला यदि अधिक शक्तिशाली है, तो सारे बैठनेवालोंकी विद्युत्शक्तिको वह खींचकर उठेगा, जिससे बाकी सबके पेटमें विकार हो सकता है। अतः पंक्तिभोजनमें साथ ही बैठने उठनेका नियम अवश्य पालन करना चाहिये। द्वितीयतः यदि किसीसे अन्न लेना हो, तो सत्पात्र देखकर उससे लेना चाहिये, क्योंकि पापियोंका अन्न ग्रहण करनेसे उसका पाप अपनेमें भी संक्रामित होगा। भीष्मपितामहने दुर्योधनका पापान्न ग्रहण किया था, इसीसे उनका ज्ञान लुप्त हो गया था और द्रौपदीके वस्त्रहरणके समय वे द्रौपदीकी रक्षा नहीं कर सके थे। जब इतने बड़े महात्माको भी पापान्नके ग्रहण करनेसें बुद्धि पलटती है, तो साधारण जीवों की कथा ही क्या है? सारांश यह है कि, सत्पात्रके यहाँका भोजनार्थं निमन्त्रण स्वीकार करना और सत्पात्रका ही अन्न ग्रहण करना चाहिये, इन विषयोंपर वर्णविवेक प्रकरणमें और भी अधिक प्रकाश डाला जायगा।

भोजनमें स्पर्शदोषकी तरह दृष्टिदोषगुणका भी विचार आर्यशास्त्रमें किया गया है। केवल अर्यशास्त्रमें ही नहीं अधिकन्तु पश्चिमी विद्वानोंने भी स्पर्शदोषके साथ दृष्टिदोषके

विषयमें बहुत कुछ विचार किया है। प्रसिद्ध विज्ञानवित् फ्लामेरियन (Flammarion) साहब कहते हैं:—

What is this mysterious force, this something which flows through the nerves of the hand, to the finger tips? This mysterious force by some scientists called 'Ethereal Fluid,' by others 'Fuid Force' starts from the brain, unites itself with the impulses, thoughts and acts, flows through the nerves, the same as the nervous fluid to each one of its three centres of radiation viz the hand, the eyes and the soles of the feet. From each one of these respective centres, this invisible recorder registers its particular results, but it is through the hand, where this emotional wireless, reveals its greatest power.
(The mysterious power which operates through the hand—Kalpaka)

वह कौन शक्ति है जो हाथकी नसोंके द्वारा अंगुलियोंके अन्त तक चली जाती है? इसीको वैज्ञानिकगण 'आकाशी शक्ति' कहते हैं। यह मस्तिष्कसे प्रारम्भ होती है, मनोवृत्तियोंके साथ जा मिलती है और स्नायुपथसे प्रवाहित होकर हाथ, आँख और पाँवकी एड़ी तक पहुंचती है। इन तीनोंके ही द्वारा दूसरों पर यह अपना प्रभाव दिखाती है, किन्तु इसका सबसे अधिक प्रभाव हाथकी अङ्गुलियों द्वारा ही प्रकट होता है। अब आर्यशास्त्रीय विचार कहते हैं। यथा—

पितृमातृसुहृद्वैद्यपुण्यकृद्धंसबर्हिणाम्।
सारसस्य चकोरस्य भोजने दृष्टिरुत्तमा॥

पिता, माता, बन्धु, वैद्य, पुण्यात्मा, हंस, मयूर, सारस और चकवेकी दृष्टि भोजनमें उत्तम है। इनकी दृष्टिसे अन्नका दोष दूर होता है। चकवेके विषयमें मत्स्यपुराणमें लिखा है कि, 'चकोरस्य विरज्येते नयने विषदर्शनात्।' अन्नमें विष आदि दोष रहनेपर चकवे आंखें मूंद लेते हैं जिससे विषाक्त अन्नका पता लग जाता है। दृष्टिदोषके विषयमें लिखा है—

हीनदीनक्षुधार्त्तानां पाषण्डस्त्रैणरोगिणाम्।
कुक्कुटाहिशुनां दृष्टिर्भोजने नैव शोभना॥

नीच, दरिद्र, भूखे, पाषण्ड, स्त्रैण, रोगी, मुर्गे, सर्प और कुत्तेकी दृष्टि भोजनमें ठीक नहीं होती है। उनकी विषदृष्टि अन्नमें संक्रमित होनेसे अजीर्ण रोग उत्पन्न होते हैं। अच्छी

या बुरी दृष्टिमें कितनी शक्ति है सो आजकल मेस्मेरिज़्म, हिप्नटिज़्म आदि विद्याओंके द्वारा स्पष्ट प्रमाणित हो चुका है। यदि कभी इनमेंसे किसीकी दृष्टि अन्नमें पड़ जाय तो निम्नलिखित मन्त्र पढ़कर उसकी अर्थ चिन्ता करते करते भोजन करना चाहिये, यथा—

अन्नं ब्रह्म रसो विष्णुर्भोक्ता देवो महेश्वरः।
इति सञ्चिन्त्य भुञ्जानं दृष्टिदोषो न बाधते॥
अञ्जनीगर्भसम्भूतं कुमारं ब्रह्मचारिणम्।
दृष्टिदोषविनाशाय हनुमन्तं स्मराम्यहम्॥

अन्न ब्रह्मरूप है। अन्नरस विष्णुरूप है, भोक्ता महेश्वर है, ऐसी चिन्ता करते करते भोजन करनेपर दृष्टिदोष नहीं होता। अञ्जनीकुमार ब्रह्मचारी हनुमानको दृष्टिदोषनाशार्थं मैं स्मरण करता हूँ यही सब भोजनके विषयके नियम हैं।

दिनमें एकबार ही भोजन करना चाहिये। यथा आपस्तम्बमें 'दिवा पुनर्नभुञ्जीत नान्यत्र फलमूलयोः' दिनमें एकबार ही भोजन करना चाहिये। क्षुधाबोध होनेपर फलमूलादि आहार कर सकते हैं।

माथा लपेट कर या जूता पहिन कर खाना उचित नहीं है।

यो भुङ्क्ते वेष्टितशिरा यश्च भुङ्क्ते विदिङ्मुखः।
सोपानत्कश्च यो भुङ्क्ते सर्वं विद्यात्तदासुरम्॥

माथा लपेट कर, निषिद्धमुख होकर या जूता पहन कर खाना आसुरी प्रकृतिका लक्षण है। रात्रिमें लघु (हलका) भोजन करना चाहिये। क्योंकि निद्रावस्थामें स्नायुशक्ति दुर्बल रहती है, उस समय गुरु (भारी) भोजनका ठीक परिपाक (पचन) नहीं होता। दिन या रात्रिका भोजन ऐसा न हो, जिसमें खूब चरपरे मसाले पड़े हों और जो पचनेमें जड़ हो। जड़ भोजनसे शरीर और मन दोनो बिगड़ते हैं। अतः सहजमें पचनेवाले हलके पदार्थ ही भोजनार्थं प्रस्तुत किये जायँ। सन्ध्याके समय भोजन न करें, क्योंकि सन्ध्याके समय भूत-प्रतोंकी दृष्टि अन्नपर रहती है। उनकी अन्नपर आसक्ति रहनेसे उस समय अन्न ग्रहण करनेवालोंके अन्नपरिपाकमें सन्देह रहेगा। इसी तरह अधिक रात बीत जानेपर भी भोजन न करें; क्योंकि भोजनोत्तर कमसे कम दो घण्टे जागकर तब सोना चाहिये। ऐसा न करनेसे अन्न नहीं पचेगा। अन्नके न पचनेसे गाढ़ निद्रा नहीं लगेगी। अच्छी नींद न होनेसे नाना प्रकारके स्वप्न देख पड़ेंगे और निद्राभङ्ग होगा; जिससे स्वास्थ्य ठीक नहीं रहेगा। भोजन कर लेनेके कुछ समयके पश्चात् जलपान करना चाहिये। पानीके जलमें सात गुण अवश्य हों। वह स्वच्छ, लघु, शीतल, सुगन्धित, स्वयं स्वादहीन, हृद्य और तृष्णानिवारक हो। जलके विषयमें महर्षि यमने कहा है—

दिवार्करश्मिसंस्पृष्टं रात्रौ नक्षत्रभासितैः ।
सन्ध्ययोश्च तथोभाभ्यां पवित्रं जलमुच्यते ॥

दिनमें सूर्यकिरण, रात्रिको चन्द्र नक्षत्र किरण और सन्ध्याओंमें दोनों किरणोंसे युक्त वायुप्रवाहमय जलही उत्तम है । जिस जलपर सूर्यकिरण नहीं पड़ते अथवा जिस जलको वायु नहीं सोखती, वह अति स्वच्छ रहनेपर भी कफ उत्पन्न करता है । उस जलको गरम करके ठंढा होने पर पिये । ऐसा जल काश, श्वास, ज्वर, कफ, बात आम और अजीर्णका नाश करता है । नारियलका जल मधुर, पाचक और पित्तशामक होता है । लाल नारियलके जलमें केवल पित्तशमनकाही गुण है । सोडावाटर, लेमनेड आदि क्षारयुक्त जल इस देशके आहार विहार और जल वायुके लिये सर्वथा अनुपयुक्त और अपथ्यकर है

जल पिनेके विषयमें ऐसा भी भावप्रकाशमें लिखा है—

अत्यम्बुपानाच्चविपच्यतेऽन्न, मनम्बुपानाच्च स एव दोषः ।
तस्मान्नरो वह्निविबर्द्धनाय मुहुर्मुहुर्वारि पिबेदभूरि ॥

बहुत जल पीनेसे या विलकुल ही न पीनेसे अन्नका परिपाक नहीं होता है । इसलिये पाकाग्निके बढ़ानेके लिये बार बार थोड़ा थोड़ा जल पीना चाहिये ।

आर्यशास्त्रमें मिताहारकी बड़ी प्रशंसा लिखी है । मिताहारके लक्षणके विषयमें लिखा है—

द्वौ भागौ पूरयेदन्नैर्भागमेकं जलेन तु ।
वायोः सञ्चरणार्थाय चतुर्थमवशेषयेत् ॥

उदरका दो भाग अन्नसे पूर्ण किया जाय, एक भाग जलसे पूर्ण किया जाय और वायु सञ्चारके लिये एक भाग खाली रक्खा जाय, यही मितहारका लक्षण है । इससे आयु बढ़ती है, रोगनाश, बल और सुख लाभ होता है ।

भुक्त्वा पाणितले घृष्ट्वा चक्षुषोर्दीयते यदि ।
अचिरेणैव तद्वारि तिमिराणि व्यपोहति ॥
स्वर्यातिञ्च सुकन्याञ्च च्यवनं शक्रमश्विनौ ।
भोजनान्ते स्मरेद् यस्तु तस्य चक्षुर्न हीयते ॥

भोजनके बाद मुखप्रक्षालन करना चाहिये, जिससे मुखमें उच्छिष्ट न रहे । तदनन्तर 'स्वर्याति' आदि मन्त्रपाठ करते हुये आर्द्र हस्तद्वय घर्षणपूर्वक दोनों चक्षुओंमें तीनवार लगानेपर दृष्टिशक्ति अच्छी होती है । तदनन्तर क्या करना चाहिये, उसके लिये लिखा है—

भुक्त्वा राजवदासीत यावन्न विक्लांति गतः।
ततः शतपदं गत्वा वामपार्श्वेन संविशेत् ॥
एवञ्चाधोगतश्चान्नं सुखं तिष्ठति जीर्यति ॥

भोजनके बाद प्रथमतः वीरासनमें बैठना चाहिये, पश्चात् शतपद घूमकर वामपार्श्वमें सोना चाहिये। यथा—भावप्रकाशमें—

वामदिशायामनलो नाभेरूर्द्धेऽस्ति जन्तूनाम्।
तस्मात्तु वामपार्श्वे शयीत भुक्तप्रपाकार्थम् ॥

नाभिके ऊपर वामपार्श्वमें अग्नि रहती है, इसलिये वामपार्श्वमें सोनेपर अन्नपरिपाक अच्छा होता है।

भोजनके बाद कठिन परिश्रम कदापि नहीं करना चाहिये, उससे रक्त सञ्चालन अधिक होनेपर पाकक्रियामें बाधा होती है। इसलिये लिखा है—

'अनायासप्रदायीनि कुर्यात् कर्माण्यतन्द्रितः'।

जिससे परिश्रम न हो, इस प्रकारके हलके काम कर सकते हैं। और भी वैद्यशास्त्रमें लिखा है—

भुक्तोपविशतस्तुन्दं शयानस्य वपुर्महत्।
आयुश्चंक्रममाणस्य मृत्युर्धावति धावतः ॥

भोजनके बाद बैठे रहनेसे पेट बढ़ जाता है, सोये रहनेसे शरीर अच्छा रहता है, थोड़ी देर पादचरण करनेसे आयु बढ़ती है, और खाते ही दौड़नेसे मृत्यु भी पीछे पीछे जाती है। येही सब आहारके नियम हैं।

शास्त्रमें गोदुग्धकी बड़ी प्रशंसा लिखी है। यह प्राण देनेवाला, रक्तपित्तनाशक, पौष्टिक रसायन है। इसमें भी काली गायका दूध त्रिदोषनाशक, परमशक्तिवर्द्धक सर्वोत्तम कहा गया है। इसका क्या कारण है सो विचार करने योग्य है। पशुओंमें गऊ सबसे अधिक सात्त्विक होनेसे उसके शरीरमें दैवशक्तिके अनेक केन्द्रस्थान हैं। 'पृष्टे ब्रह्म, गले विष्णुः' इत्यादि शास्त्रमें इसके अनेक प्रमाण मिलते हैं। दैवशक्तिके साथ इस प्रकार सम्बन्ध रहनेसे ही गोदुग्धमें इतना सात्त्विक बल है। अब काले रङ्गसे क्या विशेषता दूधमें आ जाती है सो ही विचारना चाहिये। रङ्ग क्या वस्तु है, सूर्यके साथ रङ्गका क्या सम्बन्ध है इस विषयमें वैज्ञानिक पण्डित मिलरने कहा है—

The objects are themselves devoid of colour, but when placed in white light they absorb the rays of one or more colour, and refl eet the

rest: the object therefore, appears to be of the colours that would be produced by the ray or mixture of rays which it reflects; green objects, for example, absorb the red rays and reflect the yellow and blue. The rays thus absorbed are said to be complementary to those that are reflected; a complementary colour being always that tint which when added to the primary colour upon the eye would constitute white light.

(Miller's Chemical Physics p. 157.)

किसी पदार्थका अपना रंग नहीं होता है, सूर्यके शुभ्र किरणोंमेंसे कुछ रंगका किरण पदार्थ हजम कर जाता है, बाकी रंगको प्रकाशित कर देता है। जो रंग प्रकाशित कर देता है, वही उस पदार्थका रंग हो जाता है। जो पदार्थ सब रंग प्रकाशित करता है वह श्वेत रंगका होता है, जो पदार्थ सब रंगको हजम कर लेता है वह कृष्णवर्ण होता है। अतः काले रंगमें सब रंग छिपा हुआ है, यह प्रमाणित हुआ। इसलिये काली गाय अपने शरीरमें सूर्यके सात रंगको पचा लेती है और रंगके साथ सूर्यको शक्तिको भी आकर्षण कर लेती है यह निश्चय है। इसी कारण काली गायके दूधमें इतनी शक्ति है। भैंस काली होने पर भी तामसिक पशु होनेके कारण सूर्यशक्तिको पाकर वह अति उष्णवीर्य, तामसी दूधही देती है यह विज्ञानसिद्ध है। वैद्यशास्त्रमें अनिद्रारोगमें भैंसके दूध का सेवन बताया गया है। यह पशु मृत्यु अर्थात् यमराजका वाहन है। जो ब्रह्मचर्य रखकर परमात्माकी साधना करना चाहे उसको भैंसका दूध कभी न पीना चाहिये। गोदुग्धकी तरह गोघृत और गोदधिकी भी शास्त्रोंमें बड़ी प्रशंसा की गई है। गोघृत नेत्रोंका तेज बढ़ानेवाला, बलप्रद, मधुर, शीतल, वातपित्तनाशक है। 'आयुर्वै घृतम्' इसमें गोघृत ही शास्त्रमें कहा गया है। दही वातनाशक, स्निग्ध, दीपक और बलवर्द्धक है। उसका मट्ठा लघु, कषाय, दीपक है। उसमें सैन्धव मिलानेसे वातनाशक, शर्करा मिलानेसे पित्तनाशक और सोंठ मिलानेसे कफ नाशक हो जाता है। यही सब गव्यामृतकी उपकारिता है।

घी, शहद और मूली एक साथ न खाय। ठण्डा भात पुनः गरम करके खाना वर्जित है। अमड़ा, निम्बू, केलेका फूल, अमरूद, नारियल, अनार, आँवला या और कोई वस्तु दूध में मिलाकर न खानी चाहिये। शहदको गरम करके न खाय, कांसेके पात्रमें दश दिन घी रक्खा रहे तो वह न खाना चाहिये, जो मिठाई कुछ दिन पड़ी रहनेसे खट्टी हो जाय वह खाना अनुचित है। जुआँ आदि घृणित कृमि-संसृष्ट, व्यभिचारिणी स्त्री या स्त्रैण पुरुषका, पैरोंसे कुचला या जूठा, चोरका, वेश्याका या सूतक लगा हो उस व्यक्तिका अन्न ग्रहण न करे। बेर कुपथ्यकी वस्तु है, उसे न खाना ही अच्छा है। लहसुन, प्याज, गाजर और गोभी

नितान्त अखाद्य हैं इन तामसिक चीजोंको कभी न खाना चाहिये। इनसे इन्द्रियकी उत्तेजना अत्यन्त बढ़ती है, मन चञ्चल और कामपरायण होता है तथा अन्तःकरण श्रीभगवान्‌की ओरसे हटकर विषयकी ओर आकृष्ट होता है। प्याजकी उत्पत्ति पुराणोंमें गोमांससे बताई गई है। इसी कारण वैद्यशास्त्रमें उसे यवनेष्ट अर्थात् यवनजातिका खाद्य बताया गया है। लहसुन, प्यास आदिकी तरह मांस, मछली, अण्डे आदिके भक्षणसे भी सत्त्वगुण नष्ट होकर रजोगुण और तमोगुण बढ़ता है तथा बुद्धि विषयासक्त, अन्ततः भ्रष्ट हो जाती है। मांसभोजी कभी सत्त्वगुणी नहीं देख पड़ेगा। मांसखानेवाले व्याघ्र आदि और तृणभोजी गौ आदि पशु इसके प्रमाण हैं मांसाशी पशु पक्षियोंकी जैसी प्रकृति और प्रवृति होती है, मांसभोजी मनुष्योंकी वैसी ही प्रकृति और प्रवृति बन जाती है। श्वान आदि मांसभोजी हैं इसीसे अतिकामुक और अस्पृश्य हैं। जैसा भक्ष्य रहेगा, वैसी बुद्धि होगी। पशु पक्षियोंमें देख पड़ता है कि, जिनका आहार सात्त्विक, वे शान्त, जिनका राजस, वे विलासी और जिनका तामस, वे क्रूर होते हैं। मनुष्योंको भी इन ईश्वरीय उदाहरणोंको देख अपना आहार सात्त्विक रखना उचित है। अधिक मांस खानेसे कुष्ठ, कैनसर (गलेके घाव) आदि रोग होते हैं, अतः मांस न खाना ही उचित है। मांसकी तरह मछली भी दुर्गुणकारी है। यद्यपि मछली राजसिक है, तथापि उसके खानेसे सात्त्रिकताका नाश होता है। सारांश यह कि, किसी सजीव और सुख दुःखका अनुभव करनेवाले प्राणीको मारकर खानेकी इच्छा ही मनुष्यमें हिंसावृत्ति और पाशविकभाव उत्पन्न करती है, अतः जो जीवनमें आध्यात्मिक उन्नति करना चाहते हों, उन्हें मांस मछली आदिका त्याग कर देना चाहिये। कितने लोग यह समझ बैठे हैं कि, मत्स्य मांस न खानेसे आयु घटती है, आँखें बिगड़ती हैं और अम्ल पित्तादि रोग होते हैं। उनकी यह समझ निरी भ्रममूलक है। निरामिषाहारी पञ्चद्राविण और बंग या अन्य प्रान्तोंकी विधवायें—जो मत्स्य मांस खाना छोड़ देती हैं देखिये कैसी निरोग, दीर्घायु और सशक्त हुआ करती हैं। खानेके पदार्थोंमें अधिक मिर्चा झोंक देना उचित नहीं है। मिर्चा अत्यन्त उष्ण, गुरु और वीर्यनाशक वस्तु है। मिर्चाकी जगह काली मिरच छोड़ना उपकारी होगा।

इन बातोंके अतिरिक्त हमारे शास्त्रोंमें बार और तिथिभेदके अनुसारभी खाद्याखाद्यका विचार किया गया है। सूर्य, चन्द्र, मंगल, शनि आदिक आकर्षण तारतम्य ही इस विचारके मूलमें है। अष्टमी, अमावस्या और पूर्णिमाको पृथ्वीपर चन्द्रके आकर्षणका प्रभाव बहुत होता है। जल तरल पदार्थ है; इस कारण उक्त तिथियोंमें समुद्रका जल उछलने लगता है, जिससे ज्वार-भाटा होता है। शरीरमें भी कफ, रक्त मस्तिष्क आदि जो जलीय पदार्थ हैं, उक्त तिथियोंमें उनका उछलना भी स्वभाविक है। चन्द्रके इस प्रकारके आकर्षणसे ही अमावस्या

और पूर्णिमाको वातरोग और कफादिकी वृद्धि होती है, अतः इन तिथियोंमें कम खाना, निरस शुष्क वस्तु खाना या दिन रात न खाना, कमसे कम रातको न खाना अच्छा है। उपवाससे देहका रस शुष्क होकर उसपर चन्द्रके आकर्षणका परिणाम नहीं होता और उससे रसाधिक्यसे होनेवाले कोई रोग शरीरमें उत्पन्न नहीं होते। चन्द्रमा मनका देवता होने से इन तिथियोंमें उसके आकर्षणका प्रभाव मनपर पड़कर वह चञ्चल हो उठता है। उक्त तिथियोंमें उपवास कर अथवा एकभुक्त रहकर भगवान्में ध्यान लगानेका अभ्यास करना चाहिये। ऐसा करनेसे मन शान्त रहेगा और आहार कम करनेसे विषयवासनाएँ कम होंगी।

अतः हिन्दुशास्त्रोक्त तिथियोंमें उपवास और उपासना करनेसे उन तिथियोंमें जो वातादि रोग, चित्तकी चञ्चलता आदि दोषोंके होनेका भय है वह मिट जायगा। उपर्युक्त ग्रह-विज्ञानके विचारसे ही भिन्न भिन्न तिथियोंमें विभिन्न खाद्याखाद्यका निर्णय ऋषियोंने किया है, यथा—चातुर्मास्यमें श्वेत सेम, परवल, नारीका शाक, बैंगन, माघमें मूली रविवारको लौकी, मसूर, नीम, आदी, मङ्गलवारको उर्द तथा एकादशीको भात न खाना चाहिये, इत्यादि। यही संक्षेपसे शास्त्रसम्मत खाद्याखाद्यका नियम है।

मध्याह्नकृत्यके बाद अपराह्नकृत्य प्रारम्भ होता है, उसके विषयमें शास्त्र में लिखा है—

इतिहासपुराणानि धर्मशास्त्राणि चाभ्यसेत्।
वृथा विवादवाक्यानि परीवादञ्च वर्जयेत्॥

इतिहास पुराण तथा धर्म्मशास्त्रचर्चा द्वारा मध्याह्नोत्तर कर्म्म करना चाहिये। वृथा-कलह या परनिन्दादिमें रत नहीं होना चाहिये। और भी—

इतिहासपुराणाद्यैः षष्ठसप्तमकौ नयेत्।
अष्टमे लोकयात्रा च बहिः, सन्ध्या ततःपरम्॥

दिनका षष्ठ तथा सप्तम भाग इतिहास पुराणादिकी चर्चामें बिताकर अष्टम भागको बाहर भ्रमण लौकिक व्यवहार आदिमें बितावें और तदनन्तर सायं सन्ध्या करें। आर्यशास्त्रमें मध्याह्नभोजनके बाद निद्राका निषेध किया गया है यथा—

दिवा स्वप्नं न कुर्वीत स्त्रियश्चैव परित्यजेत्।
आयुःक्षीणा दिवा निद्रा दिवा स्त्री पुण्यनाशिनी॥

दिवा निद्रा और दिनमें स्त्रीसम्बन्ध वर्जनीय है दिवा निद्रासे आयु क्षीण होती है और दिवा रतिसे पुण्यनाश होता है। भोजनोत्तर बामपार्श्वमें विश्रामार्थ सोनेके विषयमें लिखा है—

'निद्रायां ये गुणाः प्रोक्तास्ते गुणा नेत्रमीलने'

भोजनोत्तर निद्रा न लेकर केवल आंखें बन्दकर विश्राम करनेसे परिपाकादिमें सुविधा हो सकती है। इस प्रकारसे मध्याह्नोत्तरकाल बिताकर—

'अहःशेषं समासीत शिष्टैरिष्टैश्च बन्धुभिः'

सन्ध्यासे कुछ पहिले भ्रमण तथा आत्मीय जनोंसे सदालाप करके सायंकाल सन्ध्यादिकृत्य करना चाहिये। यही सब संक्षेपसे वर्णित मध्याह्नोत्तर कृत्य है। तदनन्तर सायंकृत्यमें सायं सन्ध्या, इष्टोपासनादि विहित है। सन्ध्या समय निषिद्ध चार कर्म हैं, यथा मनुसंहितामें—

चत्वारि खलु कर्माणि सन्ध्याकाले विवर्जयेत्।
आहारं मैथुनं निद्रां स्वाध्यायश्च चतुर्थकम्॥

सन्ध्याकालमें भोजन, रतिक्रिया, निद्रा और स्वाध्याय निषिद्ध है। सायंकृत्यके बाद रात्रि कृत्यमें रात्रि भोजन मुख्य है। गृहस्थको रात्रि भोजन अवश्य करना चाहिये यथा—

'रात्रावभोजनं यस्य क्षीयन्ते तस्य धातवः'

रात्रिमें भोजन न करनेसे मांसादि सप्त धातु क्षीण होते हैं। रात्रि भोजनका काल चार दण्ड रात्रिके बाद तथा एक प्रहर रात्रिके भीतर है। तदन्तर शयनादि कृत्य हैं।

अब शयन तथा निद्रादि कृत्यपर विचार किया जाता है।

शरीरके अङ्ग प्रत्यङ्ग और स्नायुओंको विश्रान्ति न देनेसे वह चल नहीं सकता। निद्रावस्थामें उन्हें वैसी विश्रान्ति मिल जाती है, अतः निद्रा प्राणिमात्रके लिये आवश्यक है। पशुपक्षी भी सो जाते हैं। मनुष्योंमें भी परिश्रमके तारतम्यानुसार निद्रामें न्यूनाधिक्य हुआ करता है। बच्चे दिनभर खेला कूदा करते हैं, इस कारण उनके अङ्ग प्रत्यंग और स्नायु बहुत थक जाते हैं। उन्हें अधिक निद्रा लगना स्वाभाविक है। वृद्धावस्थामें दौड़ धूप, परिश्रम और मस्तिष्कके कार्य थोड़े होते हैं, इस कारण वृद्धोंको नींद कम आती है। विद्यार्थी और युवक जैसे परिश्रम करते हैं, वैसी उनको निद्रा भी आती है। साधारणतः छः घण्टा सोनेसे शरीरकी थकावट मिट जाती है। आवश्यकतासे अधिक सोनेसे अधिक निःश्वास व्यर्थ निकल जाते हैं जिससे आयु क्षीण होती है। अतिनिद्रा भी एक रोग है।

किस प्रकार तथा किस समय सोना चाहिये, इसका भी हमारे शास्त्रोंमें विचार किया गया है। हिन्दुशास्त्रकारोंने दिनमें सोनेका बड़ा निषेध किया है। वेदोंमें भी लिखा हैः—"मा

दिवा स्वाप्सीः' अर्थात् दिनमें नींद न लो, दिनमें सोनेसे कफ, आलस्य और जड़ता बढ़ती है, एवं आयु क्षीण होती है। पहिले कहा गया है कि, समस्त ब्रह्माण्डमें सूर्य ही प्राणस्वरूप और शक्तिका निधान है इसलिये ब्राह्ममुहूर्तसे लेकर सन्ध्या समय पर्यन्त जबतक सूर्यशक्ति पृथ्वीपर फैली हो, तबतक निद्रावस्थामें न रहकर जाग्रतभावसे सूर्यके साथ सम्पर्क रखना चाहिये। ऐसा करनेसे जीवके क्षुद्र प्राणमें सूर्यका महाप्राण सञ्चरित होकर जीव पुष्टप्राण और दीर्घायु हो सकेगा। शास्त्रकारोंने दिनमें और सन्ध्या समयमें सोना इसी विचारसे निषिद्ध माना है। ग्रीष्म ऋतुमें उष्णताधिक्यसे रातभर नींद नहीं आती और दिनमें भी बेचैनी बनी रहती है, इस कारण शास्त्रोंमें आवश्यकतानुसार कभी दिनमें थोड़ा सो ले तो उसका निषेध नहीं किया है। अन्य ऋतुओंमें तो दिवानिद्रा सर्वथा त्याज्य है।

किस दिशाकी ओर सिर करके निद्रा करनी चाहिये, इसका विचार करते हुए शास्त्र कहते हैं,—पूर्व अथवा दक्षिणकी ओर सिर करके सोना प्रशस्त है। इस शास्त्रीय आज्ञामें वैज्ञानिक रहस्य है। समस्त ब्रह्माण्डकी गति ध्रुवकी ओर होनेके कारण और ध्रुवकी स्थिति उत्तर दिशामें रहनेके कारण ब्रह्माण्डान्तर्गत पृथिवी ग्रहके भीतर जो विद्युत्-धारा प्रवाहित हो रही है उसकी भी गति दक्षिण दिशासे उत्तरकी ओर है। इसी कारण (दिग्दर्शक यन्त्रके) बीचका चुम्बकका कांटा सदा उत्तरकी ओर ही रहता है। हर स्थल पर यहां तक कि समुद्रमें पर्वतके शिखर पर हो चाहे समुद्र गर्भमें पनडुब्बीमें (सबमेरीना) में ही दिग्ज्ञान का यही कांटा एक मात्र साधन है। सुतरां यदि हम उत्तरकी ओर सिर करके सो जायँ, तो वह पार्थिव विद्युत् हमारे पैरोंसे होकर सिरकी ओर प्रवाहित होगी, जिससे शिरोव्यथा या ऐसे ही सिरके अन्य रोग उत्पन्न होंगे और स्नायुपुञ्जोंमें अस्वाभाविक उत्तेजना बढ़कर प्रकृति अस्वस्थ हो जायगी। सब दिन परिश्रम करनेसे स्नायु और मस्तिष्क आपही दुर्बल हो जाते हैं, तिसपर निद्रावस्थामें विद्युत्तेज यदि उलटा ग्रहण किया जाय तो शरीर अधिक अस्वस्थ होगा इसमें सन्देह ही क्या है? यदि दक्षिणकी ओर सिर करके सोवे, तो विद्युत् सिरसे पैरोंकी ओर जायगी, जो स्वाभाविक है। इससे किसी प्रकारकी पीड़ा होनेकी सम्भावना नहीं है। पश्चिमकी ओर सिर करके सोनेसे भी वही हानि है जो उत्तरकी ओर सिर करके सोनेसे, क्योंकि जिस प्रकार पार्थिव विद्युत् दक्षिणसे उत्तरकी ओर प्रवाहित होती है, उसी प्रकार सूर्यकी प्राणमयी शक्ति भी पूर्वसे पश्चिमकी ओर प्रवाहित होती है। उपर्युक्त विज्ञानानुसार पश्चिमकी ओर सिर करके सोनेसे भी मस्तिष्क और स्नायुमण्डलमें पीड़ा उत्पन्न होगी, अतः पूर्व या दक्षिण सिर सोना ही उचित है। आर्यशास्त्रोंमें उत्तर अथवा पूर्वाभिमुख बैठकर पूजा पाठ, ध्यानधारणा आदि दैवकार्य करनेका आदेश है, इसका

कारण भी यही है कि, सौर और पार्थिव विद्युत् शक्तिका सम्बन्ध शरीरके साथ बना रहे जिससे शरीर शक्ति सम्पन्न हो।

शयनके पहिले श्रीभगवान्‌का स्मरणकर उन्हींका गुणानुवाद करते हुए सोना चाहिये। इससे सुनिद्रा होती है और उत्तम स्वप्न होते हैं। यही सब आर्यशास्त्रसम्मत सदाचार और उसके मूलमें वैज्ञानिक चमत्कार है।

नित्यकर्म्म

—:※:—

ग्रीसदेशके प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् प्लेटो (Plato) ने संसारमें परम मङ्गल क्या है इसका लक्षण बतानेके लिये कहा है:—

"The highest good is not pleasure, not knowledge alone, but the greatest possible likeness to God, as the absolutely good."

(I bid p. 128)

केवल सुख या ज्ञान मनुष्योंका परम मङ्गल नहीं है, किन्तु पूर्णमङ्गलमय परमात्माके साथ सबसे अधिक सारूप्यलाभ ही परममङ्गल है। इसीको और भी स्पष्ट रूपसे कहा गया है, यथा—

The supreme end of life or the highest good is virtue i.e.a. life conformed to nature, the agreement of human conduct with the all-controlling law of nature, or of the human with the Divine will.

(I bid p. 197-198)

जीवनका सर्वोत्तम लक्ष्य या परममङ्गल वही धर्म है, जिसके द्वारा मानवीय सत्ता व्यापक भागवत्सत्ताके साथ एकीभावको प्राप्त हो जाय। 'ममैवांशो' जीवलोके जीवभूत सनातनः' समस्त जीव परमात्माके अंशरूप हैं ऐसा गीतामें भी उपदेश है। अतः अंश और अंशीका natural affinity अर्थात् प्राकृतिक सम्बन्ध रहनेके कारण, अंशकी गति अंशीकी ओर स्वाभाविकरूपसे होती है और इस गतिको अंश जितना बनाये रखेगा, उतनी ही उसकी स्थूल, सूक्ष्म सत्ता अक्षुण्ण रहेगी यह भी निश्चित है। जल समुद्रका अंश है, अतः उसकी गति नीचेकी ओर है, प्रकाश सूर्यका अंश है, अतः प्रदीपशिखा ऊपरकीओर ही चलती है। जिस प्रकार natural affinity या प्राकृतिक मेल होनेके कारण जलके लिये

नीचेकी ओर जाना और प्रदीपशिखाके लिये ऊपरकी ओर जाना उन वस्तुओंका नित्यस्वभाव है, ऐसा ही मनुष्यके लिये भी जिसका वह अंश है उस परमात्माके साथ नित्यसम्बन्ध बनाये और कदापि उस सम्बन्धको टूटने न देना नित्यकर्त्तव्य या नित्यकर्म है। इसके 'अकरणात् प्रत्यवायः' न करनेसे मनुष्य अपनी स्थितिसे अवश्य ही गिर जायगा। यही नित्यकर्मके मूलमें गूढ़ विज्ञान है जिसको इस देशके विद्वानोंकी तरह पश्चिम देशके विद्वानोंने भी अनुभव किया है जैसाकि ऊपर बताया गया।

परमात्मा निराकार है इसलिये उनसे मिलनेका सीधा उपाय उनकी शक्ति तथा उनकी विभूतियोंके साथ मिलना है। इसी-कारण नित्यकर्ममें इसीकी विधियां बताई गई हैं। सन्ध्या और पंचमहायज्ञको नित्यकर्म कहते हैं। सन्ध्यामें परमात्माकी सृष्टिकारिणी ब्राह्मीशक्ति, स्थितिकारिणी वैष्णवीशक्ति और संहारकारिणी रौद्रीशक्तिके साथ दिवारात्रिकी तोन सन्धियोंमें मिलनेकी विधि है। इसके अतिरिक्त त्रिशक्तिसमन्वयरूपिणी गायत्री, शक्तिके परम आकर सूर्यदेव तथा पृथिवी, जल, अग्नि आदि सभीकी अधीष्ठात्री देवताओंके साथ मिलनेकी और उनकी कृपासे ज्ञान-अज्ञानकृत नित्यपापोंके दूर करनेकी विधि भी सन्ध्योपासनामें दी गई है। इसी प्रकार पञ्चमहायज्ञमें भी पञ्चसूनाजन्य पापनिवृत्तिके साथही साथ परमात्माकी पांच विभूतियोंके साथ मिलनेकी विधि है। सो किस प्रकारसे है यह सब सन्ध्या और पञ्चमहायज्ञके वर्णन प्रसंगमें क्रमशः बताया जायगा।

आर्यशास्त्रमें सन्ध्योपासनाकी विशेष महिमा वर्णित की गई है। वेदमें लिखा है - "अहरहः सन्ध्यामुपासीत" प्रतिदिन सन्ध्योपासना करनी चाहिये।

सन्ध्या। मनुसंहितामें लिखा है—"ऋषयो दीर्घसन्ध्यत्त्वाद्दीर्घमायुरवाप्नुवन्" दीर्घकालतक सन्ध्योपासना करके महर्षियोंने दीर्घायु लाभ किया था और भी—"सन्ध्या उपासिता येन ब्रह्म तेन उपासितम्" सन्ध्योपासनाके द्वारा ब्रह्मकी उपासना होती है। इसका फल क्या होता है इस विषयमें यमस्मृतिमें कहा है—

सन्ध्यामुपासते ये तु सततं संयतव्रताः।
विधूतपापास्ते यान्ति ब्रह्मलोकमनामयम् ॥

जो लोग संयमके साथ सन्ध्योपासना करते हैं वे पापरहित होकर अनामय ब्रह्मलोकको प्राप्त हो जाते हैं। इन सब शास्त्रप्रमाणोंके द्वारा सन्ध्यावन्दनकी अतीव उपकारिता बताई गई है।

प्रातः सन्ध्यारूपी नित्यकर्मके उद्देश्यके विषयमें पुराणोंमें निम्नलिखित वचन मिलते हैं—

नत्वा तु पुण्डरीकाक्षं उपात्ताघप्रशान्तये ।
ब्रह्मवर्चसकामार्थं प्रातः सन्ध्यामुपास्महे ॥

कमलनयन श्रीभगवान् विष्णुको प्रणाम करके सञ्चित पापकी निवृत्ति तथा ब्रह्मतेज की प्राप्तिके लिये हम प्रातः सन्ध्याकी उपासना करते हैं। इस श्लोकके द्वारा नित्यकर्मरूपी सन्ध्योपासनाके दो उद्देश्य वर्णित किये गये, एक नित्यकृत पापनाश और दूसरा ब्रह्मतेजको प्राप्ति। अतः त्रैकालिक सन्ध्या तथा त्रिवेदीय सन्ध्या सभीके यथाविधि अनुष्ठान द्वारा सन्ध्याके दो उद्देश्य—पापनिवृत्ति और ब्रह्मतेजलाभ अवश्य ही सिद्ध होंगे इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है। अब नीचे सन्ध्याके अन्तर्गत क्रियाओंका संक्षेप वर्णन किया जाता है।

१—सन्ध्योपासनाके अन्तर्गत प्रथम क्रियाका नाम मार्जन है। इसमें 'ॐ शन्न आपो' इत्यादि मन्त्रोंका उच्चारण करते-करते कुशा अथवा इसके अभावमें कनिष्ठा, अनामिका और अंगुष्ठ द्वारा मस्तक, भूमि और ऊपरकी ओर जलसिञ्चनकी विधि है यह एक प्रकारका मन्त्रस्नान है जिससे वहिः शुद्धि तथा अन्तः शुद्धि दोनों ही होती हैं। शुद्धिके बिना उपासना नहीं होती है, इसलिये सन्ध्योपासनाका प्रथम अंग यह शुद्धि है। इस मार्जनके मन्त्रमें परमपावन ब्रह्मविभूतिस्वरूप जलके समीप वाह्यमल तथा अन्तर्मल दूर करनेके लिये प्रार्थना की जाती है। सृष्टिकार्यमें जल हो प्रथम वस्तु है, वह परम शिवतम रसका प्रतिरूप है, इसलिये जलमें जिस प्रकार शारीरिक मल दूर करनेकी शक्ति है ऐसी ही स्नेहमयी जननीकी तरह शरीरपोषण करनेकी शक्ति तथा परमकल्याणमय सब रसोंके मूलरूप ब्रह्ममें संयुक्तकर देनेकी शक्ति है। इसीलिये मार्जनमें जलके निकट इस प्रकारसे प्रार्थना है जिससे सन्ध्योपासकको अवश्य ही अन्तर्वहिःशुद्धि तथा ब्रह्मतेजकी प्राप्ति होती है। अर्वाचोन पुरुषोंने जो मार्जनका उद्देश्य आलस्य दूर करना लिखा है यह उनकी भूल है क्योंकि प्रातःकाल, सन्ध्याकाल आलस्यका समय नहीं होता है।

२—सन्ध्योपासनाको द्वितीय प्रक्रियाका नाम प्राणायाम है। इसमें पूरक द्वारा वायु आकर्षण कुम्भक द्वारा वायुधारण और रेचक द्वारा वायुरेचन किया जाता है। इन प्रक्रियाओं के क्रमानुसार नाभिदेशमें सृष्टिकर्त्ता ब्रह्माका ध्यान, हृदयमें पालनकर्त्ता विष्णुका ध्यान और ललाटमें संहारकर्त्ता रुद्रका ध्यान किया जाता है। और साथ ही ऐसो भो धारणा की जाती है कि मैं सूर्यमण्डलान्तर्गत तेजःस्वरूप परब्रह्मका चिन्तन करता हूँ जो संसार दुःखनाशक तथा हमारी बुद्धिवृत्तिके प्रेरक हैं। समस्त विश्व उन्होंके तेजसे प्रकाशित हो रहा है। इस प्रकारसे प्राणायामक्रिया द्वारा व्यापक सत्तासे सम्बन्ध स्थापित होकर ब्रह्मतेजप्राप्ति तथा पापनाश होता है। इसीलिये मनुसंहितामें लिखा है—

यथा पर्वतधातूनां दोषान् दहति पावकः ।
एवमन्तर्गतं चैनः प्राणायामेन दह्यते ॥

जिस प्रकार अग्निके द्वारा पार्वत्य धातुओंका मल दूर होता है उसी प्रकार प्राणायाम के द्वारा हृदयस्थित पापका नाश होता है।

३—सन्ध्योपासनाकी तीसरी प्रक्रियाका नाम आचमन है। इसमें हाथमें जल लेकर उसके कुछ अंशको कण्ठके नीचे उतारकर अवशिष्ट अंशको मस्तकपर छिड़क देना होता है। तदनन्तर पूर्वकृत सन्ध्योपासनाके समयसे लेकर वर्त्तमान सन्ध्योपासनाके समयपर्यन्त शरीर और मनके द्वारा यदि कोई पापकार्य हुआ हो तो उसके सम्पूर्ण विनाशके लिये मन्त्र द्वारा तीव्र इच्छा प्रकट की जाती है। इसमें प्रातःकाल वाह्यजगत्के सूर्यरूपी हृदयस्थित अन्तर्ज्योतिमें, मध्याह्नके समय देह तथा देहीके अतिघनिष्ट सम्बन्धकी धारणा करके जलमें और सायंकालके समय परमात्माके सत्त्वज्योतिःस्वरूप अग्निमें पापकी आहुति देनी होती है। इस प्रकार आचमन क्रियासे अहोरात्रकृत पापोंको दग्ध करके सूर्यास्तमें जीवात्माकी शुद्धि सम्पादन द्वारा ज्ञानशक्ति तथा ब्रह्मतेजका लाभ किया जाता है। अर्वाचीन पुरुषोंने जो आचमनमें जल लेनेका उद्देश्य कफ पित्तकी निवृत्ति करना बताया है यह उनका मिथ्या प्रलाप है। क्योंकि जलसे कफ बढ़ता है घटता नहीं और सायं प्रातःकालमें पित्त वृद्धि नहीं होती है। मध्याह्नमें पित्तवृद्धि और सायंकालमें वायुवृद्धि होती है।

४—सन्ध्योपासनाके अन्तर्गत चतुर्थ क्रियाका नाम पुनर्मार्ज्जन है। यह क्रिया पूर्व कथित मार्जनक्रियाके अनुरूप ही है। केवल ऋष्यादि स्मरण पूर्वक देह तथा जीवात्माको और भी विशेषरूपसे पवित्र करना ही इसका मुख्य उद्देश्य है।

५—सन्ध्योपासनाकी पञ्चम क्रियाका नाम अघमर्षण है। अघमर्षण शब्दका अर्थ पापनाशन है। इसमें नासिकारन्ध्रके निकट एक गण्डूष जल रखकर मन्त्रोच्चारण करते करते ऐसी चिन्ता करनी होती है कि देहस्थित पापराशि कृष्णवर्ण पापपुरुषके रूपमें इस जलमें मिल गया है और इसीलिये यह जल काला हो गया है। इस प्रकार चिन्ता करनेके बाद उस जलको दक्षिण हस्तसे वामपार्श्वमें बलपूर्वक फेंक देना चाहिये और चिन्ता करनी चाहिये कि वह पापपुरुष विनष्ट हो गया। यही अघमर्षण क्रिया है।

६—सन्ध्योपासनाकी षष्ठ क्रियाका नाम सूर्योपस्थान है। इसमें परमात्माके साक्षात् विभूतिरूप सूर्यदेवके उपस्थान द्वारा ब्रह्मतेजकी प्राप्ति तथा ज्ञानका उन्मेष होता है। सन्ध्यामें सूर्यके उपस्थानकी जो ऋचाएं हैं उनमेंसे पहला मन्त्र उदय होनेवाले सूर्यके दर्शनसे जीव-जगत्में आनन्दोच्छवासका अपूर्व प्रकाशक है। यथा—"विश्वप्रकाशके लिये रश्मिगण सूर्यको वहन किये आती हैं। सूर्यदेव अन्तरिक्ष और पृथिवीके नेत्रस्वरूप तथा चराचर जगत्के

आत्मास्वरूप हैं।" सूर्योपस्थानके समय जिस प्रकारकी मुद्राका प्रयोग किया जाता है उससे जान पड़ता है कि उपासक सूर्यके साथ मिलनेके लिये प्रस्तुत है। इससे उपासकको तेजोलाभ, ज्ञानलाभ तथा पवित्रतालाभ होता है। इसके उपरान्त सूर्य्यमण्डलके मध्यमें प्रातःकाल गायत्री, मध्याह्नकाल सावित्री और सायंकाल सरस्वती नामसे एक ही महादेवी के त्रिविध रूपोंका जो ध्यान बताया गया है उससे भी ब्रह्मतेजप्राप्ति तथा तत्त्वज्ञानका उन्मेष होता है। इस प्रकारसे पूर्व-पूर्व क्रियाओंके द्वारा पापनाशके बाद सूर्योपस्थान क्रियाके द्वारा ब्रह्मतेजप्राप्ति तथा ज्ञानका विकाश होता है।

सूर्यदेवकी इस असीम शक्तिको जानकर कितने ही पश्चिमी विद्वानोंने उन्हें ज्योतिः पिण्ड न कहकर देवता कहा है और उसकी किरणोंको आत्माका प्रकाश करके बताया है, यथा—

Since the sun is the first cause of life on our globe, since he is as we have proved, the origin of life, feeling and thought, since he is the determining cause of the existence of every thing possessing organisation upon the earth, why may we not hold that the rays which the sun pours upon the earth and the other planets are nothing else but the emanations from these souls ? That they are emissions from pure spirit dwelling in the Cental Star, directed towards us and the other planets, under the visible form of rays ?

(The day after Death p. 105-106)

जब यह बात सिद्ध है कि पृथिवीमें प्राणविकाशका प्रथम कारण सूर्यही है, मनुष्योंमें प्राणशक्ति, चिन्ताशक्ति तथा अनुभवशक्तिका आदिनिदान सूर्यही है, और जो कुछ व्यवस्थित सत्ता संसारमें है उसकी भी व्यवस्थाके मूलमें सूर्यही है, तो ऐसा सिद्धान्त करना अनुचित न होगा कि सूर्यकिरण सामान्यकिरण नहीं है, किन्तुसवितृमण्डलमध्यवर्ती महान् आत्माका स्थूल विकाश है, जो रश्मिके रूपमें हमें तथा अन्यान्य ग्रहगणको प्राप्त होते हैं। इस प्रकारसे सूर्योपस्थानकी महिमाको पश्चिमी विद्वानोंने भी स्वीकार किया है।

७ – सन्ध्याकी सप्तम क्रियामें गायत्रीका आवाहन, ध्यान और जपकी विधि है। त्रिकालके भेदसे गायत्रीके अधिष्ठात्री देवता भी तीन हैं, यथा—
ब्राह्मी, वैष्णवी और माहेश्वरी देवी। इनके पृथक् पृथक् रूप तथा भावके अनुसार ध्यान भी पृथक् पृथक् हैं। उनको अक्षरत्रयमयी, ब्रह्मवादिनी, सनातनी वेदमातृरूपसे आवाहन करके उनकी उपासना तथा उनसे शक्ति माँगी जाती है जिससे सन्ध्योपासकको शक्तिलाभ, ब्रह्मतेजलाभ तथा ज्ञानलाभ होता है। यही सन्ध्यान्तर्गत सप्तम प्रक्रिया है।

८—सन्ध्याकी अष्टम क्रियामें आत्मरक्षा, नवम क्रियामें रुद्रोपस्थान और दशम क्रियामें सूर्यार्घ्यका विधान किया गया है। आत्मरक्षा द्वारा आत्माकी उन्नत स्थितका लाभ, रुद्रोपस्थान द्वारा तेजोलाभ और सूर्यार्घ्य द्वारा सूर्य देवताका अन्तिम अभिनन्दन होता है। इस प्रकारसे सन्ध्योपासनारूपी नित्यकर्मके त्रिकालानुष्ठान द्वारा नित्यकृत पापनाश तथा ब्रह्मतेजका क्रमविकाश होता है।

सन्ध्योपासनाके अन्तर्गत अघमर्षण, आचमन, उपस्थान आदि अनेक क्रियाओंमें इच्छाशक्तिका प्रयोग (autc-suggestion) करके तदनुरूप फलकी जो आकांक्षा की जाती है, उसके विषयमें वर्त्तमान वैज्ञानिकजगत्में भी बहुत कुछ चिन्ता की गई है। जार्ज एल. डेभिस (George L. Davis) साहबने इस विषयमें कहा है—

If we are observant and experimental, like a great scientist, we soon learn what thoughts and how we hold them, bring good results and what thoughts or the misapplication of them, produce bad results. And that by always holding certain beautiful, good, true and loving thoughts, positively registered in our sub-consciousness there is always reproduced in our lives and circumstances the exact results of health, happiness and prosperity that we expect. Create your variant thought images or ideal desires in the same serene faith that you have in the multiplication rule and by the inevitable law of life you get the inevitable result. 'Whatsoever a man thinketh in his own heart so is he.'

(The Logic of Right Thought—Kalpaka)

यदि यथार्थ वैज्ञानिकको दृष्टिसे हम देखना आरम्भ करेंगे हमें मालूम हो जायगा कि चिन्ताशक्तिके प्रयोगसे किस प्रकारसे अच्छे बुरे फल उत्पन्न होते हैं और अच्छी चिन्ताका संस्कार अन्तरात्मा पर खचित होकर स्वास्थ्य, सुख, सम्पत्तिरूपी फलको किसप्रकारसे उत्पन्न किया करता है। सच्चे विश्वासके साथ चिन्ताकी प्रतिमाको प्रस्तुत करो, उससे शरीर मन और आत्मा सब पर उत्तम फल होगा मनुष्य वैसाही है जैसा कि उसके हृदयमें मार्मिक चिन्ता है। संध्योपासनमें भी ऐसी ही चिंताशक्तिसे कितनाही काम लिया जाता है। यही संध्योपासनाका शास्त्रवर्णित वैज्ञानिक रहस्य है।

नित्यकर्मके लक्षण वर्णन प्रसंगमें यह बात पहिलेही कही गई है कि नित्यकर्मके अनुष्ठान द्वारा जीव नित्यकृत पापसे बचकर अपनी प्राक्तनानुकूल उन्नत स्थितिमें दृढ़ रह सकता है और नित्यकर्मरूपसे अनुष्ठेय उपासनादिके द्वारा व्यापक सत्तासे सम्बन्ध बांधकर

स्वतः ही आध्यात्मिक उन्नति तथा पूर्णताके पथपर चल सकता है। शास्त्रोक्त नित्यकर्मके अनुष्ठानसे साधारतः पुण्यकी प्राप्ति नहीं होती और उसके न करनेसे पाप होता है। शास्त्रीय आज्ञानुसार से सन्ध्यावन्दन नित्यकर्म है। यद्यपि गायत्री की उपासना ब्रह्मोपासना होनेसे अथवा गायत्रीकी ब्रह्मशक्तिरूपिणी समझा जाय तो उससे ज्ञानप्रदायिनी महाशक्तिकी उपासना होनेसे वह उपासना भी है; परन्तु सन्ध्योपासनमें नित्यकर्मका साक्षात् सम्बन्ध रहनेके कारण और कलियुग में निर्गुण ब्रह्मोपासनाके अधिकार प्रायः अप्राप्य हो जानेके कारण गायत्री उपासनाको भी नित्यकर्ममें ही सम्मिलित कर लिया गया है। अतः अधिकार भेदसे सन्ध्यावन्दन एक ओर नित्यकर्म है और दूसरी ओर गायत्री उपासन सन्ध्योपासनके साथ सम्बन्धयुक्त रहनेसे सन्ध्योपासन उपासनाका फल देता है और तृतीयतः चित्तशुद्धि संस्कार शुद्धि और अन्तःकरण पवित्र चिन्तामय भावको प्राप्त होता रहता है। और उससे साधक को स्वाभाविक रूपसे आध्यात्मिक उन्नति लाभ अवश्य ही होता है। जीवसत्ता सदाही परिच्छिन्न तथा अनुदार है इसकारण यदि जीव व्यापक सत्ताके साथ अपना तादात्म्य सम्बन्ध स्थापन नहीं करेगा तो कदापि अपनी परिच्छिन्नता और अनुदारताको काटकर ब्रह्मभावका लाभ नहीं कर सकेगा। इसलिये पूज्यपाद महर्षियोंने सन्ध्या तथा पञ्चमहायज्ञ-रूपी नित्यकर्मके द्वारा प्रत्येक गृहस्थके लिये व्यापक सत्ताके साथ सम्बन्ध स्थापन पूर्वक आध्यात्मिक उन्नति करनेकी विधि बताई है। सन्ध्याविधिके अन्तर्गत जो क्रियाएँ हैं उनपर मनन करनेसे स्पष्ट ही विदित होता है कि उन क्रियाओंके द्वारा द्विजगण प्रकारान्तरसे व्यापक ब्रह्मकी ही उपासना करते हैं। जलाधिष्ठात्री देवता, सूर्यात्मा, ब्रह्मशक्तिरूपिणी गायत्री आदिकी उपासना ब्रह्मोपासनाका ही रूपान्तरमात्र है। इस प्रकारसे सन्ध्योपासनाके द्वारा कारण ब्रह्मके साथ तादात्म्य सम्बन्ध स्थापन होता है। सन्ध्या तीन ही हैं दो नहीं, जैसा कि अर्वाचीन लोग कहते हैं बल्कि तन्त्रशास्त्रमें तो महानिशा सन्ध्या नामक चौथी सन्ध्या भी लिखी है और उसका उपयोग भी तांत्रिक उपासकगण करते हैं। तैत्तिरीयारण्यकमें अनु० २३ में 'ॐ आपःपुनंतु पृथिवीम्' इत्यादि मध्याह्नसन्ध्याका आचमन भी लिखा गया है। महाभारत वनपर्व अ० २६३ श्लो० २८ में 'ते चावतीर्णा सलिले कृतवंतोऽघमर्षणम्' ऐसा कहकर महर्षि दुर्वासाकी मध्याह्न संध्या लिखी है। महर्षि याज्ञवल्क्यने कहा है—'संध्यात्रयं तु कर्त्तव्यं द्विजेनात्मविदा सदा' इत्यादि तीन संध्याके अनेक प्रमाण मिलते हैं।

जिस प्रकार संध्योपासनाके द्वारा कारणब्रह्मके साथ तादात्म्य संबंध स्थापना होता है उसी प्रकार पञ्चमहायज्ञके द्वारा कार्यब्रह्मके समस्त अङ्गोंके साथ तादात्म्य सम्बंध स्थापित किया जाता है। कार्यब्रह्मके सकल अङ्गोंके अनुसंधान करनेसे यही देखा जाता है कि कारणब्रह्मकी आध्यात्मिक विभूतिका विकाश ऋषियोंके द्वारा,

पञ्चमहायज्ञ।

आधिदैविक विभूतिका विकाश देवताओंके द्वारा, आधिभौतिक विभूतिका विकाश पितरोंके द्वारा, विशेष कलाका विकाश मनुष्योंके द्वारा और साधारण कलाका विकाश उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज और जरायुज योनिके जड़ जीवोंके द्वारा होता है। अतः कार्यब्रह्मके साथ तादात्म्य भाव स्थापनके लिये इन पाँचोंकी नित्यसेवा सर्वथा कर्तव्य है और इन्हीं पांचोंके सम्बर्द्धन करनेकी क्रियाको पञ्चमहायज्ञ कहते हैं। इसी आशयकी चिन्ता हेनरी ड्रमण्ड साहबने भी की है, यथा—

Uninterrupted correspondence with a perfect environment is eternal life according to science. Life eternal is to know God. To Know God is to correspond with God. To correspond with God is to correspond with perfect environment. And the organism which attains to this in the nature of things must live for ever. Here is eternal existence and eternal knowledge.

(Netural Law in the spiritual World p. 215)

विज्ञानके अनुसार अनन्त, शाश्वत जीवन वही है जिसमें सर्वतोव्यापी पूर्णसत्ताके साथ अविच्छिन्न सम्बन्ध बना रहे। यही शाश्वत जीवन परमात्माके अनुभवका जीवन है। परमात्माके अनुभवका यही तत्त्व है कि उनके साथ सदैव सम्बन्ध कायम रहे। उनके साथ सम्बन्ध कायम रहनेसे उनकी चारों ओर स्थित विभूतियों तथा शक्तियोंके साथ भी सम्बन्ध कायम रहता है। और जिस सत्ताकी पहुंच यहाँ तक हो चुकी है वह स्वतः ही चिरस्थायी रहेगी। यही नित्य स्थिति और नित्य ज्ञानका तत्त्व है। अब पञ्चमहायज्ञके रहस्य वर्णन द्वारा नीचे क्रमशः इसका रहस्य बताया जाता है।

यज्ञ और महायज्ञ दोनोंका एक ही अनुष्ठान होनेपर भी साधारणतः यह भेद बताया जा सकता है कि यज्ञफलरूप आत्मोन्नतिके साथ व्यष्टिका सम्बन्ध प्रधान होनेसे इसमें स्वार्थ सम्बन्ध अधिक रहता है, परन्तु महायज्ञका यह महत्त्व है कि इसमें समष्टि-सम्बन्ध प्रधान रहनेसे इसका फल जगत् कल्याणके साथ आत्माका कल्याण है। इसलिये महायज्ञ में निःस्वार्थता, निष्कामभाव और हृदयकी उदारताका सम्बन्ध अधिक रहता है।

अविद्याग्रसित जीवभावको त्याग करके ब्रह्मभावकी उपलब्धि करना जब मनुष्यजन्म का लक्ष्य है तो जिस कार्यके द्वारा यह लक्ष्य सिद्ध होगा उसीकी महिमा सर्वोपरि होगी इसमें सन्देह नहीं है। जीवभावके साथ ईश्वरभावका यही भेद है कि जीव अल्पज्ञ है और ईश्वर सर्वज्ञ है, जीव देश, काल और वस्तुसे परिच्छिन्न है और ईश्वर इनसे अपरिच्छिन्न होनेके कारण विभु नित्य एवं पूर्ण हैं जीव अविद्याके अधीन हैं और ईश्वर मायाके अधीश्वर

हैं, जीवभाव स्वार्थपर एवं साहङ्कार है और ईश्वरभाव पदार्थपर एवं निरहङ्कार है, जीवकी सत्सत्ता क्षुद्र है, चित्सत्ता भ्रमजालयुक्त है एवं आनन्दसत्ता मायाकी छायाके कारण अनित्य सुखरूपमें परिणत है; परन्तु ब्रह्मकी सत्सत्ता अनन्तकोटि ब्रह्माण्डमें परिव्याप्त है, उनकी चित्सत्ता अनन्त ज्ञानमय है और उनकी आनन्दसत्ता मायासे परे, सुख दुःखसे बाहर नित्यानन्दमय है। इसलिये जिस अनुष्ठानके द्वारा जीव भावकी ऊपर लिखी हुई समस्त क्षुद्रता नष्ट होकर विराट्, उदार, पूर्ण, ज्ञानमय, आनन्दमय, निःस्वार्थ, निरहङ्कार, सर्व्वतोव्याप्त ब्रह्मभावके साथ एकता प्राप्ति हो, वह अनुष्ठान सबसे महान्, महत्तर और महत्तम होगा, इसमें सन्देह ही क्या है, प्रस्तावित विषय महायज्ञ इसी परम महिमासे पूर्ण है. इसलिये ही महायज्ञ महान् है। यज्ञके द्वारा सकाम साधकको बहुधा ऐहिक और पारत्रिक सुखलाभ होनेपर भी महायज्ञके द्वारा आत्माकी शुद्धि और मुक्ति होती है, एवं सब वर्ण और सब आश्रमके लोग इसका अनुष्ठान करके अपवर्ग लाभ कर सकते हैं, जैसा कि नीचे वर्णन किया जाता है।

श्रीभगवान् मनुने कहा है किः—

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥

अध्ययन अध्यापनका नाम ब्रह्मयज्ञ, अन्न अथवा जलके द्वारा नित्य नैमित्तिक पितरोंके तर्पण करनेका नाम पितृयज्ञ, देवताओंको लक्ष्य करके होम करनेका नाम देवयज्ञ, पशु पक्षी आदिको अन्नादि दान करनेका नाम भूतयज्ञ और अतिथिसेवाका नाम नृयज्ञ है। जो गृहस्थ यथाशक्ति इस पञ्चमहायज्ञका अनुष्ठान करते हैं उनको गृहस्थमें रहनेपर भी पञ्चसूना दोष अर्थात् चूल्हा, चक्की, सिल-बट्टा पानीका घड़ा आदिमें जीवहत्याका दोष स्पर्श नहीं करता।

अब नीचे इन यज्ञों द्वारा अपना तथा विश्वका कल्याण कैसे होता है सो बताया जाता है।

वेद और शास्त्रसम्मत सकल शास्त्रोंका अध्ययन करना ब्रह्मयज्ञ कहाता है। पञ्चमहायज्ञोंमें यह यज्ञ सर्वप्रथम है। पूज्यपाद महर्षिगण आध्यात्मिक ज्ञान विस्तारके कर्त्ता होनेके कारण सर्वदा पूजनीय हैं। ज्ञान ही सब सुखोंका मूल है और ज्ञान ही मुक्ति-पद लाभका कारण है। ऐसे ज्ञानके प्रवर्त्तक पूज्यपाद महर्षिगणसे कौन मनुष्यगण उत्तीर्ण हो सकते हैं ? कोई भी नहीं। केवल उन महर्षियोंके निकट कृतज्ञता दिखानेके लिये, उनके सम्बर्द्धनके लिये और यथा कथञ्चित् ऋषिगणके ऋणसे उऋण होनेके लिये ब्रह्मयज्ञ किया

जाता है। वे सम्बर्द्धित और प्रसन्न होकर उस देशकी मनुष्यजातिमें आध्यात्मिक ज्योतिरूप ज्ञानका विस्तार किया करते हैं, क्योंकि उनकी प्रसन्नताका फल यह है। इस प्रकारसे ब्रह्मयज्ञ द्वारा अपना कल्याण, जगत्कल्याण तथा ऋषिशक्तिके साथ तादात्म्य स्थापन होता है।

इष्ट उपासनाके अर्थ भगवत्पूजारूपसे परमात्मा और उनकी शक्तियोंके लक्ष्यसे अग्नि में आहुति प्रदान करने पर देवयज्ञका साधन हुआ करता है पञ्चमहायज्ञोंमें यह यज्ञ द्वितीय स्थानीय है। श्रीभगवान्‌की अधिदैवशक्तिके सम्बर्द्धनार्थ इस यज्ञका साधन किया जाता है।

जिस प्रकार श्रीभगवान्‌की आध्यात्मिक शक्तिके अधिष्ठाता ऋषि हैं, उसी प्रकार उनकी अधिदैव शक्तिके अधिष्ठाता और अधिष्ठात्री देव-देविगण हैं। देवता बहुत हैं और वे नित्य नैमित्तिक भेदमें विभक्त हैं। रुद्रगण, वसुगण और इन्द्रादिक नित्यदेवता हैं और ग्रामदेवता, गृहदेवता, बनदेवता आदि नैमित्तिक हैं। वस्तुतस्तु अधिदैव शक्तिकी पूजा ही इस यज्ञके द्वारा होती है। देवता प्रसन्न होने पर यावत् सुख दान करते हैं। जिन देवताओं की कृपासे जड़भावापन्न कर्म्मसे फलकी उत्पत्ति होती है, जिन देवताओंकी कृपासे यावत् सुख और शान्ति प्राप्त होती है, जिन देवताओंकी कृपासे मनुष्य अपने भागोंको प्राप्त करनेमें समर्थ होता है, और जो देवतागण सदा ब्रह्माण्डकी यावत् क्रियाओंको यथा समय सुसम्पन्न करके उसकी सुरक्षा करते हैं, ऐसे देवताओंके ऋणसे कौन उऋण हो सकता है? कोई नहीं। श्रीभगवान्‌की आध्यात्मिक शक्तिके परिचालक ऋषिगण और अधिदैव शक्तिके परि-चालक देव-देविगण सृष्टिके रक्षणार्थ अवतार भी लेते हैं। भगवदवतारकी नाईं ऋषि और देवताओंके अवतार भी पूजनीय हैं। देवता और उनके अवतारोंकी पूजा करनेसे वे सन्तुष्ट होकर समष्टि जगत्में शक्ति और सुखका विस्तार करेंगे। देवयज्ञका साधक इस रीति पर देवयज्ञके द्वारा समष्टि जगत्में शक्ति और सुखविस्तारका कारण हो सकता है। यही देवयज्ञ साधनका विश्वजनीन भाव है।

कीट, पक्षी, पशु आदिकी सेवारूप यज्ञका नाम भूतयज्ञ है। भूतयज्ञ पञ्चमहायज्ञमें तृतीय स्थानीय है; अर्थात् देवयज्ञ साधनके अनन्तर भूतयज्ञ साधन करनेकी विधि है। एवं ऐसी आज्ञा है कि देवयज्ञसे बचे हुए अन्नादिके द्वारा पृथिवी पर भूतयज्ञका अनुष्ठान किया जाय और तदनन्तर वह अन्न पशुपक्षी आदिको अथवा गायको खिला दिया जाय।

उद्भिज्ज जातीय औषधि, लता, गुल्म और बृक्षसे लेकर स्वेदज अण्डज जरायुज जातीय सकल प्रकारके प्राणियोंके साथ जब इस ब्रह्माण्डका समष्टि व्यष्टि सम्बन्ध है तो यह मानना ही पड़ेगा कि उनके सम्बर्द्धनसे ब्रह्माण्डका सम्वर्द्धन होता है। सृष्टिके कोई अङ्ग भी उपेक्षा करने योग्य नहीं हैं, उसके एक अंगकी सहायतासे सब अंगोंकी सहायता मानी जा सकती

है, इस विचारसे भूतयज्ञ परम धर्म्म है। दूसरा विचार यह है कि मनुष्य अपने सुखके लिये अनेक जीवोंको कष्ट दिया करता है जैसा कि पञ्चसूनामें वर्णन है। मनुष्यके प्रत्येक निःश्वासमें कितने लक्ष जीव आत्मबलि देते हैं मनुष्यको तृष्णाकी शान्तिके लिये जलान्तर्गत कितने जीव आत्मोत्सर्ग किया करते हैं। यदि मनुष्य निरामिषभोजी भी हो तौ भी उसके खाद्य पदार्थके प्रत्येक ग्रासमें कितने जीवोंका नाश होता है। अपि च मनुष्योंके सुख-सम्पादनके अर्थ भूतोंको क्लेश दिये बिना तो कोई काम ही नहीं चलता, अब थोड़े ही विचारसे समझमें आ सकेगा कि भूतोंके ऋणसे मनुष्य कदापि उऋण नहीं हो सकता है। अस्तु भूतयज्ञ द्वारा मनुष्य तत्तद्भूतरक्षक देवताओंकी सहायतासे उनके सम्बर्द्धनार्थ जो कुछ पुरुषार्थ करेगा सो अवश्य महायज्ञ कहाने योग्य है।

मनुष्यके नीचे जितने जीव हैं उनमेंसे प्रत्येक श्रेणीके जीवोंपर एक एक अधिष्ठात्री देवता हैं। जैसा कि समस्त श्वानों पर एक देवता, समस्त अश्वों पर एक देवता, समस्त हाथियों पर एक देवता, इस तरहसे प्रकृतिके भिन्न भिन्न विभागोंमें अलग अलग पशुजाति, पक्षिजाति और कीट पतङ्ग उद्भिज्जादि जातिपर एक एक देवता है। भूतयज्ञमें उन सब देवताओंके नामपर बलि दी जाती है जिससे उन सब देवता या दैवी शक्तियोंके अधीन समस्त पशु पक्षी आदिकी तृप्ति होती है यही भूतयज्ञका गूढ़ रहस्य है।

पञ्चमहायज्ञोंमें पितृयज्ञ चतुर्थस्थानीय है। आर्यमादि नित्य पितर और परलोक-गामी नैमित्तिक पितरोंको तर्पण, पिण्डप्रदानादि द्वारा संवर्द्धित करनेसे पितृयज्ञ होता है।

पितृयज्ञादिके द्वारा पितृगण सम्वर्द्धित होकर संसारमें स्वास्थ्य और बल आदिका सम्बर्द्धन किया करते हैं।

तर्पण विधिमें लिखा है—

आब्रह्मभुवनाँल्लोका देवर्षिपितृमानवाः।
तृप्यन्तु पितरः सर्व्वे मातृमातामहादयाः॥
नरकेषु समस्तेषु यातनासु च ये स्थिताः।
तेषामाप्यायनायैद्दीयते सलिलं मया॥

ब्रह्मलोकसे लेकर समस्त संसार, देवता, ऋषि, पितर, मानव, माता और मातामहादि पितर हमारे किये हुए अनुष्ठान के द्वारा तृप्त हों। समस्त नरकमें यातनायुक्त जितने जीव हैं उनके उद्धारके लिये मैं यह जल प्रदान करता हूँ। अतः केवल अपने आत्मीय सम्बन्धयुक्त पितरोंकी ही पूजा करनेकी विधि नहीं है, परन्तु परलोक सम्ब्रन्धसे महर्षिगणसे लेकर सब प्रकारके आत्माकी तृप्तिके अर्थ ही इस यज्ञका विधान किया गया है। ज्ञानराज्यके चालक

ऋषि, कर्मराज्यके चालक देवता और अधिभौतिक राज्यके चालक पितृगण हैं। अपना शरीर स्वस्थ रहना, आत्मीयोंका शरीर स्वस्थ रहना, देशवासियोंका शरीर स्वस्थ रहना, जगत्के प्राणिमात्रकी आधिभौतिक स्वस्थता, ऋतुओंका ठीक समय पर होना इत्यादि सब नित्य पितरोंका कार्य्यं है। आर्यमादि नित्यपितर कहाते हैं और पितृलोकमें गये हुए हमारे पूर्वज नैमित्तिक पितर कहाते हैं। इस प्रकारके पितृगणकी तृप्तिके अर्थ जगत्कल्याण बुद्धि से जो क्रिया की जायगी वह क्रिया अवश्य महायज्ञ होगी, इसमें सन्देह ही क्या है।

विचारशील मनुष्यगण तर्पण और पितृयज्ञके मंत्रोंपर निरपेक्षरूपसे जितना मनन करेंगे उतनाही जान सकेंगे कि केवल सार्व्वभौम मतयुक्त पदार्थभाव, जगतकी सेवा और तृप्ति एवं उसके साथही साथ विश्वजीवनके साथ ऐक्य सम्पादन करनेके अर्थ यह यज्ञ किया जाता है। यही पितृयज्ञकी परम महिमा है।

मनुष्यजीवनके विचारसे जिस प्रकार एक मनुष्य समस्त मनुष्य समाजका एक अंग होता है उसी प्रकार यह स्थिर निश्चय है कि मनुष्यजीवन विश्व जीवनका एक अंग है। इसी विश्वजीवनसे मनुष्यजीवनका तादात्म्य सम्बन्ध स्थिर रखनेके अर्थ अतिथि सेवारूप नृयज्ञका साधन करना प्रथम कर्त्तव्य कर्म्म है। जो पञ्चम महायज्ञका पांचवाँ महायज्ञ है अथर्ववेदके अतिथिसूक्त ९।५।८ में लिखा है—

एते वै प्रियाश्चाप्रियाश्च स्वर्गलोकं गमयन्ति यदतिथयः।
सर्वो वा एष जग्धपाप्मा यस्यान्नमश्नन्ति॥

अतिथि प्रिय हो या अप्रिय भोजन कराने पर वह यजमानको स्वर्ग पहुंचा देता है और पाप नाश करता है।

यह संसार अधिभूत प्रधान होनेके कारण अपने शास्त्रोंमें इसी यज्ञकी सर्वोपरि आवश्यकता मानी गई है। यदि गृहस्थ दरिद्रसे भी अति दरिद्र होवे तो भी कदापि अतिथि सेवासे उसे विरत होना उचित नहीं है। शास्त्रोंमें कहा है कि:—

अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात्प्रतिनिवर्त्तते।
स तस्मै दुष्कृतं दत्त्वा पुण्यमादाय गच्छति॥

अतिथि असत्कृत होकर गृहस्थके घरसे लौट जानेपर उसे अपना पाप देकर उसका पुण्य अपने साथ ले जाया करते हैं। अतिथिके प्रसन्न होनेपर गृहस्थको धन, आयु, यश और स्वर्गकी प्राप्ति हुआ करती है। विश्वजीवनके साथ अपने आत्माका एकत्व सम्बन्ध स्थापन करनेसे मनुष्य मुक्तिपद प्राप्त कर सकता है। किन्तु इस भावको कार्यरूपमें परिणत

करनेमें कठिनता यह है कि एक मनुष्य कदापि संसारभरके सब मनुष्योंकी सेवा नहीं कर सकता। इसी कठिनताको सुसाध्य करनेके लिये विशेष देश तथा विशेष कालमें मनुष्यकी पूजा करनेको नृयज्ञ कहते हैं, अर्थात् भोजनकाल तक घरपर चाहे किसी जाति या किसी धर्म्मका मनुष्य क्यों न आवे, उसे नारायण समझकर उसका सत्कार करना नृयज्ञ है। इस प्रकार नित्यकर्म रूपसे पञ्चमहायज्ञका अनुष्ठान होता है।

अर्वाचीन पुरुषोंने विचित्र युक्तियों द्वारा देवयज्ञमें हवनका उद्देश्य केवल वायुशुद्ध करना बताया है। यह उनकी सम्पूर्ण भूल है। वायुशुद्धि और भी सस्ती चीजोंसे और भी अधिक हो सकती है इसके लिये कीमती घी खर्च करनेको कोई भी आवश्तकता नहीं वायुशुद्धिमें 'मन्त्र' पढ़नेकी और 'स्वाहा स्वाहा' कहनेकी कुछ आवश्यकता नहीं है। 'मन्त्र पढ़नेसे होमके लाभ विदित होते हैं। यह भी उनका कहना मिथ्या है, क्योंकि 'विश्वानि देव' आदि मंत्रोंमें कहीं होमका लाभ नहीं बताया गया है। हवनसे दैवजगत्के साथ कैसा सम्बन्ध होता है। इस विषयमें यजु० अ० ११ मं० ३५ में वर्णन है—

सीद होतः स्वउ लोके चिकित्वान्त्सादया यज्ञ ँ सुकृतस्य योनौ।
देवावीर्देवान् हविषा यजास्यग्ने वृहद् यजमाने वयोधाः॥

हे देवताओंके आह्वान करनेवाले अग्निदेवता, सर्वज्ञ तुम अपने लोकमें ठहरो और श्रेष्ठकर्म यज्ञके स्थान कृष्णाजिनपर ही यज्ञको स्थापन करो। हे अग्ने! जिस कारण देवताओंकी तृप्ति करनेवाले तुम हव्यसे देवताको पूजते हो, इसी कारण यजमानमें बड़ी आयु और अन्नको धारण करो। और भी मनु० अ० ३, श्लोक ७६ में—

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥

अग्निमें डाली हुई आहुति सूर्यदेवताको प्राप्त होती है। सूर्यसे वृष्टि, वृष्टिसे अन्न और उससे वीर्यादि द्वारा प्रजाकी उत्पत्ति होती है। इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः' देवतागण हवनसे तृप्त होकर उत्तम भोग जीवको देते हैं। इत्यादि सहस्र सहस्र प्रमाण केवल वायुशुद्धिके विरुद्ध तथा हवन द्वारा दैवजगत्से सम्बन्धके विषयमें आर्यशास्त्रमें पाये जाते हैं। अतः अर्वाचीन पुरुषोंका यह सब मिथ्या प्रलापमात्र है इसके सिवाय दैवजगत्का रहस्य न समझकर उन्होंने चार वेदके ज्ञाता मनुष्यको ब्रह्मा, विद्वान्को देवता और जीवित पिता माताओंको जो तर्पण करने योग्य पितर कह दिया है, यह सब उनकी प्रचण्ड भूल है। इन सब भ्रान्तियोंका निराकरण आगेके अध्यायोंमें प्रकरणानुसार किया जायगा। अब नीचे सन्ध्योपासनामें विहित गायत्रीका रहस्य बताया जाता है।

आर्यशास्त्रमें कहा है कि, --'या सन्ध्या सा तु गायत्री द्विधाभूता प्रतिष्ठिता' अर्थात् जिस प्रकार सन्ध्योपासना ब्रह्मोपासना है, उसी प्रकार गायत्री उपासना भी ब्रह्मोपासना है, क्योंकि दोनों ही उपासनाओंमें ब्राह्मी, वैष्णवी, रौद्री—रूपिणी त्रिधाविभक्त ब्रह्मशक्तिकी उपासना होती है। त्रिसन्ध्याओंमें ये तीन शक्तियां पृथक् पृथक् उपस्थित होती हैं और गायत्रीदेवीमें ये तीन शक्तियां एकाधारमें सन्निविष्ट हैं। प्रलयानन्तर सृष्टिके समय परमात्मामें प्रथमतः इच्छाशक्तिका विकाश होता है और तदनन्तर क्रियाशक्ति तथा ज्ञानशक्तिके विकाशके साथ ही साथ उनके देवता ब्रह्मा, विष्णु, महेश, उनकी ब्राह्मी, वैष्णवी, रौद्री नाम्नी तीन शक्तियां, तीनोंकी समन्वयरूपिणी त्रिपदा गायत्री, त्रिदेव समन्वयरूप ओंकार, ज्ञानाधार त्रिदेव तथा कार्यब्रह्मके अन्तर्गत भूर्भुवःस्वरूप व्याहृतित्रय का विकाश हो जाता है। प्रथम तीन शक्तियोंका विकाश होकर पश्चात् वेदोंका आविर्भाव होता है, इस कारण त्रिशक्तिसमन्वयरूपिणी गायत्रीदेवीको वेदजननी कहा गया है।

गायत्री महिमा

गायत्री वेदजननी गायत्री पापनाशिनी।
गायत्र्यास्तु परं नास्ति दिवि चेह च पावनम्॥

गायत्री वेदमाता हैं, गायत्री पापनाशकारिणी हैं, गायत्री जैसी पवित्र वस्तु, मर्त्यलोक या द्युलोकमें कहीं भी नहीं है। अब नीचे नाना शास्त्रोंसे गायत्रीके भावार्थ, रहस्य तथा महिमाके विषयमें वर्णन किये जाते हैं। गायत्रीका पूरा मन्त्र यह है—

'ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गोदेवस्य धीमहि धियो नः प्रचोदयात्'।

इसी मन्त्रका जप या चिन्तन करना चाहिये। यथा कूर्मपुराणमें:—

ओंकारमादितः कृत्वा व्याहृतीस्तदनन्तरम्।
ततोऽधीयीत सावित्रीमेकाग्रः श्रद्धयान्वितः॥

एकाग्रचित्तसे श्रद्धायुक्त होकर प्रथम ओंकार तदनन्तर भूर्भुवः स्वः 'नामक व्याहृतित्रय और तत्पश्चात् गायत्रीका उच्चारण करना चाहिये। महर्षि व्यासने भी कहा है—

प्रणवव्याहृतियुतां गायत्रीञ्ज जपेत्ततः।
समाहितमनास्तूष्णीं मनसा वापि चिन्तयेत्॥

एकाग्रचित्त तथा मौन होकर प्रणव और व्याहृतिसे युक्त गायत्रीका जप अथवा मनमें चिन्तन करना चाहिये। समग्र मन्त्रका अन्वय तथा अर्थ निम्नलिखित रूपसे है—

ॐ भूः भुवः स्वः तस्य सवितृदेवस्य (तं) वरेण्यं भर्गः धीमहि, यः (भर्गः) नः धियः प्रचोदयात् ।

सवितृमण्डलमध्यवर्ती दीप्तिमान् परमात्मा निमित्तकारणरूपसे भूः भुवः स्वः नामक महाव्याहृतिक्षयको (तथा उपलक्षणरूपसे सप्तलोकरूपी सप्तव्याहृतियोंको) उत्पन्न तथा प्रकाशित करके उपादान कारणरूपसे तद्रूप बना हुआ है, उसके उस वरणीय तेजका मैं चिन्तन करता हूँ, जो तेज हमारी बुद्धिको धर्मार्थकामोक्षमें नियोजित करता है। अब नीचे इस अर्थानुकूल प्रत्येक मन्त्र शब्दका पृथक् पृथक् विवेचन किया जाता है।

'मन्त्राणां प्रणवः सेतुः'

ओंकार समस्त मन्त्रोंका सेतु अर्थात् यथा स्थान पहुंचानेवाला है, इस सिद्धान्तके अनुसार गायत्रीके प्रथम तथा अन्तमें प्रणवोच्चारण करना आवश्यकीय है। श्रीभगवान् मनुने भी कहा है—

ब्राह्मणः प्रणवं कुर्यादादावन्ते च सर्वदा ।
क्षरत्यनोङ्कृतं पूर्वं परस्ताच्च विशीर्य्यते ॥

मन्त्रके आदि तथा अन्तमें प्रणवका उच्चारण करना चाहिये। अन्यथा आदि अन्त दोनों ही ओर प्रत्यवाय होता है। यही कारण है कि गायत्रीके आदिमें 'ॐ' कहा जाता है। तदन्तर 'भूः भुवः स्वः' रूपी व्याहृतित्रयका उच्चारण किया जाता है। व्याहृति किसको कहते हैं इस विषयमें योगि याज्ञवल्क्यमें कहा है—

भूराद्याश्चैव सत्यान्ताः सप्तव्याहृतयस्तु या ।
लोकास्त एव सप्तैते उपर्य्युपरि संस्थिताः ॥
सप्तव्याहृतयः प्रोक्ताः पुराकल्पे स्वयम्भुवा ।
ता एव सप्त छन्दांसि लोकाः सप्त प्रकीर्त्तिताः ॥

भूलोकसे सत्यलोक पर्यन्त ऊपर ऊपर सन्निविष्ट सात लोक सप्तव्याहृति कहलाते हैं। पूर्वकल्पमें ब्रह्माने इन्हें सप्त व्याहृति कहा है और ये ही सप्तछन्द भी कहलाते हैं। इनमेंसे सत्वरजस्तमोमय तथा ब्रह्मा-विष्णु-महेश्वरमय प्रथम तीन महाव्याहृति कहे जाते हैं यथा कूर्मपुराणमें—

पुराकल्पे समुत्पन्ना भूर्भुवः स्वः सनातनाः ।
महाव्याहृतयस्तिस्रः सर्वासुरनिबर्हणाः ॥

प्रधानं पुरुषः कालो ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ।
सत्त्वं रजस्तमस्तिस्रः क्रमाद् व्याहृतयः स्मृताः ॥

पूर्वकल्पमें भूः भुवः स्वः ये तीन दिव्यतेजपूर्ण महाव्याहृतियां उत्पन्न हुई थीं, जो सत्त्व-रजस्तम तथा ब्रह्मविष्णुरुद्रात्मक हैं। यही कारण है कि ये तीन महाव्याहृति कहलाते हैं और विश्वरूप परमात्मा भी इनके रूप तथा इनके उत्पादक और प्रकाशक हैं। इस प्रकारसे प्रणव और व्याहृतिका उच्चारण करके पश्चात् गायत्रीका उच्चारण किया जाता है। उसमें प्रथम 'तत् सवितुः' यह वाक्य आता है। 'तत्' का 'तस्य' अर्थ है। 'सवितुः' का 'सर्वभूतानां प्रसवितुः, यां 'सर्वभावनां प्रसवितुः' यह तात्पर्य है। योगि याज्ञवल्क्यमें लिखा है:—

सविता सर्वभूतानां सर्वभावान् प्रसूयते ।
सवनात् पावनाच्चैव सविता तेन चोच्यते ॥

सकल भूतोंके उत्पादक तथा पावनकर्त्ता होनेसे परमात्मा सविता कहलाते हैं, 'सविता' शब्दका अर्थ सूर्य भी है और गायत्रीमें तेजकी उपासना होती है, इस कारण 'सविता' शब्दसे सवितृमण्डलमध्यवर्ती परमपुरुष परमात्मा जानना चाहिये। अतः 'तत्सवितुः' 'तस्य सवितुः' का यह तात्पर्य निकला कि,—जिस परमात्माने तीन महाव्याहृतियोंको उत्पन्न किया है, जो इन्हें प्रकाशित करते हैं और स्वयं इनके रूप हैं उनका वह सविता कैसे हैं ? इसके उत्तरमें उनको 'देवस्य' कहा गया है। योगि याज्ञवल्क्यमें लिखा है:—

दीव्यते क्रीड़ते यस्मादुच्यते द्योतते दिवि ।
तस्माद्देव इति प्रोक्तः स्तूयते सर्वदैवतैः ॥

परमात्मा मायाके आश्रयसे लीला करते हैं और दीप्तिमान् हैं, इस कारण 'देव' कहलाते हैं। ऐसे दीप्तिमान् सविताके तेजका चिन्तन किया जाता है। मन्त्रमें 'तं वरेण्यं भर्गः' कहकर जो 'तं' पदका अध्याहार किया गया है उसके विषयमें योगि याज्ञवल्क्य में कहा है:—

तच्छब्देन तु यच्छब्दो बोद्धव्यः सततं बुधैः ।
उदाहृते तु यच्छब्दे तच्छब्दः स्यादुदाहृतः ॥

मन्त्रमें 'यः भर्गः' अर्थात् 'जो भर्ग' कहकर जब भर्गका निर्देश किया है, तो उसभर्गका चिन्तन करता हूँ ऐसा बतानेके लिये 'उस' अर्थमें 'तं' पदका अध्याहार करना पड़ा है। वह भर्ग कैसा है ? इसके उत्तरमें 'वरेण्यं' शब्दका प्रयोग हुआ है। योगियाज्ञवल्क्यमें कहा है:—

वरेण्यं वरणीयञ्च जन्मसंसारभीरुभिः ।
आदित्यान्तर्गतं यच्च भर्गाख्यं वै मुमुक्षुभिः
जन्ममृत्युविनाशाय दुःखस्य त्रिविधस्य च ।
ध्यानेन पुरुषो यस्तु द्रष्टव्यः सूर्यमण्डले ॥

जन्म तथा संसारभयसे भीत मुमुक्षुजनोंके लिये सूर्यमण्डलस्य परमपुरुष परमात्मा वरेण्य अर्थात् वरणीय होते हैं। जनन-मरणनिवारण तथा त्रिताप निवारणार्थ ध्यानयोगसे ये ही पुरुष द्रष्टव्य हैं। अब 'भर्ग' शब्दका अर्थ बताया जाता है। सवितृमण्डलमें जो परमात्माका दिव्यतेज है, सूर्यका प्रकाश जिस दिव्यतेजका अधिभौतिक विकाशमात्र है, उसी दिव्यतेजको भर्ग कहते हैं। यथा योगि याज्ञवल्क्यमें—

भृजिः पाके भवेद्धातुर्यस्मात् पाचयते ह्यसौ ।
भ्राजते दीप्यते यस्माज्जगच्चान्ते हरत्यपि ॥
कालाग्निरूपमास्थाय सप्तार्चिः सप्तरश्मिभिः ।
भ्राजते तत् स्वरूपेण तस्माद् भर्ग स उच्यते ॥
भेति भाजयते लोकान् रेति रञ्जयते प्रजाः ।
गईत्यागच्छतेऽजस्रं भरगो भर्ग उच्यते ॥

परमात्माका दिव्यतेज स्वयं प्रकाशमान् होकर समस्त विश्वजीवको प्रकाशित करता है, परिपाक करता है, सप्तरश्मि सूर्यरूप, धारण करके अन्तमें विश्वको लय भी करता है इसलिये इसका नाम भर्ग है। 'भर्ग' में भ, र और ग ये तीन अक्षर हैं। भ के द्वारा सप्त लोकोंका विभाग करना, र के द्वारा प्रजाओंका रञ्जन करना और ग के द्वारा प्रचुर प्रकाशमान होना, इस तरहसे भी भरग अर्थात् भर्ग कहला सकता है। गायत्री उत्पासनामें उसी दिव्यतेजका चिन्तन तथा ध्यान होता है, जो तेज जीवोंको बुद्धिको धर्म अर्थकाम मोक्षके भिन्न भिन्न मार्गमें प्रेरित करता है। यथा योगि याज्ञवल्क्यमें—

चिन्तायमो वयं भर्गं धियोयो नः प्रचोदयात् ।
धर्मार्थकाममोक्षेषु बुद्धिवृत्तीः पुनः पुनः ॥

हम उसी भर्गका चिन्तन करते हैं जो धर्मार्थकाममोक्षमें हमारी बुद्धिवृत्तिको पुनः पुनः प्रेरित करता है। यही आर्यशास्त्रके सिद्धान्तानुसार गायत्रीके प्रत्येक शब्दका तथा समग्र गायत्रीका अर्थ है।

गायत्रीकी महिमाके विषयमें मनुसंहिताके द्वितीयाध्यायमें लिखा है—

एतदक्षरमेताञ्च जपन् व्याहृतिपूर्विकाम् ।
सन्ध्ययोर्वेदविद् विप्रो वेदपुण्येन युज्यते ॥
सहस्रकृत्वस्त्वभ्यस्य बहिरेतत्त्रिकं द्विजः ।
महतोऽप्येनसो मासात् त्वचेवाहिर्विमुच्यते ॥
ओंकारपूर्विकास्तिस्रो महाव्याहृतयोऽव्ययाः ।
त्रिपदा चैव सावित्री विज्ञेयं ब्रह्मणो मुखम् ।।
योऽधीतेऽहन्यहन्येतां त्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः ।
स ब्रह्मपरमभ्येति वायुभूतः स्वमूर्त्तिमान् ॥
एकाक्षरं परं ब्रह्म प्राणायामः परं तपः ।
सावित्र्यास्तु परं नास्ति मौनात् सत्यं विशिष्यते ॥

जो वेदज्ञ विप्र दोनों सन्ध्याओंमें प्रणव तथा व्याहृतिसहित गायत्रीका जप करते हैं उनको समग्र वेदपुण्य लाभ होता है। इस प्रकार सन्ध्यातिरिक्त अन्य समयमें प्रतिदिन गायत्रीका सहस्र जप एक महीने तक करनेपर, कञ्चुकमुक्त सर्पकी तरह द्विज महान् पापसे मुक्त हो सकता है। प्रणवपूर्विका तीन महाव्याहृति और त्रिपदा गायत्री ब्रह्मप्राप्तिकी द्वारस्वरूपा तथा वेदकी मुखरूपा है। अनलस होकर तीन वर्ष तक प्रतिदिन प्रणवव्याहृति सहित गायत्री जप करनेसे परब्रह्मलाभ, वायुकी तरह यथेच्छ गति तथा आकाशकी तरह निर्लिप्तता प्राप्त हो जाती है। एकाक्षर प्रणव ही परमब्रह्म और प्राणायाम ही परमतप है, गायत्रीसे उत्तम कोई मन्त्र नहीं है और मौनसे सत्य ही विशिष्टतर है। यही आर्यशास्त्रमें वर्णित गायत्री की महिमा है।

अब प्रणव अर्थात् ॐकारकी महिमा बताई जाती है।

ॐकार-महिमा। वेदमें संक्षेपसे ब्रह्मपद वर्णन करते समय 'ॐ' रूपसे ही उस पदका वर्णन किया गया है, यथा कठोपनिषद्में—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति, तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति, तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि ॥
ॐ इत्येतत् ।

सकल वेद तथा सकल तपस्यामें लक्ष्यरूपसे जिस पदका वर्णन है और जिस पदकी इच्छा करके मुमुक्षुगण ब्रह्मचर्य्य अवलम्बन करते हैं उस पदका संक्षिप्त नाम 'ॐ' है। इसी प्रकार गीतामें भी वर्णन है—

ॐ इत्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम् ॥

एकाक्षर ब्रह्मरूप 'ॐ' का उच्चारण तथा परमात्माका चिन्तन करता हुआ जो शरीर त्याग करता है उसे परमगति प्राप्त होती है ।

तंत्रोंमें वर्णन है कि,—

अकारो विष्णुरुद्दिष्ट उकारस्तु महेश्वरः ।
मकारेणोच्यते ब्रह्मा प्रणवेन त्रयो मताः ॥

अर्थात् अकार विष्णुका वाचक, उकार महेश्वरका वाचक और मकार ब्रह्माका वाचक है । फलतः त्रिअक्षरमय ओंकार साक्षात् परमात्मा ब्रह्मका वाचक है । इसी कारण पूज्यपाद महर्षि पतञ्जलिने योगदर्शनमें आज्ञा की है कि "तज्जपस्तदर्थं भावनम्" अर्थात् श्रीभगवान्‌में और प्रणवमें तादात्म्य सम्बन्ध रहनेके कारण प्रणवका जप और उसके अर्थका विचार करते करते साधक मुक्तिपदको प्राप्त कर सकता है । महर्षियोंने वेदाङ्गरूपो शिक्षाशास्त्र द्वारा यह भलीभांति सिद्ध कर दिया है कि प्रणवमें तीनों गुणोंकी तीनों शक्तियां भरो हुई हैं, इसी कारण प्रणव ह्रस्व दीर्घ प्लुत तीनों स्वरोंकी सहायता बिना उच्चारण नहीं किया जा सकता । पुनः गान्धर्व उपवेदसम्बन्धी शिक्षाओंमें भलोभांति वर्णित है कि षड्ज आदि सातों स्वर एकमात्र ओंकारके ही अन्तर्विभाग हैं । जिस प्रकार बहिः सृष्टिमें सात दिन, सात रङ्ग, सात धातु आदि सप्त विभाग पाये जाते हैं और जिस प्रकार अन्तर राज्यमें सप्त ज्ञान-भूमिका आदि सप्त विभागोंका प्रमाण मिलता है; उसी शैलीके अनुसार एकमात्र अद्वितीय शब्दब्रह्मरूपी ओंकार षड्ज आदि सप्तस्वर विभागमें विभक्त होकर नाना शब्दराज्यको सृष्टि किया करते हैं । इसी कारण शब्दब्रह्मरूपी ओंकार सबमन्त्रोंका चालक है । तन्त्रोंमें लेख है कि "मन्त्राणां प्रणवः सेतुः" अर्थात् सब मन्त्रोंका एकमात्र प्रणव ही सेतु है; जिस प्रकार बिना सेतु (पुल) के पथ अविरोधी नहीं हो सकता उसी प्रकार बिना ओंकारकी सहायता लिये न तो मन्त्रसमूह पूर्ण बलको प्राप्त होते हैं और न वे लक्ष्यके अनुसार यथावत् काम करनेमें उपयोगी हो सकते हैं । फलतः एकमात्र प्रणव ही शब्दमय साक्षात् शब्दब्रह्म है, इसमें सन्देह नहीं मुखसे उच्चारण होने योग्य प्रणव यदि च अलौकिक प्रणवनादका प्रतिशब्द है तथापि वह केवल लौकिकसम्बन्धसे आविष्कृत नहीं हुआ है । तन्त्रोंमें यह निश्चय कर दिया गया है कि इससे उच्चारण होने योग्य ओंकारध्वनि भो अपूर्व रोतिसे आधार पद्मसे उठकर सहस्रदलस्थित पुरुषमें लय हुआ करती है ।

प्रणवकी महिमाके विषयमें पश्चिमी वैज्ञानिकोंने भी थोड़ा बहुत अनुमान किया है, यथा—

The pronunciation of sacred word ॐ is one which has engaged the attention of all Europeans devoted to Eastern studies. the vibrations set up by the same word are so powerful that if persisted in, they would bring the largest building to the ground. This seems difficult to believe until one has tried the practice; but once having tried it one can easily understand how the above statement may be true and correct perfectly. I have tested the power of the vibrations and can quite believe that the effect would be as stated. Pronounced as speli it will have a certain effect upon the student, butpronounced in its correet method, it arouses and transforms every atom in his physical body, setting up new vibration and conditions and awakening the sleeping power of the body.

(The Practical Yoga L. N. Fowler and Co. London)

आजकल आर्यशास्त्रकी चर्चा करनेवाले पश्चिमी विद्वानोंकी दृष्टि प्रणव उच्चारणकी ओर विशेषरूपसे पड़ी है। इस शब्दके 'उच्चारणसे जो स्पन्दन उत्पन्न होता है वह इतना तीव्र तथा बलवान है कि लगातार ऐसा स्पन्दन होते रहने पर बड़े बड़े मकान तक गिरा दिये जा सकते हैं। यद्यपि बिना परीक्षा किये इस बात पर विश्वास करना कठिन है, तथापि एक बार परीक्षा करनेसे ही इसकी सत्यताके विषयमें निश्चय हो जाता है। मैंने इस स्पन्दन शक्तिकी परीक्षा की है और मुझे इस विषयमें स्थिर विश्वास है। सामान्यरूपसे उच्चारण करने पर भी छात्र पर इसका कुछ प्रभाव होता है, किन्तु यथार्थ रीतिसे यदि प्रणवका उच्चारण किया जाय तो शरीरके प्रत्येक परमाणुमें परिवर्त्तन हो जाता है। उसमें नवीन स्पन्दनसे नवीन दशा हो जाती है और देहस्थित अनेक निद्रित शक्तियां जाग उठती हैं।

योगशास्त्रमें लेख है कि,—

कार्यं यत्र विभाव्यते किमपि तत् स्पदेन सव्यापकम्,
स्पन्दश्चापि तथा जगत्सु विदितः शब्दान्वयी सर्व्वदा।
सृष्टिश्चैव तथादिमाकृतिविशेषत्वादभूत् स्पन्दिनी,
शब्दश्चोदभवत्तदा प्रणव इत्योङ्कारूपः शिवः॥

अर्थात् जहाँ कुछ कार्य है वहाँ अवश्य कम्पन होना सम्भव है; जहाँ कम्पन है वहाँ अवश्य शब्द होना भी सम्भव है; फलतः सृष्टिरूपी कार्यमें साम्यावस्था प्रकृतिके सबसे प्रथम हिल्लोलकी ध्वनिका नाम शिवरूपी ओंकार है। अर्थात् प्रलयके बाद जब ईश्वरमें 'एकोऽहं बहुस्याम् प्रजायेय' मैं एकसे बहुत हो जाऊँ, सृष्टि करूँ यह संकल्प होता है तभी ब्रह्माण्डप्रकृतिमें कम्पन होता है और समस्त ब्रह्माण्डप्रकृतिको कंपाकर जो प्रथम शब्द निकलता है वही प्रणव नाद है। यह ध्वनि कैसी है इस विषयमें योगशास्त्रमें लिखा है—

"तैलधारामिवाच्छिन्नं दीर्घघंटानिनादवत्।"

अर्थात् यह प्रणव तैलधाराके समान अविछिन्न और दीर्घघण्टाके शब्दोंकी नाईं श्रुति-मधुर है एवं उसका कोई भी अङ्ग मुखसे उच्चारण नहीं किया जाता। वास्तवमें ईश्वरवाचक आदि-शब्द ओंकार योगिगणको तभी सुनाई दे सकता है कि जब वे योगयुक्त होकर साम्यावस्था प्रकृतिमें मन स्थिर कर सकें। यह ओंकारध्वनि वाच्यवाचक सम्बन्धसे अनादि और अनन्त है एवं प्रणव जो अक्षरोंसे लिखनेमें अथवा मुख द्वारा उच्चारण करनेमें आता है वह उसका प्रतिशब्द है, जिसको पूज्यपाद त्रिकालदर्शी महर्षिगणने अपनी योगयुक्त समाधिबुद्धि द्वारा वेदके आविर्भाव करनेके आदिमें संसारमें प्रकट किया है। यही ओंकार-के विज्ञानका रहस्य है।

श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्में आज्ञा है कि,—

"ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणास्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः, पुरा॥"

अर्थात् ॐतत्सत् ये तीन शब्द परमात्मा ब्रह्मके निर्देशक हैं। इन तीनोंके द्वारा ब्राह्मण, वेद और यज्ञ पुराकालमें विहित हुए हैं। यहाँ यह वैज्ञानिक रहस्य है कि ॐ, तत् और सत् ये तीनों मन्त्र ही स्वतन्त्र स्वतन्त्र भावयुक्त होकर एकमात्र परमात्मा ब्रह्मके वाचक रूपसे नियत हुए हैं। पुनः वर्णन है कि—

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।
प्रवर्त्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्॥

अर्थात् ओंकाररूपी मंत्रके द्वारा ब्रह्मवादिगणका यज्ञ, दान और तप क्रिया सर्वदा प्रवर्तित हुआ करती है।

इत्यादिरूपसे गीताशास्त्रमें प्रणवकी महिमा बताई गई है।

वेदमें प्रणवको 'उद्‌गीथ' कहा गया है, यथा छान्दोग्यमें—ॐ ईत्येतदक्षरमुद्‌गीथ-मुपासीत, ओमिती ह्युद्‌गायति तस्योपव्याख्यानम् ।' इसके भाष्यमें श्रीभगवान् शंकराचार्यने कहा है —

'ॐ इत्यारभ्य हि यस्माद् उद्‌गायति अतः उद्‌गीथ ओंकार इत्यर्थः,' प्रणवमन्त्रसे आरम्भ करके उद्‌गीथ गान होता है, इसलिये प्रणवको उद्‌गीथ कहा गया है। प्रणवगान ही भगवान्‌का गान है, प्रणव नाम ही भगवान्‌का नाम है। इसी कारण योगदर्शनमें 'तस्य वाचकः प्रणवः' इस सूत्रके द्वारा ओंकारको श्रीभगवान्‌का वाचक अर्थात् नाम कहा गया है। श्रीभगवान् भाष्यकारने लिखा है—"तस्मिन् हि प्रयुज्यमाने स प्रसीदति, प्रियनामग्रहण इव लोकः, जिस प्रकार प्रियनाम धरकर पुकारनेसे मनुष्य प्रसन्न होकर उत्तर देता है, उसी प्रकार 'ॐ' नाम धरकर पुकारनेसे श्रीभगवान् प्रसन्न होकर उत्तर देते हैं। जहाँ प्रकृतिकी लयावस्था है वहा ओंकार ब्रह्ममें विलीन है, जहां निर्गुण सत्तामें सङ्कल्पानुसार सगुण ईश्वर-भावकी सूचना है वही प्रकृतिके प्रथम स्पन्दन रूपसे ओंकारका आविर्भाव है, अतः ईश्वर-भाव ईश्वरका सङ्कल्प, प्रकृतिकी प्रवृत्ति और प्रणव विकाश ये सब समसामयिक हैं। इसी कारण वाच्य वाचक या अभिधान अभिधेय रूपसे ओंकारके साथ ईश्वरभावका विशेष सम्बन्ध है। यही कारण है कि, आर्य्यशास्त्रमें ओंकारको ईश्वरका वाचक तथा वाच्य वाचक की एकताके विचारसे दोनोंमें एकता बताई गई है।

ओंकारमें इतनी शक्ति निहित रहनेसे ही वेदादि समस्त शास्त्रोंमें ओंकारकी इतनी महिमा गाई गई है, यथा—

एषां भूतानां पृथिवी रसः पृथिव्या आपो रसः अपामोषधयो रस ओषधीनां पुरुषो रसः पुरुषस्य वाग्रसो वाच ऋग्रसः ऋचः साम रसः साम्न उद्‌गीथो रसः। स एष रसानां रसतमः परमः परार्ध्यः आत्मा यदुद्‌गीथः।

तद्यथा शंकुना सर्वाणि पर्णानि सन्तृणान्येवमोंकारेण सर्वा वाक् सन्तृणा ओंकार एवेदं सर्वम्। (छान्दोग्योपनिषत्)

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥
एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते॥ (कठोपनिषत्)
ॐकारश्चाथ शब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा।
कण्ठं भित्वा विनिर्यातौ तेन मांगलिकावुभौ॥ (स्मृति)

ओंकारं पितृरूपेण गायत्रीं मातरं तथा।
पितरौ यो न जानाति स विप्रस्त्वन्यरेतजः॥ (देवी भागवत)

आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवञ्चोत्तरारणिम्।
ध्याननिर्मथनाभ्यासाद्देवं पश्येन्निगूढ़वत्॥

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥ (श्रुति)

सकल भूतोंका सार पृथिवी है, पृथिवीका सार जल है, जलका सार ओषधि है, ओषधिका सार पुरुष है, पुरुषका सार वाक् है, वाक्का सार ऋक् है, ऋक्का सार साम है, सामका सार ॐ है। वह सारोंका सार, परम वस्तु तथा परम मूल्यवान् है।

जिस प्रकार डण्टीमें सब पत्र लगे रहते हैं, ऐसे ही प्रणवमें समस्त वाक् सम्बद्ध हैं, प्रणव ही सब कुछ है।

प्रणव ही अक्षर ब्रह्म है, प्रणव ही अक्षर परमात्मा है, इसी अक्षरके ज्ञानसे सकल अभिलाषा पूर्ण हो सकती है। यही श्रेष्ठ अवलम्बन है, यही परम अवलम्बन है, इसी अवलम्बनको जानकर साधक ब्रह्मलोकमें पूजित हो सकता है।

पुराकालमें ओंकार और अथ ये दो शब्द ब्रह्माका कण्ठ भेद करके निकले थे, इस कारण वे मङ्गलार्थक हैं।

जो ब्राह्मण ओंकारको पितृरूपसे और गायत्रीको मातृरूपसे नहीं जानता है उसका हीनजन्म समझना चाहिये।

देहो आत्माको पूर्वारणि और प्रणवको उत्तरारणि करके ध्यानरूप मथनीके अभ्याससे गूढ़ पुरुष परमात्माका साक्षात्कार हो जाता है। प्रणव धनु है, जीवात्मा शर है, परमात्मा लक्ष्य है, शरकी तरह तन्मय होकर अप्रमत्तचित्तसे लक्ष्यभेद करना चाहिये।

इस प्रकारसे ओंकारकी अलौकिक महिमा होनेके कारण प्रणव, अनन्त, तार आदि विशेष संज्ञा ओंकारको दी जाती है यथा शिवाथर्वशीर्षोपनिषद्में—

अथ कस्मादुच्यते ओंकारः यस्मादुच्चार्यमाण एव प्राणानूर्द्ध्वमुत्क्रामयति तस्मादुच्यते ओंकारः।

अथ कस्मादुच्यते प्रणवः यस्मादुच्चार्यमाण एव ऋग्यजुः सामाथर्वाङ्गिरसं ब्रह्म ब्राह्मणेभ्यः प्रणमयति नामयति च तस्मादुच्यते प्रणवः।

अथ कस्मादुच्यते सर्वव्यापी यस्मादुच्चार्यमाण एव यथा स्नेहेन पललमिण्डमिव शांतरूपमोतप्रोतमनुप्राप्तो व्यतिषक्तश्च तस्मादुच्यते सर्वव्यापी।

अथ कस्मादुच्यतेऽनन्तः यस्मादुच्चार्यमाण एव तिर्यगूर्ध्वमधस्ताच्चास्यान्तो नोपलभ्यते तस्मादुच्यतेऽनन्तः।

अथ कस्मादुच्यते तारं यस्मादुच्चर्यमाण एव गर्भजन्मव्याधिजरामरण-संसारमहाभयात्तारयति त्रायते च तस्मादुच्यते तारम्।

अथ कस्मादुच्यते शुक्लं यस्मादुच्चर्यमाण एव क्लन्दते क्लामयति च तस्मादुच्यते शुक्लम्।

अथ कस्मादुच्यते सूक्ष्मं यस्मादुच्चार्यमाण एव सूक्ष्मो भूत्वा शरीराण्यधिष्ठति सर्वाणि चाङ्गान्यभिमृश्यति तस्मादुच्यते सूक्ष्मम्।

अथ अस्मादुच्यते बैद्युतम् यस्मादुच्चार्यमाण एव व्यक्ते महति तमसि द्योतयति तस्मादुच्यते बैद्युतम्।

अथ कस्मादुच्यते परं ब्रह्म यस्मात् परमपरं परायणम् च बृहद् बृहन्या बृंहयति तस्मादुच्यते परं ब्रह्म।

ओंकार क्यों कहते हैं? उच्चारणमात्रसे ही प्राणोंको ऊपरको ओर आकर्षण करता है इसलिये ओंकार कहते हैं।

प्रणव क्यों कहते हैं? उच्चारणमात्रके ही ऋग्यजुरादि वेद ब्राह्मणोंसे प्रणाम तथा स्वीकारको प्राप्त होता है इसलिये प्रणव कहते हैं।

सर्वव्यापी क्यों कहते हैं? उच्चारणमात्रसे ही तिलचूर्णमें तेलकी तरह शान्तरूप होकर जगत्में ओतप्रोत तथा परिव्याप्त हो जाता है इसलिये सर्वव्यापी कहते हैं।

अनन्त क्यों कहते हैं? उच्चारणमात्रसे ही उद्र्ध्व अध आस-पास कहीं अन्त नहीं मिलता है इसलिये अनन्त कहते हैं।

तार क्यों कहते हैं? उच्चारणमात्रसे ही गर्भ, जन्म, व्याधि, जरा मृत्यु आदि संसार-सागरके महाभयसे तारता है इसलिये तार कहते हैं।

शुक्ल क्यों कहते हैं? उच्चारणमात्रसे ही हृदयको आर्द्र करके संसारके प्रति ग्लानि उत्पन्न करता है और शुद्ध पवित्र निर्विकार स्वरूप बना देता है इसलिये शुक्ल कहते हैं।

सूक्ष्म क्यों कहते हैं? उच्चारणमात्रसे ही सूक्ष्मरूप होकर शरीरमें स्थित हो जाता है और सकल अङ्गोंका स्पर्श करता है इसलिये सूक्ष्म कहते हैं।

वैद्युत क्यों कहते हैं? उच्चारणमात्रसे ही व्यक्त महान् अन्धकारसे बिजलीके समान प्रकाश करता है इसलिये वैद्युत कहते हैं।

परब्रह्म क्यों कहते हैं ? उच्चारणमात्रसे अपनी महत्ताके द्वारा पर-अपर ब्रह्मभावको परिपुष्ट कर देता है इसलिये परब्रह्म कहते हैं।

इस प्रकारसे आर्यशास्त्रमें महान् ओंकारके विविध नामोंकी अति गूढ़ रहस्यमय अलौकिक सार्थकता बताई गई है, जिसपर विचार तथा मनन करनेसे और उपासना द्वारा जिसका अनुभव करनेसे साधक निःसन्देह संसारसिन्धु सन्तरण कर सकता है।

श्राद्धतर्पण।

—:*:—

नित्यकर्मके अङ्गरूपसे श्राद्धतर्पणभी किया जाता है, इसलिये नित्यकर्मका वर्णन करके अब श्राद्धतर्पणका रहस्य बताया जायगा। श्राद्ध किसको कहते हैं इस विषयमें महर्षि पराशरने कहा है—

देशे काले च पात्रे च विधिना हविषा च यत्।
तिलैर्दर्भैश्च मन्त्रैश्च श्राद्धं स्याच्छ्रद्धया युतम्॥

देश काल पात्र विचारसे हविष्यादि विधिके साथ श्राद्धयुक्त होकर तिल, दर्भ मन्त्रोंकी सहायतासे जो कृत्य किया जाता है, उसका नाम श्राद्ध है। मरीचि ऋषिने भी कहा है—

प्रेतान् पितॄंश्च निर्दिश्य भोज्यं यत् प्रियमात्मनः।
श्रद्धया दीयते यत्र तच्छ्राद्धं परिकीर्त्तितम्॥

प्रेत तथा पितरोंके निमित्त अपना प्रिय भोजन श्रद्धाके साथ जिस कर्ममें दिया जाता है उसे श्राद्ध कहते हैं। इस प्रकार कृत्यका फल क्या होता है इस विषयमें मनुसंहिताके तृतीयाध्यायमें लिखा है—

यद् यद् ददाति विधिवत् सम्यक् श्रद्धासमन्वितः।
तत्तत् पितॄणां भवति परत्रानन्तमक्षयम्॥

विशेष श्रद्धासे युक्त होकर विधिके साथ नित्यनैमित्तिक पितरोंको जो कुछ दिया जाता

है इससे परलोकमें उनकी अक्षय तृप्ति होती है। श्राद्ध कृत्यके मूलमें श्रद्धा और कृतज्ञताका ही मधुर भाव है। जिन पितरोंकी कृपासे दुर्लभ मुक्तिप्रद मनुष्य देह मिला, जिनके हृदयके अमृतसे हमारा पालन पोषण हुआ, संसारका सुन्दर मुख देखनेको मिला, जिनने स्वयं कितना ही कष्ट सहकर हमें नरलोकमें उन्नत किया, उनके प्रति कृतज्ञ न होना, परलोक में उनकी प्रसन्नता, तृप्ति, शान्ति तथा आध्यात्मिक उन्नतिके लिये यथाशक्ति अनुष्ठान न करना, कमसे कम उनके आत्माको स्मरण करके एक विन्दु अश्रुपात भी न करना केवल मनुष्यभावसे अधम नहीं, बल्कि पशुभावसे भी अधमाधम महापराध है, इसमें अणुमात्र संशय नहीं है। इसीलिये आर्यशास्त्रमें सकलपापोंसे कृतघ्नताको अति अधम पाप कहा गया है। यथा—

नास्तिकस्य कृतघ्नस्य धर्मोपेक्षारतस्य च।
विश्वासघातकस्यापि निष्कृतिनैव सुव्रते॥

नास्तिक, कृतघ्न, धर्मके प्रति सदा उपेक्षापरायण और विश्वासघातक–इनके पापकी निष्कृति नहीं है। यही कारण है कि, अपनी अपनी धार्मिक स्थिति तथा अधिकार तारतम्यानुसार अन्य धर्मावलम्बियोंके भीतर भी किसी न किसी प्रकारसे श्राद्धकृत्यकी तरह अनेक कृत्य किये जाते हैं। इसाई धर्मावलम्बी,—विशेषकर कैथलिक सम्प्रदायके लोग अपने पिता, माता भ्राता, पत्नी, पति और पुत्र कन्या आदिके समाधिस्थानमें जाते हैं और कब्र या समाधिके ऊपर फूल बरसाते हैं, शोक करते हैं तथा ईश्वरके निकट मृत-व्यक्तियोंके लिये अक्षय स्वर्गकी प्रार्थना करते हैं। मुसलमानोंमें भी मृत-व्यक्तिकी समाधिके समीप ईश्वरसे प्रार्थना करना तथा कुरान पढ़ना विशेष सत्कार्य कहकर प्रशंसित है और ऐसा करना मृत-व्यक्तिकी भी सद्गतिके लिये सहायक समझा जाता है, इसी भावके आधार पर ही मुसलमान लोग कबरपर बड़े बड़े मकान बनाते हैं। बौद्धलोगोंमें चीन, जापान, ब्रह्मादि देशोंमें अत्यन्त अधिकताके साथ श्राद्धकृत्य किया जाता है। उनमें आद्य-श्राद्ध, नवमासिक श्राद्ध, वार्षिक श्राद्ध आदि अनेक प्रकारके श्राद्ध प्रचलित हैं और उनमें भूरिदान, गाना–बजाना–नाचना, विलाप कीर्त्तन आदि यथेष्टरूपसे किया जाता है। बौद्ध देशमें पितृपुरुषोंके नामपर स्थापित भवनोंकी कीर्तिका अभाव नहीं है। किन्तु बौद्धजातीय लोगोंमें कोई भी अन्य किसीको मृत-व्यक्तिका प्रतिनिधि नहीं कल्पित करता। वे जो कुछ भोजन वस्त्र आदि देते हैं, सो साक्षात् पितृपुरुषके जीवात्माको ही देते हैं। ऐसा समझकर देते हैं, जैसे वही मृत व्यक्ति साक्षात् प्रत्यक्ष हुआ है और वह जैसे कोई आज्ञा या उपदेश देगा—श्राद्धकर्त्ताको अपने मुख और नेत्रोंको ऐसी ही भावभंगी कर अत्यन्त नम्र तथा संयत रहना होता है।

इस प्रकार अन्यान्य धर्मोंके माननेवालोंके भीतर भी अपने अपने अधिकारके अनुसार कृतज्ञतासूचक श्राद्धकृत्य जैसे कृत्योंके द्वारा पितृगणके प्रसन्नता विधानकी विधियाँ देखी जाती हैं। आर्य्यजाति तथा आर्य्यशास्त्रमें अन्तर्दृष्टि और दैवदृष्टि अधिकताके कारण श्राद्धविधिमें भी व्यापकताका विशेष अवकाश रक्खा गया है। तदनुसार आर्य्यशास्त्रसम्मत श्राद्धतर्पणकृत्यमें पितरोंके तृप्तिसाधनके अतिरिक्त व्यष्टिसत्ताके साथ समष्टि सत्ताके एकीकरण विषयक अनेक विधान देखनेमें आते हैं। जब मृत्युलोक ऊपर नीचेके समस्त लोकोंके बीचमें हैं और कर्मकेन्द्रस्वरूप होनेसे इसीमें अनुष्ठित उत्तमाधम कर्मोंके फलसे स्थूल सूक्ष्म समस्त लोकोंमें जीवोंका आवागमन बना रहता है, तो स्वभावतः समस्त लोकवासी जीवोंके साथ तथा ऋषिदेवपितरोंके साथ प्रत्येक मनुष्यका आदानप्रदान सम्बन्ध है। इसी आदानप्रदान सम्बन्धको।

'परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ'

इस गीतोक्त सिद्धान्तके अनुसार मनुष्य जितना बनाये रक्खेगा, उतना ही वह इहपारलौलिक कल्याणका अधिकारी, निरामय, स्वास्थ्यवीर्यवान्, दीर्घायु, सुखी, देवकृपासम्पन्न तथा आध्यात्मिक उन्नतिपथमें अग्रसर होता रहेगा, इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है। इसी कारण ज्ञानदृष्टिसम्पन्न पूर्णप्रज्ञ महर्षियोंने श्राद्ध, तर्पण तथा पञ्चमहायज्ञादि नित्यकृत्योंमें व्यष्टि समष्टिकी एकताविधायनी विविध विधियोंका अवश्य कर्त्तव्यरूपसे निर्देश किया है। यही कारण है कि, श्राद्ध तर्पणमें नित्य नैमित्तिक पितरोंके तृप्तिसाधनके अतिरिक्त अनेक देवता, यज्ञेश्वर विष्णु, ऋषिगण, वास्तु देवता गंगा तथा अन्याय भूतोंकी तृप्तिके अर्थ भी अन्नजलादि प्रदानकी विधि है। सो कैसे है, यह क्रमशः आगे बताया जाता है।

वेदमें परलोकगत नैमित्तिक पितर तथा नित्य पितरोंका आवाहान, श्राद्धादि द्वारा उनकी सम्वर्द्धना आदिके विषयमें अनेक प्रमाण मिलते हैं। कठोपनिषद्में नाचिकेतु उपाख्यान वर्णनके अनन्तर कहा गया है:—

य इमं परमं गुह्यं श्रावयेद् ब्रह्मसंसदि।
प्रयतः श्राद्धकाले वा तदानन्त्याय कल्पते ॥

अति गूढ़ नाचिकेत उपाख्यानको ब्रह्मनिरत पुरुषोंकी सभामें तथा श्राद्ध समयमें संयत होकर सुनानेसे अनन्त फलकी प्राप्ति होती है। पिण्डोपनिषद्में लिखा है:—

देवता ऋषयः सर्वं ब्रह्माणमिदमब्रुवन् ।
मृतस्य दीयते पिण्डः कथं गृह्णन्त्यचेतसः ॥
भिन्ने पञ्चात्मके देहे गते पञ्चसु पञ्चधा ।
हंसस्त्यक्त्वा गतो देहं कस्मिन् स्थाने व्यवस्थितः ।

देवता तथा ऋषियोंने भगवान् ब्रह्मासे पूछा कि, मृतपितरोंको जो श्राद्धमें पिण्ड दिया जाता है, वे कैसे उसको ले सकते हैं और पञ्चभूतात्मक देह जब भूतपञ्चकमें मिल जाता है, तो जीवात्मा और सूक्ष्मशरीरका निवास कहां होता है। इन सब प्रमाणोंके द्वारा सिद्ध होता है कि श्राद्धकृत्य वेदानुमोदित वैदिक कृत्य है और मृत पितरोंके ही श्राद्ध होते हैं, जीवित्त पितरोंके नहीं, जैसा कि, कहीं कहीं भ्रान्तिसे कल्पना की जाती है। श्राद्धके लक्षणके विषयमें महर्षि पराशर तथा मरीचिके जो वचन उद्धृत किये गये हैं उनसे भी श्राद्धकृत्यके साथ मृत पितरोंका ही स्पष्ट सम्बन्ध प्रमाणित होता है। अथर्ववेदमें लिखा है :—

ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा ये चोद्धिताः ।
सर्वांस्तानग्न आवह पितॄन्हविषे अत्तवे ॥ (१—३४)

हे अग्ने ! जो पितर गाड़े गये, जो पड़े रह गये, जो अग्निमें जला दिये गये, और जो फेंके गये, उन सबको हविर्भक्षणके लिये बुला लाओ। यजुर्वेदके १९-६७ में लिखा है :—

ये चेह पितरो ये च नेह यांश्च विद्मयां २ ।
उ च न प्रविद्म त्वं वेत्थ यति ते जातवेदः
स्वधाभिर्यज्ञं सुकृतं जुषस्व ॥

जो पितर इस लोकमें हैं, जो इस लोकमें नहीं हैं, जिनको हम जानते हैं और जिनको नहीं जानते, हे सर्वज्ञ अग्ने ! उनको तुम जानते हो, सो आप पितरोंके अन्नसे शुभ यज्ञका सेवन करो। उसी वेदके २९-५८ में लिखा है :—

आयन्तु नः पितरस्सोम्यासोऽग्निष्वात्ताः पथिभिर्देवयानैः ।
अस्मिन् यज्ञे स्वधया मदन्तोऽधिब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान् ॥

हमारे पितर देवताओंके गमनयोग्य मार्गसे आवें, इस यज्ञमें अन्नसे प्रसन्न होकर बोलें और हमारी रक्षा करें। अथर्ववेदके १८।४।८०।७९ में लिखा है :—

स्वधा पितृभ्यः पृथिवीषद्भ्यः स्वधा पितृभ्यः ।
अन्तरिक्षषद्भ्यः स्वधाः पितृभ्यो दिविषद्भ्यः ॥

जो पितर पृथिवीमें हैं उनके लिये, जो अन्तरिक्षमें हैं उनके लिये और जो स्वर्गमें हैं उनके लिये स्वधा कव्य देता हूँ। और भी अथर्ववेदमें :—

ये अग्निदग्धा ये अनग्निदग्धा मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते ।
त्वं तान् वेत्थ यति ते जातवेदः स्वधया यज्ञं स्वधितिं जुषन्ताम् ।

जो अग्निमें दग्ध हुए और अग्निमें दग्ध नहीं हुए द्युलोकके मध्यमें अमृतरूप अन्नसे प्रसन्न हैं, हे अग्ने ! तुम उनको जानते हो, वे तुम्हारे द्वारा अन्न सेवन करें। इस प्रकारसे वेदमें पितरोंके बुलानेके प्रमाण मिलते हैं।

परलोकगत आत्माको बुलाकर उनके साथ बातचीत, उन्हें भोजनादिसे प्रसन्न करना उनसे परलोकके विषयमें अनेक प्रश्न करना, इत्यादि विषयोंमें आजकल पश्चिम देशमें भी बहुत कुछ अन्वेषण तथा उपाय उद्भावन हो चुके हैं। भिक्टर ई क्रोमर (Victor E. Cromer) साहबने भ्रिल (vril) नामक एक ओजः शक्तिका आविष्कार किया है जिसके अनेक गुणोंमेंसे यह भी एक गुण है कि —'We could get in touch with the disembodied spirits. It is possible to direct a ray of vrillic power in a concentrated form. A little time spent in concentration on the name of a deceased individual would bring him or her, into touch with us. (Kalpaka) अर्थात् ओजः शक्तिके द्वारा परलोकगत आत्माओंके साथ सम्बन्ध स्थापन किया जा सकता है। इसमें केवल एकाग्र होनेकी आवश्यकता होती है। एकाग्रताके साथ किसी मृत आत्माके ऊपर इस शक्तिका प्रयोग करते ही उसके साथ सम्बन्ध हो जाता है। इसी प्रकार Flammarion, the eminent scientist, is quoted as saying; Each of us possesses a fluid force, which I call 'psychic' and adds; 'this force survives us and when we are able through its agency to communicate with the living, (Kalpaka) फ्लेमारियन नामक प्रसिद्ध सायन्सवेत्ता का कहना है कि हम सबके भीतर एक सूक्ष्म अतीन्द्रिय शक्ति है, जो मृत्युके बाद भी हमारे साथ रहती है और इसी शक्तिकी सहायतासे मृत आत्माएं इस लोकके जीवोंके साथ बात चीत कर सकती हैं। प्रसिद्ध परलोकवादी कोनन डायल (Sir Arthur Conan Doyle) साहबने एक स्थान पर कहा है—"As for myself I have not a doubt. I have talked with several of my friend and relatives who have passed from this earthly world and I have seen, as clearly as in the life, the

materialisation of my mother and my nephew. For me it is no question of opinion that we live after death. I know it and I know also that in making this discovery we have made the greatest step forward in the history of the human race." मेरा तो इस विषयमें कोई सन्देह ही नहीं है। मैंने इहलोक छोड़ कर परलोकवासी अपने कितने ही मित्र तथा आदमियोंके साथ बातचीत की है और अपनी मृत माता तथा भतीजेको स्थूल शरीर धारण कर आते हुए देखा है। मृत्युके बाद आत्मा परलोकमें रहता है इसको मैं निश्चित रूपसे जानता हूँ और इस अपूर्व आविष्कारके द्वारा मानवजगतके इतिहासमें हम लोग बहुत कुछ आगे बढ़ गये हैं यह भी मेरा निश्चय है।

श्राद्धप्रकरणमें मनुसंहिताके तृतीयाध्यायमें लिखा है :—

ध्रियमाणे तु पितरि पूर्वेषामेव निर्वपेत्।
विप्रवद्वापि तं श्राद्धे स्वकं पितरमाशयेत्॥
पिता यस्य तु वृत्तः स्याज्जीवेद्वापि पितामहः।
पितुः स नाम सङ्कीर्त्य कीर्त्तयेत् प्रपितामहम्॥
पितामहो वा तच्छ्राद्धं भुञ्जीतेत्यब्रवीन्मनुः।
कामं वा समनुज्ञातः स्वयमेव समाचरेत्॥
तेषां दत्वा तु हस्तेषु सपवित्रं तिलोदकम्।
तत् पिण्डाग्रं प्रयच्छेत स्वधैषामस्त्विति ब्रुवन्॥
पाणिभ्यान्तूपसंगृह्य स्वयमन्नस्य वर्द्धितम्।
विप्रान्तिके पितॄन् ध्यायञ्छनकैरुपनिक्षिपेत्॥
अक्रोधनान् सुप्रसादान् वदन्त्येतान् पुरातनान्।
लोकस्याप्यायने युक्तान् श्राद्धदेवान् द्विजोत्तमान्॥
यावदुष्णं भवत्यन्नं यावदश्नन्ति वाग्यताः।
पितरस्तावदश्नन्ति यावन्नोक्ता हविर्गुणाः॥

पिताके जीवित रहनेपर पितामहादि तीन पुरुषोंका श्राद्ध करना चाहिये, अथवा पितृब्राह्मणरूपसे अपने पिताको भोजनदान और पितामह प्रपितामहको पिण्डदान कर सकते हैं। यदि पिता मृत हो ओर पितामह जीवित हो, तो पिताका श्राद्ध करके पश्चात् प्रपितामहका श्राद्ध करना चाहिये। इसमें जीवित पितामह, प्रपितामह ब्राह्मणरूपसे भोजन करेंगे, अथवा आज्ञा लेकर पौत्र स्वयं श्राद्धकर्मको करेंगे। तदनन्तर ब्राह्मणोंके हाथमें दर्भ और तिलयुक्त जल देकर पूर्वोक्त पिण्डाग्रको 'पित्रे स्वधास्तु' कहकर उन्हे समर्पण

करना चाहिये। उसके बाद दोनों हाथोसे अन्नपूर्ण पात्रको ग्रहण करके पितरोंका ध्यान करते हुए ब्राह्मणोंके समीप भोजनार्थं उस अन्नको रखना चाहिये। महर्षियोंने क्रोधहीन, सुप्रसन्न, सृष्टिप्रवाहमें पुरातन लोककल्याणनिरत द्विजोत्तम ब्राह्मणोंको ही श्राद्धकृत्यके पात्रभूत देवता करके निर्देश किया है। जबतक अन्न उष्ण रहता है, ब्राह्मणगण संयतबाक् होकर भोजन करते हैं, और अन्नका गुणावगुण नहीं कहा जाता है, तबतक पितृगत ब्राह्मण-मुखसे अन्नभोजन करते है। इन सब प्रमाणोंके द्वारा स्पष्ट सिद्ध होता है कि, मृत पितरोंके निमित्त ही श्राद्ध किया जाता है, जीवित पितरोंके निमित्त नहीं, और श्राद्धमें ब्राह्मणभोजन मुख्य कार्य है, क्योंकि ब्राह्मणोंके द्वारा ही पितृगत श्राद्धान्न ग्रहण करते हैं।

श्राद्धकृत्यके अनेक अंग होते हैं। यथा पार्वण श्राद्ध, एकोद्दिष्ट श्राद्ध, इष्टि श्राद्ध, अष्टका श्राद्ध इत्यादि।

एकोद्दिष्ट श्राद्धके विषयमें श्रीमनुजीने कहा है :—

एकमुद्दिश्य यच्छ्राद्धमेकोद्दिष्टं प्रकीर्त्तितम्।

एक पितृके उद्देश्यसे किया हुआ श्राद्ध एकोद्दिष्ट कहलाता है। पार्वण श्राद्धमें त.न पितरोंके अर्थात् पिता, पितामह, प्रपितामहके श्राद्ध होते हैं। यथा :—

"त्रीमुद्दिश्य तु यच्छ्राद्धं पार्वणं मुनयो विदुः"

यज्ञारम्भमें करणीय श्राद्ध इष्टिश्राद्ध कहलाता है। पौष वदी अष्टमी, माघ वदी अष्टमी और फाल्गुन बदी अष्टमीमें करणीय श्राद्धको अष्टकाश्राद्ध कहते हैं।

शास्त्रमें श्राद्धकालके विषयमें बहुत सुछ विचार किया गया है। इसमें पितरोंका निवासस्थान तथा पितृसोकका कालप्रमाण ही मुख्य कारण है। शास्त्रमें लिखा है—'विधू-दध्द्र्ध्वलोके पितरो वसन्ति' पितृगण चन्द्रमण्डलके उद्ध्वंभागमें वसते हैं। चन्द्रलोक जलमय है, इस कारण पितृगणके निवासस्थानके विषयमें श्रीमद्भागवतके ५म स्कन्धमें कहा है :—

'उपरिष्ठाच्च जलाद् यस्यामग्निष्बात्तादयः पितृगणा निवसन्ति।'

जलमय लोकके ऊद्ध्वंदेशमें अग्निष्वात्तादि पितृगण निवास करते हैं। अथर्ववेदके १८।२।४८ में लिखा है :—

उदन्वती द्यौरवमा पीलुमतीति मध्यमा तृतीया ह प्रद्यौरिति यस्यां पितर आसते।

आकाशकी पहिली कक्षा अवमा है, वह उदन्वती अर्थात् उदकवाली है। मध्य-कक्षा पीलुमती अर्थात् परमाणुवाली है। तृतीय कक्षा प्रद्यौ अर्थात् प्रकाशवाली है, जिसमें पितर लोग रहते हैं।

चन्द्रमण्डलमें रहनेके कारण हमारा एक महीना पितृलोकका एक दिन है। इसी विचारके अनुसार हम लोगोंकी अमावस्या पितृलोका मध्याह्न है और इसी कारण अमावस्या तिथि, उसके आसपास की तिथियां तथा अपराह्नकाल ही पितृभोजन देनेका अर्थात् श्राद्ध करनेका मुख्यकालरूपसे निर्दिष्ट हुआ है। यथा मनुसंहितामें :—

कृष्णपक्षे दशम्यादौ वर्जयित्वा चतुर्दशीम्।
श्राद्धे प्रशस्तास्तिथयो यथैता न तथेतराः॥
युक्षु कुर्वन् दिनर्क्षेषु सर्वान् कामान् समश्नुते।
अयुक्ष तु पितृन् सर्वान् प्रजां प्राप्नोति पुष्कलाम्॥
यथा चैवापरः पक्षः पूर्वपक्षाद् विशिष्यते।
तथा श्राद्धस्य पूर्वाह्लदपराह्लो विशिष्यते॥

चतुर्दशीको छोड़कर कृष्णपक्षकी दशमीसे अमावस्यापर्यन्त तिथियां श्राद्धकार्यमें जितनी प्रशस्त हैं, इतनी प्रतिपदादि तिथियां नहीं हैं। द्वितीया चतुर्थी आदि युग्मतिथि तथा भरणी रोहिणी आदि युग्मनक्षत्रमें श्राद्ध करनेसे सब कामना सिद्ध होती है और तृतीया पञ्चमी आदि अयुग्मतिथि तथा अश्विनी कृत्तिकादि अयुग्म नक्षत्रमें श्राद्ध करनेसे उत्तम सन्तति प्राप्त होती है। श्राद्धके लिये शुक्लपक्षसे कृष्णपक्ष जिस प्रकार विशेष फलदायक है, उसी प्रकार पूर्वाह्लसे अपराह्ल भी विशेष फलदायक है। शतपथ २।४।२८ में :—

पूर्वाह्लो वै देवानां मध्यंदिनो मनुष्याणाम्।
अपराह्लः पितृणाँ तस्मादपराह्ले ददति॥

देवताओंका पूर्वाह्ल, मनुष्योंका मध्याह्ल और पितरोंका अपराह्ल है, इसलिये अपराह्लमें श्राद्ध करना चाहिये। गरुड़ पुराणमें भी लिखा है :—

अमावास्यादिने प्राप्ते गृहद्वारे समाश्रिताः।
वायुभूताः पवाञ्छन्ति श्राद्धं पितृगणा नृणाम्॥
यावदस्तगतं भानोः क्षुत्पिपासासमाकुलाः।
ततश्चास्तं गते सूर्ये निराशा दुःखसंयुता॥

निःश्वसंतश्चिरं यान्ति गर्हयन्तः स्ववंशजम् ।
तस्माच्छ्राद्धं प्रयत्नेन अमायां कर्त्तुमर्हति ।।

अमावस्याके प्राप्त होनेपर पितर वायुरूप होकर श्राद्धकी अभिलाषासे घरके द्वारपर रहते है। जबतक सूर्य अस्त नहीं होता, तबतक क्षुत्पिपासासे व्याकुल होकर ठहरते हैं। परन्तु सूर्यास्त हो जानेपर निराशासे दुःखी होकर और अपने वंशजोंको शाप देते हुए पीछे चले जाते हैं। इसलिये अमावस्यामें अवश्यमेव श्राद्ध करना चाहिये ।

ऊपर वर्णित नित्य नैमित्तिक पितरोंकी सम्वर्द्धनाके अतिरिक्त श्राद्धकृत्यका एक विशेष फल यह है कि, इसके द्वारा प्रेतयोनिप्राप्त जीवोंका प्रेतत्व नाश होता है। मृत्युके समय किस प्रकारसे काममोहादि भावके द्वारा सूक्ष्म शरीरके आच्छन्न होनेसे अथवा अपघातमृत्यु या अकस्मात् मृत्यु आदिके द्वारा जीवको प्रेतयोनि प्राप्त होती है और उस योनिमें क्या क्या क्लेश जीवको भोगना पड़ता है, इसका प्रचुर वर्णन 'परलोक और पुनर्जन्म' नामक प्रबन्धमें किया जायगा। प्रेतत्व प्राप्ति सूक्ष्मशरीरका एक प्रकार मूर्च्छावस्था होनेके कारण जिस प्रकार किसी मूर्छित व्यक्तिका मूर्छाभंग ओषधि आदिकी शक्तिके द्वारा किया जाता है, उसी प्रकार प्रेतका भी प्रेतत्व नाश मनःशक्ति, मन्त्रशक्ति और द्रव्यशक्ति नामक त्रिविध शक्तियोंके यथाविधि प्रयोग द्वारा ही किया जाता है, सो किस प्रकारसे, यह क्रमशः नीचे बताया जायगा।

मृत्युके समय सूक्ष्म शरीरके विशेष दुर्बल तथा मूर्छाभावापन्न हो जानेके कारण मृत्युके अनन्तर समस्त अवयवोंमें परलोकगत आत्माका सहसा क्रियाशक्तिका उदय नहीं होता है और अङ्ग प्रत्यङ्गकी पूर्ति भी शीघ्र नहीं हुआ करती है। इसलिये विशेष श्राद्धकृत्यसे पहिले दश दिनोतक अङ्ग प्रत्यङ्गपूर्तिपसे दश पूरकपिण्ड देनेकी विधि है, यथा अथर्ववेदीय पिण्डोपनिषद्में :—

प्रथमेन तु पिण्डेन कलानां तस्य सम्भवः ।
द्वितीयेन तु पिण्डेन मांसत्वकशोणितोद्भवः ।
तृतीयेन तु पिण्डेन मतिस्तस्याभिजायते ।
चतुर्थेन तु पिण्डेन अस्थिमज्जा प्रजायते ।
पञ्चमेन तु पिण्डेन हस्तांगुल्यः शिरोमुखम् ।
षष्ठेन तु पिण्डेन हृत्कण्ठं तालु जायते ।
सप्तमेन तु पिण्डेन दीर्घमायुः प्रजायते ।
अष्टमेन तु पिण्डेन वाचं पुष्यति वीर्यवान् ।

नवमेन तु पिण्डेन सर्वेन्द्रियसमाहृतिः ।
दशमेन तु पिण्डेन भावानां प्लवनं तथा ।
पिण्डे पिण्डे शरीरस्य पिण्डदानेन सम्भवः ॥

प्रथम पिण्डसे कलाविकाश, द्वितीय पिण्डसे मांस त्वचा शोणितकी उत्पत्ति, तृतीय पिण्डसे मति, चतुर्थ पिंडसे अस्थिमज्जा, पञ्चम पिण्डसे हस्त, अंगुलि, शिर और मुख, षष्ठ पिण्डसे हृदय, कण्ठ तालु, सप्तम पिण्डसे आयु, अष्टम पिण्डसे वाक्, नवम पिण्डसे समस्त इन्द्रियां दशम पिण्डसे नाना भावोंका विकाश होता है। इस प्रकारसे प्रत्येक पूरक पिण्डदान द्वारा अङ्ग प्रत्यङ्गकी पूर्ति तथा श्राद्धकृत्यमें मन, द्रव्यके साथ अधिदैव सम्बन्ध करनेकी योग्यता परलोकगत आत्माकी हो जाती है। इसीके बाद मनःशक्ति मन्त्रशक्ति और द्रव्यशक्तिके प्रयोगात्मक क्रियाओंका विधान किया गया है।

शास्त्रमें मनकी शक्ति अति असाधारण करके वर्णित की गई है। मन ही समस्त संसारका उत्पत्ति, स्थिति, प्रलयकर्त्ता है।

उपषिद्में कहा है :—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं मनः ॥

मन ही मनुष्योंके बन्धन तथा मोक्षका कारण है। विषयासक्त मनसे बन्धन तथा निर्विषय मनसे मोक्षलाभ होता है। मनके ही बलसे भक्तगण भगवान् तकके दर्शन कर लेते है। योगी मनके ही बलसे दूसरेको वशी .त तथा कठिन कठिन रोगोंको भी आराम कर देते हैं। मनुष्यकी बात ही क्या, जङ्गलके वृहदाकार अजगर सर्पको चलनेका शक्तिसे रहित होने पर भी मनके ही बलसे निरन्तर चिन्ता द्वारा मृग आदि आहार्य वस्तुओंको आकर्षण करते हुए देखा गया है। श्राद्धमें प्रेतात्मापर इसी मनःशक्तिका प्रयोग होता है। प्रथमतः अशौचके दिनोंमें संयम, ब्रह्मचर्यरक्षा, स्पृश्यास्पृश्यविचार, सदाचारपालन आदिके द्वारा मनमें यथेष्ट बल संचय किया जाता है। तदनन्तर चिन्ता शक्तिके द्वारा--'आयन्तु नः पितरः' इत्यादि भावसे परलोकगत आत्मीयजनोंको श्राद्ध-स्थानमें बुलाया जाता है। यह बात विज्ञानसिद्ध है कि, जहांपर आत्मा तथा मनका स्वाभाविक मेल है, वहां एक मनकी चिन्ताका तरंग अनायास ही अन्य मनपर घात प्रतिघात उत्पन्न कर सकता है। एक घरमें नाना प्रकारके वाद्य यन्त्र एक सुर मिलाकर रख दीजिये, एकके बजानेसे बाकी सब यन्त्र सजीवकी तरह बिना बजाये स्वयं ही बजने लगते हैं।

क्योंकि सुर मिले रहनेसे एकका कम्पन वायुतरंग द्वारा वाहित होकर अन्य यन्त्रोंपर भी प्रभाव विस्तार कर देता है। जब जड़ यन्त्रोंमें इतनी शक्ति है, तो चेतन मनकी बात ही क्या है। इस विषयमें भिक्टर डूबो (Victor Du Bois) साहबने बड़ा अच्छा कहा है, यथा—

Mental suggestions are reproduced in the ether, like wireless messages. They occasionally reach other mind and influence them, when the voice cannot be heard and the external organs fail to receive verbal suggestions form any causes such as inattention, deafness or blindness. Distance is no barrier, if one soul is attuned to another. One need not be in the presence of a person to use suggestion in this way.

(The Law of Suggestion—Kalpaka)

मानसिक प्रेरणा बेतार खबरकी तरह 'इथर' मार्गसे दूसरेके मनपर प्रभाव डालती है। जहाँ पर शब्दकी सुनाई न हो, अमनोयोग, बहरापन, या अन्धेपनके कारण बाहिरी इन्द्रियोंको भी सहायता प्राप्त न हो, वहां भी इसका प्रभाव टूटता नहीं है। यदि आत्माका मेल रहे तो स्थान कितनी ही दूर हो उससे बाधा नहीं होती है। और इस प्रकार प्रेरणाके लिये जिस पर प्रेरणा की जाय; उसके पास रहनेकी भी आवश्यकता नहीं होती है। शास्त्रमें 'आत्मा वै जायतेः पुत्रः' 'आत्मा वै पुत्रनामासि' इत्यादि प्रमाणों के द्वारा पुत्रको पिताका आत्मा ही कहा गया है। उसमें भी ज्येष्ठ पुत्र धर्मज पुत्र होनेसे पिता माताके साथ उसका विशेष स्वाभाविक सम्बन्ध है। इस प्रकार पुत्र जब अशौचावस्थामें मनःशक्ति विशेषरूपसे सम्पादन करके परलोकगत पिता-मातादिका चिन्तन तथा आवाहन करेगा, तो उससे परलोकगत आत्माको अवश्य हो विशेष लाभ पहुंचेगा, इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है। इस विषयमें भी पश्चिमी पण्डितोंने अनुकूल अनुभव किया है यथा—

Asked as to how a real scientist like him could belive in ghosts Sir Oliver Lodge pointed out that mental force can make dead matter move as it directs and can also work upon the mental force of another; living or dead and one mind can send thought waves to another no matter how many miles separate the two, And thus it is also, that a mind—without any material body, such as the surviving spirit of a dead person, cau talk to the mind of a person who still has a living body. (Kalpaka). इतने बड़े सायन्सके जाननेवाले होकर प्रेतयोनि पर कैसे विश्वास करते हैं, अलिभार लजको ऐसा पूछनेपर उन्होंने उत्तर दिया कि मनकी शक्तिसे जड़वस्तु भी हिलायी जा सकती है। और मृत या जीवित किसी भी मनुष्यके मन पर प्रभाव डाला जा

सकता है। चाहे कितनी ही दूरपर हो चिन्ताका तरङ्ग एक मनसे दूसरे मनपर जा सकता है और इसी प्रकारसे एक मृतव्यक्तिका मन एक जीवित व्यक्तिके मनके साथ सम्बन्ध स्थापन, बार्त्तालाप आदि कर सकता है। यही कारण है कि, श्राद्धमें कुटुम्बभोजन तथा निकटस्थ सद्ब्राह्मणभोजनकी विधि है। यथा —

सम्बन्धिनस्तथा सर्वान् दौहित्रं विट्पतिन्तथा।
भागिनेयं विशेषेण तथा बन्धून् गृहाधिपान्॥
यस्त्वासन्नमतिक्रम्य ब्राह्मणं पतितादृते।
दूरस्थं भोजयेन्मूढो गुणाढ्यं नरकं व्रजेत्॥

सब कुटुम्बी विशेषकर दौहित्र, भगिनीपति, भागिनेय और गृहस्वामीके बन्धुवर्ग— ये ही सब श्राद्धभोजनमें निमन्त्रण देनेके लिये प्रशस्त हैं। जो निकटस्थ उत्तम ब्राह्मणको छोड़कर दूरस्थ ब्राह्मणको भोजन कराता है, वह नरकगामी होता है। इसी कारण मनुने भी अपनी संहिताके तृतीयाध्यायमें कहा है—

कामं श्राद्धेऽर्चयेन्मित्रं नाभिरूपमपि त्वरिम्।
द्विषता हि हविर्भुक्तं भवति प्रेत्य निष्फलम्॥

श्राद्धमें प्रयोजन होनेपर मित्रभोजन भी अच्छा है, किन्तु विद्वान् होनेपर भी शत्रुभोजन श्राद्धमें कभी नहीं कराना चाहिये, क्योंकि शत्रुके साथ मानसिक मेल न होनेके कारण उससे परलोकगत आत्माका कोई कल्याण नहीं होता है।

कुटुम्बभोजनकी तरह ब्राह्मण-भोजनकी जो बड़ी महिमा श्राद्धकृत्यके अङ्गरूपसे आर्यशास्त्रमें बताई गई है, उसके भी मूलमें मनःशक्ति प्रदानका ही रहस्य भरा हुआ है। मनुसंहिताके तृतीयाध्यायमें लिखा है—

निमन्त्रितान् तु पितर उपतिष्ठन्ति तान् द्विजान्।
वायुवच्चानुगच्छन्ति तथाऽऽसीनानुपासते॥

परलोकगत पितर या आत्मा निमन्त्रित ब्राह्मणोंके शरीरोंमें वायुशरीर धारण करके समाविष्ट होते हैं, इनका अनुगमन करते हैं तथा इनके बैठनेपर बैठते हैं। इस प्रकारसे ब्राह्मणोंके साथ ब्राह्मणोंके द्वारा परलोकगत आत्माका श्राद्धकालमें भोजन भी मनुने बताया है। वेदमें भी—

इममोदनं निदधे ब्राह्मणेषु विष्टारिणं लोकजितं स्वर्गम्।
स मे माक्षेष्ट स्वधया पिन्वमानो विश्वरूपा धेनुः कामदुघा मे अस्तु॥ ४-३४-८

इस अन्नको मैं ब्राह्मणोंके समीप रखता हूँ, यह विस्तृत है, लोकजित् है, स्वर्गमें पहुंचनेवाला है। जलके द्वारा वृद्धिंगत यह अन्न मुझे कामधेनुतुल्य फल दे। पद्मपुराण सृष्टिखण्ड अ० ३३ में स्पष्ट ही लिखा है कि, भगवान् रामचन्द्र जब पिता दशरथका श्राद्ध करके ब्राह्मणभोजन करा रहे थे, तो सीतामाता ब्राह्मणोंके साथ श्वशुर दशरथको देखकर लज्जिता हो छिप गई थीं।

'पिता तव मया दृष्टो ब्राह्मणाङ्गेषु राघव'

इसलिये यह बात निश्चय है कि, श्राद्धभोजी ब्राह्मण यदि तपस्वी और संयमी होंगे तभी प्रेतनिमित्त उत्सर्ग किए हुए श्राद्धान्नको पचा सकेंगे और भोजनपरितृप्त होकर आशीर्वाद तथा मन्त्रशक्ति और तपःशक्ति प्रदान द्वारा परलोकगत आत्माका कल्याण कर सकेंगे। अन्यथा असंयमी ब्राह्मणको श्राद्धमें भोजन देनेसे पितर आ प्रेतका तो कोई कल्याण होता ही नहीं, अधिकन्तु प्रेतसमावेश द्वारा श्राद्धभोजी अधम ब्राह्मणकी और भी अधोगति होती है। इसी कारण श्रीभगवान् मनुने बार बार अपनी संहिताके तृतीयाध्यायमें लिखा है। यथा—

श्रोत्रियायैव देयानि हव्यकव्यानि दातृभिः।
अर्हत्तमाय विप्राय तस्मै दत्तं महाफलम्॥
एकैकमपि विद्वांसं दैवे पित्र्ये च भोजयेत्।
पुष्कलं फलमाप्नोति नामन्त्रज्ञान् बहूनपि॥
सहस्रं हि सहस्राणामनृचां यत्र भुञ्जते।
एकस्तान् मन्त्रवित् प्रीतः सर्वानर्हति धर्मतः॥

पूज्यतम श्रोत्रिय ब्राह्मणोंको ही हव्यकव्य प्रदान करना चाहिये। क्योंकि इनको देनेसे ही महाफललाभ होता है। दैव या पितृकर्ममें इस प्रकार एक विद्वान्‌को भोजन करानेपर भी यथेष्ट फल लाभ होता है, किन्तु वेदज्ञानहीन अनेक ब्राह्मणोंको भोजन करानेपर भी कुछ फल नहीं मिलता है। वेदज्ञानहीन दश लक्ष ब्राह्मण जिस श्राद्धमें भोजन करें वहाँ यदि वेदज्ञ एक ब्राह्मण भी भोजन द्वारा तृप्त किया जाय तो धर्मतः एकसे दश लक्षका काम हो जाता है। चन्द्रलोकवासी पितरोंके साथ मानसिक क्रियाओंका विशेष सम्बन्ध स्वतः सिद्ध है। वेदमें भी 'चन्द्रमा मनसो जातः' इस मन्त्रके द्वारा विराट मनके साथ चन्द्रलोकका नैसर्गिक सम्बन्ध बताया गया है। समस्त व्यष्टि मन समष्टि मनका ही अंशरूप होनेसे श्राद्धकालमें व्यष्टि मनमें उत्पन्न भावतरंग समष्टि मनःसमुद्र भी हिल्लोलउत्पन्न करके सुदूर सूक्ष्मलोकमें पितरोंके मनपर प्रभाव विस्तार कर सकेगा,

इसमें वैज्ञानिक दृष्टिसे कुछ भी सन्देह नहीं रह सकता है। अतः श्राद्धकृत्यमें मनःशक्ति प्रयोग विज्ञानसिद्ध है। गृहस्थोंको तरह संसारत्यागी संन्यासी भी मनोबल तथा आत्मबल द्वारा अपने वंशज पितरोंका कल्याण करते है और उनकी आध्यात्मिक उन्नतिमें विशेष सहायता करते हैं। किन्तु उनके मन तथा आत्मामें विशेष शक्ति होनेके कारण उन्हें गृहस्थोंकी तरह स्थूल श्राद्धविधियोंका आश्रय लेना नहीं पड़ता है। वे मृत पितरोंको स्मरण करके मनोबल तथा आत्मबल द्वारा सूक्ष्मरूपसे ही सब कुछ कर देते हैं। यही कारण है कि, शास्त्रमें वर्णन देखनेमें आता है कि, जिस वंशमें एक साधुपुत्र उत्पन्न होता है, उसके आगे पीछे चतुर्दश पुरुष या इक्कीस पुरुष उद्धारको पा जाते हैं। यथा—श्रीमद्भागवतमें प्रह्लादके प्रति नृसिंह भगवान्का वाक्य है :--

त्रिसप्तभिः पिता पूतः पितृभिः सह तेऽनघ !
यत् साधोऽस्य कुले जातो भवान् वै कुलपावनः ॥

हे प्रह्लाद ! केवल तुम्हारा पिता ही नहीं, किन्तु इक्कीस पुरुषतक तुम्हारे वंशके पितृगणका उद्धार हो जायगा, जहांपर तुम जैसे साधुपुत्र उत्पन्न हुए हो। यही सब श्राद्धमें मनःशक्तिका प्रभाव है।

मनःशक्तिकी तरह मन्त्रशक्तिके द्वारा भी परलोकगत आत्माओंको विशेष शान्ति तथा उन्नतिमें सहायता मिलती है और प्रेतोंका प्रेतत्वनाश भी मन्त्रबलसे विशेषरूपसे होता है। मन्त्र क्या वस्तु है, दैवराज्यके साथ मन्त्रोंका क्या सम्बन्ध है, आदिमन्त्र प्रणवसे प्राकृतिक क्रमस्पन्दन द्वारा अन्यान्य समस्त मन्त्रोंका किस प्रकारसे विकाश होता है, इसका यथेष्ट वर्णन और किसी प्रबन्धमें किया जायगा संसारमें शब्दकी महिमा अपार है। शब्दहीके उपयोग-तारतम्यसे शत्रु भी मित्र होते हैं और मित्र भी शत्रु हो जाते हैं, लक्षलक्ष मनुष्योंपर बिजलीकी तरह शक्तिसंचार तथा प्रभावविस्तार हो जाता है, मनुष्य प्राणदेनेके लिये तैयार हो जाते हैं, और प्राण लेनेके लिये भी तैयार हो जाते हैं, बनके मृग भी व्याधकी वीणाके शब्दके द्वारा वशीभूत होकर प्राण दे देते हैं और कालसर्प भी डमरूके शब्द प्रभावसे ही वशीभूत हो जाता है। अतः जब स्थूल शब्दका ही इतना प्रत्यक्ष प्रभाव है तो सूक्ष्म दिव्यशब्दरूप मन्त्रोंका असाधारण प्रभाव होगा, इसमें सन्देह ही क्या हो सकता है, क्योंकि वस्तु जितनी सूक्ष्म होती है, उसकी शक्ति भी उतनी ही बढ़ जाया करती है। स्थूल वस्तु पाञ्चभौतिक स्थूल शरीरकी अपेक्षा सूक्ष्मतत्त्वके परिणामरूप सूक्ष्म शरीर तथा मनका विलक्षण ही प्रभाव है। इसी विज्ञानपर ही प्रतिष्ठित होकर अणुविश्लेषण (dilution) द्वारा होमियोपैथिक चिकित्साशास्त्रमें भिन्न भिन्न शक्तिकी

औषधि बनाई जाती है और यह भी विद्वान् जगत्‌ने आजकल प्रमाणित कर दिखाया है कि, जबतक अणु अणुसे मिला रहता है, तभीतक उनमें स्वाभाविक शक्तिका ठीक विकाश नहीं होता नहीं तो पृथक् पृथक् एक एक अणुमें समस्त संसारके भीतर प्रलय मचा देनेकी शक्ति विद्यमान है। अतः विचार द्वारा सिद्धान्त हुआ कि, स्थूल शब्दकी अपेक्षा दिव्य शब्दमन्त्रोंके भीतर अधिक तथा असाधारण शक्ति विद्यमान है। इस कारण श्राद्धमें इन मन्त्रोंको श्राद्धकर्त्ता संयत होकर परलोकगत आत्माओंपर जितना ही प्रयोग करेंगे उतना ही उनकी प्रेतत्वमुक्ति अथवा आध्यात्मिक उन्नति या शान्तिके लाभमें सुविधा होगी—इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं। शास्त्रमें 'मंत्राणां प्रणवः सेतुः' अर्थात् प्रणवको सब मन्त्रोंका चालक कहा गया है। इसलिये प्रणवके साथ अन्यान्य मन्त्रोंका उच्चारण करनेसे प्रणव उन मन्त्रोंको चालित करके जहांपर जिस लोकमें परलोकगत आत्मा विराजमान हैं वहीं ले जाकर अभीष्ट फल प्रदान करानेसे सहायता कर देगा, इसमें भी संशय नहीं है वर्तमान समयमें तो भौतिक सायन्सने भी शब्दशक्तिके व्यापकरूप धारण करनेको प्रत्यक्षरूपसे सिद्ध कर दिया है। रेडियो यन्त्रके द्वारा एक ही समयमें सहस्रोंकोश दूरका शब्द उसी समय ज्योंका त्यों सुनाई देने लगता है। अतः जब शब्द एकक्षणमें दूरसे दूर स्थानमें ज्योंका त्यों सुनाई देता है तो उससे भी सूक्ष्म शब्दशक्ति तत्काल लोक लोकान्तरमें अपना कार्य करेगी इसमें सन्देह ही क्या है। यही श्राद्धमें मन्त्रशक्ति प्रयोगका उपयोग तथा रहस्य है। इस प्रकारसे मन्त्रकी दिव्यशक्तिके प्रयोगके साथ साथ और भी अनेक दिव्य शक्तिकी सहायता श्राद्धकृत्यमें परलोकगत आत्माको पहुंचाई जाती है। मनुसंहिताके तृतीयाध्यायमें लिखा है—

स्वाध्यायं श्रावयेत् पित्र्ये धर्मशास्त्राणि चैव हि।
आख्यानानीतिहासांश्च पुराणान्यखिलानि च॥

अर्थात् श्राद्धकालमें ब्राह्मणोंको वेद, धर्मशास्त्र, आख्यान, इतिहास, पुराण तथा श्रीसूक्तादि सुनाने चाहिये। और भी—

'ब्रह्मोद्याश्च कथाः कुर्यात् पितॄणामेतदीप्सितम्'

ब्राह्मणभोजनके समय आध्यात्मिक अलाप पितरोंको प्रीतिप्रद होता है। इसके सिवाय कठोपनिषत्‌का प्रमाण पहिले ही दिया जा चुका है कि, नाचिकेताकी कथा श्राद्धकालमें सुनानेसे परलोकगत आत्माकी उन्नति होती है। यही सब श्राद्धकृत्यमें दिव्य शक्ति यथा आध्यात्मिक शक्तिके द्वारा पितर तथा प्रेतात्माको पहुंचानेके उपाय हैं। श्राद्धमें तीर्थ, गया, गङ्गा और गदाधरकी बड़ी महिमा बताई गई है। काशीखण्डमें लिखा है—

अकालेऽप्यथवा काले तीर्थे श्राद्धं च तर्पणम् ।
अविलम्बेन कर्त्तव्यं नैव विघ्नं समाचरेत् ॥

कालका विचार कुछ भी न करके तीर्थमें श्राद्ध तर्पण करना चाहिये। महर्षि हारीतने कहा है—

दिवायां यदि वा रात्रौ भुङ्क्ते चोपोषितोऽपि वा ।
न कालनियमस्तत्र गङ्गां प्राप्य सरिद्वराम् ॥

दिन हो या रात्री हो, भोजन किये हुये हो या उपवासी हो, प्रधान नदी गङ्गाको पानेसे कोई भी कालनियम नहीं रखना चाहिये। और भी—

'गयां प्रसंगतो गत्वा मातुः श्राद्धं समाचरेत्

गया जानेपर अन्यान्य श्राद्धके अतिरिक्त मातृश्राद्धको अवश्य ही करना चाहिये। मत्स्यपुराणमें लिखा है—

एषु तीर्थेषु यच्छ्राद्धं तत् कोटिगुणमिष्यते ।
यस्मात्तस्मात् प्रयत्नेन तीर्थे श्राद्धं समाचरेत् ॥

तीर्थोंमें श्राद्ध करनेसे कोटिगुण फल लाभ होता है। इस कारण यत्नके साथ तीर्थमें श्राद्ध अवश्य ही करना चाहिये। नित्य तीर्थोंमें दिव्य शक्तिका नित्य विकाश है, नैमित्तिक तीर्थोंमें दैवशक्तिका नैमित्तिक विकाश है, गया धाममें पौराणिक प्रमाणके अनुसार गयासुरके सम्बन्धसे प्रेतादिकल्याणकारी अति दिव्य शक्तिका सदैव विकाश है, गंगा माता अलौकिक ज्ञानशक्ति तथा दिव्य शक्तिधारिणी हैं, विष्णु भगवान् यज्ञेश्वर होनेसे सकल देवकर्मोंमें सफलता देनेवाले हैं। यही कारण है, कि शास्त्रोंमें परलोकगत पितरोंको शान्ति, उन्नति तथा दिव्य शक्ति और आध्यात्मिक शक्ति प्रदानके लिये तीर्थ, गया, गंगा और गदाधरकी विशेष शरण लेनेकी आज्ञा की गई है। यही सब श्राद्धकृत्यमें मन्त्रशक्ति तथा दिव्यशक्ति द्वारा सहायता देनेके दृष्टान्त हैं।

तृतीयतः द्रव्यशक्ति द्वारा भी प्रेतात्मा तथा पितरोंको बहुत कुछ सहायता मिलती है। संसारमें द्रव्यशक्तिकी भी महिमा मन्त्रशक्तिकी तरह अपूर्व है। प्रत्येक द्रव्यके ही भीतर जीवनदानकारी रासायनिक संमिश्रण द्वारा वैद्युतिक शक्ति देखी जाती है। उन सब द्रव्योंके रासायनिक संमिश्रण द्वारा वैद्युतिकशक्तिको प्रकट करके तार द्वारा संवाद भेजना, पंखा चलाना, प्रकाश कर देना, गाड़ी चलाना आदि प्रक्रिया तो आजकल वैज्ञानिक जगत्की विशेष सम्पत्ति ही बन बैठी है। किन्तु पूज्यपाद महर्षियोंने अपनी ज्ञानशक्ति द्वारा विशेष

द्रव्योंके भीतर स्थूल शक्तिके अतिरिक्त कुछ सूक्ष्मशक्तिका भी अनुभव किया था और तदनुसार उन शक्तियोंकी सहायतासे पितृलोक, प्रेतलोक और देवलोकसे दैवसम्बन्ध स्थापन कैसे हो सकता है सो भी बताया था। इस प्रकार द्रव्यान्तर्गत सूक्ष्मशक्तिके प्रभावसे पर-लोकगत आत्माओंको श्राद्धस्थानमें आकर्षण, उन्हें तृप्ति प्रदान, सहायता प्रदान, प्रेतयोनि प्राप्तजीवोंका प्रेतत्वनाश आदि अनायास ही हो सकता है। और इसी कारण मन्वादि धर्मशास्त्रोंमें इनके प्रयोगका तथा विशेष विधियों द्वारा इनके परस्पर संमिश्रणका प्रकार बताया गया है। श्राद्धसे कुश, तिल, आदिकी विशेष महिमा तो पहिले ही बताई गई है। इसके सिवाय ताम्र, रौप्य आदि विद्युत शक्तिमय धातुओंकी भी विशेष प्रशंसा की गई है। यथा मनुसंहिताके तृतीयाध्यायमें—

राजतैर्भाजनैरेषामथवा राजतान्वितैः।
वार्य्यपि श्रद्धया दत्तमक्षयायोपकल्पते ॥

रौप्यमय पात्र अथवा रौप्ययुक्त ताम्रादि पात्रमें पितरोंको श्रद्धापूर्वक जलदान करने पर भी वह उनकी अक्षयतृप्तिका कारण होता है। द्रव्यशक्ति तथा मन्त्रशक्तिके विषयमें भी पश्चिमियोंमें आजकल बहुत कुछ अन्वेषण करना प्रारम्भ कर दिया है। आर्टि में ब्लाकबर्न (Artic Mae Blackburn) साहबने इस विषयमें निम्नलिखित बातें कही हैं। "Each of the seven metals is the imporisoned or precipitated forces or quality which emanates from one of the seven planets".

"Through the living force of the nature elementals associated with them, there are innumerable occult uses to which the seven metals may be put. Cures may be effected and disease created by the use or misuse of metals which possess at once life-giving or death-dealing qualities."

"Jewels are positive in force and have inherent qualities of there own. Metals, on the other hand, are more or less negative. Silver, particularly coming under the rulership of Luna is passive and there fore becomes a perfect medium for the transmission of influence with which it may be associated by chance or intentionally charged."

"Students of occultism can thus readily see how a water elemental by natural sympathy may be attracted and attached to silver and by inherent antipathy made to repel fire elementals, depending upon the strength of the thought forms attached to the talisman."

"Talismans amulats, colors, numbers and harmonious name vibrations are legitimate weapons of defenee, forces of protection and power and are rendered well-nigh irresistible when reinforeed by a life of rectitude and selflessness, devoted to the advancement of the race and attuned to the key note of universal Love."

(The Alchemy of Precious Stones—Kalpaka)

सात धातुओंमें से प्रत्येक में ही ग्रहोंसे प्राप्त विशेष शक्ति निहित है। प्राकृतिक पञ्चभूतोंकी शक्तिका सहारा मिलनेपर इन धातुओंके द्वारा सूक्ष्म जगत्के अनेक काम लिये जा सकते हैं। इनमें जोवन देने तथा जीवन लेनेको भी शक्ति है, इसलिये इनके यथार्थ प्रयोगसे रोग आराम हो सकता है और खराब प्रयोगसे जोवोंमें रोग उत्पन्न भी कर दिया जा सकता है। रत्नामें पजिटिभ अर्थात् समशक्ति होती है और इनमें प्रत्येकमें अपनी अपनी शक्तियां होती हैं। धातुओंमें कम या अधिक नेगेटिभ अर्थात् विषमशक्ति है। चन्द्रग्रहके अधिन होनेसे चांदी निष्क्रिय अर्थात् पैसिभ होती हैं, इस कारण कहीं शक्ति पहुंचाना हो तो चाँदीके द्वारा उत्तम रीतिसे हो सकता है। परलोकविद्या या सूक्ष्मविद्याके जाननेवाले इसीसे विचार कर सकते हैं कि जल और चाँदीको शक्ति एक साथ मिलाई जाय और उसमें इच्छा शक्तिकी प्रेरणा की जाय तो वह अग्निकी शक्तिको हटा सकती है। यन्त्र, वर्ण, संख्या, मन्त्र इन सबका प्रयोग रक्षाके लिये किया जाता है और निःस्वार्थ तथा उत्तम मनुष्यके द्वारा प्रयोग किये जानेपर इनकी शक्तिसे अवश्य ही उत्तम कार्य हो जाते हैं। खाद्य पदार्थोंके विषयमें देशकाल पात्र भेदसे आमिषका भी कहीं कहीं प्रयोग देखा जाता है।

यथा अथर्ववेद १८।४।४२ में—

यं ते मंथं यमोदनं यन्मांसं निपृणामि ते।
ते ते सन्तु स्वधावन्तो मधुमन्तो घृतच्युतः॥

इस मन्त्रमें फल, अन्न और मांस किसी एकके द्वारा अपनी रुची अनुसार श्राद्ध करना बताया है। 'यदन्नः पुरुषो लोके तदन्नास्तस्य देवताः' इसी कारण वेद तथा मनुमें ऐसा विधान है। तथापि निरामिषकी ही सबसे अधिक महिमा बताई गई है। यथा—

यत् किञ्चिन्मधुना मिश्रं प्रदद्यात्तु त्रयोदशीम्।
तदप्यक्षयमेव स्याद् वर्षासु च मघासु च॥

अपि नः स कुले जायाद् यो नो दद्यात् त्रयोदशीम् ।
पायसं मधुसर्पिभ्यां प्राक्छाये कुञ्जरस्य च ॥

वर्षाकालमें जब मघानक्षत्रके साथ एकादशीका योग हो, उस दिन पितरोंको मधुमिश्रित अन्न प्रदान करनेपर वह उनकी अक्षय तृप्तिका कारण होता है। पितृगण प्रार्थना करते हैं कि उनके वंशमें कौन ऐसा कुलभूषण उत्पन्न होगा, जो मघात्रयोदशिका या जिस समय हस्तोकी छाया पूर्व दिशाको आवे, उस समय उनको घृत मधुमिश्रित पायसान्न द्वारा परितृप्त करें। इस प्रकारसे आर्य्यशास्त्रोंमें द्रव्यशक्तिकी पितृलोकतृप्ति-कारणी परममहिमा बताई गई है। यही अर्य्यशास्त्रनुसार प्रेतत्वनाश तथा पितरोंको तृप्ति और उन्नतिके अर्थ मनः शक्ति और द्रव्यशक्तिका विविध विधिके अनुसार प्रयोग-रहस्य है।

अब यह प्रश्न हो सकता है कि, इस प्रकार श्राद्धान्न दानका उपयोग तभी तक होना चहिये, जबतक परलोकगत आत्मा मृत्युलोकमें पुनर्जन्म न हो गया हो। किन्तु जन्म हो जाने पर इन अन्नोंका क्या उपयोग है और ये सब अन्न उनको प्राप्त कैसे हो सकते हैं? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि, श्राद्ध सङ्कल्प-प्रधान तथा मनःशक्ति प्रधान होनेसे सूक्ष्म-जगत्में सङ्कल्पशक्ति द्वारा पितरोंकी तृप्ति और जन्म हो जानेपर भी उसी जन्ममें आध्यात्मिकादि उन्नतिका कारण बनता है। इस विषयमें हेमाद्रिमें उत्तम प्रमाण मिलता है। यथा—

देवो यदि पिता जातः शुभकर्मानुयोगतः ।
तस्यान्नममृतं भूत्वा देवत्वेऽप्यनुगच्छति ॥
गान्धर्वे भोगरूपेण पशुत्वे च तृणं भवेत् ।
श्राद्धान्नं वायुरूपेण नागत्वेऽप्यनुगच्छति ॥
पानं भवति यक्षत्वे राक्षसत्वे तथामिषम् ।
दानवत्वे तथा मांसं प्रेतत्वे रुधिरोदकम् ॥
मानुषत्वेऽन्नपानादिनानाभोगरसो भवेत् ॥

पिताने यदि शुभ कर्मके द्वारा देवयोनिको प्राप्त किया है, तो उनके निमित्त दिया हुआ श्राद्धान्न अमृतरूप होकर उन्हें मिलेगा। इसी प्रकार गन्धर्वयोनिमें भोगरूपसे, पशुयोनिमें तृणरूपसे, नागयोनिमें वायुरूपसे, यक्षयोनिमें मद्यरूपसे, राक्षसयोनिमें आमिषरूपसे, दानव-योनिमें मांसरूपसे, प्रेतयोनिमें रुधिररूपसे और मनुष्ययोनिमें अन्नादि विविध भोज्यरूपसे श्राद्धान्न प्राप्त होता है। इन प्रमाणोंसे सिद्ध हुआ कि, सङ्कल्पित पदार्थ तथा सङ्कल्पशक्तिके

द्वारा सभी योनियोंमें जीवोंको शान्ति तथा उन्नति मिल सकतो है। वास्तवमें प्रत्येक जन्मको उन्नति या अवनतिके साथ निजकृत कर्मसम्बन्धके अतिरिक्त जन्मजन्मान्तरलब्ध आत्मीय जनोंकी सङ्कल्पशक्ति, आशीर्वादशक्ति तथा क्रियाशक्तिका भी बहुत कुछ सम्बन्ध विद्यमान है, जिसको सूक्ष्मदर्शी महात्मागण ही जानकर तत्त्वनिर्णय कर सकते हैं। अतः इन सब रहस्यपूर्ण विषयोंमें शंका करना निरर्थक है।

पहिले ही कहा गया है कि, श्राद्धकृत्यमें नित्य नैमित्तिक पितरोंकी तृप्तिसाधनके अतिरिक्त समस्त संसारकी तृप्तिसाधन द्वारा व्यष्टि समष्टि सत्ताके एकीकरणके लिये भी अनेक अनुष्ठान किये जाते हैं। अब उपसंहारमें उन्हीं सब अनुष्ठानोंके प्रमाणभूत कुछ श्लोक उद्धृत किये जाते हैं। पिण्डदानप्रकरणके अन्तर्गत षोड़श पिण्डदान प्रयोगमें जो जो मन्त्र पितरोंके आवाहन तथा सम्बर्द्धनके लिये कहे जाते हैं, उन सबोंमें यह उदार व्यापक भाव भरा हुआ है। इसमें प्रथमतः बिछाये हुए कुशाके ऊपर तिलयुक्त जलके द्वारा पितरोंका आवाहन किया जाता है। यथा :—

ॐ अस्मत्कुले मृता ये च गतिर्येषां न विद्यते।
आवाहयिष्ये तान् सर्वान् दर्भपृष्ठे तिलोदकैः॥
ॐ मातामहकुले ये च गतिर्येषां न विद्यते।
आवाहयिष्ये तान् सर्वान् दर्भपृष्ठे तिलोदकैः॥
ॐ बन्धुवर्गकुले ये च गतिर्येषां न विद्यते।
आवाहयिष्ये तान् सर्वान् दर्भपृष्ठे तिलोदकैः॥

इस प्रकारसे अपने कुल, मातामह कुल, बन्धुवर्गके कुलमें जिनको सग्दति नहीं हुई है, उन पितरोंका आवाहन किया जाता है। तदनन्तर तिलसहित जलाञ्जलि लेकर नीचेके मन्त्रसे कुशापर देना होता है। यथा :—

ओं आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं देवर्षिपितृमानवाः।
तृप्यन्तु पितरः सर्वे मातृमातामहादयः॥
अतीतकुलकोटीनां सप्तद्वीपनिवासिनाम्।
आब्रह्मभुवनाल्लोकादिदमस्तु तिलोदकम्॥

इस मन्त्रोंमें समस्त विश्व तथा उसमें अवस्थित देव, मानवादि सकल योनियोंके जीवोंको तृप्तिके अर्थ प्रार्थना की गई है।

अतः आर्य्यशास्त्रविहित श्राद्धकृत्य एक सर्वाङ्गीण मंगलमय अति पवित्र तथा महान्

कृत्य है इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं रहा। इस कृत्यके द्वारा नियमितरूपसे सम्बर्द्धित होनेपर पितृगण प्रसन्न होकर गृहस्थोंको क्या क्या देते हैं, इस विषयमें मार्कण्डेयपुराणमें लिखा है, यथा :—

आयुः प्रजां धनं विद्यां स्वर्गं मोक्षं सुखानि च।
प्रयच्छन्ति तथा राज्यं पितरः श्राद्धतर्पिताः॥ (३२।३८)

श्राद्धतृप्त पितृगण श्राद्धकर्ताको दीघायु, सन्तति, धन, विद्या, सुख, राज्य, स्वर्ग, और मोक्षप्रदान करते हैं। महर्षि याज्ञवल्क्यने भी कहा है :—

आयुः प्रजां धनं विद्यां स्वर्गं मोक्षं सुखानि च।
प्रयच्छन्ति तथा राज्यं नृणां प्रीताः पितामहाः॥ (२७०)

अतः गृहस्थमात्रको इस प्रकार अभ्युदयनिःश्रेयस सहायक पवित्रकृत्यका नियमित अनुष्ठान करना अवश्य कर्तव्य है। यही आर्य्यशास्त्रविहित श्राद्धकृत्यका संक्षिप्त रहस्यवर्णन है। अतःपरं नीचे तर्पणकी संक्षिप्त विधि बताई जायगी।

'पितृयज्ञस्तु तर्पणम्'

ऐसा कहकर श्रीभगवान् मनुने पितरोंकी तृप्तिके अर्थ मन्त्रसहित जलादि प्रदानको ही तर्पण कहा है। तथापि जिस प्रकार श्राद्धमें भी देवताओंका आवाहन पूजन होता है, उसी प्रकार तर्पणमें भी देवता ऋषि और पितर तीनोंके ही निमित्त तर्पण किये जाते हैं। यथा शातातप :—

तर्पणन्तु शुचिः कुर्यात् प्रत्यहं स्नातको द्विजः।
देवेभ्यश्च ऋषिभ्यश्च पितृभ्यश्च यथाक्रमम्॥

शुचिताके साथ प्रत्यह स्नातक द्विजको तथाक्रम देवता, ऋषि और पितरोंका तर्पण करना चाहिये।

विशेषतस्तु जाह्नव्यां सर्वदा तर्पयेत् पितॄन्।
न कालनियमस्तत्र क्रियते सर्वकर्मसु॥
तिथितीर्थविशेषे च गयायां पितृपक्षके।
निषिद्धेऽपि दिने कुर्यात्तर्पणं तिलमिश्रितम्॥

विशेषतः गङ्गामें सर्वदा पितरोंका तर्पण करना चाहिये। उसमें कालका नियम नहीं है। विशेष तिथिमें, विशेष तीर्थमें, पितृपक्ष आनेपर गयामें निषिद्ध दिनमें भी तिलमिश्रित तर्पण करना चाहिये। अब आगे संक्षेपसे तर्पणोंको विधियां बताई जाती हैं।

तर्पण करनेवाला स्नान संध्या आदिसे निवृत्त हो, दो वस्त्र धारणकर, मृत्तिका या भस्म लगा तीन आचमन या प्राणायामके अनन्तर कुश तथा जल लेकर—

अमुकगोत्रोऽमुकशर्माहं वेववोधितपञ्चमहायज्ञान्तर्गत-
देवर्षिपितृतर्पणं करिष्ये।

इस प्रकारसे संकल्प करे। फिर पवित्र मोटक हाथमें लेकर हाथ जोड़ नीचे लिखे मन्त्रसे देवताओंका आवाहन करे। यथा—

ॐ विश्वेदेवास आगत शृणुता म इमं हवम्। इदं वर्हिर्निषीदत।

अनन्तर एक तांबेके पात्रमें पूर्वाग्र कुश धर, पूर्वाभिमुख हो देवतीर्थसे चावलसहित जलकी प्रत्येक मन्त्रके अन्तमें एक एक अंजलि छोड़ता जाय।

ॐ ब्रह्म तृप्यताम्, ॐ विष्णुस्तृप्यताम्, ॐ रुद्रस्तृप्यताम्, ॐ प्रजापतिस्तृप्यताम्, ॐ देवास्तृप्यन्ताम्, ॐ छन्दांसि तृप्यन्ताम्, ॐ वेदास्तृप्यन्ताम्, ॐ पर्वतास्तृप्यन्ताम्, ॐ ओषधयस्तृप्यन्ताम्, ॐ भूतग्रामश्चतुर्विधस्तृप्यताम्,।

अनन्तर हाथ जोड़ कर उत्तराभिमुख बैठ नीचे लिखे मन्त्रसे ऋषियोंका आवाहन करे।

ॐ सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्।
सप्तापः स्वपतो लोकमीयु तत्र जाग्रतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ॥

फिर यज्ञोपवितको कण्ठमें कर जलमें यव मिला एक एक ऋषिको दो दो अंजली अगले मन्त्रोंसे उत्तरको मुख कर देवे। यथा—

ॐ सनकस्तृप्यताम्, ॐ सनन्दनस्तृप्यताम् ॐ सनातनस्तृप्यताम्, ॐ कपिलस्तृप्यताम्, ॐ आसुरिस्तृप्यताम्, ॐ वोढुस्तृप्यताम्, ॐ पञ्चशिखस्तृप्यताम्।

फिर अपसव्य हो अर्थात् यज्ञोपवीतको दक्षिण स्कन्धके ऊपर तथा वाम बाहुको नीचे करके दक्षिणाभिमुख हो निम्नलिखित मन्त्रसे पितरोंका आवाहन करे। यथा:—

आयन्तु नः पितरः सोम्यासोऽग्निष्वात्ताः पथिभिर्देवयानैः। अस्मिन् यज्ञे स्वधया मदन्तोऽधिब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान्॥

तदनन्तर जलमें तिल मिला पितरोंको तीन तीन अंजलि देवे। यथा:—

ॐ कव्यवाड़नलस्तृप्ताम्, ॐ सोमपास्तृप्यन्ताम् ॐ यमस्तृप्यताम्, ॐ अर्यमा तृप्यताम्, ॐ अग्निष्वात्ताः पितरस्तृप्यन्ताम्, ॐ सोमपाः पितरस्तृप्यन्ताम्,

ॐ बर्हिषदः पितरस्तृप्यन्ताम्, ॐ यमाय नमः, ॐ धर्मराजाय नमः ॐ मृत्यवे नमः, ॐ अन्तकाय नमः, ॐ वैवस्वताय नमः ॐ कालाय नमः, ॐ सर्वभूतक्षयाय नमः, ॐ औदुम्बराय नमः, ॐ दध्नाय नमः, ॐ नीलाय नमः, ॐ परमेष्ठिने नमः, ॐ वृकोदराय नम, ॐ चित्राय नमः ॐ चित्रगुप्ताय नमः ।

ॐ अद्य अमुकगोत्रः अमुकशर्मा पिता तृप्यतामिदं जलं सतिलं तस्मै स्वधा नमः ।

ॐ अद्य अमुकगोत्रः अमुकशर्मा पितामहस्तृप्यतामिदं जलं सतिलं तस्मै स्वधा नमः ।

ॐ अद्य अमुकगोत्रः अमुकशर्मा प्रपितामहः तृप्यतामिदं जलं सतिलं तस्मै स्वधा नमः ।

अनन्तर ऊपर लिखित रीतिके अनुसार माता पितामही और प्रपितामहीको तीन तीन अंजलि देवे ।

अनन्तर तीन तीन अंजलि मातामह, प्रमातामह, तथा वृद्ध प्रमातामहको देवे और मातामही, प्रमातामही, वृद्धप्रमातामहीको एक एक अंजलि देवे, उसमें मातामह, प्रमातामह, वृद्धप्रमातामहके अंजलिदानमें एक बार मन्त्र पढ़े दो बार वाक्यमात्र पढे ।

इसके अनन्तर और सम्बन्धियोंको जिनको जलदान करना उचित हो, उनका गोत्र और नाम लेकर एक एक अंजलि देनी चाहिए। यह सब कृत्य हो जानेपर स्नानवस्त्रको बाम भागमें—

ये के चास्मत्कुले जाता अपुत्रा गोत्रिणो मृताः ।
ते गृह्णन्तु मया दत्तं वस्त्रनिष्पीड़नोदकम् ।।

इस मन्त्रसे निचोड़ कर, सव्य हो, आचमन करके चन्दन अक्षत पुष्प जलमें मिलाकर अर्घपात्रमें या अंजलिमें ले :—

ॐ नमो विवस्वते ब्रह्मन् भास्वते विष्णुतेजसे ।
जगत्सवित्रे शुचये सवित्रे कर्मदायिने ।।

इस मन्त्रसे सूर्य्यनारायणको अर्घ देकर तीन प्रदक्षिणा और नमस्कार करके :—

'ॐ देवा गातु विदो गातुं वित्वा गातुमितः'

इस मन्त्रसे विसर्जन करना होता है। यही कात्यायनप्रोक्त तर्पण विधि है ।

जिस प्रकार श्राद्धकृत्यके भीतर व्यापक भाव भरा हुआ है, उसी प्रकार तर्पणमें विश्वतृप्तिका अमोघ सम्बन्ध देखनेमें आता है इस कारण अपने निकटस्थ तथा दूरस्थ आत्मीयोंके तर्पणके अनन्तर निम्नलिखित नामसे भी तर्पण किये जाते हैं। यथा :—

देवाः सुरास्तथा यक्षा नागा गन्धर्वराक्षसाः।
पिशाचा गुह्यकाःसिद्धाः कुष्माण्डास्तरवः खगाः॥
जलेचरा भूमिमया वायुधाराश्च जन्तवः।
प्रीतिमेते प्रयान्त्वाशु मद्दत्तेनाम्बुनाखिलाः॥

इस मन्त्रके द्वारा पूर्वमुख होकर देवता, यक्ष, नाग, गन्धर्व, राक्षस, पिशाच, गुह्यक, सिद्ध, कुष्माण्ड, तरु, पक्षी तथा जलचर, व्योमचर सभी जीवोंकी तृप्तिके लिये एक एक अञ्जलि जल देनेकी आज्ञा की गई है। तदनन्तर—

नरकेषु समस्तेषु यातनासु च ये स्थिताः।
तेषामाप्यायनायैतद् दीयते सलिलं मया॥

इस मन्त्रसे दक्षिणाभिमुख होकर नरकस्थ समस्त जीवोंकी तृप्तिके लिये एक एक अञ्जलि जल दिया जाता है। तदनन्तर—

येऽवान्धवा वान्धवा वा येऽन्यजन्मनि वान्धवाः।
ते तृप्तिमखिलां यान्तु यश्चास्मत्तोऽम्बु वाञ्छति॥

इस मन्त्रसे अवान्धव, वान्धव, जन्मान्तरके वान्धव तथा हरएक जल चाहनेवालेको तृप्तिके लिये एक एक अञ्जलि जल दिया जाता है। आदित्यपुराणमें अवसानाञ्जलिरूपसे भी दो मन्त्र कहे गये हैं। यथा—

यत्र क्वचन संस्थानां क्षुत्तृषोपहतत्मनाम्।
तेषां हि दत्तमक्षय्यमिदमस्तु तिलोदकम्॥
ये मे कुले लुप्तपिण्डाः पुत्रदारविवर्जिताः।
तेषां तु दत्तमक्षय्यमिदमस्तु तिलोदकम्॥

यह अञ्जलि जहां कहीं कोई क्षुधा तृष्णासे पीड़ित जीव हो तथा अपने ही कुलमें लुप्तपिण्ड पुत्रदारवर्जित हो उसकी अक्षय तृप्तिके लिये दी जाती है। अवसानाञ्जलिके अन्तमें पितामह भीष्मदेवके लिये भी तर्पण किया जाता है। यथाः—

वैयाघ्रपदगोत्राय सांकृत्यप्रवराय च।

गङ्गापुत्राय भीष्माय प्रदास्येऽहं तिलोदकम् ॥
अपुत्राय ददाम्येतज्जलं भीष्माय वर्मणे ॥

भीष्मदेवने नैष्ठिक ब्रह्मचारी होनेके कारण प्रजातन्तुका विस्तार नहीं किया था, इस कारण उनके नप्तारूप संसारके सभी जीव उनकी तृप्तिके लिये तर्पण करते हैं, यही सब विस्तारित तर्पणविधि है। जो इसके करनेमें असमर्थ हो. उसके लिये निम्नलिखित मन्त्रोंसे संक्षिप्त तर्पणविधि भी आर्यशास्त्रमें बताई गई है। यथा :—

आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं देवर्षिपितृमानवाः।
तृप्यन्तु पितरः सर्वे मातृमातामहादयः॥
अतीतकुलकोटीनां सप्तद्वीपनिवासिनाम्।
आब्रह्मभुवनाल्लोकादिदमस्तु तिलोदकम्॥
एकं जलाञ्जलिं दद्यात्कुर्यात् संक्षिप्ततर्पणम्॥

और भी विष्णुपुराणमें :—

आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं जगत्तृप्यत्विति ब्रुवन्।
क्षिपेत्पयोऽञ्जलींस्त्रींस्तु कुर्यात् संक्षिप्ततर्पणम्॥

इस मन्त्रसे आब्रह्मस्तम्बपर्यन्त समस्त विश्वके निखिल प्राणियोंकी तृप्तिके लिये एक अञ्जलि या तीन अञ्जलि जल देनेकी आज्ञा की गई है। यही संक्षिप्त तर्पण है। इन सब तर्पणोंका फल क्या है सो भी शास्त्रमें लिखा है यथा :—

एवं यः सर्वभूतानि तर्पयेदन्वहं द्विजः।
स गच्छेत्परमं स्थानं तेजोमूर्तिमनामयम्॥

सकल जीवोंकी तृप्तिके लिये नित्य नियमितरूपसे जो तर्पण करते हैं उनको अनामय, तेजोमय, परमधाम प्राप्त होता है। यही आर्यशास्त्रविहित श्राद्ध तथा तर्पणका वैज्ञानिक रहस्य वर्णन है।

षोड़श संस्कार

—:※:—

पश्चिम देशके प्रसिद्ध वैज्ञानिक तथा दार्शनिक विद्वान् हर्बर्ट स्पेन्सर साहबने अङ्गरेजी Chance (चान्स = बिना कारण अकस्मात् होना) शब्दके विषयमें कहा है :—

"Chance cannot be the subject of the theory, because there is really no such thing as chance regarded as producing and governing events. The word chance signifies falling Latin cado to fall). Chance then exists not in nature and cannot co-exist with knowledge; it is merely an expression as Laplace remarked, for our ignorance of the causes in action and our consequent inability to predict the result or to bring it about infallibly. In nature the happening of an event has been predetermined from the first fashioning of the universe."

(The Principles of Science p. 198)

आकस्मिकता विचारका विषय नहीं हो सकता है क्योंकि किसी घटनाकी उत्पत्ति या सञ्चालनके मूलमें आकस्मिकताका कोई स्थान नहीं है। लाटिन भाषाके अनुसार चान्स या आकस्मिकताका अर्थ 'पतन' है। प्रकृति राज्यमें चान्सका कोई अस्तित्व नही है, ज्ञान और चान्स यह दोनों एक साथ रह भी नहीं सकते। जैसा कि लेप्लेस साहबने कहा है हम 'चान्स' शब्दका प्रयोग तभी करते हैं जब कि किसी कार्यके कारणके विषयमें हमें अज्ञता रहती है और इसीसे उसके फलके विषयमें भी हम अनुमान नहीं कर सकते। अन्यथा विश्वरचनाके प्रारम्भसे ही प्रकृतिराज्यमें घटना घटनेके कारण निर्दिष्ट हो चुकते हैं। आर्यशास्त्रका ठीक यही सिद्धान्त है। हम बिना कारण किसी कार्यका होना नहीं मानते। बल्कि कैसे उत्तम कारणका आश्रय लेनेपर अत्युत्तम कार्य हो सकता है यह हम सर्वथा सिद्ध कर देनेको तैयार हैं। संसारमें शिल्पकलाकी सहायतासे जिस प्रकार भिन्न भिन्न जातियाँ अत्युत्तम सामग्री तैयार कर लेती हैं, उसी प्रकार वैदिक प्रक्रियाओंके द्वारा मनुष्यको पूर्ण मनुष्य, उत्तम मनुष्य, उत्तम विभूति सम्पन्न स्त्री पुरुष बना देनेका अधिकार आर्यशास्त्र रखताहै। इन्हीं अधिकारोंमेंसे एक अधिकारका नाम षोड़श संस्कार है।

आर्यशास्त्रमें संस्कारोंकी बड़ी महिमा बताई गई है। षोड़श कलापुष्ट चन्द्रदेवकी पूर्णताके सदृश षोड़ष संस्कार द्वारा पूर्णता लाभ करके जीव जीवत्व छोड़ ब्रह्मत्व पदपर प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकता है। शास्त्रमे लिखा है:—

चित्रं क्रमाद् यथानेकैरंगैरुन्मील्यते शनैः।
ब्राह्मण्यमपि तद्वत्स्यात् संस्कारैर्विधिपूर्वकैः॥

लेखनीके बार फेरनेसे जिस प्रकार चित्र सर्वाङ्ग सम्पूर्ण होता है, उसी प्रकार विधिपूर्वक संस्कारोंके अनुष्ठान द्वारा ब्राह्मणगुण विकसित होता है। श्रीभगवान् मनुने कहा है :—

वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम्।
कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च॥
गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौडमौञ्जीनिबन्धनैः।
बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते॥
स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः॥ (अध्याय २)

वेदोक्त गर्भाधानादि पुण्यकर्म द्वारा द्विजगणका शरीरसंस्कार करना चाहिये, जो कि इहलोक तथा परलोकमें पवित्रकारी है। गर्भसमयके तीनों संस्कारोंमें तथा जातकर्म, चूड़ाकर्म और उपनयनादि संस्कारोंमें अनुष्ठित होमोंसे बीज तथा गर्भवासजन्य प्राप्त अपवित्रता नष्ट हो जाती है और वेदमन्त्रोंके प्रभावसे अन्तःकरणमें शुभ संस्कारोंका उदय होता है। वेदारम्भ संस्कार द्वारा प्राप्त वेदोंके स्वाध्याय, व्रत तथा होमोंसे, त्रयी विद्याके ज्ञानसे योगानुष्ठानसे, विवाह द्वारा सन्तानोत्पत्तिसे और पञ्च महायज्ञ तथा अग्निष्टोमादि यज्ञोंसे द्विजशरीर ब्रह्मप्राप्तियोग्य बनाया जाता है। इस प्रकारके संस्कारोंका साधारण फल मन्वादि स्मृतिकारोंने वताया है। इनके पृथक् पृथक् फल स्मृतिसंग्रहमें विशेष रूपसे बताये गये हैं। यथा :—

निषेकाद् बैजिकं चैनो गार्भिकञ्चापमृज्यते।
क्षेत्रसंस्कारसिद्धिश्च गर्भाधानफलं स्मृतम्॥
गर्भाद् भवेच्च पुंसूतेः पुंस्त्वस्य प्रतिपादनम्।
निषेकफलवज्ज्ञेयं फलं सीमन्तकर्मणः॥
गर्भाम्बुपानजो दोषो जातात् सर्वोऽपि नश्यति।
आयुर्वर्चोऽभिवृद्धिश्च सिद्धिर्व्यवहृतेस्तथा॥
नामकर्मफलं त्वेतत् समुद्दिष्टं मनीषिभिः।

सूर्यावलोकनादायुरभिवृद्धिर्भवेद् ध्रुवा ॥
निष्क्रमादायुः श्रीवृद्धिरप्युद्दिष्टा मनीषिभिः ।
अन्नाशनान्मातृगर्भमलाशादपि शुध्यति ॥
बलायुर्वर्चोवृद्धिश्च चूड़ाकर्मफलं स्मृतम् ।
उपनीतेः फलं त्वेतद् द्विजतासिद्धिपूर्विका ॥
वेदाधीत्यधिकारस्य सिद्धिः ऋषिभीरोरिता ।
पत्न्या सहाग्निहोत्रादि तस्य स्वर्गः फलं स्फुटम् ॥
ब्रह्माद्युद्वाहसम्भूतः पितॄणां तारकः सुतः ।
विवाहस्य फलं त्वेतद् व्याख्यातं परमर्षिभिः ॥

गर्भाधान संस्कारसे वीज तथा गर्भसम्बन्धीय समस्त मलिनता नष्ट हो जाती हैं और क्षेत्ररूपी स्त्रीका संस्कार भी इसका फल है। गर्भके अनन्तर कन्याशरीर न बनकर पुत्र शरीर बनना पुंसवन संस्कारका फल है। सीमन्तोन्नयन और गर्भाधानका फल एक ही प्रकार है। गर्भमें माताके आहार रसके पीनेका सब दोष जातकर्म संस्कारसे नष्ट हो जाता है। आयु तथा तेजकी वृद्धि और नाम व्यवहारकी सिद्धि नामकरण संस्कारका फल है। निष्क्रमणमें सूर्यनारायणका समन्त्रक दर्शन करानेसे आयुकी वृद्धिहोती है और इस संस्कार द्वारा आयु तथा लक्ष्मीकी भी वृद्धि मानी गई है। माताके गर्भमें मलिनताभक्षणका जो दोष लगता है वह अन्नप्राशनद्वारा शुद्ध हो जाता है। बल, आयु और तेजकी वृद्धि होना चूड़ाकर्म संस्कारका फल है। द्विजत्वसिद्धिपूर्वक वेदाध्ययनका अधिकारी होना उपनयनका फल है। विवाहके अनन्तर सपत्नीक अग्निहोत्रादि अनुष्ठान द्वारा स्वर्गलाभ होता है और ब्रह्मादि उत्तम विवाहके फलसे सुपुत्र उत्पन्न होकर पितरोंका त्राण करता है, यह सब विवाहका फल है। इस प्रकारसे आर्यशास्त्रमें संस्कारोंकी परममहिमा बताई गई।

संस्कारोंके इन सब फलोंको प्रधानतः तीन भागोंमें विभक्त कर सकते हैं यथा— दोषमार्जन, अतिशयाधान और हीनाङ्गपूर्ति। किसी मलिन प्राकृतिक वस्तुको संस्कृत करनेके लिये इन तीन उपायोंकी आवश्यकता होती है। दृष्टान्तरूपसे खानसे निकले हुए लोहे पर विचार किया जा सकता है। खानसे निकला हुआ लोहा अति मलिन होता है। यदि उससे तलवार बनानी हो तो प्रथमतः उसका 'दोषमार्जन' अर्थात् उसे साफ करना होता है। तदनन्तर उसको आगमें नियमित तपाकर उससे इस्पात बनाना और उस इस्पातको तलवारके रूपमें बना लेना 'अतिशयाधान' कहलावेगा। इस तरहसे

अतिशयाधान द्वारा तलवार बन जाने पर इसे लकड़ो, सोने या चांदोसे जड़ना या मूठ बनाना 'हीनाङ्गपूर्ति' कही जाती है। इसी प्रकार कपासके वृक्षसे प्राप्त मलिन कपासको साफ करना दोषमार्जन है, उससे कपड़ा कुर्ता बना लेना अतिशयाधान है और 'बटन' आदि लगाकर उसे पहिनने लायक बना लेना हीनाङ्गपूर्त्ति है। इसी दृष्टान्त पर संस्कारोंके विषयमें भी समझा जा सकता है कि गर्भाधान, जातकर्म, अन्नप्राशन आदि संस्कारोंके द्वारा दोषमार्जन होता है, चूड़ाकर्म, उपनयन आदि संस्कारोंके द्वारा अतिशयाधान होता है और विवाह, अग्न्याधान आदि संस्कारोंके द्वारा हीनाङ्गपूर्त्ति होती है। इस प्रकारसे संस्कारके अन्तर्गत विविध विधियोंके द्वारा जोव शिवत्व पदवी तक पहुंच सकता है।

संस्कारकार्यमें अधिकार जिसका है? इस प्रश्नके उत्तरमें महर्षि याज्ञवल्क्यने कहा है :—

ब्रह्मक्षत्रियविट्शूद्रा वर्णास्त्वाद्यास्त्रयो द्विजाः।
निषेकादिश्मशानान्तास्तेषां वै मन्त्रतः क्रियाः॥

चार वर्णोंमेंसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ये तीन द्विज कहलाते हैं। गर्भाधानसे लेकर मृत्युपर्यन्त समस्त क्रिया इनकी वैदिकविधिसे समन्त्रक होती है। शूद्रवर्णकी समस्त क्रिया अमन्त्रक होती है। यथा यमसंहितामें—

"शूद्रोऽप्येवंविधः कार्यो विना मन्त्रेण संस्कृतः।"

शूद्रवर्णके भी ये सब संस्कार विना वैदिक मन्त्रके होने चाहिये। वेदमें अधिकार न होनेके कारण उनके लिये केवल उपनयन संस्कारका निषेध है।

संस्कार कितने हैं, इस विषयमें स्मृतिशास्त्रमें मतभेद पाये जाते हैं। कहींपर ४० संस्कार, कहींपर २५ और कहीं १६ संस्कार बताये गये हैं। गौतमस्मृतिमें ४० संस्कारोंका वर्णन है, यथा—गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, विवाह, पञ्चमहायज्ञ, अष्टकाश्राद्ध पार्वणश्राद्ध इत्यादि। महर्षि अङ्गिराने २५ संस्कार बताये हैं।

इसी प्रकार व्यास स्मृतिमें १६ संस्कार कहे गये हैं। यथा—

गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण इत्यादि। इस प्रकार षोड़ष संस्कारके विषयमें महर्षियोंके मतभेद रहनेपर भी निम्नलिखित सोलह संस्कारोंमें सभीका अन्तर्निवेश हो जाता है। यथा—

आधानम्, पुंसवनम्, सीमन्तोन्नयनम्।
ज़ातकर्म, नामकरणम्, अन्नप्राशनम्, चौलम्, उपनयनम्॥

ब्रह्मव्रतम्, वेदव्रतम्, समावर्त्तनम्, उद्वाहः ।
अग्न्याधानम्, दीक्षा, महाव्रतम्, संन्यासः ॥

ये ही मीमांसादर्शनके अनुसार षोड़श संस्कार हैं। इनमेंसे प्रथम ८ संस्कार प्रवृत्ति सम्बन्धीय और दूसरे ८ संस्कार निवृत्ति सम्बन्धीय हैं। क्योंकि श्रीभगवान् मनुने 'ब्राह्मीयं क्रियते तनुः' इत्यादि शब्दोंके द्वारा संस्कारका लक्ष्य जीवशरीरको ब्रह्मत्वलाभके योग्य बनाना कहा है और यह ब्रह्मत्वप्राप्ति 'त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः' इत्यादि वेदमन्त्रोंके द्वारा निवृत्तिकी पराकाष्ठामें ही होना सम्भव है, इस कारण मीमांसादर्शनोक्त षोड़श संस्कारविभाग जो कि प्रवृत्तिनिरोध और निवृत्ति पोषणके विचारसे किया गया है वही जीवात्माकी पूर्णता प्राप्तिके लिये समीचीन जान पढ़ता है।

अब नीचे षोड़श संस्कारोंका क्रमशः वर्णन किया जाता है :—

(१) प्रथम संस्कारका नाम गर्भाधान है। पहिले ही कहा गया है कि संस्कारका लक्ष्य ब्राह्मण्यगुणका क्रमविकाश है। गर्भाधान संस्कार इस लक्ष्यकी सिद्धिमें सहायक होता है। सन्तान पितामाताके आत्मा, हृदय तथा शरीरसे उत्पन्न होती है इस कारण पितामाताके स्थूल शरीर अथवा सूक्ष्म शरीरमें जो दोष रहेंगे, सन्तानमें भी वे दोष संक्रामित होंगे। इसी तथ्यको निश्चत करके गर्भग्रहणयोग्यता तथा उपयुक्त कालका निर्णय पूर्वक सन्तानके जन्मके समय जिसमें पितामाताका मन या शरीर पशुभावयुक्त न होकर सात्विक देवभावमें भावित हो इस लिये ही गर्भाधान संस्कारका विधान है। श्रीभगवान्ने गीतामें लिखा है :—

"धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।

मनुष्यमें धर्मसे अविरुद्ध काम भगवान्की विभूति है। पितामाता यदि धर्मभावसे भावित होकर केवल धार्मिक प्रजोत्पत्तिके लक्ष्यसे कामक्रियाका अनुष्ठान करेंगे तभी वह काम धर्माविरुद्ध होगा और उससे संसारका कल्याण होगा। सन्तानोपत्तिके समय मातापिताके चित्तमें जिस प्रकार भावका उदय होता है सन्तानका शरीर तथा मन उस भावसे गठित हो जाता है। कामभावके द्वारा कामुक सन्तान उत्पन्न होती है, वीरभाव तथा वीर पुरुषोंके स्मरण या वीरताकी अधिष्ठात्री देवता चिन्तन द्वारा वीर उत्पन होती है, धर्माधिष्ठात्री देवताके चिन्तन द्वारा धार्मिक सन्तान उत्पन्न होती है इत्यादि। इसलिये आर्यशास्त्रका सिद्धान्त है कि पितामाता गर्भाधानके अपनेको देवभावमें भावित करें, पति अपनेको प्रजापतिका अंश समझें, पत्नी अपनेको वसुमतीका रूप समझे और देवताओंका चिन्तन पूर्वक गर्भाधान कर्मको सम्पादित करें। गर्भाधानके समय इस प्रकारके मन्त्र आते हैं। यथा—

ॐ पुषा भगं सविता मे ददातु रुद्रः कल्पयतु ललामगुम्। ॐ विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिंशतु। आसिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातुते।

(ऋ. अ. ८. अ. ९. व ४२)

अर्थात् पोषणकारी सूर्य और रुद्र योनियोंकी कल्पना करें। व्यापक विष्णु गर्भग्रहणका स्थान दें, देवशिल्पी त्वष्टा रूपका मिश्रण करें, प्रजापति सिञ्चन करें, सृष्टिकर्ता गर्भका संगठन करें। और भी चन्द्रकलाको देवो गर्भाधान करें, सरस्वती देवी गर्भाधान करें, अश्विनीकुमारगण जिनके अधिष्ठान द्वारा सन्तान आयुः प्राप्त, विनयशील सत्त्वगुणसम्पन्न होती है, वे गर्भाधान करे। इस प्रकारसे देवभाव युक्त होने पर सन्तान अवश्य ही सुलक्षणयुक्त तथा धार्मिक होगी इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है। यही गर्भाधान संस्कारका संक्षिप्त रहस्य है। कालके कुटिल प्रभावसे इस उत्तम संस्कारका अब नामशेष रह गया है। इस संस्कारमें पशुभावका ही प्रादुर्भाव देखा जाता है।

(२) द्वितीय संस्कारका नाम पुंसवन है। यह संस्कार तथा परवर्ती सीमन्तोन्नयन संस्कार गर्भरक्षाके लिये उपयोगी है। इसलिये गर्भावस्थामें ही ये दो संस्कार किये जाते हैं। मानवी गर्भके विनष्ट होनेके दो समय अति प्रबल होते हैं, यथा—गर्भधारणके अनन्तर तीसरे महीनेसे लेकर चौथे महीनेके बीचमें और दूसरा छठे महीनेसे लेकर आठवें महीनेके बीचमें। अतः इन दोनों समयोंमें विशेष सावधानताके साथ गर्भिणीके गर्भकी रक्षाकी आवश्यकता होती है। इसीलिये शिशुके गर्भमें रहते समय इन दोनों संस्कारोंका विधान है।

पुंसवन संस्कार सीमन्तोन्नयनसे पहिले किया जाता है। इसका समय गर्भग्रहणसे तीसरे महीनेके दस दिनके भीतर है। पुंसवनका अर्थ है, पुरुषसन्तानको उत्पन्न करना। गर्भाशयमें स्थित गर्भसे पुत्र होगा या कन्या होगी, इसका निश्चय चौथे महीने तक नहीं होगा; क्योंकि साधरणतः चौथे महीनेके पहले स्त्री या पुरुषका चिह्न नहीं होता इस कारण स्त्री या पुरुषका चिन्ह प्रकट होनेके पहले पुंसवन संस्कारका विधान है। साधारणतः सभी देशकी स्त्रियाँ कन्याकी अपेक्षा पुत्रका अधिक गौरव करती हैं, विशेषतः भारतकी स्त्रियां पुत्र सन्तानकी बहुती ही इच्छा करती हैं, इसलिये पितरोंके तृप्त्यर्थ वृद्धिश्राद्ध तथा माङ्गलिक हवनादि समाप्त करके जब पति मन्त्रपाठ पूर्वक गर्भिणीसे कहता है कि—"मित्रा-वरुण नामक दोनों देवता पुरुष हैं, अश्विनीकुमार नामक दोनों देवता पुरुष हैं और अग्नि वायु ये भी दोनों पुरुष है। तुम्हारे गर्भमें भी पुरुषका आविर्भाव हुआ है।" तब गर्भिणीका हृदय आनन्दसे प्रफुल्लित हो उठता है। इस आनन्दसे उस समयका अत्यन्त वमन आदिसे उत्पन्न अवसाद एवं भीति और आलस्य आदिसे उत्पन्न विषाद मिट जाता है और गर्भपोषणका बल फिरसे आ जाता है। पुंसवनमें दो बटके फलोंको उर्द और यवके साथ

गर्भिणोकी नासिकामें लगाकर सुंघानेकी व्यवस्था है। सुश्रुतादि आयुर्वेद शास्त्रमें उसमें योनिदोषनाश तथा गर्भरक्षाकी शक्ति वताई गई है। मोक्षोपयोगी उत्तम स्थूल शरीर प्रदान करना इस संस्कारका लक्ष्य है, यही इसकी विशेषता जाननी चाहिये।

(३ तीसरे संस्कारका नाम सोमन्तोन्नयन है। इसका भी प्रयोजन गर्भरक्षा करना है। गर्भग्रहणके वाद छठे या आठवें महीनेमें यह संस्कार किया जाता है। इसका मुख्यकर्म गर्भिणीके सीमन्तको फाड़ देना है। सीमन्तके कुछ कुछ फाड़ देनेके बाद गर्भिणी स्त्रीको शृंगार या सुगन्धादि सेवन नहीं करना चाहिये और पुष्पमाला आदिका धारण तथा पतिसहवास नहीं करना चाहिये।

इस संस्कारमें पति वृद्धिश्राद्ध, चरुपाक आदि कर चुकनेपर एकवृन्त स्थित दो पके हुए उदुम्बरके फल तथा अन्यान्य कई एक मांगलिक पदार्थोंको रेशमी वस्त्रसे गर्भिणीके गलेमें बाँधकर पहले यह मन्त्र सुनाते हैं—'तुम इस ऊर्जस्वल उदुम्बर वृक्षसे ऊर्जस्वला बनो। हे वनस्पते! जैसे पत्तेकी उत्पत्तिसे तुम्हारी समृद्धि होती है, वैसे ही इसमें पुत्ररूप परम-धन उत्पन्न हो।' तदनन्तर कुशगुच्छ द्वारा गर्भिणीके सीमान्तभागके केश फाड़ते समय पति कहते हैं—'जिस प्रकार प्रजापति ने देवमाता अदितिका सीमन्तोन्नयन किया था, उसी प्रकार इस गर्भिणीका सीमन्तोन्नयन कर इसके पुत्र पौत्रादिकोंको मैं जरावस्था पर्यन्त दीर्घजीवी करता हूँ।" तदनन्तर पौर्णमासी देवता आदिसे भी इसी प्रकार प्रार्थना, सघृत चरु प्रदर्शन आदि कई एक क्रियायें हैं जिनसे गर्भपोषण, भावी सन्तानका कल्याण तथा गर्भदोष नाश होता है। गर्भावस्थामें स्त्रीके प्रसन्न तथा कामादिवेगशून्य रहने पर सन्तान अच्छी, धार्मिक और दीर्घायु होती है, इसी लिये सीमन्तोन्नयनमें ऐसी विधियाँ हैं।

(४) चतुर्थ संस्करणका नाम जातकर्म है। यह सन्तानके भूमिष्ठ होते ही किया जाता है। इसका कार्य यह है कि पिता पहले यव और चावलके चूर्ण द्वारा और तत्पश्चात् सुवर्ण द्वारा घिसे हुए मधु और घृतको लेकर सद्योजात सन्तानकी जिह्वामें लगाता है। इस समय पढ़नेका मन्त्र यह है—"यह अन्न ही प्रज्ञा है, यही आयु है, यही अमृत है, तुमको ये सब प्राप्त हों। मित्रावरुण तुम्हें मेधा दें। अश्विनीकुमार तुम्हें मेधा दें। बृहस्पति तुम्हें मेधा दें"।

इस मन्त्रमें अन्नके लिये एक बार प्रार्थना है और उसीका सूचक चावल और यवका चूर्ण चखाना है; क्योंकि अन्नके द्वारा ही शरीरकी रक्षा होती है और शरीर रक्षा ही प्रथम धर्मसाधन है। तदनन्तर मेधाके लिये देवताओंसे बार-बार प्रार्थना है क्योंकि इसीसे जीव आगेके जीवनमें सब प्रकारकी उन्नतिका अधिकारी हो सकता है। गर्भसे

निकलते समय अत्यन्त कष्ट होनेसे और महामायाके मोहके कारण भूमिष्ठ शिशुकी गर्भस्त स्मृति लुप्त हो जाती है। उसी स्मृतिको पुनः लानेके लिये यह मेधा-जननप्रक्रिया की जाती है।

सुवर्णसे घिसे हुए घृत और मधुको सन्तानको जिह्वापर लगानेमें अनेक गुण हैं। सुवर्ण वायुदोषको शान्त करता है, मूत्रको साफ करता है और रक्तकी ऊर्द्धगतिके दोषको शान्त करता है। घृत शरीरमें तापको बढ़ाता है, बालकोरक्षा करता और खुलासा दस्त लाता है। मधु मुखमें 'लार' का सञ्चार करता है, पित्तकोषकी क्रियाको बढ़ाता है और कफदोषको दूर करता है; अर्थात् यह क्रिया वायुदोषकी शान्तिका, गलनालिका, उदर और आँतोंको सरस बनानेका तथा मलमूत्र निकलने और कफको कम करनेकी भी क्रिया है। प्रसवकी यन्त्रणाके कारण सद्योजात शिशुके रक्तकी गति ऊपरको जाती है, उसके शरीरमें कफका दोष अधिक हो जाता है और उसकी आँतोंमें एक प्रकारका काला काला मल सञ्चित रहता है; उसी मलके न निकलनेसे अनेक प्रकारकी पीड़ाएँ उपजती हैं। इसलिये डाक्टर लोग भी सद्योजात शिशुके लिये मधुमिश्रित रेड़ीके तेलकी व्यवस्था करते हैं। किन्तु सुवर्णसे मधुमिश्रित घृत एरण्डतेलकी अपेक्षा अधिक उपकारी होता है। इसी लिये आर्य-शास्त्रमें ऐसी व्यवस्था है। इस संस्कारके द्वारा उपपातक अर्थात् पितृ-मातृ-शरीरज कई एक दोषोंका भी नाश होता है, ऐसा आर्यशास्त्रका शिद्धान्त है।

(५) पञ्चम संस्कारका नाम नामकरण है। सन्तानके उत्पन्न होनेके अनन्तर दस रात्रियां बीतनेपर उसका नाम रखना होता है। दस रात्रि छोड़कर नामकरणका तात्पर्य यह है कि सूतिका गृहमें जितने लड़की लड़के मरते हैं उनमेंसे लगभग तीन भाग प्रथम दस रात्रियोंमें ही मर जाते हैं। इसी लिये प्रथम दस रात्रि छोड़ दी गई हैं। नामकरण संस्कारमें शिशुके जन्मग्रह, नक्षत्र तथा अन्यान्य देवताओंके उद्देश्यसे हवनकर पिताको बालकका नाम कह देना चाहिये। उसमें निम्नलिखित अर्थका मन्त्र है—"तुम कौन हो? तुम्हारी क्या जाति है? तुम अमृत दो। हे अमृत! तुम सूर्य सम्बन्धीय मासमें प्रवेश करो। हे अमृत! सूर्य तुमको दिनसे दिनमें प्राप्त करावें। दिन, रात्रिमें प्राप्त करावें। दिन और रात्रि, पक्षमें प्राप्त करावें। पक्ष, पूर्णमासमें प्रवेश करावें। मास, ऋतुमें प्रवेश करावें। ऋतु सम्वत्सरमें और सम्वत्सर शतवर्षकी सीमा तक पहुंचावें।" इस प्रकारसे दृढ़ मंत्र-द्वारा आत्माका अमृतत्व प्रतिपादन करके सन्तानके लिये अति दीर्घजीवनकी आशा तथा प्रार्थना की गई है। नामकरण संस्कार द्वारा नामकी भिन्नताके अनुसार जातिका भी निर्णय हो जाता है। नामके साथ भावका सम्बन्ध है, इसी लिये वर्णभेदसे नामभेद होने पर उसके द्वारा नामी अपने वर्णानुसार उन्नत भावको लाभ करते हैं। नामके द्वारा अमृत

ब्रह्मके साथ सम्बन्ध मिलना और शतायुके लिए प्रार्थना भी अन्तःकरणमें बलवृद्धि तथा आयुवृद्धिका कारण बनता है।

(६) षष्ठ संस्कारका नाम अन्नप्राशन है। पुत्र हो तो छठे या आठवें महीने और कन्या हो तो पाचवें या सातवें महीने यह संस्कार करना चाहिए। इसके द्वारा खाद्यपदार्थ के निर्दिष्ट हो जानेसे अन्नसङ्करता दोषका निराकरण होता है। अन्नप्राशनके लिए शुभ दिन देखना होता है। वृद्धिश्राद्ध कर चुकनेपर पिता सन्तानको गोदमें लेकर बैठे और माता वाम भागमें बैठे। तब पिता मन्त्र पढ़ता हुआ हवन करे और फिर सन्तानके मुखमें अन्नका ग्रास दे। "अन्न ही सकल जीवोंका रक्षक है, अन्नपति सूर्यदेव अन्नदान तथा मंगलदान करें।" इत्यादि इत्यादि भावार्थबोधक मन्त्र इसमें पढ़े जाते हैं। माताके गर्भमें मलिनता भक्षणका जो दोष लगता है वह अन्नप्राशनसे शुद्ध हो जाता है। अन्नको उपनिषद्में ब्रह्म कहा गया है, इसलिए प्रथम अन्नग्रहणमें ब्रह्मचर्य, बल, आयु अन्तःकरणकी शुद्धिका सम्बन्ध स्थापन होकर ब्रह्मभावका उद्बोधन हो यह भो इस संस्कारका लक्ष्य है।

(७) सप्तम संस्कारका नाम चूड़ाकरण है। इसका मुख्य समय शिशुका तीसरा वर्ष है और इसमें प्रधान कार्य केशमुण्डन है। गर्भावस्थामें जो केश उत्पन्न होते हैं उन सबको दूर कर चूड़ाकरणके द्वारा शिशुको शिक्षा तथा संस्कारका पात्र बनाया जाता है। इसीलिये कहा गया है कि चूड़ाकरण द्वारा आपात्रीकरण दोषका निराकरण होता है।

श्राद्ध, हवनादि करनेके बाद सूर्यका ध्यान करते हुये निम्न लिखित भावके मंत्र इस संस्कारमें पढ़ने होते हैं, यथा—"जिस सुधिति अर्थात् क्षुरेके द्वारा सूर्यने वृहस्पतिका केश-मुण्डन किया था, वायुने इन्द्रका मुण्डन किया था उसी ब्रह्मरूपी सुधिति द्वारा मैं तुम्हारा केशमुण्डन करता हूँ। तुम्हें आयु, तेज, बल आदि प्राप्त हो। इत्यादि।

चूड़ाकरण संस्कारमें शिक्षा रखकर बाकी केश काट दिये जाते हैं और इससे आयु, तेज, बल, ओज आदिकी प्राप्ति होती है जैसा कि 'दीर्घायुष्ट्वाय बलाय वर्चसे' 'शक्त्यै शिखायै वषट्' इत्यादि वेद मन्त्रोंके द्वारा प्रमाणित होता है। अब शिखा रखनेके साथ इस प्रकार नामका सम्बन्ध है सो ही वैज्ञानिकरूपसे विचार करने योग्य है।

शिखा रखनेकी प्रथा और शिखाहीन सिरकी निन्दा केवल आर्यशास्त्रमें हो नहीं है, अधिकन्तु अति प्राचीन कालसे अन्यान्य जातियोंमें भी प्रचलित थी। Strenght was supposed to be in the hair and the cutting of it off brought weakness to the body-Criminals who refused to confess even under torture, have done so when their hair was cut off. So Sampson was powerless when his locks were cut off. In ancient Israel mourners cut off there hair to

make the head bald. Amos, in pronouncing a doom on Israel, says 'baldness shall be on every head' and Ezekiel also speaks of the time when 'baldness shall be on all heads., You shall not cut yourselves nor make any baldness between your eyes for the dead (Dent XIV.I.).

केशमें बल है और शिरोमुण्डनसे दुर्बलता आवेगी, ऐसी धारणा प्राचीन लोगोंमें थी। अपराधी लोगोंने बहुत क्लेश देने पर भी अपराध स्वीकार नहीं किया, किन्तु सिर मुड़ा देने पर कर डाला ऐसे अनेक दृष्टान्त मिलते हैं। सैम्प्सन कीजब शिखा काट दी गई तो वह शक्तिहीन हो गया था। प्राचीन इस्रेलमें शोक मनानेवाले लोग केश मुड़ा देते थे। एमस्ने इस्रेल पर अभिसम्पात करते समय कहा था कि सबके सिर मुड़ जायेंगे।' और इजेकैलने भी कहा है कि वह समय आवेगा जब सब लोग सिर मुड़ा कर कमजोर हो जायेंगे। लोगोंको केश मुड़ाकर दुर्बल नहीं होना चाहिये और मृत व्यक्तिके लिये भी ऐसा नहीं करना चाहिये। इत्यादि प्राचीन प्रमाणोंसे यही सिद्ध होता है कि किसी समय पृथ्वीकी अनेक जातियोंमें शिखा रखनेकी रीति प्रचलित थी। और शिखाके साथ बल रक्षाका सम्बन्ध लोग मानते थे। अब इसके वैज्ञानिक रहस्यपर बिचार किया जाता है।

केश क्या वस्तु है, पुरुषोंमें अधिक केश और स्त्रियोंमें कम केश क्यों उपजता है, इस विषयमें स्त्रीप्रकृति और पुरुषप्रकृतिके भेद बताते हुए पश्चिमी विद्वानों ने कहा है :—

In the metabolic rhythm of life, Katabolic surplus of men leads to its corresponding secondary sex-expressions, primarily in the growth of hair on the cheeks and the breast, while the anabolic surplus of the women does not put on similar expressions but expeads itself as periodic menstrual discharge or the feeding of the foctal growth or her lactation. Prepondrant Katabolic organism can be distinguished from the preponderant anabolic one from the biological evidence that while the former is "active and roaming is a hunter for his partner and is an expender of energy, the latter is passive and sedentary, one who waits for her partner and is a consumer of energy. The masculine activity tends to a greater power of maximum effort, of scientific insight, of cerebral experiment with impressions and is associated with an unobservant or impatient disregard of minute details, but with a stranger grasp of generalaties. The feminine passivity is expressed in greater patience, more open-mindedness, grater apreciation of subtle details

and consequenlty what we call more rapid intention. (Sex, Home University Series P.)

स्त्री और पुरुषके जीवनमें यौवनके आते समय पुरुषशक्तिका विकाश मुख, छाती आदि स्थानोंमें केशनिर्गमके द्वारा होता है, किन्तु स्त्रियोंमें ऐसा न होकर उनकी शक्तिका विकाश मासिक ऋतुधर्म, स्तनोंमें दूध तथा जरायुकी वृद्धि द्वारा होता है। पहिलीको अङ्गरेजीमें 'कैटाबलिक' और दूसरीको 'एनाबलिक' कहते हैं। इन दोनोंके भेदसे स्त्रीपुरुषों-की प्रकृतिमें भी बहुत कुछ भेद पाया जाता है यथा—पुरुष स्वयं क्रियाशील, अपनी अर्द्धाङ्गिनीका ढूंढ़ने वाला और अपनी शक्तिका क्षय दूसरेके लिये करनेवाला है, स्त्रीमें स्वयं क्रिगाशीलता नहीं है, वह अपने सहचरके लिगे निश्चेष्ट होकर प्रतीक्षा करनेवाली है और शक्तिको अपने भीतर जमाये रखती है। पुरुषमें स्वयं क्रियाशीलता होनेसे ज्ञानविज्ञानराज्यमें उसका अधिक प्रवेश रहता है, उसके मस्तिष्कमें बाहरी वस्तुका संस्कार अधिक जमता है, और वह किसी विचारके मामूली पर्देमें न घुसकर, विचार शृङ्खलाको पकड़ता हुआ साधारण सिद्धान्त पर पहुंचता है। स्त्रीजातिमें स्वयं कर्त्तृत्व न होनेसे अधिक धैर्य्य होता है, वह अपने विश्वासपात्रके समीप अधिक खुले-दिल बन जाती है, किसी भी विचारके मामूली तह तक पहुंचती है, और इसी कारण प्राकृतिक मनोवेग, प्राकृतिक प्रेरणा आदि उसमें पुरुषसे अधिक होती है। इस प्रकारसे स्त्री-पुरुषोंके स्वभावमें भेद पाये जाते हैं। प्रकृत विषय केश निर्गमके सम्बन्धका है। जब यौवन विकाशके साथ केश निर्गमका सम्बन्ध है तो जिस प्रकार किसी वृक्षकी शाखा काटनेसे उसमें नवीन शाखा निकलनेका वेग बढ़ता है उसी प्रकार प्रतिदिन या प्रायः केश काटते या हजामत बनाने रहनेसे भीतरो कामशक्ति स्नायुओंमें अधिक प्रकट होती है। यही कारण है कि ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी, संन्यासी आदियोंके लिये केश धारणको विधि शास्त्रमें बताई गई है। केश धारण करनेसे कामसम्बन्धो नसोंका वेग स्वभावतः घट जाया करता है और मनुष्य सहज ही संयमी बन सकता है। सन्यासी कुटीचक, वहूदक अवस्थाको अतिक्रम करके जब 'हंस' अवस्थाको पाता है तो सोऽहं भावमें कामकी चिन्ता ही नहीं रहती है; इसो कारण दण्डीस्वामी केश मुण्डन कराते हैं। गृहस्थ दशामें समस्त केश रखना असुविधाजनक है इसलिये 'गोक्षुर' की तरह सिरके ऊपर भागमें केश रखकर बाकी मुंड़ा देनेको विधि शास्त्रोंमें पाई जाती है। इसमें कई एक लाभ हैं। गोक्षुरमें सिरके सामनेका कुछ अंश और पोछेका कुछ अंश ढक जाता है और वही शिखाके रूपमें सिरके ऊपर रहता है। योगशास्त्रके सिद्धान्तानुसार सिरके सामनेके उस अंशके नोचे ब्रह्मरन्ध्र और ब्रह्मरन्धके ठीक ऊपर सहस्रदलकमलमें परमात्माका केन्द्रस्थान है। और डाक्टरी सायन्सके सिद्धान्तानुसार सिरके पीछेके उस

अंशमें अर्थात् ठीक उसके नीचेके braincell या मस्तिष्क भागमें कामका केन्द्रस्थान है। अतः इन दोनों अंशोंमें शिखास्थानमें केशके रहनेसे पूर्ववर्णनानुसार आत्मिक शक्ति बनी रहेगी और चिन्ताशक्ति दबो रहेगी, यह निश्चय है। यही कारण है कि भिन्न भिन्न जातियोंमें और विशेषतः आर्यजातिमें शिखाके साथ बल, ब्रह्मचर्य, आयु, तेज, रक्षाका सम्बन्ध बताया गया है केवल इतना ही नहीं गोक्षुर शिखा रखनेसे व्यापक ब्रह्मके केशद्वारा शक्तिका यथेष्ट आकर्षण भी होता है। पश्चिमी पण्डित भिक्टर ई. क्रोमर (Victor E. Cromer) ने जो भ्रिल् नामक ओजः शक्तिका आविष्कार किया है उसके विषयमें वर्णन करते करते एक स्थान पर उन्होंने यह लिखा है—

"In meditation one receives the vrillic influx. While concentrating one pours it out. If one, however, concentrates one's mind upon god there is an outgoing and an inflowing process set up. The concentration of the mind upwards sends a rush of this force through the top of the head and the respones comes as a fine rain of soft magnetism. These two forces cause a bautiful display of color to the higher vision. The out pouring from above is beautiful beyond description"

(Vril—Kalpaka)

ध्यानके समय ओजः शक्ति प्रकट होती है। किसी वस्तु पर चित्त एकाग्र करनेसे ओजः शक्ति उसकी ओर दौड़ती है। यदि परमात्मा पर चित्त एकाग्र किया जाय तो मस्तकके ऊपर शिखाके रास्तेसे ओजः शक्ति प्रकट होती है और परमात्माकी शक्ति उसी पथसे अपने भीतर आया करती है। सूक्ष्मदृष्टिसम्पन्न योगी इन दोनों शक्तियोंके सुन्दर रङ्गको देख भी लेते हैं। जो शक्ति परमात्मासे अपने भीतर आती है उसकी सुन्दरताकी तुलना नहीं की जा सकती है। अतः आधुनिक विज्ञानद्वारा भी सिद्ध होगया कि शिखाके द्वारा ऊपरसे शक्ति मिलती है। यही ब्रह्मचर्य, बल, तेज, आयु बढ़ानेका कारण है। परमहंस संन्यासी सदा ही ब्रह्मसे मिले रहते हैं इसलिये उन्हे पृथकरूपसे शिखा द्वारा शक्ति खींचनेकी आवश्यकता नहीं होती है। ब्रह्मचारी एवं वानप्रस्थी जटा और शिखाके द्वारा, गृहस्थगण गोक्षुर शिखाके द्वारा इस शक्तिका ग्रहण करते और अपनी आध्यात्मिक तथा आधिदैविक उन्नति प्राप्त करते हैं। इसके सिवाय शिखाधारण, शिखामार्जन, शिखास्पर्श, शिखाबन्धन इत्यादि प्रकियाद्वारा हर समय सहस्रदलकमलकी ओर ध्यान लगा रहनेसे आत्मा सम्बन्धीय उर्द्ध्व दृष्टि मनुष्यमें अवश्य बढ़ाकरती है जो आध्यात्मिक उन्नतिका कारण बनती है, यही सब चूड़ाकरण संस्कारमें शिखा रखनेका फल है।

पहिले ही कहा गया है कि बार बार बाल छांटते या दाढ़ी मूंछ मुड़ाते रहनेसे 'कैटावलिक' उत्तेजना द्वारा काम सम्बन्धी नसोंमें उत्तेजना फैलती है। इसलिये ऐसे मनुष्य प्रायः विषयी हुआ करते हैं। इसके अतिरिक्त स्थूल शरीरके सुन्दर बनानेमें मन लगा रहनेसे मनुष्य आत्मोन्नतिको खोकर विषयविलासी ही बने रहते हैं। इसी कारण जब चाहे केश न कटवाकर किसी विशेष तिथिमें मुण्डनकी विधि आर्यशास्त्रमें लिखी है। इन तिथियोंके विषयमें लिखा है—"The removal of hair and nails at the prescribed times helps the conservation and absorption of powers shed by the stars and the heavenly aspects of the days and the hours. The ancient Munis have also thought that at the prescribed times of shaving the hair and nails are lifeless, their psychic connection with the individual is not active, but is dormant; if they even fall into the hands of evil workers, they are useless with them. But if at forbidden times we do shaving, it acts contrarivise". (The Science and Religion of shaving—Sanatanist). ठीक तिथि पर केश या नख काटे जायँ तो उस समयके तारे तथा दिनाभिमानी देवतासे शक्ति प्राप्त होती है। इसके सिवाय उक्त तिथि या समय पर नख केशमें जीवन नहीं रहता है अर्थात् मनुष्यशरीरके साथ उनका सूक्ष्म चेतन सम्बन्ध नहीं रहता है। इस कारण ऐसे समयपर केशमुण्डनद्वारा 'कैटावलिक' नसोंकी उत्तेजना भी नहीं होती है और यदि ऐसे नख या केश किसी जादूगरके हाथमें पड़ जायँ तौभी उसका दुरुपयोग वह नहीं कर सकता है। किन्तु बिना वार, तिथि, नक्षत्रके विचारे जब चाहे केश, नख काटते रहनेसे यह सभी विपत्तियाँ हो सकती हैं। यही सब शिखा तथा केशके विषयमें रहस्यपूर्ण विज्ञान है।

स्त्रियोंके लिये केश काटनेकी विधि नहीं हो सकती है, क्योंकि उनका स्त्रीशक्ति-विकाश ऋतुधर्म, दूध, जरायु आदि द्वारा होता है। इसलिये यदि स्त्रियां अपने प्राकृतिक धर्मको छोड़कर, पुरुषोंकी तरह केश कटवाना प्रारम्भ करेंगी जैसा कि आजकल पश्चिमी विलासिनियोंमें कहीं कहीं देखा जाता है, तो प्रकृति-विरुद्ध आचरणका यह फल होगा कि 'कैटावलिक' प्रेरणा उनमें जबरदस्ती बढ़ानेपर उनकी 'एनावलिक' प्रेरणा अर्थात् स्त्रीसुलभ शक्ति घट जायगी और उसके प्राकृतिक विकाशमें बाधा पहुंचेगी, जिससे ऋतुधर्म; दूध आदि सभीमें बाधा होकर यह यथार्थ 'मां' बननेसे ही रह जायगी। इनमें मातृभाव नष्ट होकर पुरुषभाव आने लग जायगा और जरायु, प्रसव, मासिकधर्म आदिके विषयमें अनेक प्रकारके रोग इनमें उत्पन्न होने लगेंगे। जैसा कि कितने ही पश्चिमी डाक्टरोंने दुःखके साथ लिखा है :—

Dr. Gillard Thomas, the American Gynaccologist, says that only about 4 per cent of American women proper are physically fitted to become wives and mothers. Dr. Stanlay Hell gives a large body of statistics showing the alarming unfitness of the Anglo-Saxon women for maternity. अमेरिकाके डाक्टर गिलार्ड टामस्‌की सम्मतिमें वहांकी स्त्रियां जो पुरुषकी तरह बाल कटवाकर स्थूल व्यायाम करती रहती हैं उनमें केवल ४ फी सदीमें सन्तान पैदा करनेकी और मां बननेकी शक्ति रह जाती है। इङ्गलैण्डके डाक्टर ष्टैन्ले हाल साहबने बड़ा भारी हिसाब बताकर दिखाया और दुःख प्रकाश किया है कि यहांकी स्त्रियां पुरुषभावापन्न होकर 'मां' बननेके अयोग्य हो रही हैं इन्हीं सब कारणोंसे आर्य-शास्त्रमें स्त्रियोंके लिये पुरुषकी तरह केश कटाना, व्यायाम करना आदिका निषेध बताया गया है। इतना तक कि प्रायश्चित्तमें भी उनका केवल ४ अङ्गुल केश काट लेनेकी विधि है, पूरा शिरोमुण्डन नही किया जाता है। यद्यपि केश स्त्रियोंके लिये विलासिताकी वस्तु है परन्तु निवृत्तिके आश्रममें 'एनावलिक' उत्तेजनाकी आवश्यकता नहीं रहती है इसी कारण वैधव्य दशामें उनके केश पूरा काट देनेकी आज्ञा आर्यशास्त्रमें दी गई है यथा 'विधवा-कबरी बन्धो भर्तृबन्धाय जायते' इत्यादि।

पहिले ही कहा गया है कि शिखा रखनेकी रीति प्राचीन कालमें और भी अनेक जातियोंमें प्रचलित थी। हिब्रुजातिके तल्मड् (Talmud) नामक शास्त्रग्रन्थमें शिखा रखनेके विषयमें बहुत कुछ वर्णन है, जिससे यही प्रमाणित होता है कि हिब्रुजाति भी शिखा रखती थी। बाईबलमें साम्सन एगोनस्टिस् (Samson Agonostis) के विषयमें यह कथा लिखी है कि उनके प्रतापसे और राजागण कांपते थे। इनके मारनेके लिये उनलोगोंने बहुत कुछ प्रयत्न किया किन्तु सभी प्रयत्न व्यर्थ हुए। अन्तमें उन लोगोंको यह पता लगा कि उनके सिरके ऊपर शिखा है (At last they discovered that all his power lay on account of the tuft on his head) उसीसे उनमें इतनी शक्ति है। नव-कौशल करके निद्राकी हालतमें उनलोगोंने उनकी शिखा कटवा दी। प्रातःकाल नींद टूटनेपर उन्होंने देखा कि शिखा कट गई और सभी शक्ति नष्ट होगई। वे शत्रुओंसे भी परास्त हो गये। इसी प्रकार हरिवंश पुराणमें भी एक कथा मिलती है। यथा—गुरु वशिष्ठके एक विश्वविजयी शिष्य थे। उनके पितृहन्ता पश्चिम देशके कुछ राजा उनसे अत्यन्त घबड़ाकर वशिष्ठकी शरणमें आये और अपने अपने प्राण बचानेके लिये वशिष्ठजीसे प्रार्थना की। महर्षिजीने करुणापरायण होकर उन्हें प्राणरक्षाका वचन दिया। किन्तु जब उन्हें मालूम पड़ा कि उनका विजेता अपना शिष्य ही है तो दोनों ओर की प्रतिज्ञारक्षाके लिये वशिष्ठजीने अपने शिष्यसे आज्ञा दी कि इन लोगोंका प्राणघात न करो, किन्तु इनकी शिखा काट लो, जिससे

वे सब शक्तिहीन होकर मृतवत् हो जायेंगे। क्षत्रियवीरने गुरु वशिष्ठकी आज्ञा मानकर ऐसाही किया। शिखाके साथ बल, वीर्य, स्वास्थ्य तथा आध्यात्मिक उन्नतिका इतना प्रबल सम्बन्ध होनेके कारण ही शिखा धारण हिन्दूका एक उत्तम जातीय चिन्ह है। चूड़ाकरण संस्कारमें इस जातीय चिह्नका प्रथम सन्निवेश होता है।

(८) अष्टम संस्कारका नाम उपनयन है। द्विजजातिके बालक इसी संस्कारके द्वारा ज्ञानशिक्षाके लिये शिक्षक आचार्यके समीप उपनीत होते हैं, इसी कारण इसका नाम उपनयन है। द्विजगण इसीके द्वारा द्विजत्वलाभ करते हैं, यथा याज्ञवल्क्यस्मृतिमें :—

मातुरग्रे विजननं द्वितीयं मौञ्जिबन्धनात्।
ब्राह्मणक्षत्रियविशस्तस्मादेते द्विजाः स्मृताः॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्योंका प्रथम जन्म मातृगर्भसे और द्वितीय जन्म उपनयन संस्कार द्वारा होता है, इसलिये वे द्विज कहलाते हैं। उपनयन कालके विषयमें गृह्यसूत्र और धर्मसूत्रमें लिखा है :—

वसन्ते ब्राह्मणं ग्रीष्मे राजन्यं शरदि वैश्यं,
गर्भाष्टमेब्दे ब्राह्मणं गर्भैकादशे राजन्यं गर्भद्वादशे वैश्यम्।

वसन्त ऋतुमें ब्राह्मण बालकका, ग्रीष्ममें क्षत्रिय बालकका और शरत् कालमें वैश्य बालकका उपनयन कराना चाहिये। गर्भसे आठवें वर्षमें ब्राह्मण बालकका, ग्यारहवें वर्षमें क्षत्रिय बालकका और बारहवें वर्षमें वैश्य बालकका उपनयन होना चाहिये। उपनयनमें ऋतुका विचार वर्णोंके प्रकृति विचारसे ही किया गया है। 'ऋतुनां कुसुमाकरः' कह कर श्रीभगवान्‌ने वसन्तमें अपनी दैवी विभूति बताई है, अतः ब्राह्मण बालकके लिए यही ऋतु ठीक है। निदाघका उत्ताप, सूर्यकी शक्ति क्षत्रिय प्रकृतिके अनुकूल है और शरत्कालकी पोषण शक्ति वैश्य प्रकृतिके अनुकूल है। अष्ट वसुओंके साथ देवराज्यमें ब्राह्मण वर्णका मेल है अतः आठवें वर्षमें ब्राह्मण बालकका उपनयन ठीक है। रुद्रप्रकृतिके साथ क्षत्रिय प्रकृतिका मेल है और पोषणशक्तिसम्पन्न सविताके साथ वैश्य प्रकृतिका मेल है। अतः ११ वें वर्षमें क्षत्रियका और १२वें वर्षमें वैश्यका उपनयन होता है।

शूद्रवर्णका वेदमन्त्रमें अधिकार नहीं है अतः उपनयन संस्कारमें भी अधिकार नहीं रक्खा गया है। वेद मन्त्रके विषयमें यह तथ्य है कि उदात्त, अनुदात्त, स्वरित् आदि भेदसे मन्त्रोंका उच्चारण वही मनुष्य कर सकता है जिसमें कोई शारीरिक असम्पूर्णता या कण्ठकी असम्पूर्णता न हो। नहीं तो महाभाष्यके प्रमाणानुसार अशुद्ध या स्वरवर्णहीन उच्चारणसे न्चारण करनेवालेका लाभ न होकर उलटी हानि होती है। प्राकृतिक जिस भूमिमें शूद्रवर्ण

का जन्म होता है उसमें शारीरिक असम्पूर्णता निश्चित है अतः वेदमन्त्रोंका स्वर तथा वर्ण-युक्त ठीक-ठीक उच्चारण उनके द्वारा होना सम्भव नहीं है। और प्रकृति-विरुद्ध कार्य करनेसे उनकी हानि होगी। यही कारण है कि पूज्यपाद दूरदर्शी महर्षियोंने उनके लिये वैदिकी व्यवस्था न बताकर पौराणिकी उपासना आदि बताई है। इस विषयमें और भी विचार आगेके किसी प्रबन्धमें किया जायगा।

उपनयन अच्छे आचार्यके द्वारा कराना होता है, उसका लक्षण यथा धर्मसूत्रमें—

'यस्माद् धर्मानाचिनोति स आचार्यः।'

जिनसे यथाशास्त्र धर्मोपदेश प्राप्त हो वे ही आचार्य हैं। महर्षि बृहस्पतिने भी कहा है:—

आचिनोति च शास्त्राणि आचारे स्थापयत्यपि।
स्वयमाचरते यस्तु तमाचार्यं प्रचक्षते॥

जो वेदादि शास्त्रोंका स्वयं संग्रह करें, शिष्यको आचारवान् बनावें, और स्वयं आचारशील हों उन्हें आचार्य कहते हैं। महर्षि याज्ञवल्क्यने कहा है:—

'उपनीय ददद् वेदमाचार्यः स उदाहृतः'

द्विजबालकका उपनयन कराकर वेदकी शिक्षा देनेवाले आचार्य कहलाते हैं।

पिता, पितामह, पितृव्य, ज्ञाति या ज्येष्ठभ्राता ये सब श्रेष्ठानुक्रमसे उत्तरोत्तर उपनेता हो सकते हैं। पिताको ही पुत्रका उपनयन करना चाहिये, उनकी अयोग्यता या अभावमें पितामह कर सकते हैं, उनके अभावमें पितृव्य और उनके भी अभावमें सहोदर ज्येष्ठ भ्राता कर सकते हैं। यदि इनमेंसे कोई भी आचार्य बननेकी योग्यता न रखता हो, तो महर्षि शौनक कहते हैं:—

कुमारस्योपनयनं श्रुताभिजनवृत्तवान्।
तपसा धूतनिःशेषपाप्मा कुर्याद् द्विजोत्तमः॥

कुलीन, श्रुतिशास्त्रज्ञ, सदाचारसम्पन्न, तपःप्रभावसे निष्पाप ब्राह्मण द्विजकुमारका उपनयन करा सकते हैं। अब इस प्रकार योग्य ब्राह्मण आचार्य द्वारा उपनयन संस्कार कार्य कैसे अनुष्ठित होना चाहिये उसकी संक्षेप विधि क्रमशः नीचे बताई जाती है।

उपनयनके पूर्व दिन यजमान तथा यजमान पत्नी बालकके साथ मंगल स्नान करके प्रथमतः संकल्प, गोदान और ब्राह्मण द्वारा गायत्री जप करावे, तदनन्तर गणपतिपूजन, स्वस्तिपुण्याहवाचन, मातृकापूजन और नान्दीश्राद्धादि विधिपूर्वक करने होते हैं। उसके

बाद उपनयनके दिन प्रथमतः बालकका क्षौर कर्म कराकर स्नानान्तर आचायके पास लाना होता है। वहांपर ब्राह्मणोंके द्वारा 'आब्रह्मन्' इत्यादि मन्त्रोंसे आशीर्वाद हो जानेके बाद आचार्य अपनी दक्षिणा दिशामें स्थित बालकसे 'ब्रह्मचार्यसानि' इस वाक्यको कहलावे और स्वयं 'ॐ येनेन्द्राय वृहस्पतिर्वासः पर्यदधामृतम्। तेन त्वा परिदधाम्यायुषे दीर्घायुष्ट्वाय बलाय वर्चसे।' इस मन्त्रको पढ़कर बालकको कटिसूत्र तथा कौपीन वस्त्र पहनावे, ब्राह्मण ब्रह्मचारीको शणके, क्षत्रियको अतसीके और वैश्यको ऊनके वस्त्र देने होते हैं और वेही वस्त्र ब्रह्मचर्याश्रममें रहते हैं। तदनन्तर आचमन कराके आचार्य—ॐ—इयं दुरुक्तं परिवाधमाना वर्णं पवित्रं पुनती म आगात्। इत्यादि मन्त्रसे ब्रह्मचारीके जितने प्रवर हों उतनी गांठवाली मूंज आदिकी मेखलाको ब्रह्मचारीके कटि भागमें प्रदक्षिण क्रमसे तीन बार लपेटकर बांधे और तत्पश्चात् देशाचारानुकूल यज्ञोपवीतका एक एक जोड़ा और अन्नादि दक्षिणा सहित चौबीस जलपात्र संकल्प करके ब्राह्मणोंको देवे। इसके बाद निम्नलिखित प्रकारसे यज्ञोपवीतका संस्कार करे। प्रथम 'आपोहिष्ठा' आदि तीन मन्त्रोंसे उपवीत पर जलसेचन करके 'ब्रह्मजज्ञानं' इत्यादि तीन मन्त्र पढ़ता हुआ उप पर अंगुष्ठ घुमावे, पुनः नौ तन्तुओंमें ॐकारादि नौ देवताओंका विन्यास करके यज्ञोपवीतको देखता हुआ दस बार 'तत्सवितुः' आदि गायत्री मन्त्र पढ़े, और उपयाम मन्त्र पढ़कर सूर्यनारायणको उपवीत दिखावे। तब आचार्य अपने हाथसे ब्रह्मचारीको यज्ञोपवीत देवे और बालक यज्ञोपवीतको अपने हाथमें लेकर—

ॐ—यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत् सहजं पुरस्तात्।
आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः॥
यज्ञोपवीतमसि यज्ञस्य त्वा यज्ञोपवीतेनोपनह्यामि।

इस मन्त्रको पढ़कर यज्ञोपवीतको पहने। तत्पश्चात् चीरेदार कपासका वस्त्र 'ॐ युवा सुवासाः' आदि मन्त्र पढ़ते हुए यज्ञोपवीतके तुल्य ब्रह्मचारीको धारण करना होता है। तदनन्तर आचार्य ब्रह्मचारीको ऊपरसे ओढ़नेके लिये मृगचर्म देवे और—

'ॐ मित्रस्य चक्षुर्वरुणं बलीयस्तेजो यशस्वि स्थविरं समिद्धम् अनाहतस्यं वसनं जरिष्णु परीदं वाह्याजिनं दधेऽहम्॥'

इस मन्त्रसे ब्रह्मणादिके बालक मृग आदिके चर्मको धारण करें। तदनन्तर आचार्य ब्रह्मचारीको विल्व या पलाशादिका दण्ड देवे और वह ब्रह्मचारी 'ॐ यो मे दण्डः' इत्यादि मन्त्रको पढ़कर आचार्यके हाथसे दण्डको लेवे। दण्ड लेनेके बाद आचार्य अपनी अञ्जलिको जलसे भरकर ब्रह्मचारीकी अञ्जलिको उसी जलसे 'आपोहिष्ठा' आदि तीन

मन्त्रोंसे तीन बार भरे और आचार्यके पठित प्रत्येक मन्त्रके अन्तमें शिष्य सूर्यनारायणको अपने अञ्जलिजलसे तीन बार अर्घ्य देवे। तदनन्तर 'सूर्यमुदीक्षस्व' कहकर आचार्य ब्रह्मचारीको सूर्य देखनेको कहे और ब्रह्मचारी —

'ॐ—तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्तात् इत्यादि मन्त्र पढ़ता हुआ सूर्यनरायणका दर्शन करे। तब आचार्य बालकके दहिने कन्धेके ऊपरसे हाथ ले जाकर—

'ॐ—मम व्रते ते हृदयं दधामि, मम चित्तमनुचित्तं तेऽस्तु।
मम वाचमेकमना जुषस्व बृहस्पतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम्॥'

इस मन्त्रसे उसके हृदयका स्पर्श करे। फिर आचार्य बालकके दहिने हाथका अंगुष्ठ सहित पकड़कर कहे —को नामासि—और ब्रह्मचारी —अमुकशर्माऽहं भोः—ऐसा प्रत्युत्तर देवे। इसी प्रकार तीन बार दोनों उक्त प्रकारसे कहे। फिर ब्रह्मचारीसे आचार्य कहे— 'कस्य ब्रह्मचार्य्यसि' उसपर 'भवतः' ऐसा उत्तर बालक कहे। तब आचार्य—'ॐ इन्द्रस्य ब्रह्मचार्य्यस्यग्निराचार्यस्तवाहमाचार्यस्तवासौ' इस मन्त्रको पढ़े। मन्त्रके अन्तमें 'आचार्य-स्तव देवशर्मन्' इत्यादि प्रकार असौके स्थानमें शर्मान्त ब्रह्मचारीका नाम लेवे। तदनन्तर आचार्य—

ॐ प्रजापतये त्वा परिददामि। ॐ देवाय त्वा सवित्रे परिददामि।

इत्यादि मन्त्रोंसे हाथ जोड़े हुए बालकको पूर्वादि दिशाओंमें उपस्थान करावें, मन्त्रोंको आचार्य स्वयं पढ़े। पश्चात् कुमार बालक अग्निकी प्रदक्षिणा क्रमसे पर्युक्षण करके आचार्यसे उत्तरमें बैठकर पुष्प चन्दन ताम्बूल और वस्त्रोंको लेकर 'ॐ अद्य' इत्यादि मन्त्रसे ब्रह्माका वरण करे और पुष्पादि ब्रह्माके हाथमें देवे। ब्रह्मा पुष्पादिको लेकर 'वृतोऽस्मि' कहे। इसके बाद उपनयन संस्कारमें अनेक कृत्य किये जाते हैं, जो विस्तारभयसे यहांपर नहीं दिये गये, वे सब संस्कारसम्बन्धीय ग्रन्थोंमें द्रष्टव्य हैं। संस्कारकी समाप्ति होनेपर आचार्यके लिये ब्रह्मचारीको—तुम ब्रह्मचारी हो अबसे तुम वेदोक्त कर्म करनेके अधिकारी हुए हो, तुम स्नान, सन्ध्योपासन, वेदाध्ययन, भिक्षाचर्यादि अपने शास्त्रोक्त कर्म करोगे, तुम दिनमें नहीं सोया करोगे इत्यादि इत्यादि उपदेश देनेका और ब्रह्मचारीके लिये प्रतिज्ञापूर्वक उन सबको स्वीकार करनेका नियम है। इसके बाद आचार्य ब्रह्मचारीको सावित्री मन्त्रका उपदेश देते हैं। इसमें आचार्य प्रथमावृत्तिमें प्रणव और व्याहृतियों सहित एक एक पादका उपदेश करते हैं। द्वितीयावृत्तिमें ऊपर लिखे अनुसार प्रथम आधी ऋचाके साथ प्रणव व्याहृति लगाकर कहलावे, द्वितीयतः ऐसे ही तृतीय पादका उच्चारण करावे और तृतीया-वृत्तिमें प्रणव व्याहृतियों सहित पूरे मन्त्रका उच्चारण आचार्य करावे, शिष्य साथ साथ

कहता जावे। ऐसा तीन बार कहलाकर आचार्य और शिष्य दोनों 'ॐ स्वस्ति' कहें। इसके अनन्तर कुछ हवनादि कृत्य किये जाते हैं और सबके अन्तमें प्रथमतः ईश्वर, देवता, वैश्वानर तथा सूर्यनारायणको अभिवादन करके पश्चात् आचार्यको और तदनन्तर क्रमशः माता-पिता तथा अन्यान्य मान्य स्त्री-पुरुषोंको अभिवादन करनेकी विधि है। इसके पश्चात् भिक्षापात्र लेकर ब्रह्मचारी ब्राह्मण हो तो 'भवति ! भिक्षां देहि' क्षत्रिय हो तो 'भिक्षां भवति ! देहि' और वैश्य हो तो 'भिक्षां देहि भवति !' ऐसा कहकर गृहस्थ स्त्रियोंसे भिक्षा मांग लावे और आचार्यके आगे उस भिक्षान्नको धरकर उनकी आज्ञानुसार भोजन करे। भोजनकालसे लेकर सूर्यास्त होनेतक मौन रहे, उपनयनसंस्कार समयके अग्निको ब्रह्मचारी तीन दिन अवश्य रक्खें, बुतने न देवे। यही सब संक्षिप्त उपनयन विधि है।

उपनयन संस्कार बहुत ही गूढ़ रहस्यमय है। इसमें ब्रह्मज्ञानके मूलस्वरूप ब्रह्मचर्य-लाभ, सत्यज्ञान तथा सदाचारलाभ, सत्शिक्षालाभ और आध्यात्मिक उन्नतिका सारा तत्त्व भरा हुआ है। नीचे संक्षेपसे इस तत्त्वका कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है।

प्रथम अग्निदेवता, वायुदेवता, सूर्यदेवता चन्द्रदेवता और इन्द्रदेवतासे सत्य वचन, सत्य सिद्धि, अध्ययन समृद्धि तथा सदाचार लाभके लिये प्रार्थना और प्रतिज्ञाकी जाती है। तदनन्तर आचार्य शिष्यके प्रति दृष्टिपात करते हुए कहते हैं—हे पञ्चदेव ! तुम इस सुन्दर माणवकको मुझसे मिला दो। हम दोनों बिना किसी विघ्नके परस्तर मिल सकें। गुरु-शिष्यका सम्मिलित होना ही शिक्षाका प्रथम तथा प्रधान अनुष्ठान है, इस कारण ऐसा विधान है। तदनन्तर माणवक आचार्यसे कहता है—'मैं ब्रह्मचारी–अर्थात् मैथुनरहित हुआ हूँ। मुझे उपनीत कीजिये, अपने समीप ग्रहण कीजिये'। तदनन्तर दोनों अपने अपने हाथोंमें तृप्तिसूचक जलाञ्जलि भरकर और आचार्य शिष्यको अपने साथ मिलानेके लिये प्रार्थना कर दोनों ही अञ्जलिके जलको एक ही स्थानमें छोड़ देते हैं। जल जैसे जलके साथ मिल जाता है ऐसा हो मानों गुरु-शिष्यका मिलन हो गया। फिर आचार्य अपने दाहिने हाथसे शिष्यके दाहिने हाथको पकड़ते हैं। शिष्य समझता है उसके हाथको जगत प्रसविता सूर्य, स्वास्थ्य विधायक अश्विनीकुमार और पोषणकारी पूषण देवनाने ही अपने हाथमें लिया है। ऐसी दशामें आचार्य ही उसके लिये जनक, स्वास्थ्यविधायक और पोषक है यह स्पष्ट होगा। फिर आचार्य कहते हैं—'अग्नि, सविता और अर्यमाने पहले ही हस्तधारण कर तुम्हें ग्रहण किया है। अग्निदेव ही तुम्हारे आचार्य हैं, तुम मेरे अति प्रियकारी मित्र हो! इस समग्र सूर्यके आवर्तनके अनुरूप तुम मेरी प्रदक्षिणा करते हो'। शिष्य जब आचार्यकी प्रदक्षिणा करके उपस्थित होता है. तब आचार्य उसकी नाभिको स्पर्श कर कहता है—'हे नाभि ! तू विभ्रष्ट न होना अर्थात् स्थिर रहना। हे अन्तक ! इस ब्रह्मचारी को मैंने तुमको

सौंपा है। (नाभिके ऊपरी भागको छूकर) हे वायो! (वाम भागको छूकर) हे सूर्य! (वक्षःस्थलको छूकर) हे अग्नि! (दक्षिण अङ्गको छूकर) हे प्रजापति! यह मेरा मैं तुमको सौंपता हूँ, यह जरामरणादि किसी दोषको न प्राप्त हो। फिर आचार्य कहते हैं—तुम ब्रह्मचारी हुए हो, हवनके लिये लकड़ी लाओगे मन्त्रोच्चारणपूर्वक जलपान करोगे, गुरु शुश्रूषा करोगे, दिनमें शयन न करोगे इत्यादि इत्यादि। ब्रह्मचारीको इन सबके पालनका स्वीकार करना होता है। तदनन्तर ब्रह्मचारी यथार्थ-ब्रह्मचारीका वेष धारण करता है अर्थात् अङ्गोंके वलय आदि अलङ्कारोंको त्यागकर मेखला, यज्ञोपवीत, अजिन धारण करके गायत्री पाठको ग्रहण करता है। गायत्री पाठके उपरान्त भिक्षाचर्या, गुरुको भिक्षान्न समर्पण और गुरु आज्ञासे स्वयं भोजन आदि कर्तव्य विहित हैं।

ऊपरके सभी कृत्य गूढ़ रहस्यमय हैं। (१) जलमें जल मिलनेकी तरह गुरु-शिष्यका मधुमय सम्मिलन कैसा मधुर तथा शिष्यके लिये सर्वोन्नतिप्रद है। (२) गुरुने शिष्यका हाथ पकड़कर कैसे सुन्दररूपसे जनकत्व, स्वास्थ्यविधायकत्व तथा पोषकत्वका परिचय दिया। (३) किन्तु गुरु अपनेमें इन सब अधिकारोंको स्वीकार करने पर भी स्वयं अभिमानी नहीं हुए, शिष्यके यथार्थ गुरु अग्निदेव हैं, सो स्पष्ट कह दिया और शिष्यको अपना प्रियकारी मित्र समझा। गुरुका हृदय शिष्यके प्रति जैसा होना चाहिये अर्थात् मिलनसार, पितृतुल्य तथा निरभिमान मित्रभावापन्न, सो ही प्रकट हुआ। तदनन्तर शिष्यका कर्त्तव्य जो गुरुका ही आवर्त्तन अथवा अनुवर्त्तन करते रहना है, सो तत्कर्तृक सूर्यावर्त्तन द्वारा प्रकाशित हुआ। और यह भी प्रकाशित हुआ कि शिष्य जैसे वेदोदय सूर्यके स्थानापन्न हैं वैसे ही गुरु भी सूर्यके आवर्त्तनीय विश्वमूर्त्ति परमेश्वरके रूप हैं। उसी विश्वरूप गुरुने शिष्यके शरीरमें विश्वके स्थापनामें प्रवृत्त होकर नाभिदेशमें यमको, नाभिके उर्द्ध्वभागमें वायुको, वामभागमें सूर्यको, मध्यभागमें अग्निको और दक्षिण भागमें प्रजापतिको स्थापना किया अर्थात् शिष्यका देह ही समस्त ब्रह्मदेह हुआ और ऐसा होनेसे ही उपनयन संस्कार पूर्ण हो गया। उसी समय माणवक पूर्ण ब्रह्मचारी हुआ और ब्रह्मचारीका वेष धारण कर शास्त्रविहित अनुष्ठानमें प्रवृत्त हो गया। जो संस्कार क्षुद्रदेहको विश्वदेह बनाकर जीवत्वको शिवत्वकी ओर ले जानेमें परम सहायक बनता है, वह कितना महान् तथा रहस्यमय है, सो बुद्धिमान्गण अवश्य ही समझ सकेंगे।

यज्ञोपवीतमें जो नव तन्तु और तीन दण्ड होते हैं, उनके भी अतिगूढ़ तात्पर्य हैं। यथा—

ॐकारः प्रथमे तन्तौ द्वितीयेऽग्निस्तथैव च।
तृतीये नागदैवत्यं चतुर्थे सोमदेवता॥

पञ्चमे पितृदेवत्यं षष्ठे चैव प्रजापतिः ।
सप्तमे मारुतश्चैव अष्टमे सूर्य एव च ॥
सर्वे देवास्तु नवमे इत्येतास्तन्तुदेवता ।
ब्रह्मणोत्पादितं सूत्रं विष्णुना त्रिगुणीकृतम् ॥
रुद्रेण दत्तो ग्रन्थिर्वै सावित्र्या चाभिमन्त्रितम् ॥

यज्ञोपवीतके नौ तन्तुओंमें नौ देवताओंका अधिष्ठान है। उनके नौ पृथक् पृथक् गुणोंके साथ यज्ञोपवीत धारण द्वारा द्विजबालक भूषित हो सकते हैं। प्रथम देवता ॐकार-गुण ब्रह्मज्ञान, द्वितीय देवता अग्नि-गुण तेज, तृतीय देवता अनन्त-गुण धैर्य्य, चतुर्थ देवता चन्द्र-गुण सर्वप्रियता, पञ्चम देवता पितृगण-गुण स्नेहशीलता, षष्ठ देवता प्रजापति-गुण प्रजापालन, सप्तम देवता वायु-गुण बलशालिता, अष्टम देवता सूर्य-गुण प्रकाश (ज्ञान) और नवम देवता सर्वदेवता-गुण सात्त्विकता। नवतन्तुयुक्त यज्ञोपवीत धारण द्वारा इन देवताओंका नित्य स्मरण तथा हृदयमें गुणाधान होता है। इसी कारण नवतन्तु धारण विधि है। ब्रह्माने यज्ञसूत्रको बनाया है, विष्णुने त्रिगुणित किया है, रुद्रने ग्रन्थि दी है और सावित्री देवीने अभिमन्त्रित किया है। ग्रन्थि देते समय इनके स्मरण द्वारा भी शक्तिलाभ तथा ज्ञानलाभ होता है। यज्ञोपवीतका परिमाण ९६ अंगुल होता है, इसका अर्थ यह है कि मानवमान ८४ अंगुलका और देवमान ९६ अंगुलका होता है। यज्ञोपवीत पहिनकर वेदव्रत, ब्रह्मव्रत आदिके अनुष्ठान द्वारा मनुष्यको देवत्व और अन्तमें ब्रह्मत्व प्राप्त हो। इसी भाव-को लक्ष्यमें रखकर देवमानका यज्ञोपवीत बनाया जाता है। इसके सिवाय तीन दण्डके द्वारा कायदण्ड, वाग्दण्ड और मनोदण्ड, इन तीनों दण्ड अर्थात् संयमकी विधि बताई गई है। कार्य-संयमके द्वारा ब्रह्मचर्य्यधारण, तपस्यादि; वाक्संयम द्वारा वृथावाक्य या मिथ्यावाक्यपरिहार और मनःसंयम द्वारा विषयोंसे मनको हटाना यही सब यज्ञोपवीतधारी द्विजमात्रका कर्तव्य है। इस प्रकार उपनयनसंस्कार द्वारा द्विजगणको महान् लाभ होते हैं।

(९) उपनयनके बाद नवम संस्कार ब्रह्मव्रत कहलाता है। इसमें उपनीत अर्थात् आचार्य्यगृहमें आचार्यान्तेवासी द्विज ब्रह्मचर्यव्रतको ग्रहण करके ब्रह्म अर्थात् परमात्माके पथमें अग्रसर होनेके लिये प्रतिज्ञा तथा पुरुषार्थ करते हैं, इसी लिये इस संस्कारका नाम ब्रह्मव्रत है। इसमें ब्रह्मचारीका प्रधान कर्तव्य आचार्य्य-सेवा तथा ब्रह्मचर्य्य- धारण है। बिना गुरुसेवाके कोई भी विद्या फलीभूत नहीं होती है, इसलिये आर्यशास्त्रमें गुरुसेवाकी इतनी महिमा बताई गई है, यथा सनत्सुजातमें—

आचार्ययोनिमिह ये प्रविश्य,
भूत्वा गर्भं ब्रह्मचर्यं चरन्ति।
इहैव ते शास्त्रकारा भवन्ति,
विहाय देहं परमं यान्ति सत्यम् ॥

आचार्यके समीप जाकर उनकी सेवा द्वारा जो ब्रह्मचर्य्य पालन करते हैं, वे इहलोकमें सुपण्डित तथा मरणान्तर परमपदको प्राप्त होते हैं। और भी -

शरीरमेतौ कुरुतः पिता माता च भारत।
आचार्यतस्तु यज्जन्म तत्सत्यं वै तथामृतम् ॥

पिता माता केवल स्थूल शरीरको उत्पन्न करते हैं; किन्तु आचार्यके द्वारा जो आध्यात्मिक देह उत्पन्न होता है, वही सत्य तथा अमृत है। श्वेताश्वतर उपनिषद्में भी कहा है—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥

परमात्मा तथा गुरुमें जिसकी पूरी भक्ति है, उसीके हृदयमें तत्त्वज्ञानका स्फुरण हो सकता है। इस प्रकार आचार्यके चरणोंमें रहकर जो ब्रह्मव्रत पालन किया जाता है, शास्त्रमें उसके चार पद कहे गये हैं। यथा सनत्सुजातमें—

शिष्यवृत्तिक्रमेणैव विद्यामाप्नोति यः शुचिः।
ब्रह्मचर्यव्रतस्यास्य प्रथमः पाद उच्यते ॥

भीतर बाहर शुचिता अवलम्बन करके शिष्यवृत्ति द्वारा आचार्यसे जो विद्यार्जन करना है वही ब्रह्मव्रतका प्रथमपाद है।

यथा नित्यं गुरौ वृत्तिर्गुरुपत्न्यां तथा चरेत्।
तत् पुत्रे च तथा कुर्वन् द्वितीयः पाद उच्यते ॥

गुरुके समान गुरुपत्नी तथा गुरुपुत्रमें भी सद्वृत्तिका पालन करना ब्रह्मव्रतका द्वितीय पाद है।

आचार्यणात्मकृतं विजानन्,
ज्ञात्वा चार्थं भवितोऽस्मीत्यनेन।
यन्मन्यते तं प्रति हृष्टबुद्धिः,
स वै तृतीयो ब्रह्मचर्यस्य पादः ॥

आचार्यके द्वारा अपने प्रति उपकारको समझकर तथा उनके द्वारा प्राप्त वेदविद्यासे अपनेको सम्भावित जानकर, जो हृदयकी हृष्टता और कृतार्थता है, वही ब्रह्मव्रतका तृतीय पाद है।

आचार्याय प्रियं कुर्यात् प्राणैरपि धनैरपि।
कर्मणा मनसा वाचा चतुर्थः पाद उच्यते॥

प्राण, धन, मन, वाणी तथा कर्मके द्वारा आचार्यका प्रियानुष्ठान हो ब्रह्मव्रतका चतुर्थ पाद है। इस प्रकारसे आर्यशास्त्रमें ब्रह्मव्रतके चार पाद बताये गये हैं।

ऊपर कथित चार पादोंकी पूर्त्तिके लिये आर्यशास्त्रमें ब्रह्मव्रत संस्कारके सम्बन्धसे उपनीत ब्रह्मचारीके कर्त्तव्यरूपसे अनेक उपदेश दिये गये हैं। अब नीचे उनमेंसे कुछ उपदेश उद्धृत किये जाते हैं। महर्षि यमने कहा है—

मेखलामजिनं दण्डमुपवीतं च सर्वदा।
कौपीनं कटिसूत्रं च ब्रह्मचारी तु धारयेत्॥
अग्नीन्धनं भैक्षचर्यामधः शय्यां गुरोर्हितम्।
आसमावर्त्तनात् कुर्यात् कृतोपनयनो द्विजः॥

उपवीत ब्रह्मचारी मेखला, मृगचर्म, दण्ड, यज्ञोपवीत, कौपीन और कटिसूत्र सदा धारण करें और इस प्रकारसे समावर्त्तनकालपर्यन्त अग्निसेवा, भिक्षाचर्या, भूमिशय्या और गुरुका हितानुष्ठान करें। मेखला, कौपीन आदिसे ब्रह्मचर्यरक्षा होती है।

श्रीभगवान् मनुने कहा है—

वेदयज्ञैरहीनानां प्रशस्तानां स्वकर्मसु।
ब्रह्मचार्याहरेद्भैक्षं गृहेभ्यः प्रयतोऽन्वहम्॥

वेदयज्ञशील तथा वर्णाश्रमोचित कर्ममें निष्ठावान् सदाचारसम्पन्न द्विजगणके गृहमें ही ब्रह्मचारी भिक्षाटन करें। महर्षि यमने कहा है—

आहारमात्रादधिकं न क्वचिद्भैक्षमाहरेत्।
युज्यते स हि दोषेण कामतोऽधिकमाहरन्॥

आहारके लिये जितना प्रयोजन हो उससे अधिक भिक्षान्न संग्रह नहीं करना चाहिये। इच्छाके वशवर्ती होकर अधिक संग्रहकारी ब्रह्मचारीको दोष लगता है। महर्षि दक्षने कहा है—

न ध्यातव्यं न वक्तव्यं न श्रोतव्यं कथंचन।

एतैः सर्वैः सुनिष्णातो यतिर्भवति नान्यथा॥

ब्रह्मचारीको स्त्रियोंके विषयमें न चिन्ता करनी चाहिये, न बोलना चाहिये और न सुनना चाहिये। ऐसा होनेसे ही यति हो सकता है, अन्यथा नहीं।

यही सब संक्षेपसे वर्णित ब्रह्मव्रतकी विधियां हैं। इसका विस्तारित वर्णन किसी दूसरे प्रबन्धमें किया जायगा।

(१०) षोड़श संस्कारोंमें दशम संस्कारका नाम वेदव्रत है। इसको वेदारम्भ संस्कार भी कहते हैं। ज्योतिषोक्त शुभ दिनमें अपनी शाखाका आरम्भ करके इस संस्कार-का अनुष्ठान होता है। महर्षि वशिष्ठने कहा है—

पारम्पर्यागतो येषां वेदः सपरिबृंहणः।
यच्छाखाकर्म कुर्वीत तच्छाखाध्ययनं तथा॥

जिस कुलमें जो शाखा तथा गृह्यसूत्र व्यवहारपरम्परासे चला आता है उस कुलमें उसी शाखासे वेदारम्भ होना चाहिये। महर्षि पाराशरने कहा है—

वेदस्याध्ययनं सर्वं धर्मशास्त्रस्य चैव हि।
अजानतोऽर्थं तद्व्यर्थं तुषाणां कण्डनं यथा॥

साङ्गवेद तथा धर्मशास्त्रोंका अर्थसहित पढ़ना चाहिये। अर्थ न समझकर पाठमात्र पढ़ना भूसी कूटनेके समान निष्फल है।

अब वेदव्रतकालीन शास्त्रोल्लिखित कुछ कर्त्तव्योंके निर्देश किये जाते हैं। शास्त्रमें वेदपाठ तथा अर्थसहित वेदाभ्यासकी भूरि भूरि प्रशंसा पाई जाती है। महर्षि याज्ञवल्क्य-ने कहा है—

वेद एव द्विजातीनां निःश्रेयसकरः परः।
यं यं क्रतुमधीयीत तस्य तस्याऽऽप्नुयात् फलम्॥

वेद ही द्विजातिका परम मुक्तिदायक शास्त्र है। प्रतिशाखाके पाठसे अमोघ फलकी उत्पत्ति होती है। स्मृतिसारसमुच्चयमें लिखा है—

वेदो यस्य शरीरस्थो न स पापेन लिप्यते।
वेदात्मा स तु विज्ञेयः शरीरैः किं प्रयोजनम्॥
वेदाक्षराणि यावन्ति पठितानि द्विजातिभिः।
तावन्ति हरिनामानि कीर्तितानि न संशयः॥
यस्य वेदश्च वेदी च विच्छिद्येते त्रिपूरुषम्।
स वै दुर्ब्राह्मणो नाम सर्वकर्मबहिष्कृतः॥

नित्यं नैमित्तिकं काम्यं यच्चान्यत्कर्म वैदिकम् ।
अनधीतस्य विप्रस्य सर्वं भवति निष्फलम् ॥
अनधीतो द्विजो यस्तु शास्त्राणि तु बहून्यपि ।
शृणोत्याब्रह्मणो नाशं नरकं स प्रपद्यते ॥
नाधीतवेदो यो विप्र आचारेभ्यः प्रवर्त्तते ।
नाऽऽचारफलमाप्नोति यथा शूद्रस्तथैव सः ॥

जिसके शरीरमें वेद है वह पापसे लिप्त नहीं होता है, वह वेदात्मा है, उसके शरीर-का क्या प्रयोजन है ? वेदके जितने अक्षण द्विज पढ़े, उतना हरिनाम ही उसने कीर्त्तन किया इसमें सन्देह नहीं । जिस कुलमें तीन पुरुषतक वेदपाठ नहीं हुआ या कोई वेदज्ञ उत्पन्न नहीं हुए, उसको कर्महीन कुब्राह्मण कुल जानना चाहिये । वेदस्वाध्यायविहीन ब्राह्मणका नित्य, नैमित्तिक, काम्य सभी कर्म्म निष्फल होता है । जो द्विज अन्यान्य अनेक शास्त्र पढ़ने पर भी वेदका स्वाध्याय नहीं करता है, उसको अधोगति मिलता है । वेदपाठ न करके जो विप्र आचारका अनुष्ठान करता है, उसको उस अनुष्ठानका फल नहीं मिलता है, वह शूद्र-तुल्य ही है । इस प्रकार आर्यशास्त्रमें वेदपाठको परममहिमा वर्णित की गई है ।

मनुसंहिताके चौथे अध्याय तथा अन्याय संहिताओंमें वेदपाठमें अनध्यायके दिन बताये गये हैं ।

प्रतिपत्सु चतुर्दश्यामष्टम्यां पर्वणोर्द्वयोः ।
श्वोऽनध्यायेऽद्य शर्वर्य्यां नाधीयीत कदाचन ॥

दोनों प्रतिपदा, चतुर्दशी तथा अष्टमीमें कदापि वेदपाठ नहीं करना चाहिये । जिस दिन अनध्याय होने वाला है, उसके पूर्वदिन रात्रिकालमें कदापि वेदपाठ नहीं करना चाहिये ।

इन विधियोंके साथ कुछ अपवादविधि भी है, यथा कूर्मपुराणमें —

नैत्यके नास्त्यनध्यायः सन्ध्योपासन एव च ।
उपाकर्मणि कर्मान्ते होममन्त्रेषु चैव हि ॥
अनध्यायस्तु नाङ्गेषु नेतिहासपुराणयोः ।
न धर्मशास्त्रेष्वन्येषु पर्वाण्येतानि वर्जयेत् ॥
अधीयीत सदा सर्वं ब्रह्मविद्यां समाहितः ।
सावित्रीं शतरुद्रीयं वेदान्तांश्च विशेषतः ॥

नित्यकर्ममें अनध्याय नहीं है, सन्ध्योपासन, उपाकर्म या होममन्त्रपाठमें भी अनध्याय नहीं माना जाता है। वेदाङ्ग, इतिहास, पुराण या धर्मशास्त्रपाठमें भी अनध्याय नहीं है। अन्यत्र इन पर्वोंका वर्जन होना चाहिये। ब्रह्मविद्या, वेदान्त, गायत्री तथा शतरुद्रीपाठमें कदापि अनध्याय नहीं होता है। यही सब अनध्याय प्रकरणमें अपवादविधि है। इस प्रकारसे वेदादि शास्त्रोंको आज्ञाके अनुसार वेदव्रत संस्कारका पूर्ण परिपालन होनेपर ब्रह्मचारी वेदव्रती, अखिलशास्त्रपारगत तथा इहलोक परलोकमें परम कल्याणका अधिकारी हो सकता है।

शास्त्रमें वेदपाठके विषयमें इतने अनध्याय क्यों माने गये हैं, इसके वैज्ञानिक तथ्यपर विचार करनेसे साधारणतः तीन मुख्य हेतु जान पड़ते हैं। यथा—चन्द्रादि ग्रहोपग्रहोंका आकर्षण, उत्तम या अधम शकुन तथा शारीरिक या मानसिक अशुचिता। वेद श्रीभगवान्‌का वाक्य है, इस कारण आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक त्रिविध शक्ति वैदिक मन्त्रोंमें पूर्णरूपसे विद्यमान है। अतः देशकाल या स्वाध्यायकारी छात्रकी शारीरिक मानसिक स्थिति जबतक उसके अनुकूल न हो तबतक वेदपाठ, और स्वरादि हस्तचालनादिके साथ वेदमन्त्रोच्चारण करनेसे नाना प्रकार आधि व्याधि या दैवी विपत्तियाँ हो सकती हैं। इसी कारण आर्य्यशास्त्रमें ऊपर लिखित निषेध बताये गये हैं। अष्टमी, पूर्णिमा, अमावस्या या उसके आसपासकी तिथियोंमें सूर्य्य चन्द्रादि ग्रहोंका आकर्षण और तज्जन्य शारीरिक मानसिक प्रतिकूलता प्रत्यक्ष सिद्ध है। श्वान, शृगाल; गर्दभ, हस्ती आदि जन्तुओंके साथ अपशकुनका विशेष सम्बन्ध शकुनशास्त्रसे स्पष्ट है और तज्जन्य दैवी असुविधाय सभी मनुष्यों पर होनी भी शास्त्रसिद्ध है। राहुग्रसादिजन्य सूतक, प्रेतश्राद्ध आदि भोजनजन्य तपोनाश और अशुचिता, कृतघ्न पापी आदिके सान्निध्यजन्य अपवित्रता इत्यादि इत्यादि सब शारीरिक मानसिक अशुचिताके दृष्टान्त हैं। अतः इन सब आधिभौतिक तथा आधिदैविक बाधाओंके भयसे त्रिविध शक्तिपूर्ण वैदिक मन्त्रोंका उच्चारण करना हानिजनक होनेसे शास्त्रोंमें अनध्यायका निर्देश किया गया है। वेदान्तादि शास्त्रोंके साथ आध्यात्मिक सम्बन्धकी प्रधानता और दैवीशक्ति सम्पर्ककी न्यूनता रहनेसे उनके स्वाध्याय अनध्यायमें विधिनिषेधका इतना प्राबल्य नहीं माना गया है। यही अनध्यायनिर्देशके मूलमें वैज्ञानिक तथ्य है।

ब्रह्मचारूपी उपनयन संस्कार चतुर्व्यूह द्वारा सुरक्षित है और सुदृढ़ रखा गया है। जगद्गुरु ज्ञानमय श्रीभगवान्‌के साथ अभेद मानकर आचार्यकी भक्ति करना उनके उपदेशोंको वेदवाक्य मानकर पालन करना और उनकी सेवासे अपनेको कृतकृत्य समझना यह प्रथम व्यूह है। हृदालम्भन द्वारा जब आचार्य शिष्यको अध्यात्म अधिदैव और अधिभूतरूपी त्रिविध शक्ति प्रदान करते हैं, परम कृपामय आचार्यकी उस अलौकिक क्रियाके साथ

दूसरे व्यूहका सम्बन्ध है। साक्षात् शब्द ब्रह्मरूपी गायत्रीमन्त्र ब्रह्मज्ञान प्राप्ति, ब्रह्मज्ञान-प्रदायिनी ब्रह्ममयी विद्यादेवीकी कृपाप्राप्ति और जीवके अभ्युदय और निःश्रेयसप्राप्तिका मौलिक कारणरूपी होनेसे वह तृतीय व्यूह है। आमरणान्त त्रिविध शुद्धि बनी रहे इसके निमित्त और इसका बाहरी चिह्नरूप यज्ञोपधारण चतुर्थ व्यूह है। इस प्रकारसे चतुर्व्यूह द्वारा सुरक्षित ब्रह्मका संस्कार अज्ञानमय जीवको ज्ञानमय ब्रह्मपद प्राप्त करानेका प्रधान कारण है।

(११) ग्यारहवें संस्कारका नाम समावर्त्तन है। आचार्यगृहमें विद्या समाप्त करके गृहस्थाश्रममें प्रवेशार्थं गृहप्रत्यागमनके समय समावर्त्तन संस्कारका अनुष्ठान होता है। श्रुतिमें लिखा है—

'आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः'

आचार्य्यको दक्षिणारूपसे यथेप्सित धन देकर प्रजातन्तुकी रक्षाके लिये स्नातक द्विजको गृहस्थाश्रममें प्रवेश करना चाहिये। जो विद्या आचार्य्यसे मिलती है, धन द्वारा उसका परिशोध तो हो नहीं सकता, जैसा कि महर्षि हारीतने लिखा है—

एकमप्यक्षरं यस्तु गुरुः शिष्ये नियोजयेत्।
पृथिव्यां नास्ति तद्द्रव्यं यद्दत्वाऽप्यनृणो भवेत्॥

जो एक भी अक्षर गुरु शिष्यको प्रदान करते हैं, पृथ्वीमें ऐसा कोई धन नहीं है, जिसको देकर शिष्य उस ऋणसे उऋण हो सकता हो। तात्पर्य यह है कि, इस संसारमें ज्ञान सबसे श्रेष्ठ वस्तु है। विद्यासे ज्ञानकी प्राप्ति होती है। ज्ञानके साथ धनकी तुलना नहीं हो सकती, क्योंकि ज्ञान अमूल्य वस्तु है। अतः ज्ञानप्रदाता गुरुके ऋणसे क्या कोई धन देकर उऋण हो सकता है? कदापि नहीं। तथापि लौकिक विधिके अनुसार व्रतसमाप्ति-रूपसे गुरुदक्षिणा देनेकी आज्ञा है। कूर्मपुराणमें भी लिखा है:—

वेदान् वेदांस्तथा वेदौ वेदं वाऽपि समाहितः।
अधीत्य चाधिगम्यार्थं ततः स्नायाद्द्विजोत्तमः॥

समाहितचित्त होकर चार वेद, तीन वेद, दो या एक वेद पढ़कर तथा उसमें जानने योग्य विषयोंको जानकर पश्चात् द्विजको समावर्त्तन स्नान करना चाहिये। महर्षि याज्ञवल्क्यने लिखा है:—

वेदव्रतानि वा पारं नीत्वा ह्युभयमेव वा।
अविप्लुतब्रह्मचर्यो लक्षण्यां स्त्रियमुद्वहेत्॥

समग्र वेद अध्ययन करके अथवा दो या एक वेद अध्ययन करके अस्खलित ब्रह्मचारी सुलक्षणयुक्ता स्त्रीसे विवाह करें।

(१२) बारहवें संस्कारका नाम विवाह है। इसके विषयमें आगेके अध्यायोंमें बहुत कुछ कहा जायगा। तथापि प्रसङ्गानुरोधसे संक्षेपमें कुछ कहा जाता है। उद्वाहसंस्कारमें जो कुछ वैदिक कृत्य किये जाते हैं उनका विस्तारित वर्णन यहाँ पर करना निष्प्रयोजन प्रतीत होता है। इस कारण समस्त विधियोंका वर्णन न करके उनमें अन्तर्निहित भावोंका वर्णन किया जाता है। उन भावोंपर संयम करनेसे विचारवान् मनुष्यमात्र ही समझ सकेंगे कि, अन्यदेशीय विवाहपद्धतिके साथ आर्यजातीय विवाहपद्धतिका आकाश पाताल जैसा अन्तर है। अर्थात् अन्यदेशीय विवाह केवल स्थूल इन्द्रियसेवाके लिये स्त्रीपुरुषका स्वल्पकाल स्थायी लौकिक सम्बन्ध मात्र है, किन्तु आर्यजातीय विवाह दम्पतिके आत्मा, मन, प्राण, शरीर सभीके पारस्परिक प्रगाढ़ आध्यात्मिक सम्बन्ध द्वारा दोनोंहीके मोक्षलाभार्थ चिरस्थायी प्रयत्न है। दृष्टान्तरूपसे अन्यदेशीय विवाह रीतिके कुछ दिग्दर्शन कराये जाते हैं।

(१) एक आसनपर बैठकर एक पात्रसे स्त्रीपुरुष दोनोंके भोजन करनेसे ही ब्रह्मदेशीय लोग उनके पतिपत्नीभावको स्वीकृत करते हैं, एक नीबू या अन्य किसी फलको काटकर उसका आधा भाग पति पत्नीके मुखमें और दूसरा आधा भाग पत्नी पतिके मुखमें खिलानेके लिये देनेसे ही चीन और जापानके लोग उनका विवाह हो जाना स्वीकृत करते हैं।

(२) मुसलमानोंमें भी एक आसनपर बैठकर एक पात्रसे पति और पत्नी परस्पर एक दूसरेको खानेकी सामग्री खिलाते हैं और तभी विवाहकार्य सम्पन्न समझा जाता है। किन्तु मुसलमानोंमें कन्याकी स्वीकृति ही विवाहका मूलमन्त्र है।

(३) ईसाईधर्मावलम्बियोंमें भी स्वीकृति, पुरोहितका मन्त्र पढ़ना और मुखमें मुख लगाना—इन्हींके द्वारा वैवाहिक सम्बन्धका प्रकाश होता है। अतः स्त्रीपुरुषका परस्पर उच्छिष्ट भोजनरूप एक अति क्षुद्र व्यापार जैसे छोटी बातोंका सामने रखकर उन उन धर्मावलम्बियोंका विवाहकार्य सम्पन्न होता है। उनके विवाहमें आधिदेव सम्बन्ध और अध्यात्म लक्ष्य कोई पाया नहीं जाता। इसके साथ आर्यजातीय शुभ विवाहका धर्मजगत्में कैसा महान् प्रभेद है, निम्नलिखित दिग्दर्शनसे अनायास ही मालूम हो जायगा।

आर्यविवाहमें जल और अग्निका सम्बन्ध विशेष रहता है। प्रथमतः वर वधूका हाथ मिलाकर शङ्खसे अविच्छिन्न जलकी धारा डालनेकी विधि है। हाथके द्वारा विद्युत्प्रवाह चलता है इसका प्रमाण पहिले ही दिया जा चुका है। जल विद्युत्का बड़ा भारी संचालक है यह भी विज्ञानजगत्में सिद्ध हो चुका है। शङ्खके साथ नाद और मोक्षका सम्बन्ध है यह

भी पहिले बताया जा चुका है। अतः इस जलधारा डालनेमें पतिपत्नीकी प्रेमधारा-विनिमय और प्रेमकी विद्युत्शक्तिके दृढ़ होनेमें बड़ी सहायता मिली। और शङ्खरूपी-मोक्षका सम्बन्ध रहनेसे दाम्पत्यप्रेम विषय विलासमें परिणत न होकर अन्तमें भगवत्प्रेमको ही उत्पन्न करेगा और स्त्री-पुरुष गृहस्थधर्मको पालते हुए अन्तमें मोक्षप्रद निवृत्ति मार्गके अधिकारी बन सकेंगे यही इसमें तथ्य निकलता है। किसी आकारहीन कमजोर चीजको ठीक आकार देकर मजबूत बनानेके लिये जल और अग्निकी सहायता ली जाती है। दृष्टान्तरूपसे समझ सकते हैं कि मिट्टीसे घड़ा मजबूत तभी बनता है जब मिट्टीके परमाणुओंको जलसे भिगोकर पहिले घड़ेका आकार दिया जाय और कच्चे घड़ेको आगमें तपाकर दृढ़ किया जाय। कमजोर मिट्टीसे मजबूत ईंट बनानेको, कितने ही बर्तन तथा जलपात्र आदि बनानेकी यही विधि है। अतः बिछुड़ी वस्तुओंका सम्बन्ध मिलाना और उस सम्बन्धको बलवान् तथा स्थायी बनाना जल और अग्निकी सहायतासे उत्तम रूपसे हो सकता है। विवाहविज्ञानमें भी पतिपत्नीके सम्बन्धको अति दृढ़ तथा जन्मजन्मान्तर स्थायी बनानेके लिये इसी कारण जल और अग्निका इतना सम्बन्ध माना गया है। इसके सिवाय देवताओंमें ब्राह्मण अग्निदेवके पास साक्षीरूपसे संकल्प आदि करानेका तथा वरुणदेवसे कृपालाभ करनेका भी बहुत कुछ अदृष्ट फल है। कन्यादान देना, वरके द्वारा कन्यादान ग्रहण करना, देवता और पितरोंकी सहायतासे दो शक्तियोंका एक होना, इत्यादि अनेक गंभीर बातें आर्यविवाहमें रक्खी गयी हैं।

उद्वाहसंस्कारमें अन्यान्य कृत्योंके अनन्तर कन्यादान सङ्कल्पके समय समस्त देवताओंसे आशीर्वाद लेकर विवाहकार्यको शुभभावमय बनाया जाता है, यथा—

ब्रह्मा वेदपतिः शिवः पशुपतिः सूर्यो ग्रहाणां पतिः।
शक्रो देवपतिर्हविर्हुतपतिः स्कन्दश्च सेनापतिः॥
विष्णुर्यज्ञपतिर्यमः पितृपतिः शक्तिः पतीनां पतिः।
सर्वे ते पतयः सुमेरुसहिताः कुर्वन्तु वो मङ्गलम्॥

इस प्रकार मङ्गलसूचक ब्रह्मादि देवताओंके नामोच्चारणके बाद दश महादान किये जाते हैं, जिनके भीतर भी विशेष पवित्रता तथा आस्तिकता पाई जाती है, उनमें कुछ नीचे लिखे जाते हैं, यथा सुवर्णदानमें—

हिरण्यगर्भसंभूतं सौवर्णं चांगुलीयकम्।
सर्वप्रदं प्रयच्छामि प्रीणातु कमलापतिः॥

यह कमलापति विष्णुके प्रीत्यर्थं स्वर्णदान है। तदनन्तर धेनुदानमें—

यज्ञसाधनभूता या विश्वस्याघौघनाशिनी ।
विश्वरूपधरो देवः प्रीयतामनया गवा ॥

गोमाता यज्ञको साधनरूपिणो तथा संसारकी पापनाशिनी है। विश्वरूपधारी देवताके प्रीत्यर्थ इनका दान होता है। तदनन्तर पृथिवीदानमें—

सर्वेषामाश्रया देवी वराहेण समुद्धृता ।
अनन्तशस्यफलदा अतः शान्ति प्रयच्छ मे ॥

वसुमती देवो वराह भगवान्के द्वारा उद्धृता, सकल जीवों की आश्रयदात्री तथा अनन्तशस्यफलदायिनी है। उनके दान द्वारा देवीसे शान्ति मांगी जाती है, यही सब विवाहविधिमें दान माहात्म्य है। तदनन्तर वर कन्या दोनोंके एक आसनपर बैठकर एक साथ आज्याहुति देते समय जो मन्त्र पढ़े जाते हैं, उनके भो बड़े ही पवित्र तथा महान् भाव हैं।

[१] देवताओंमें श्रेष्ठ अग्नि यहां आगमन करें। वह इस कन्याके भविष्यत् सन्तानोंको मृत्युभयसे बचावें और आवरण देवता ऐसो आज्ञा करें कि, यह स्त्री पुत्र-सम्बन्धीय व्यसनसे पीड़ित न हो।

[२] गार्हपत्य अग्नि इसकी रक्षा करते रहें, इसके पुत्र वृद्धावस्था पर्यन्त जीवित रहें, यह जीवित पुत्रवती होकर पतिके साथ निवास करे, और सत् पुत्रजनित आनन्दका उपभोग करे।

[३] हे कन्ये ! द्युलोक तेरे पृष्ठ देशकी रक्षा करें, वायु और अश्विनीकुमार दोनों ऊरुओंकी रक्षा करें, सूर्यदेव तेरे दुधमुंहे पुत्रोंकी रक्षा करें, इत्यादि ।

इस प्रकार आज्याहुतिके बाद लाजाहुति दी जाती है, जिसमें पत्नीकी ओरसे पतिके शतायु होनेकी प्रार्थना और पतिकी ओरसे अभिन्न दाम्पत्य प्रेमकी प्रार्थना है। लाजाहुतोके साथ साथ जो लौकिक गाथा कहनेकी विधि है, वह भो अपूर्व रसपूर्ण है। यथा—

राघवेन्द्रे यथा सीता विनता कश्यपे यथा ।
पावके च यथा स्वाहा तथा त्वं मयि भर्त्तरि ॥
सुदक्षिणा दिलीपेषु वसुदेवे च देवकी ।
लोपामुद्रा यथाऽगस्त्ये तथा त्वं मयि भर्त्तरि ॥
अत्रौ यथाऽनसूया च यमदग्नौ च रेणुका ।
श्रीकृष्णे रुक्मिणी यद्वत्तथा त्वं मयि भर्त्तरि ॥ इत्यादि ॥

जिस प्रकार रामके प्रति सीताका, कश्यपके प्रति विनताका, अग्निके प्रति स्वाहाका, दिलीपके प्रति सुदक्षिणाका, वासुदेवके प्रति देवकीका, अगस्त्यके प्रति लोपामुद्राका अत्रिके प्रति अनुसूयाका, यमदग्निके प्रति रेणुकाका और श्रीकृष्णके प्रति रुक्मिणीका पवित्र भाव है, ऐसा ही वरकन्यामें मधुर पवित्र दाम्पत्य भावके लिये यह प्रार्थना है।

लाजाहुतिके समाप्त होनेपर सप्तपदी गमन होता है। पति एक एक वाक्य कहता है और कन्या एक एक वार पदनिक्षेप करती हुई कुछ कहती है। ये सब वाक्य निम्नलिखित हैं। वरके कहने योग्य वाक्य,—ॐ एकमिषे विष्णुस्त्वा नयतु। ॐ द्वे ऊर्जे विष्णुस्त्वा नयतु। ॐ त्रीणि रायस्पोषाय विष्णुस्त्वा नयतु। ॐ चत्वारि मायो भवाय विष्णुस्त्वा नयतु। ॐ पञ्च पशुभ्यो विष्णुस्त्वा नयतु। ॐ षड् ऋतुभ्यो विष्णुस्त्वा नयतु। ॐ सखे सप्तपदा भव सा मामनुव्रता भव विष्णुस्त्वा नयतु।

हे कन्ये ! विष्णुने अन्नलाभके लिये एक पद, बललाभके लिये द्वितीय पद, पञ्चमहायज्ञादि नित्यकर्मके लिये तृतीय पद, सौख्यके लिये चतुर्थ पद, पशुलाभके लिये पञ्च पद, धनरक्षाके लिये षष्ठ पद और ऋत्विक्लाभके लिये सप्तम पदका अतिक्रमण कराया। इस समय प्रति पदक्षेपमें कन्या एक एक श्लोक कहती है, यथा—

धनं धान्यं च मिष्टान्नं व्यञ्जनाद्यं च यद्गृहे।
मदधीनं च कर्त्तव्यं वधूराद्ये पदे वदेत् ॥
कुटुम्बं रक्षयिष्यामि सदा ते मञ्जुभाषिणी।
दुःखे धीरा सुखे हृष्टा द्वितीये साऽब्रवीद् वचः ॥
पतिभक्तिरता नित्यं क्रीड़िष्यामि त्वया सह।
त्वदन्यं न नरं मंस्ये तृतीये साऽब्रवीदिदम् ॥
लालयामि च केशान्तं गन्धमाल्यानुलेपनैः।
काञ्चनैर्भूषणैस्तुभ्यं तुरीये सा पदे वदेत् ॥
आर्ते आर्ता भविष्यामि सुखदुःखविभागिनी।
तवाज्ञां पालयिष्यामि पञ्चमे सा पदे वदेत्।
यज्ञे होमे च दानादौ भविष्यामि त्वया सह।
धर्मार्थकामकार्येषु वधूः षष्ठे पदे वदेत् ॥
अत्रांशे साक्षिणो देवा मनोभावप्रबोधिनः।
वञ्चनं न करिष्यामि सप्तमे सा पदे वदेत् ॥

धन धान्य. मिष्टान्न व्यञ्जन आदि जो कुछ घरमें हैं सो सब मेरे अधीन रहेगा। मैं मिष्टभाषिणी, कुटुम्बियोंकी रक्षिका, दुःखमें धीर तथा सुखमें हृष्ट रहूँगी। पतिपरायणो होकर तुम्हारे साथ विहार करूंगी, अन्य किसी पुरुषका मनसे चिन्तन न करूंगी। गन्ध, माल्य, लेपन, भूषण आदिके द्वारा तुम्हारा सदा आदर सत्कार करूंगी। मैं तुम्हारे दुःखमें दुःखिनी तथा सुखदुःखकी अंशभागिनी होकर सदा तुम्हारी आज्ञाका पालन करूंगी। यज्ञ होम दानादिमें तथा सकल प्रकारकी धर्मार्थकामकार्यमें तुम्हारी साथिनी बनूंगी। मेरी इन प्रतिज्ञाओंमें अन्तर्यामी देवतागण साक्षी रहें, मैं कभी तुम्हें वञ्चना नहीं करूंगी। यही सब सप्तपदीगमनकालमें स्त्रीकी ओरकी प्रतिज्ञा है, जिसके द्वारा स्त्री अपना गोत्र बदलकर पतिकी हो जाती है और विवाहसम्वन्ध दृढ़बद्ध हो जाता है। केवल गोत्र ही नहीं बदलता है. डाक्टरोंने परीक्षाकर देखा है कि स्त्रीशरीरके खूनमें भी भावके अनुसार परिवर्त्तन होकर वह पतिके खूनके अनुरूप बन जाता है। इसके अनन्तर वरके द्वारा वधूके सिरपर अभिषेक और वधूके द्वारा ध्रुवदर्शनके बाद वर वधूके दहिने कन्धेपर से हाथ ले जाकर :—

ॐ मम व्रते ते हृदयं दधामि, मम चित्तमनुचित्तं तेऽस्तु।
मम वाचमेकमना जुषष्व प्रजापतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम्॥

अर्थात् अपना हृदय मेरे काममें लगाओ, अपना चित्त मेरे चितके अनुरूप करो। तुम मेरे मनमें अपना मन मिलाकर मेरे वचनको सेवा करो। वृहस्पति तुमको मुझे प्रसन्न करनेमें प्रवृत्त करें, इस मन्त्रको पढ़कर वधूके हृदयका स्पर्श करे। तदन्तर वधूकी ओर देखता हुआ :—

ॐ सुमङ्गलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत।
सौभाग्यमस्यै दत्त्वा यथास्तं विपरेतन॥

इस मन्त्रको पढ़े। तदनन्तर देशाचारानुसार वधूको वरके वामभागमें बैठाना होता है। तदनन्तर वरके वामभागमें बैठी हुई वधू सात श्लोकोंके द्वारा प्रतिज्ञा वचन कहती है। यथा :—

तीर्थव्रतोद्यापनयज्ञदानं मया सह त्वं यदि किन्न कुर्याः।
वामाङ्गमायामि तदा त्वदीयं जगाद वाक्यं प्रथमं कुमारी॥
हव्यप्रदानैरमरान् पितॄंश्च कव्यप्रदानैर्यदि पूजयेथाः।
वामाङ्गमायामि तदा त्वदीयं जगाद कन्या वचनं द्वितीयम्॥

कुटुम्बरक्षाभरणे यदि त्वं कुर्याः पशूनां परिपालनं च ।
वामाङ्गमायामि तदा त्वदीयं जगाद कन्या वचनं तृतीयम् ॥

इत्यादि ।

मैं तीर्थ व्रत उद्यापन यज्ञ आदि सभी धर्मकार्योंमें तुम्हारी वामाङ्गरूपिणी रहूँगी। हव्यदान द्वारा देवपूजन अथवा कव्यदान द्वारा पितृपूजनमें तुम्हारी वामाङ्गिनी रहूंगी, कुटुम्ब रक्षा, पशुपालन आदि सभी कार्योंमें तुम्हारी वामाङ्गिनी रहूँगी। इत्यादि इत्यदि प्रतिज्ञा करनेपर वर उन प्रतिज्ञाओंके स्वीकाररूपसे कहे:—

मदीयचित्तानुगतं च चित्तं सदा मदाज्ञापरिपालनञ्च ।
पतिव्रता धर्मपरायणा त्वं कुर्याः सदा सर्वमिमं प्रयत्नम् ॥

तुम पातिव्रत्यधर्मपरायणा होकर सदा मग्दतचित्ता, मदाज्ञाकारिणी और प्रतिज्ञानुरूप कार्य करनेमें तत्पर रहो। इस प्रकारसे परस्पर प्रतिज्ञा होनेके बाद 'ॐ वाममुद्य सवितव्वाममस्वो' इत्यादि मन्त्र पढते हुए वर वधूके सीमन्तमें सिन्दूर लगावे। इसके अनन्तर और कुछ माङ्गलिक कृत्य होनेके बाद उद्वाह संस्कार समाप्त हो जाता है। यही सब इहलोक परलोकमें तथा निःश्रेयस लाभपर्यन्त धर्मजीवनलाभके श्रेष्ठकारणरूप उद्वाहसंस्कारका परमपवित्रतामय निगूढ़ रहस्य है, जिसके ऊपर सामान्य चिन्तासे ही विचारवान् पुरुष समझ सकेंगे कि, आर्यजातीय विवाहविधिके साथ अन्यजातीय विवाहविधिके साथ अन्यजातीय विवाहविधिका कितना अनन्तर है और किस महान् लक्ष्यको सामने रखकर पूज्यपाद महर्षियोंने विवाहविधिका प्रवर्त्तन किया है।

मन्वादि स्मृतिकारोंने ब्रह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, असुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच ये आठ प्रकारके विवाह बताकर प्रथम चार विवाहोंकी प्रशंसा और अन्तिम चार विवाहोंकी निन्दा की है। (१) ब्राह्मविवाहमें वस्त्रालंकारभूषित कन्याका विद्या और शीलवान् वरको बुलाकर दान, (२) दैवविवाहमें ऋत्विकको कन्यादान, (३) आर्षविवाहमें वरपक्षको गो मिथुन लेकर कन्यादान, (४) प्राजापत्यविवाहमें "तुम दोनों मिलकर गृहस्थाश्रमका आचरण करो" इस प्रकार कहकर विधिके साथ वरको पूजा करके कन्यादान, (५) आसुर विवाहमें धन लेकर कन्यादान, (६) गान्धर्व विवाहमें परस्परको पसन्द करके परिणय, (७) राक्षस विवाहमें युद्ध, हनन, आघात आदिके बीचसे कन्याग्रहण और (८) पैचाश विवाहमें निद्रिता, मद्यपानसे विह्वला या उन्मत्ता कन्यासे एकान्तमें सम्बन्ध करके विवाह इत्यादि इत्यादि सब बताये गये हैं। सातवां और आठवां विवाह बहुत ही निन्दनीय समझा जाता है। आर्यजातिमें इसका प्रचलन ही नहीं था। यदि युद्धसे अथवा

स्वयम्बरसे क्षत्रियगण कन्या प्राप्त करते थे परन्तु पीछेसे अन्यान्य शास्त्रानुकूल विवाह-पद्धतिका अनुसरण किया जाता था। अब तो या तो कन्यादानकी विधि है जो सत्कुलोद्भव महत् पुरुष ब्राह्म या प्रजापत्य रीतिके अनुसार विवाह कर देते हैं, या तो लोभी प्रजा धन लेकर कन्याका विवाह करते हैं अथवा वरको धन देकर वशीभूत करते हैं। यह सब निन्द-नीय विवाह है। कहीं कहीं आसुर विवाहकी रीति रहनेपर भी उसकी प्रशंसा न होकर निन्दा ही होती है। मनु कश्यपादि ऋषियोंने तो आसुर विवाहकी बहुत ही निन्दा की है, यथा :—

> क्रयक्रीता तु या नारी न सा पत्न्यभिधीयते।
> न सा दैवे न सा पित्र्ये दासीं तां कवयो विदुः॥
>
> (कश्यप)

मूल्य देकर जो स्त्री लाई जाती है उसको पत्नी नहीं कहा जा सकता है। उसके द्वारा देवकार्य या पितृकार्य कुछ भी नहीं हो सकता है। उसको विद्वान्‌गण पत्नी न कहकर दासी ही कहते हैं। और भी :

> कन्याविक्रयिणो मूर्खा रहः किल्विषकारिणः।
> पतन्ति नरके घोरे घ्नन्त्यासप्तमं कुलम्॥

कन्याविक्रयकारी लोग मूर्ख तथा प्रच्छन्न पापकारी हैं, उनको घोर नरक तथा उनके सात कुल दग्ध होते हैं। इस प्रकारसे आर्य्यशास्त्रमें आसुर विवाहको निन्दा की गई है। राक्षस, पैशाच आदि विवाहकी निन्दा शास्त्रमें है ही। किन्तु इतना होनेपर भी 'नाभावो विद्यते सतः' वस्तुसत्ताका नाश न होकर केवल रूपान्तरमात्र होता है, इस सिद्धान्तके अनु-सार गौणरूपसे ब्राह्मविवाहके भीतर भी देशाचार लोकाचार आदि परम्परासे अन्य सब विवाहके भी कुछ कुछ लक्षण देखनेमें आते हैं। आजकल विवाहकालमें ऋत्विकके समान जो वरपूजाकी विधि प्रचलित है, उसे ब्राह्मविवाहमें दैवविवाहका अन्तर्निवेश कह सकते हैं। ब्राह्मविवाहके अर्हणभागमें विवाहके स्थानमें जो एक गऊ बांध रखनेकी आज्ञा है, उसे आर्ष विवाहका अन्तर्निवेश जानना चाहिये। इसी प्रकार स्थूल उपहास, गाली देना, पत्थर मारना आदि रीति राक्षसविवाहका ही कंकालमात्र है। शुभदृष्टि, स्त्री-आचार, वासर-जागरण, आमोद प्रमोद आदि गान्धर्वविवाहका लक्षण है और पितृपक्षसे कन्याके लिये आभूषणादि लेनेकी चेष्टा आसुरविवाहका लक्षण है इत्यादि रूपसे अष्ट विवाहविधि किसी न किसी प्रकारसे अनुष्ठित हुआ करती है और ब्राह्मविवाहविधि ही सर्वोत्तम है, जिसके लिये उद्वाहसंस्कारके अपूर्व रहस्यका दिग्दर्शन ऊपर कराया गया।

(१३) तेरहवें संस्कारका नाम अग्न्याधान है। इसमें सस्त्रीक सायं प्रातः श्रौताग्नि या स्मार्त्ताग्निमें हवनादि करनेकी विधि है। पहिले ही कहा है कि, हवन, संस्कार, यज्ञ आदिके नित्यानुष्ठान द्वारा 'ब्राह्मीयं क्रियते तनुः' अर्थात् यह शरीर ब्रह्मबोधानुकूल गुणयुक्त हो जाता है। अग्नि परमपवित्र ऊर्द्ध्वशिखायुक्त तथा देवताओंमें ब्राह्मण है। अतः इसी अग्निकी सेवा करनेसे 'ब्राह्मीतनु' प्राप्तिकी विशेष सम्भावना रहनेके कारण आर्यशास्त्रमें द्विजोंके लिये सस्त्रीक अग्निपरिचर्याका विधान किया गया है। अग्नि परमपवित्र तथा तेजोमय है। इधर विवाहके अनन्तर कामिनीसंसर्गसे विषयवृत्ति बलवती होकर आध्यात्मिक अधोगतिकी सम्भावना भी बलवती हो सकती है। इसी कारण उसी कामिनीके साथ तेजोमय भगवान् पावककी सेवा, सङ्ग तथा आराधनाकी आज्ञा आर्य्यशास्त्रमें दी गई है, जिससे विषयसङ्ग द्वारा विषयस्पृहा बलवती न होकर प्रवृत्तिक्षय द्वारा दिन पर दिन निवृत्ति संस्कारकी ही पुष्टि हो सके। प्रवृत्ति मार्गमें धनसम्पत्ति, अन्न, सन्तान, शक्ति, सुख, स्वास्थ्य, वीर्य आदिकी विशेष आवश्यकता रहती है। इन सब वस्तुओंकी प्राप्तिमें देवताओंकी प्राप्तिमें देवताओंकी कृपा सापेक्ष है। यथा गीता में —

'इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः

यज्ञके द्वारा सम्वर्द्धित होकर देवगण प्रार्थित भोगोको प्रदान करते हैं, जिनसे गृहास्थाश्रमका अनायास निर्वाह होता है। शास्त्रमें 'अग्निमुखा वै देवाः' अर्थात् अग्नि ही देवताओंके मुख हैं, अग्निमें आहुति देनेसे ही वह आहुति देवताओंको पहुंच कर मेघ, वृष्टि, अन्न, प्रजा आदि सम्पत्तियों को उत्पत्तिका कारण बनती है, ऐसा कहा गया है श्रीभगवान् मनुने भी—

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजा॥

अर्थात् अग्निमें दी हुई आहुति सूर्यदेवको प्राप्त होती है और उससे वृष्टि, वृष्टिसेअन्न तथा अन्नसे प्रजाकी उत्पत्ति होती है, ऐसा कहकर 'अग्निमुखा वै देवाः' इस सिद्धान्तकी ही पुष्टि की है। अतः अग्न्याधान संस्कारके साथ प्रवृत्तिमार्गकी पोषकता तथा निःश्रेयसका परम्परा सम्बन्ध रहनेके कारण विवाहके अनन्तर ही इस संस्कारका विधान किया गया है।

(१४-१५) षोड़श संस्कारान्तर्गत चौदहवें तथा पन्द्रहवें संस्कारों के नाम दीक्षा और महाव्रत हैं। गृहस्थाश्रमके नित्य नैमित्तिक कर्म, भावशुद्धिपूर्वक विषयसेवा तथा सस्त्रीक अग्निपरिचर्य्याके द्वारा प्रवृत्तिसंस्कार जितना जितना समाप्त होता जाता है, उतना ही गृहस्थाश्रमीके चित्तमें मुमुक्षुताका उदय, निवृत्तिमार्गके प्रति स्पृहा तथा परमा-

त्मभावकी प्रबलता होने लगती है। उस समय यही आवश्यक होती है कि, कोई सद्गुरु प्रकृति, प्रवृत्ति तथा अधिकारको समझकर दीक्षा प्रदान करें, जिससे साधक क्रमशः निवृत्तिपथका पथिक बनकर नित्यानन्दमय ब्रह्मराज्यमें प्रवेश कर सके। इसी कारण अग्न्याधानके अनन्तर प्रथमतः दीक्षा नामक संस्कारका विधान आर्यशास्त्रमें किया गया है जब गुरुदेव कृपा करके शिष्यको देवता तथा मन्त्रका उपदेश देते हैं तब उस प्रक्रियाको दीक्षा कहते हैं। और दीक्षाके अनन्तर जब साधकको वानप्रस्थका अधिकार हो जाता है तब महाव्रत संस्कार और तदनुकूल साधनाके उपदेश किये जाते हैं। इन दोनों ही संस्कारों द्वारा मलविक्षेपनाशमें विशेष सुविधा होती है। इस प्रकारसे दीक्षा तथा महाव्रत लाभ करके आध्यात्मिक राज्यमें द्रुतपद अग्रसर होते होते अन्तमें जब साधक निवृत्तिकी पराकाष्ठा तथा योगारूढ़ पदवीपर प्रतिष्ठित होने लगता है, तभी आवरण नाशकारी सोलहवें अर्थात् अन्तिम संस्कार संन्यासका अधिकार उसे प्राप्त हो जाता है। दीक्षा और महाव्रतके विषय सब साधन सम्बन्धीय होनेसे बहुत ही गोपनीय तथा केवलमात्र गुरुमुखवेद्य होते हैं, इस कारण यहांपर इनके विस्तारित वर्णन नहीं किये गये।

(१६) अन्तिम अर्थात् सोलहवें संस्कारका नाम संन्यास है। श्रुतिमें लिखा है—'पुत्रैषणाया वित्तैषणाया लोकैषणाया व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति।' सन्तानादि वासना, सम्पत्तिकामना तथा यशोलिप्साके आमूल नाशको प्राप्त होनेपर साधकमें संन्यासकी योग्यता होती है। पहिले ही कहा गया है कि, षोड़श संस्कारोंमेंसे प्रथम आठ प्रवृत्तिरोधक और द्वितीय आठ निवृत्तिपोषक हैं। निवृत्तिपोषकताकी पराकाष्ठामें ही संन्यास है। यथा श्रुतिमें-'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः'। सकामकर्म, प्रजोत्पत्ति या धनके द्वारा नहीं किन्तु त्यागके द्वारा ही अनेक साधकोंने अमृतपद प्राप्त कर लिया है। संन्यासकी सिद्धिमें इसी अमृतपदकी प्राप्ति होती है। सो कैसे होता है, इसके लिये श्रीभगवान्‌ने गीतामें कहा है। यथा—

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः॥ (५ म अध्याय)

पुण्यसंस्कारोंके उदयसे पापसंस्कार क्षीण हो जाते हैं। इन्द्रिय तथा मनके संयमसे अन्तःकरण आत्मामें लवलीन हो जाता है। भूतकल्याणमें रति रहनेसे स्वार्थनाश उदारताकी वृद्धि और जीवसेवारूपसे व्यापक ब्रह्मकी पूजा द्वारा अन्तःकरण भी व्यापक परमात्मामें प्रतिष्ठित हो जाता है। इस प्रकारसे हृदयका द्विधाभाव नाश होकर अद्वैतभावमें साधककी चिरप्रतिष्ठा जब हो जाती है, तभी योगारूढ़ जीवन्मुक्त महात्मा ब्रह्मनिर्वाणपदको लाभ करते हैं। यही श्रीगीतामें भगवान्‌का उपदेश है। संन्यास दशामें अवाङ्मनसोगोचर

अव्यक्त अनिर्वचनीय निर्गुण निराकार देशकाल वस्तुसे अपरिच्छिन्न सर्वतोव्याप्त ब्रह्मकी ही राजयोगोक्त उपासना है और क्रमशः उपास्य उपासकभावके एकीकरण द्वारा, ज्ञाता-ज्ञानज्ञेरूपी त्रिपुटिके लयसाधन द्वारा निर्विकल्पसमाधिमे स्थिति है। वह कैसे सम्भव हो सकता है, इसका रहस्य वर्णन गीताके द्वादशाध्यायमें किया गया है, यथा—

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्य्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यञ्च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥

जो साधक निर्देशसे अतीत, चिन्तासे अतीत, सर्वव्यापक, अव्यक्त, कूटस्थ, निश्चल, ध्रुव, अक्षर ब्रह्मकी उपासना करते हैं, वे भी उन्हींको पाते हैं। किन्तु उनकी उपलब्धिके लिये इन्द्रियोंका विशेष निरोध, चित्तवृत्तिनिरोध सर्वत्र समबुद्धिता और सकल जीवोंके हितमें रतिकी आवश्यकता होती है। उपासना अर्थात् योगके द्वारा इन्द्रियनिरोध तथा चित्तवृत्तिनिरोध होता है, ज्ञान द्वारा समबुद्धिता उत्पन्न होती है और निष्काम कर्मयोग द्वारा भूतसेवा तथा ब्रह्मपूजा होती है। अतः कर्म उपासना ज्ञान तीनोंके सामञ्जस्यानुसार प्रयोग द्वारा ही निर्गुण ब्रह्मकी उपलब्धि, निर्विकल्प पदवीपर आत्यन्तिकी स्थिति तथा शिवपदप्राप्ति श्रीभगवान्‌के वचनानुसार सिद्ध हुई। यही सन्न्याससंस्कारका अन्तिम लक्ष्य तथा मनुष्यजीवनका भी अन्तिम लक्ष्य है। संन्यासके विषयमें और भी वर्णन अन्य प्रबन्धमें किया जायगा। यही आर्यशास्त्रसम्मत सोलह संस्कारोंकी परम महिमा है।

कर्मका बीज संस्कार कहाता है। जैसे बीजसे वृक्षकी उत्पत्ति होती है वैसे ही संस्कारसे कर्म और कर्मफल भोगकी उत्पत्ति होती है। जन्मजन्मान्तर माननेवाली, शुद्धाशुद्ध विवेक समझनेवाली और वर्णधर्म तथा आश्रमधर्म पर दृढ़ता रखनेवाली आर्यजाति संस्कारशुद्धि द्वारा अभ्युदय और निःश्रेयस प्राप्त करने पर दृढ़ विश्वास रखती है। संस्कार दो प्रकारके होते हैं, एक स्वाभाविक और दूसरा अस्वाभाविक। मनुष्य जो अपनी इन्द्रिया-शक्तिके द्वारा नवीन संस्कारसमूह उत्पन्न करके निरन्तर आवागमनचक्रमें घूमता रहता है वह अस्वाभाविक संस्कार है उससे बचनेके लिये और निरन्तर अभ्युदय प्राप्त करके अन्तमें निःश्रेयस प्राप्तिके निमित्त जो शुद्ध संस्कार उत्पन्न करनेकी शैली है वही शास्त्रोक्त षोड़श संस्कार है। इन्हीं शास्त्रोक्त षोड़श संस्कारोंके द्वारा प्रकृतिमाताका बनाया हुआ जो स्वाभाविक अद्वितीय निःश्रेयसकारी मार्ग है उसीको आर्यगण प्राप्त करते हैं। और इस प्रकार अन्तमें षोड़श संस्कारोंके द्वारा प्रकृतिमाताकी गोदमें सोते हुए ब्रह्मसायुज्यको प्राप्त करते हैं।

शक्तिसंचय और आश्रमधर्म।

संग्रामके बिना जीवन नहीं (Life is struggle) और शक्तिके बिना संग्राममें विजय लाभ नहीं, अतः छोटे बड़े, संसारमें सभी शक्तिलाभके लिये लालायित बने रहते हैं। सर्वशक्तिमान् भगवान्का अंश सभीके भीतर भरपूर है इसलिये नियमित प्रयत्न करनेपर उनसे तथा उनकी भिन्न भिन्न विभूतियोंसे शक्तिका मिलना असम्भव नहीं होता है। इसी नियमित प्रयत्नके लिये ही आश्रमधर्मका विधान है। सकल प्रकार शक्तिका आकार कौन है और उस आकारसे शक्तिकी प्राप्ति कैसे हो सकती है। एफ्, विस्चफ् (Fred. F. Bischoff) साहबने कहा है- "Man is the greater Radio and is able to connect himself with the Higher Force. When this is once rightly demanstrated and understood, it will turn him from slave to Master. Then man comes to himself and comprehends the fact that he is the Son of Man and knows that in himself lies all force. He is a Master Force and all the elements will hear his voice." (Master Force—Kalpaka.) मनुष्यमें सामर्थ्य है और वह अपना सम्बन्ध श्रीभगवान्की अलौकिक शक्तिके साथ कर सकता है। इस प्रकारका सम्बन्ध एकवार भी हो जाय और इसका रहस्य भी समझ लिया जाय, तो मनुष्य फिर मायाका दास नहीं बना रहता है, वह स्वयं ही प्रभु बन जाता है। उस समय मनुष्यके अनुभवमें आजाता है कि सब शक्तिका खान अपने भीतर ही विराजमान है। वह सर्वशक्तिमान्से मिलकर अपने भीतर भी सम्पूर्ण शक्तिको भर लेता है और उस समय प्रकृतिके सभी तत्त्व उसके वसमें आ जाते हैं। श्री भगवान्ने गीतामें भी कहा है—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

महाशक्तिरूपिणी त्रिगुणमयी देवी मायाके चक्करसे निस्तार पाना बड़ा ही कठीन है। केवल जो मायाके पति सर्वशक्तिमान परमात्माकी शरण लेता है वही इस मायाके साथ संग्राममें विजयलाभ कर सकता है। उसको संग्राम करनेकी शक्ति श्रीभगवान् ही देते हैं। माया किससे दबती है इस विषयमें महामायाने सप्तशती में स्वयं ही कहा है—

"यो मां जयति संग्रामे यो मे दर्पं व्यहपोहति।
यो मे प्रतिवलो लोके समे भर्त्ता भविष्यति॥"

"मेरे साथ संग्राममें जो विजयी होता है, मेरे दर्पको जो दबा सकता है, मेरी स्पर्द्धाके सामने प्रतीस्पर्धी होकर जो खड़ा रह सकता है, वही मेरे ऊपर प्रभुत्व करने योग्य है।' चार आश्रमोंमें इस प्रकारसे शक्ति संचयके उपाय पूज्य महर्षियोंने बताये हैं जिसके द्वारा क्रमशः प्रचुर शक्ति लाभ करके मनुष्य जीवनसंग्राममें सम्पूर्णरूपसे विजयी हो सकता है और मायाके पति सर्वशक्तिमान् परमात्माको पाकर विधिनिषेधसे अतीत हो सकता है। अरियेल् बुचानन् (Uriel Euchanan) साहबने कहा—

The Universal Mind is continually seeking an outlet. It is like a vast reservoir of water. perennially replenished by mountain spring. Open a channel to it and the water will flow in ever increasing volume. Open your conciousness to the current of Universal Mind; it will express itself through you and its gifts will flow in ever increasing abundance. You are a part of the Universal Mind. You have access to it. If you have faith in your powers initiative and courage to start, you can call upon it for all you need. Whatever of good you may desire. Whatever attainment, you have only to work for it whole-heartedly, with perfect faith and singleness of purpose and success will crown your efforts.

The brain is a plastic medium for the use of the mind. When concentration is perfectly attained; the mind is the master; it rules supreme, beholding yet unmoved. True illumination comes only to the one who has risen above thenarrow horizon of the personal self and has become conciously united with the Infinite. The outer dies daily and the inner becomes manifest. Human progress is the continual unfolding and revealing of the inner self.

(Secrets of the Ages—Kalpaka)

परमात्माको विश्वव्यापिनी शक्ति जीवसत्ताके द्वारा सदा ही प्रजट होना चाहती है। यह पहाड़ी झरनेसे पुष्ट विशाल जलराशिकी तरह है; थोड़ा रास्ता मिलते ही विपुल वेगसे लगातार वह चलती है। इसी शक्तिश्रोतके सामने अपने हृदयको उन्मुक्त करदो, तुम्हें भूरि भूरि भगवत्शक्ति प्राप्त होने लगेगी। तुम उसी पूर्णशक्तिके अंशरूप हो, अतः उसे

पानेमें तुम्हें स्वभाविक अधिकार है। यदि तुम्हें अपनी शक्ति पर विश्वाश तथा आगे बढ़ने का साहस हो, तो इस महती शक्तिसे तुम सब कुछ मांग ले सकते हो। जो कुछ उत्तम वस्तु तुम्हें प्राप्त करनी हो, जो कुछ आध्यात्मिक उन्नति तुम्हें इष्ट हो, सभी निश्चित रूपसे तुम्हें मिल जायेंगे केवल पूर्ण विश्वास और एकान्तरतिके साथ अग्रसर होनेकी देर है।

मनकी क्रिया मस्तिष्कके द्वारा हुआ करती है। मनको जब पूर्ण एकाग्रता प्राप्त होजाती है तो मन इन्द्रियों तथा शरीरका प्रभु बनकर उसमें पुनः फँसता नहीं। यथार्थ प्रकाश उसी महान् व्यक्तिको मिलता है, जिसने अपनी सत्ताको व्यक्तिगत स्वार्थकी सीमासे अलग कर व्यापक सत्तामें मिला दिया है। ऐसे पुरुषोंके बाहिरी स्थूल भाव सब नष्ट होजाते हैं और भीतरके सब प्रकाश फैलने लगते हैं। भीतरी आत्मसत्ताका इस प्रकारसे निरन्तर विकास होना ही मनुष्य जोवनकी यथार्थ उन्नति है। ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ, बानप्रस्थ और संन्यास इन चारों आश्रमोंमें परमात्मा तथा उनकी भिन्न भिन्न शक्ति और विभूतियोंसे मिलकर आध्यात्मिक, अधिदैविक, आधिभौतिक इन तीनों प्रकारकी शक्ति प्राप्त करनेके सुन्दर वैज्ञानिक उपाय बताये गये हैं, जिनके वर्णन क्रमशः नीचे कियें जाते हैं।

प्रथमतः ब्रह्मचर्याश्रममें शक्तिलाभ तथा स्वास्थ्यवीर्यलाभके विषयमें कहा जाता है। क्या हमने वनके पशु या पक्षियोंको कभी रोगी देखा है? वनके पशुपक्षी वर्षाकालमें न कभी सिरपर छाता लगाते और न शीतकालमें कभी ऊनी कपड़े ही पहिनते डा शाल दुशाले ही ओढ़ते हैं, फिर उन्हें रोग क्यों नहीं होता? माताकी सन्तान माताकी ही गोदमें रहनेसे, माताकी प्रेम भरी करुणदष्टि उसपर सदा बनी रहनेसे, मातृशक्तिकी अमृतधारामें अवगाहन कर परिपुष्ट होना सीख लेनेसे, उसे संसारमें कोई कष्ट सहन करना नही पड़ता। चिरजीवन उस आनन्दमयी जननीमें समर्पित होकर आनन्दमें ही कट जाता है। जिससे हमें जन्म दिया वह तो हमारी माता है ही, किन्तु जो सबकी जननी है, वही सर्वत्र विराजमान रहती है। उसका हास्य पुष्पोंके हास्यमें विकसित होता है, उसकी प्रेमधारा गंगाकी धारामें प्रवाहित होती है, उसकी करुणा चन्द्रकलामें प्रकाशित होती है। वही सर्वव्यापिनी माता महाप्रकृति है। उसकी गोदमें हम और हमारे माता पिता आदि सभी प्रतिपालित हुए हैं। वनके पशु पक्षी भी उसी महाप्रकृतिकी गोदमें रहते हैं। हमारी तरह वे महाप्रकृतिकी सन्तान अवश्य हैं, परन्तु उन्होंने अस्वभाविक आचरण कर माताकी गोदको छोड़ा नहीं हैं। वे प्रकृतिमाता पर निर्भर रहना जानते हैं। महाप्रकृति छः ऋतुओंमें छः भावोंके अपूर्व माधुर्यका जो विकाश करती है उसे खुले बदन भरपूर ग्रहण करना उन्होंने सीखा है। वे अपने शरीरके साथ ऋतुशक्तिको पूर्णतया मिला लेते हैं, सब ऋतुओंके वेगको सह लेते हैं। इसीसे वे स्वभावतः द्वन्द्व सहिष्णु और शीत गीष्म वर्षामें एकरूप रहते है और

उन्हें कभी रोगग्रस्त होना नहीं पड़ता। बचपनसे ही सब ऋतुओंके वेगको सहन करनेका अभ्यास करना संसारमें नीरोग बने रहनेका प्रधान उपाय है। जो सदा सर्दी या पानीसे बचे रहनेकी चेष्टा करते हैं, उन्हें थोड़ी सर्दी लगने या कुछ भी ऋतुविपर्यय होनेसे नाना प्रकारके रोग हो जाते हैं; किन्तु जिन्हें बचपनसे ऋतुतारतम्य और परिवर्तनमें उसके वेगके सहन करनेका अभ्यास है, उन्हें ऋतुओंके हेरफेरके समय कोई राग नहीं होता। हम स्वभावतः देखते हैं कि हमारे मुखकी त्वचा शरीरके अन्यान्य अङ्गोंकी त्वचाकी अपेक्षा अधिक उज्ज्वल और लाल रहती है इसका कारण यह है कि हम अपने अन्यान्य अंग प्रत्यङ्गोकी तरह मुखको निरन्तर ढांके नहीं रखते, मुखको हम सदा खुला रखते हैं, इससे उसकी त्वचा अन्य अंगोंकी अपेक्षा कोमल रहने परभी उसमें ऋतुओंके वेगको सहन करनेकी शक्ति अधिक रहती है। इसी तरह बाल्यकालसे सब अंगों को द्वन्द्व सहिष्णु बनाया जाय, तो शरीर स्वस्थ रह सकता है। माताके साथ विरोध कर सन्तान कभी सुखी रह नहीं सकती। माताकी छातीसे चिपक कर प्राणप्रदायिनी मातृस्तन्यधाराका पान करनेसे ही सन्तान चिर अमरताको प्राप्त कर सकती है। यही कारण है कि दूरदर्शी महर्षियोंने ब्रह्मचर्याश्रमकी सृष्टि की है और उस आश्रममें बालकोंको नाना प्रकारसे महाप्रकृतिमें मिला देनेकी व्यवस्था की है। शारीरिक अनेक प्रकारके तप उनसे कराना, शीत ग्रीष्मादिके वेगको सहन करनेके लिये उन्हें खुले बदन, खाली पांव और खुले शिर रखना, अग्निमें नित्य होम, सूर्योपस्थान, पुष्पचयन इत्यादि कार्य उनपर सौंपना, ये सब उपाय महाप्रकृतिके साथ मिलन करनेके ही हैं। पृथ्वीमें जो विद्युत् शक्ति है उसके साथ पार्थिव शरीरका नैसर्गिक सम्बन्ध है यह सम्बन्ध शिशुकालसे ही खाली पैर रहनेका अभ्यास कर अटूट रक्खा जाय तो पार्थिव विद्युत्-परिपुष्ट मनुष्य अवश्यही सबलकाय और निरोग रहेगा। इसी तरह छाताके द्वारा सूर्यतेजका सम्बन्ध न रोक कर यदि शरीर और मस्तक पर धूप सह लेनेका अभ्यास किया जाय तो सूर्यसे आनेवाली प्राणशक्ति प्राप्त होती, है जिससे शरीर स्वस्थ और बलिष्ठ रहता है। मनुसंहितामे इसीलिये ब्रह्मचारीको 'उपानच्छत्रधारण' करना निषिद्ध बताया है। इसी प्रकार गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ तथा संन्यासाश्रममें भी जितने आचार बताये गये हैं सभीके मूलमें महाप्रकृतिके साथ सामञ्जस्य का विज्ञान रक्खा गया है। कालप्रभावसे ये सब स्वास्थ्य सम्बन्धीय नैसर्गिक विधियां लुप्तप्राय होगई हैं। इसीसे आजकलके मनुष्य प्रायः रुग्ण रहकर समस्त जीवन दुःखमें काटते हैं। उनका यौवन बुढ़ापा सभी रोगमय रहता है और उनकी सन्तान भी रुग्न और दुर्बल होती है। अतः बचपनसे महाप्रकृतिके साथ मिलना सीखना चाहिये, जिससे माताका प्रेम और माताका प्राण प्राप्त होकर जीवन आनन्दमें बीत सके। शिक्षाके अभावसे और सभ्यताके अनुरोधसे आजकलके मातापिता प्रायः उक्त तथ्यका अनुसरण

नहीं करने पाते। धनी मातापिताके बच्चे प्रकृति माताकी गोदमें रहते हुए 'बड़े बापके बड़े बेटे' बन जाते हैं। उनके हाथ पैर होते हुए भी मातापिता उन्हें पंगु बना देते हैं। उनमें चलनेकी शक्ति नहीं, गाड़ी चाहिये; थोड़ा बोझ उठानेकी शक्ति नहीं, मजदूर चाहिये; अपना काम करने की शक्ति नहीं, नौकर चाहिये; अर्थात् जो सबके लिये सरल वह इनके लिये कष्टकर और जो स्वाभाविक वह उन्हें लज्जाजनक बोध होता है वह सरल शिशुमहा-प्रकृतिके आदरका धन धूलिधूसरित होकर माताकी छातीपर लोटपोट करता है, धूप पानी और हवाका मनमाना सेवन और निर्लज्ज नग्न होकर ताण्डव नृत्य करता हुआ अपने शरीर मन प्राणको परिपुष्ट बनाता है' परन्तु धनी पिता-माता धनके मदसे, कृत्रिमलोकलज्जाके संकोचसे महाप्रकृतिके उस सरल शिशुको बाल्यजीवनके सरलसुखसे वंचित रखकर चिर-दुःखी और चिररोगी बना देते हैं। बच्चेको जूता, कुरता, मोजा, पाजामा, आदि पहना देनेसे उसे इस बनठनके लिये अकारण सावधानता रखनी पड़ती है। उसका वह प्रफुल्लहृदय माताके साथ मिल नहीं सकता, उसका जीवन बचपनसे ही कृत्रिमतामय हो जाता है। 'यह कपड़ा फटा, धूलसे यह कुरता मैला होगया, पेड़पर चढ़ने-कबड्डी खेलनेसे धोती फट गई, कपड़ेमें कहांसे स्याहीका दाग लगा आया', इत्यादि तिरस्कारयुक्त ताड़नासे उसके बाल्यकालके सब खेल ही नष्ट कर दिये जाते हैं। थोड़ा जाड़ा पड़ते ही सिरसे पाँव तक गरम कपड़ोंसे उसे लाद कर उसके जीवनको कुछसे कुछ बना दिया जाता है। यह सब अज्ञान तथा उनपर अत्याचार है। इन सब अज्ञानमय अत्याचारोंसे बालकोंको बचाना चाहिये। ऐसा करनेसे आनन्दमय शिशु, आनन्दमयीके साथ अकृत्रिमभावसे मिलकर अपने शैशवकालको सुखमय, यौवनकालको जीवन संग्राममें विजयी और वार्धक्यको मुनि-वृत्तिके योग्य बनानेसे स्वाभाविक रूपसे समर्थ होंगे और महाप्रकृतिके मधुर मिलनसे मधुमय आध्यात्मिक जीवन लाभ कर विश्वन्य हो सकेंगे। महाप्रकृतिको स्वाभाविक गति ब्रह्मकी ओर है। जीव अपने अहंकारसे व्यष्टि प्रकृतिको महाप्रकृतिसे पृथक् करके ही बन्धनप्राप्त तथा रोगग्रस्त हो जाता है। ब्रह्मचर्याश्रमका यह सब सदाचार जीवनकी व्यष्टि प्रकृतिको धीरे धीरे समष्टि प्रकृतिके साथ मिला देता है। और इसी धर्मके पालन द्वारा स्थूल शरीरकी स्वास्थ्यसिद्धिके साथ ही साथ जीव अध्यात्मिक उन्नतिको भी अवश्य ही लाभ करता है, जिसका अन्तिम परिणाम संन्यासाश्रममें व्यष्टिप्रकृतिका महाप्रकृतिमें मिलकर ब्रह्मसमुद्रमें विलीन हो जाना है। इसी भावका थोड़ासा अनुभव करके विस्चफ साहबने क्या ही अच्छा कहा है—The laws of nature are the laws of health and he who lives according to these laws is never sick. He who obeys the laws maintains an equilibrium in all its parts and thus insures true harmony

and hormony is health, while discord is disease and shortens life. महाप्रकृतिके नियम ही स्वास्थ्यके नियम हैं, इन्हीं नियमोंके अनुसार रहनेसे कभी रोग नहीं होता है। जो इन नियमोंको मान कर चलता है, वह सब भाव, सब धातु तथा सब तत्त्वोंमें समता और सामञ्जस्य रख सकता है, समता ही स्वास्थ्य है और वैषम्य रोगोंका निदान तथा आयु क्षयकर है। महाभारतमें भी लिखा है—

सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेः स्युस्त्रयो गुणाः।
तेषां गुणानां यत् साम्यं तदाहुः स्वास्थ्यलक्षणम् ॥

सत्त्व, रज, तम प्रकृतिके ये तीन गुण होते हैं, इनके साथ आयुर्वेद शास्त्रानुसार वात, पित्त, कफका भी सम्बन्ध है। सत्त्वगुणके साथ पित्तका, रजोगुणके साथ वातका और तमोगुणके साथ कफका सम्बन्ध है। इन तीनोंकी समतामें ही स्वास्थ्य है और विषमतामें रोग उत्पन्न होता है। विस्चफ साहबने और भी कहा है—A durable body can be obtained by non-resistance and by letting the good nature take its own course. Most diseases are created by resistance and self-abuse, such as anger, worry, fear, overwork or no work at all. Healthy beautiful body is obatinable by giving the great, good nature a chance to do its work. Expose your body to the sunshine and air as much as possible. By this practice and no resistance, all sickness can be avoided.

(Master Force, Fred. F. Bischoff—Kalpaka.)

महाप्रकृतिके नियमोंमें तथा स्वाभाविक गतिमें वाधा न देनेसे ही स्वास्थ्य तथा आयुसे युक्त, दृढ़ शरीर मिल सकता है। अधिकांश रोगोंकी उत्पत्ति इस प्रकार वाधा देनेसे, कामक्रोधादिके वेगके वशीभूत होनेसे और अतिश्रम या आलस्यसे हुआ करती है। सुन्दर, नीरोग शरीर महाप्रकृतिके प्रवाहमें अपनेको बहने देनेसे ही मिलता है। सूर्यभगवान्के प्राणप्रद किरण तथा वायुके तरङ्गमें अपने शरीरको जितना होसके डूबा रक्खो। इसी तरह अभ्यास करनेसे और महाप्रकृतिकी गतिमें वाधा न देनेसे, समस्त रोगोंसे जीव मुक्त हो सकता है। इसी कारण स्थूलशक्तिलाभके लिये ब्रह्मचारी बालकको महर्षिगण शारीरिक तपका उपदेश करते थे। इस प्रकार द्वन्द्व सहिष्णु, तपोबलसे वलीयान् शरीर हो आगे जाकर संसारसिन्धुके प्रबल वेगको सहनकर सकता है।

अब ब्रह्मचर्याश्रममें शक्तिलाभके अन्यान्य उपाय भी बताये जाते हैं। शक्ति एकान्तमें मिलती है यह प्राकृतिक नियम है। माताके गर्भमें दस महीने तक एकान्त निवास करने

पर ही गर्भस्थ भ्रूणको पूर्णशरीर जीव बनकर पृथ्वीमें उत्पन्न होनेकी शक्ति प्राप्त होती है। जमीन के भीतर एकान्तमें छिपे रहनेसे ही जमीनमें बोये हुए बीजमें वृक्षरूपमें उत्पन्न होनेकी शक्ति आती है। महाप्रलयके एकान्त गर्भमें कितने ही कल्प तक रहनेसे ही प्रलयविलीन जीवोंमें पुनः प्रकट होनेकी शक्ति आती है। निद्रादेवीके एकान्त अङ्कमें विश्राम करनेसे ही दिनमें कार्य्य करनेकी शक्ति आती है। इसीकारण महर्षिगण ब्रह्मचर्याश्रममें ब्रह्मचारी बालकको शक्तिमान् बनानेके लिये गर्भधारिणी माताके मोहमय अङ्गसे अतिदूर आचार्य्यकी एकान्त सेवामें रहनेकी आज्ञा दे गये हैं। श्रीभगवान्‌की आध्यात्मिक शक्ति ज्ञानमय वेदके द्वारा, अधिदैवशक्ति सूर्यात्माके द्वारा तथा अधिभूत शक्ति पार्थिव अग्निके द्वारा प्रकट होती है। इसलिये ब्रह्मचर्याश्रममें वेद और शास्त्राभ्यास द्वारा अध्यात्मशक्तिलाभ, गायत्री उपासना और सूर्योपस्थान द्वारा अधिदैवशक्तिलाभ तथा होमादि अग्निसेवाद्वारा अधिभूतशक्तिलाभ ब्रह्मचारी बालकको हुआ करता है। और त्रिसन्ध्या गायत्री उपासना द्वारा वरेण्य बुद्धिप्रेरक आदि देवता तेजोलाभ हुआ करता है। उपानच्छत्रधारण त्याग द्वारा पार्थिव शक्ति तथा सूर्य्यशक्तिके साथ सम्बन्ध स्थापना होनेसे उभय शक्तिका ही संग्रह होता है और मधुमांस त्याग, अष्टविध मैथुन त्याग आदि द्वारा इन्द्रिय संयम शक्तिका लाभ होता है। प्रतिगृह भिक्षाचर्य्यापूर्वक गुरुसेवा द्वारा दीनता, निरहंकार और परमगहन सेवाधर्मका नित्यानुष्ठान होता है। माता शक्तिको देती है और स्त्री पुरुषसे शक्तिको लेकर सन्तानरूपसे नवीन सृष्टिको बनाती है इसलिये जो मनुष्य पहलेसे ही जगत्‌की स्त्रियोंमें मातृभावको अधिक बढ़ा सके वह अधिकरूपसे शक्तिलाभ करते हैं और जो जगत्‌की स्त्रियोंमें पत्नीभाव को अधिक बढ़ाते हैं वह शक्तिको खोते हैं। अतः ब्रह्मचारीको बचपनसे ही 'मां' कहकर शक्तिपानेकी शिक्षा मिलती है। भिक्षा मांगते समय "भक्ति भिक्षां देहि मातः" इस प्रकारसे प्रत्येक स्त्रीका माता कहनेका संस्कार संग्रह होनेसे 'मातृवत् परदारेषु' इस जितेन्द्रियतामूलक देवभावका तथा महती शक्तिका अनायास ही लाभ हो जाता है। केवल अपने पितामाताके अन्नसे शरीर पुष्ट न होकर समस्त स्वदेशवासियोंके अन्नसे शरीर प्रतिपालन होनेके कारण समग्र देशके प्रति ममत्व बुद्धि उत्पन्न होकर देशसेवापरायणताकी पवित्र बुद्धि स्वतः हीं प्रकट हो जाती है। ब्रह्मचर्यधारण गुरुसेवा आदि द्वारा विशेष शक्तिलाभके विषयमें अधिक कहना ही क्या है। तपस्या, शक्तिसञ्चय, गुरुसेवा, और ब्रह्मचर्यके द्वारा मनुष्य अपनी प्रथम अवस्थामें गुरुगृहमें रहकर वेद और शास्त्र तथा इहलौकिक और पारलौकिक उन्नतिकी विद्याओंका अभ्यास करनेमें समर्थ हो सकता है। इस अवस्थामें ही वह सच्चा विद्यार्थी बन सकता है। इस प्रकारसे ब्रह्मचर्य आश्रमकी समस्त विधियोंके द्वारा ब्रह्मचर्याश्रममें गार्हस्थ्योपयोगी धर्ममूलक प्रवृत्तिकी शिक्षा, आत्माकी ओर गति तथा प्रवृत्तिके साथ संग्राम द्वारा निवृत्ति लाभके

उपयुक्त शक्ति प्राप्त होती है। जिस ब्रह्मचारीका प्राक्तन संस्कार अति उत्तम है, वह ब्रह्मचर्याश्रमसे एक बार ही संन्यासाश्रममें प्रवृत्त हो सकता है। किन्तु जिसका संस्कार इतना उच्चकोटिका नहीं है; उसका धर्ममूल प्रवृत्तिकी सहायतासे क्रमशः निवृत्तिलाभके लिये गृहस्थाश्रममें प्रविष्ट होना पड़ता है। यद्यपि ज्ञानहीन भावशुद्धिहीन धर्महीन प्रवृत्ति घृताहुत वह्निकी तरह उत्तरोत्तर बृद्धिगत ही होती है, तथापि प्रवृत्ति धर्ममूलक होनेसे और उसके साथ ज्ञान तथा भावशुद्धिका नित्य सम्बन्ध रहनेसे कालान्तरमें जाकर वह निवृत्तिप्रसविनी अवश्य ही हो जाती है। गृहस्थाश्रममें इसीका साधन होता है। गृहस्थाश्रमके प्रधान कर्त्तव्य अतिथिसेवा द्वारा नररूपमें नारायणकी नित्यपूजा होती है, जिससे हृदयकी उदारता, पुण्य-लाभ और भगवत् शक्तिलाभ यथेष्ट होता है। पञ्चमहायज्ञके क्रियानुष्ठान द्वारा विराट् शक्तिसे एकता, तथा ऋषि-देवता-पितरोंकी त्रिविध शक्ति प्राप्त होती है। कुटुम्बके आत्मीय स्वजन परिवारादि सभीके लिये आत्मसुखत्याग करनेका अभ्यास करते करते स्वार्थसङ्कोच, त्याग, संयम आदि सभी उन्नत वृत्तियां आने लगती हैं। धर्मपत्नीके सामने होते हुए भी शास्त्रविचार, तिथिविचार, गर्भमें सन्तान विचार आदि विचारोंसे संयम करने पर पुरुषको बहुत कुछ शक्तिलाभ हुआ करता है। एकपत्नीव्रत और शास्त्रनियमानुसार स्त्रीसेवाद्वारा प्रवृत्ति-संस्कार क्रमशः क्षीण होकर निवृत्तिभावका उदय होने लगता है। सन्तानके प्रति स्नेह, पितृ-मातृ-भक्ति, दाम्पत्यप्रेम आदि मधुर दिव्य गुणावली स्वतः ही उन्मेषित होने लगती हैं। विषयसुखकी क्षणभङ्गुरता तथा परिणाम-तापादि दुःखका उसके साथ अच्छेद्य सम्बन्ध अनुभव करके चित्तमें धीरे धीरे विषयके प्रति वैराग्य उत्पन्न होने लगता है। इष्टोपासना द्वारा आत्माके प्रति गति और इष्टदेवसे शक्तिकी प्राप्ति अवश्य हो जाती है। बहु आत्मियोंका एक परिवारसे सम्बन्ध होनेसे, कई परिवारका एकान्नवर्त्ती होनेसे, अनेक नरनारियोंका एक ही पारिवारिक स्वार्थमें सम्बन्धयुक्त रहनेसे और उस परिवारके नर-नारियोंमें यथायोग्य अधिकारके अनुसार यथायोग्य आचरण करके निःस्वार्थ भाव प्राप्त करनेसे मनुष्यके चित्तकी उदारभूमिका उदारतर विस्तार होता है। और ऐसा ही भाग्य-वान् गृहस्थ स्वधर्मसेवा, स्वजातिसेवा और स्वदेशसेवाके लिये कालान्तरमें यथार्थ उपयोगी बन सकता है पृथ्वी भरमें और किसी जातिमें भी इस प्रकार गृहस्थधर्मकी उदारता नहीं दिखाई पड़ती है हिन्दूगृहस्थधर्मको महिमाका यह एक ज्वलन्त दृष्टान्त है। इत्यादि इत्यादि विधियोंके द्वारा गृहस्थाश्रममें प्रचुर शक्तिलाभ तथा धर्ममूलक प्रवृत्तिकी चरितार्थ-तासे निवृत्तिका परिपोषण होनेपर वानप्रस्थ आश्रममें प्रवेश हो जाता है। वानप्रस्थाश्रममें निवृत्तिका विशेष अभ्यास होता है। विषयसे शिथिल गार्हस्थ्य शरीर वानप्रस्थाश्रममें कठिन तपस्या द्वारा परिपक्व होकर अग्निदग्ध काञ्चनकी तरह निर्मल हो जाता है, ऐसे

निष्पाप शरीर तथा अन्तःकरणमें परमात्माकी उपासना द्वारा असीम शक्तिलाभ तथा निवृत्तिका प्रतिष्ठा स्वतः ही होने लगती है, जिसके फलसे संयमशील, तपस्वी, क्षीणपाप, वैराग्यवान् साधक निवृत्तिके पराकाष्ठाप्रद संन्यासाश्रमको लाभ कर सकते हैं। इसी तुरीयाश्रममें निवृत्तिकी पूर्ण प्रतिष्ठा होती है और शक्तिकी भी पूर्ण प्रतिष्ठा होती है। क्योंकि निवृत्तिपरायण संन्यासी विषयसे चित्तको एकबारगी हटाकर सर्वत्र व्याप्त, सर्वशक्तिमान् परमात्माके ध्यानमें निरन्तर मग्न रहते हैं। और इसी ध्यानके फलसे समाधिलाभ होकर जब वे ब्रह्मरूप ही हो जाते हैं, तब अध्यात्मशक्तिकी पराकाष्ठा उन्हें प्राप्त हो जाती है। वे अतीत होकर स्वयं ब्रह्मभावमें निमग्न रहते हैं। और दूसरे मुमुक्षुको भी परमात्माके पथमें जानेके लिए योग्य सहायता किया करते हं। इस प्रकार ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ तथा संन्यास आश्रमोंके द्वारा क्रमशः स्थूल, सूक्ष्म, कारण सभी शक्तिकी प्रप्ति आर्यजातिके योग्य पुरुषोंको हुआ करती है।

प्रसङ्गोपात्त आश्रममें शक्तिसंचयके साथ स्पर्शास्पर्श विचारका सम्बन्ध दिखा देना अनुचित न होगा। आचारके प्रबन्धमें स्पर्शदोषके विषयमें जो कुछ लिखा गया है उससे यही तथ्य निकलता है कि अपनी नैसर्गिक या कमाई हुई शक्तिकी रक्षाके लिये ही स्पर्शास्पर्शके विचार रखनेकी आशा आर्यशास्त्रमें दी गई है। परमहंस दशामें सदा सर्वशक्तिमान् ब्रह्ममें लवलोन रहनेके कारण ऐसे महात्माकी शक्ति किसी स्पर्शदोषसे बिगड़ नहीं सकती बल्कि कितनी ही बिगड़ी शक्तिको वे सुधार दिया करते हैं। यही कारण है कि परमहंस विधिनिषेधसे अतीत होते हैं जैसा कि श्रीभगवान् शंकराचार्यने कहा है—

'भेदाभेदे सपदि गलिते पुण्यपापे विशीर्णे।
निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतः को विधिः को निषेधः॥'

त्रिगुणमयी मायासे परे परब्रह्ममें विराजमान परमहंसको भेद, अभेद, पुण्य, पाप आदि कोई भी स्पर्श नहीं करता। अतः उनके लिये विधिनिषेध भी नहीं है। इससे नीचेकी स्थितिमें संन्यासी हैं, जिनको परमहंसभावकी प्राप्ति अभी तक नहीं हुई है, उनको अपनी स्थितिके अनुसार स्पर्शास्पर्श विधिनिषेध अवश्य ही मानना पड़ेगा, अन्यथा अधर्म, विषयी जीवोंकी बुरी शक्ति (Magnetism) के प्रभावमें आकार वे बिगड़ जायँगे, उनका निवृत्ति भाव छूट जायगा वे विषयपंकमें पुनः लिप्त हो जायेंगे। उससे नीचे वानप्रस्थाश्रममें, जब कि गृहस्थ सम्बन्ध हालहीमें छूटा है, अभी तक शक्तिकी विशेष प्राप्ति हुई भी नहीं है, केवल शक्तिलाभके लिये साधन, तप आदिका अनुष्ठानमात्र होरहा है. इस दशामें मनुष्यको स्पर्शास्पर्श. विधिनिषेध आदिका बहुत कुछ विचार रखना पड़ेगा, नहीं तो वानप्रस्थाश्रममें कोई भी उन्नति नहीं हो सकेगी। उससे नीचे गृहस्थाश्रममें तथा ब्रह्मचर्या-

श्रममें तो पद पद पर पतनकी और शक्तिक्षयकी आशङ्का है। इसी कारण वर्णधर्म, आश्रम-धर्म, सदाचार आदि रूपसे इन दोनों अधिकारोंमें स्पृश्यास्पृश्य, विधिनिषेध, हेय-उपादेय, धर्म-अधर्म आदि सब कुछ मानकर बहुत सम्हाल कर तब आगे पांव रखना पड़ता है, अन्यथा मर्यादा-विरुद्ध आचरणके द्वारा गृहस्थका तथा ब्रह्मचारीका पतन अवश्य हो जाता है। यही कारण है कि भारतके सर्वत्र आर्यजातिमें वर्णधर्मानुसार स्पृश्यास्पृश्य विचारका प्रचलन है और विधिनिषेधसे अतीत अवस्थाके नमूनेके तौर पर जगन्नाथक्षेत्रका दृश्य दिखाया गया है। स्पर्शास्पर्श या शुद्धाशुद्ध विचारके विषयमें कर्ममीमांसा शास्त्रके भली-भांति अकाट्ययुक्तियोंसे समझा दिया गया है कि सनातनधर्मका स्पर्शास्पर्श विवेक मनुष्यशरीरके पञ्चकोषोंको शुद्ध करनेका उपाय है, मनकल्पित नहीं है। जैसे,—शवमेंसे प्राणमयकोष अन्य कोषोंको लेकर निकल जाता है इस कारण प्राणहीन अन्नमय कोषरूपी शव छूनेवालेके प्राणमयकोषको कमजोर कर सकता है उसी प्रकार सूर्यग्रहण या चन्द्रग्रहण का असर मनोमयकोषमें पड़नेसे वह थोड़ी देरके लिये दुर्बल हो जाता है। इस कारण शुद्धाशुद्ध विवेकसे अशौच निवारणके उपाय द्वारा मनुष्य शुद्ध होता है। यह शुद्धाशुद्धविवेक कहीं अन्नमयकोषके विचारसे, कहीं प्राणमयकोषके विचारसे और कहीं मनोमय आदि कोषोंके विचारसे आर्यशास्त्रोंमें माना गया है। यह सब वृथा नहीं है। कहीं कहीं शुद्धाशुद्ध विवेकके विरुद्ध विचार देखकर लोग विचलित् होते हैं। जैसा कि श्रीजगन्नाथपुरीमें पाया जाता है। पुरीमें जगन्नाथका मन्दिर जिसने देखा है उसका रहस्य ज्ञात हो सकेगा। इस रहस्यका ठीक पता लगानेमें असमर्थ होकर कोई कोई नवीन खोज करनेवाले उसे बौद्धयुगके बाद तन्त्रयुगका वाममार्ग मन्दिर कह देते हैं और कोई कोई ऐसा भी कहते हैं कि कामकलाके चित्र मन्दिर पर इसलिये दिये गये हैं कि सबकी आंखेंउसपर अधिक पड़ेंगी और आंखोंसे विद्युत् शक्ति एकत्रित होनेके कारण मन्दिर पर वज्रपातकी आशंका नहीं रहेगी। किन्तु कुछ लोग इसका रहस्य ऐसा भी कहते हैं कि जगन्नाथ मन्दिरका दृश्य स्वल्पाधारमें संसारका दृश्य है, अर्थात् मन्दिरके बाहर मायाका राज्य है, जिसमें स्त्री-पुरुषोंके कामकला विकाशके चित्र हैं। किन्तु मन्दिरके भीतर, मायाके सब दृश्यसे परे परमात्मा जगन्नाथदेव विराजमान रहते हैं। परमात्मा निराकार हैं, उनका कोई व्यवस्थित आकार नहीं है, इसलिये जगन्नाथका कलेवरभी किसी भी अङ्गकी पूर्णतासे हीन विचित्र सा ही बनाया गया है। जो मनुष्य मन्दिरके बाहिरी चित्रमें ही फँसे रहते हैं, मायाके दृश्य देखनेमें ही जिनका मन लवलीन हो जाता है; उसीके प्रति जिनके अन्तःकरणका आकर्षण है, व मन्दिरके भीतर श्रीजगन्नाथदेवके दर्शनके योग्य नहीं होते। 'रथस्थं वामनं दृष्ट्वा पुनर्जन्म न विद्यते' देहरूपी रथमें परमात्माको देखलेने पर पुनर्जन्म नहीं होता है। इस सिद्धान्तके वे अधिकारी नहीं हैं। किन्तु जो भाग्यवान् मुमुक्षु

साधक मन्दिरके बाहिरी दृश्योंमें नहीं फँस जाते उस मायाकी परीक्षामें जो उत्तीर्ण हो जाते हैं, उन्हें ही मायामन्दिर या संसार मन्दिरके भीतर विराजमान जगन्नाथदेवके यथार्थ दर्शन होते हैं और उनका दर्शनकर वे मुक्त हो जाते हैं, त्रिगुणमयी मायासे परे हो जाते हैं, विधिनिषेध, स्पृश्यास्पृश्य, धर्म अधर्म सभी द्वैतभावसे परे हो जाते हैं। उस समय 'महा-प्रसाद' ग्रहणका उनको अधिकार हो जाता है, जिसमें कोई भी जातिविचार, वर्णविचार, स्पर्शास्पर्शविचार नहीं रहता, बल्कि उस दशामें ऐसा विचार करना ही अपराध समझा जाता है। आनन्दबाजारमें परमानन्द लूटनेका भी मौका उन्हें उसी समय मिल जाता है। यही विधिनिषेधहीन परमहंसदशा है। वस्तुतः उपासनाके विशेष सम्प्रदायके सिद्धान्तके अनुसार गुरुदेवमें भक्ति, भगवत प्रसादमें श्रद्धा, विचार शुद्धिऔर आचार शुद्धि इस प्रकार-से चतुर्व्यूहके द्वारा सुरक्षित होकर साधक कैसे भक्तिमार्गमें अग्रसर होता है उसका ज्वलन्त-दृष्टान्त इसी तीर्थमें है जगन्नाथपुरी जैसे कलियुग के प्रसिद्ध तीर्थकी महिमा अपूर्व है। वह ऐसा अपूर्व है कि एकाएक साधारण बुद्धिसे समझमें नहीं आता। शुद्धाशुद्ध विवेक, स्पर्शास्पर्श विवेक आचार और विचार सबका क्षणिक लोपसा इस तीर्थमें दिखाई पड़ता है। स्थापत्य शिल्पकी वैज्ञानिक रीतिके द्वारा यदि वीभत्स चित्रोंके सम्बन्धमें प्रबल युक्ति पायी भी जाय तो भी अनाचार और अविचारकी रीति जो उस महातीर्थमें दिखाई पड़ती है उसके मण्डनमें अवश्य-कठिनता है। वैदिक और तांत्रिक आचार सिद्धान्तोंको भलीभांति पर्यालोचना करनेवाले बुधजन यही कहेंगे कि; तन्त्रोक्त आचार और तन्त्रोक्त उपासना प्रणालीके एक प्रबल विभागका ज्वलन्तदृष्टान्त श्रीजगन्नाथपुरीमें प्रकट हैं। गुरुमें मनुष्य-बुद्धि और भगवत् प्रसादमें पदार्थबुद्धि करना उस उपासनाके आचार विशेषसे पाप समझा गया है। इसी प्रकार उपासनाके उन आचारोंमें यह भी माना गया है कि, इष्टदेव-की प्रसन्नताके निमित्तसे जो कर्म किया जाय वही यज्ञ है और उनकी सेवाके लिये जो कार्य किया जाय वही सदाचार है। ऐसे विचार और आचार माननेवालोंके लिये ऐसे तीर्थ विशेषमें भगवत् प्रसादकी इतनी मर्यादा होना युक्ति नहीं है। अन्यथा शुद्धाशुद्ध विवेक मीमांसाशास्त्रके अनुमोदित हैं। अतः यह सिद्ध हुआ कि अपनी शक्तिके तारतम्यानुसार तथा शक्ति रक्षाके लिये ही सकल आश्रममें स्पृश्यापृश्यादि विधिनिषेध आर्यशास्त्रमें बताये गये हैं।

अब ऊपर लिखित त्रिविध शक्तिकी प्राप्तिके लिये अवश्य पालनीय चतुराश्रम धर्मकी संक्षिप्त विधियां बताई जाती हैं। जीवनसंग्राम और वैषयिक भावके बढ़ जानेसे तथा देशकालके भिन्नरूप हो जानेसे महर्षियोंके द्वारा विहित चतुराश्रमधर्मका ठीक ठीक पालन करना आजकल बहुतही कठिन हो गया है। तथापि महर्षियोंकी दूरदर्शिता मायामुग्ध

जीवोंके लिये सदा ही कल्याणकर होनेसे मनुष्योंका कर्त्तव्य है कि, उनके द्वारा विहित आश्रमधर्मका जहांतक हो सके वे पालन करते रहें।

पहलेही कहा गया है कि मनुष्ययोनिमें स्वतन्त्रता और अहङ्कारके बढ़ जानेसे इन्द्रिय लालसा तथा भोगप्रवृत्ति बढ़ जाती है। इसी प्रवृत्तिको धीरे-धीरे घटाकर मोक्षफलप्रद निवृत्तिमार्गकी ओर ले जाना ही मनुष्यका परम कर्त्तव्य है। आश्रमधर्म इसी कर्त्तव्यके उपायोंको बताता है। ब्रह्मचर्याश्रममें धर्ममूलक प्रवृत्तिके लिये शिक्षालाभ होता है, गार्हस्थ्यमें धर्ममूलक प्रवृत्तिकी चरितार्थता होती है। वानप्रस्थाश्रममें निवृत्तिमार्गके लिये शिक्षालाभ होता है और संन्यास आश्रममें निवृत्तिकी पूर्ण चरितार्थता होती है। पूर्वकर्म्म बलवान् होनेसे ब्रह्मचर्यसे ही संन्यास ग्रहण कर सकते हैं, अन्यथा साधारण रीतिके अनुसार प्रवृत्तिमार्गसे ही धीरे धीरे निवृत्तिमार्गमें जाना चाहिये।

प्रथम आश्रमका नाम ब्रह्मचर्य्याश्रम है। मनुसंहिताके द्वितीयाध्यायमें इसके विषयमें विशेष वर्णन है। द्विज पिताका कर्त्तव्य है कि यथासमय पुत्रका उपनयन करके उससे पूर्ण ब्रह्मचर्यका पालन करावे। उपनयन कालके विषयमें मनुजोने कहा है कि :—

गर्ब्भाऽष्टमेऽब्दे कुर्व्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम्।
गर्ब्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः॥
ब्रह्मवर्च्चसकामस्य कार्य्यं विप्रस्य पञ्चमे।
राज्ञो बलार्ऽथिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्ऽथिनोऽष्टमे॥
आषोडशाद्ब्राह्मणस्य साविती नाऽतिवर्त्तते।
आद्वाविंशात्‌। क्षत्रबन्धोराचतुर्विशतेर्विशः॥
अत ऊर्द्ध्वं त्रयोऽप्येते यथाकालमसंस्कृताः।
सावित्रीपतिता व्रात्या भवन्त्यार्य्यविगर्हिताः॥

गर्भसे अष्टम वर्षमें ब्राह्मणका उपनयन होना चाहिये, एकादश वर्षमें क्षत्रियका और द्वादश वर्षमें वैश्यका उपनयन होना चाहिये। यदि यह इच्छा हो कि ब्राह्मणमें ब्रह्मतेज उत्पन्न हो, क्षत्रियको बल प्राप्त हो और वैश्यको धन प्राप्त हो तो यथाक्रम पांच, छः और आठ वर्षमें ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यका उपनयन होना चाहिये। सोलह वर्ष पर्यन्त ब्राह्मणका, बाईस वर्ष पर्यन्त क्षत्रियका और चौबीस वर्ष पर्यन्त वैश्यका उपनयनकाल अतीत नहीं होता है। इतने वर्ष तकमें भी यदि उपनयन नहीं हो तो द्विज उपनयन भ्रष्ट होकर व्रात्य कहलाते हैं और आर्यजनोंमें उनकी निन्दा होती है, अतः यथासमय उपनयन

संस्कार करना उचित है। तदनन्तर ब्रह्मचारीका वेष दण्ड, मेखला आदि धारण कराकर गुरुके आश्रममें बालकको भेजना चाहिये या और तरहसे ब्रह्मचर्य व्रतका पालन करना चाहिये।

ब्रह्मचर्यव्रत पालनके लिये जितने कर्त्तव्य शास्त्रोंमें बताये गये हैं उन सबको तीन भागोंमें विभक्त कर सकते हैं। यथा—वीर्य्यधारण, गुरुसेवा और विद्याभ्यास।

नैष्ठिक ब्रह्मचर्यका संयम, गृहस्थाश्रमकी धार्मिक प्रवृत्ति, वानप्रस्थाश्रमकी तपस्या और संन्यासाश्रमका ब्रह्मज्ञान सभी ब्रह्मचर्याश्रमकी वीर्य्यरक्षा पर निर्भर करते हैं। मनु-संहितामें लिखा है कि :—

सेवेतेमाँस्तु नियमान् ब्रह्मचारी गुरौ वसन्।
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं तपोवृद्ध्यर्थमात्मनः॥
वर्ज्जयेन्मधुमांसञ्च गन्धं माल्यं रसान् स्त्रियः।
शुक्तानि यानि सर्व्वाणि प्राणिनाञ्चैव हिंसनम्॥
अभ्यङ्गमञ्जनञ्चाऽक्ष्णोरुपानच्छत्रधारणम्।
कामं क्रोधञ्च लोभञ्च नर्त्तनं गीतवादनम्॥
द्यूतञ्च जनवादञ्च परीवादं तथाऽनृतम्।
स्त्रीणाञ्च प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च॥
एकः शयीत सर्व्वत्र न रेतः स्कन्दयेत्क्वचित्।
कामाद्धि स्कन्दयन्रेतो हिनस्ति व्रतमात्मनः॥
स्वप्ने सिक्त्वा ब्रह्मचारी द्विजः शुक्रमकामतः।
स्नात्वाऽर्कमर्च्चयित्वा त्रिः पुनर्म्मामित्यृचंजपेत्॥

ब्रह्मचारी गुरु-आश्रममें वास करनेके समय इन्द्रियसंयम करके तपोबल बढ़ानेके लिये नीचे लिखे हुए नियमोंको पालन करें। उनको मधु, मांस गन्धद्रव्य; माल्य, रस आदि-का सेवन और स्त्री सम्बन्ध त्याग करना चाहिये। जो वस्तु स्वभावतः मधुर है परन्तु किसी कारणसे अम्ल हो गया है, इस प्रकारकी वस्तु ब्रह्मचारी कदापि सेवन न करे और किसी जीवकी हिंसा न करे। तैलमर्द्दन, आँखोंमें अञ्जन, पादुका व छत्रधारण, काम, क्रोध, लोभ, नृत्य, गीत, वाद्य, अक्षक्रीड़ा, मनुष्योंके साथ वृथा वाक्कलह या दोषदर्शन, मिथ्या-बचन, स्त्रियोंके प्रति कटाक्ष या आलिङ्गन, दूसरोंका अपकार, ये सभी ब्रह्मचारीके लिये त्याज्य हैं। ब्रह्मचारी एकाकी शयन करें, कभी रेतःपात न करें, इच्छासे रेतःपात करनेपर ब्रह्मचारीका व्रत भङ्ग हो जाता है, यदि इच्छा न होनेपर भी कभी स्वप्नमें शुक्रनाश हो जाय

तो स्नान और सूर्य्यदेवकी पूजा करके तीन बार "पुनर्मामेत्विन्द्रियम्" अर्थात् मेरा वीर्य्य मेरेमें पुनः लौट आवे, इस प्रकारका वेदमन्त्र पढ़ना चाहिये। यही सब ब्रह्मचर्य्यरक्षाकी विधि है।

संसारमें देखा जाता है कि प्रत्येक वस्तुमें प्रधानतः आधिभौतिक या आधिदैविक या आध्यात्मिक उन्नति करने की शक्ति विद्यमान है; परन्तु यदि किसी वस्तुमें एकाधारमें ही तीनों प्रकारकी उन्नति करनेकी शक्ति है तो वह परमवस्तु ब्रह्मचर्य्य ही है। अब ब्रह्मचर्य्यके द्वारा आध्यात्मिकादि त्रिविध उन्नति कैसे होती है सो बताया जाता है।

मुण्डकोपनिषद्में लिखा है कि:—

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा।
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्॥

सत्य, तपस्या, ज्ञान और ब्रह्मचर्य्यके द्वारा आत्माकी उपलब्धि होती है। ब्रह्मचर्य्य ज्ञानरूप प्रदीपके लिये तैलरूप है और संसारसमुद्रमें पथभ्रान्त जीवोंके लिये ध्रुवतारारूप है। इसीको हो आश्रय करके आध्यात्मिकादि त्रिविध उन्नतिसाधन करता हुआ जीव परमात्माका साक्षात्कार लाभ कर सकता है। छान्दोग्योपनिषद्में लिखा है कि—

अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्य्यमेव तद्ब्रह्मचर्य्येण ह्येव यो ज्ञाता तं विन्दतेऽथ यदिष्टमित्याचक्षते ब्रह्मचर्य्यमेव तद्ब्रह्मचर्येण ह्येवेष्टात्मानमनुविन्दते।

ब्रह्मचर्य्य ही यज्ञ और इष्टरूप है जिससे मनुष्य आत्माको प्राप्त हो सकता है। श्री भगवान्‌ने गीतामें कहा है कि—

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति, विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्य्यं चरन्ति, तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये॥

वेदवित् ज्ञानिगण जिसको अक्षर पुरुष कहते हैं, वासनारहित यतिगण जिस परमपदको प्राप्त करते हैं, जिस परमपदकी इच्छासे साधक ब्रह्मचर्य्य पालन करते हैं, उसके विषयमें मैं संक्षेपसे कहता हूँ। श्रीभगवान्‌ने इस श्लोकमें ब्रह्मचर्य्यके द्वारा आध्यात्मिक उन्नति तथा आत्माकी उपलब्धि होती है ऐसा बताया है। जिस शक्तिके द्वारा महर्षिगण प्राचीनकालमें ब्रह्मज्ञानको प्राप्त करके दिग्दिगन्तमें उसकी छटाको फहराते थे और जिस शक्तिके द्वारा उनके समाधिशुद्ध अन्तःकरणमें वेदकी ज्योति प्रतिफलित हुआ करती थी वह शक्ति ऊर्द्ध्वरेता महर्षियोंमें ब्रह्मचर्य्यकी ही शक्ति है। आज हीनवीर्य भारतवासियोंमें ब्रह्मचर्य्य

की शक्ति नष्ट होनेसे वेद देखना तो दूर रहा उसका अर्थ करना तथा उच्चारण करना भी असम्भव हो गया है और हजारो प्रकारके सन्देहपूर्ण वेदके अर्थ हो रहे हैं। छान्दोग्योपनिषद् में इन्द्रविरोचनसम्वादमें इस सिद्धान्तको स्पष्टतया दिखाया गया है कि केवल ब्रह्मचर्य्यके द्वारा ही ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति हो सकती है। वहाँ ब्रह्माजीने दोनोंको ही बत्तीस बत्तीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य्य पालनकी आज्ञा की है। समाधिके समय शरीरके भीतर जो वैद्युतिकशक्ति भर जाती है उसका धारण केवल ब्रह्मचर्य्य द्वारा ही योगी कर सकते हैं। अन्यथा—अल्पवीर्य्य साधक योगानुष्ठान करे तो कठिन रोगसे आक्रान्त हो सकता है। मानवशरीर भगवान् का पवित्र मन्दिर है परन्तु इस मन्दिरकी भित्ति ब्रह्मचर्य्य ही है जिसके बिना भगवान् कभी हृदयमन्दिरमें सुशोभित नहीं हो सकते हैं। उपनिषद् और योगवाशिष्ठमें लिखा है कि:—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयाऽऽसक्तं मुक्त्यै निर्विषयं मनः॥

मनुष्योंके बन्धन और मोक्षका कारण मन ही है। विषयासक्त मन बन्धनका और निर्विषय मन मोक्षका कारण है। योगशास्त्रका सिद्धान्त यह है कि मन, वायु और वीर्य्य तीनों एक सम्बन्धसे युक्त हैं। इनमेंसे एक भी वशीभूत हो तो और दो वशीभूत हो जाते हैं। जिसका वीर्य्य वशीभूत ब्रह्मचर्य्यके द्वारा है उसका मन वशीभूत होता है और मनके वशीभूत होनेसे निर्विषय अन्तःकरणमें ब्रह्मज्ञानका स्फुरण होता है। यही सब ब्रह्मचर्य्यके द्वारा आध्यात्मिक उन्नति होनेके प्रमाण हैं।

इसी प्रकार ब्रह्मचर्य्यके द्वारा आधिदैविक उन्नति भी होती है। महर्षि पतञ्जलिने योगदर्शनमें लिखा है कि—

ब्रह्मचर्य्यप्रतिष्ठायां वीर्य्यलाभः।

ब्रह्मचर्य्य प्रतिष्ठा होनेसे परमशक्ति प्राप्त होती है। योगदर्शनके विभूतिपादमें जितने प्रकारकी सिद्धियोंका वर्णन है, यथा—सूर्य्यमें संयमसे भुवनज्ञान और संस्कारोंमें संयमसे परिचित्तज्ञान आदि, ये सभी ब्रह्मचर्य्यके द्वारा दैवीशक्ति प्राप्त करनेके फल हैं। महर्षिगण जो अष्ट सिद्धि प्राप्त करके संसारमें सभी दैवी बातोंको कर दिखाते थे जिनकी शक्तियोंको स्मरण करने से दीन हीन भारतवासियोंके मृतकङ्कालमें आज भी प्राणका सञ्चार होने लगता है और संसारमें जो बड़े बड़े कर्म्मवीर और धर्म्मवीर महापुरुष अपनी शक्तिके प्रताप से अलौकिक कार्योंको कर गये हैं यह सब ब्रह्मचर्य्यके द्वारा आधिदैविक शक्ति प्राप्त करनेका ही फल है। छान्दोग्योपनिषद्में लिखा है कि:—

तद्य एवैतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्य्येणाऽनुविन्दति तेषामेवैष
ब्रह्मलोकस्तेषां सर्व्वेषु लोकेषु कामचारो भवति।

ब्रह्मचर्य्यके द्वारा ब्रह्मलोक प्राप्त होता है और उस लोकमें सिद्ध पुरुष कर्मचारी होते हैं। यह सब ब्रह्मचर्य्यके द्वारा देवीशक्तिलाभका ही फल है। इसी शक्तिके प्राप्त होनेसे ही भीष्मपितामहको इच्छा-मृत्यु-लाभ हुआ था और शरशय्या पर शयन करके भी उन्होंने पवित्र ब्रह्मज्ञानका धर्मोपदेश किया था। मनुसंहितामें उत्तरायणगतिकी बात जो लिखी है कि परिव्राजक योगी और युद्धमें वीरकी तरह प्राण समर्पण करने वाले महापुरुष ये दोनों ही सूर्य्यमण्डलभेद करके उत्तरायण गतिको प्राप्त करते हैं उसके भी मूलमें ब्रह्मचर्य्यकी ही महिमा प्रकट होती है।

तीसरी ब्रह्मचर्य्यसे आधिभौतिक उन्नति होती है। शास्त्रोंमें कहा है कि :—

शरीरमाद्यं खलु धर्म्मसाधनम्।

स्थूलशरीरकी रक्षा किये बिना मनुष्य किसी प्रकारकी उन्नति नहीं कर सकता है। मानसिक उन्नति या आध्यात्मिक उन्नति सभी शारीरिक स्वास्थ्यके ऊपर निर्भर करती है। शरीरमें सबसे उत्तम धातु वीर्य है जिसकी रक्षासे स्वास्थ्यकी रक्षा हुआ करती है। चिकित्साशास्त्रका यह सिद्धान्त है कि भुक्त अन्न पाकस्थलीमें जाकर पहले रस बनता है, रससे रक्त, रक्तसे मांस, मांससे मेद मेदसे अस्थि, अस्थिसे मज्जा और मज्जासे वीर्य्य बनता है। इस प्रकार अन्नके रससे एक महीनेमें वीर्य्य बनता है और ४० चालीस बिन्दु रक्तसे एक विन्दु वीर्य्य होता है। इसीसे समझ सकते हैं कि शरीरकी रक्षाके लिये वीर्य्यका कितना प्राधान्य है। वीर्य्य ही समस्त शरीरका प्राणरूप है। वीर्य्यके स्तम्भनसे प्राणकी पुष्टि, समस्त शरीरमें कान्ति और मानसिक शान्ति रहती है। वीर्य्यके नाशसे प्राणनाश और सकल प्रकारके रोग उत्पन्न होते हैं। शरीरकी नीरोगताके विषयमें पहिले ही कहा गया है कि वायु, पित्त और कफकी समतासे शरीर नीरोग रहता है और अन्तः करणमें भी आनन्द तथा शान्ति रहती है। वीर्य्यके साथ वायुका सम्बन्ध होनेसे वीर्य्यके स्थिर रहनेपर वायु भी शान्त रहता है जिससे मन भी शान्त रहता है। अन्तःकरणके शान्त रहनेसे मनुष्य परम सुखी और आध्यात्मिक उन्नतिशील होता है। अतः सिद्धान्त हुआ कि ब्रह्मचर्य्य रक्षा ही सकल आनन्दका निदान है। महाभारतमें लिखा है:—

मध्ये सा हृदयस्यैका शिरा तत्र मनोवहा।
शुक्रं संकल्पजं नृणां सार्वगत्रैर्विमुञ्चति॥

शरीरके भीतर मनोवहा नामकी एक नाड़ी है जो कि मनुष्यके चित्तमें कामभाव होते ही दूधको मथन करके माखन निकालनेकी तरह शरीर और रक्तको मथन करके वीर्य्यको निकालती है। मनोवहा नाड़ीके साथ शरीरकी सब नाड़ियोंका सम्बन्ध है इसलिये शुक्रनाश

के समय शरीरकी सब नाड़ियां कांप उठती हैं, शरीरके सब यन्त्र हिल जाते हैं जिसकी प्रतिक्रिया शरीर और मन पर इतनी होती है कि उस पाशविक क्रियाके अन्तमें शरीर व मन अतिदीन, खिन्न, दुर्बल और मृतप्राय होकर दुःखके अनन्त समुद्रमें डूब जाता है। इसीलिये गीतामें लिखा है कि:—

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥

जिस प्रकार किसी मृत पुरुषके सामने काम या क्रोधका कोई विषय रखने पर भी उसके शरीर और मनमें कोई चाञ्चल्य नहीं होता है, उसी प्रकार जीते ही जिसने शरीर और मनको ऐसा वशमें कर लिया है कि किसी प्रकार काम या क्रोधसे इन्द्रियां चंचल न हों वही योगी और सुखी है। चिकित्साशास्त्रका सिद्धान्त है कि प्रत्येक मनुष्यके खूनमें दो प्रकारके कीट होते हैं, एक सफेद (White corpuscle) और दूसरे लाल (Red corpuscle), इन दोनोंमेंसे सफेद कीट रोगके कीटोंसे लड़कर शरीरकी रक्षा करते हैं क्योंकि हैजा, प्लेग, मलेरिया आदि सब रोगोंके कीट होते हैं जो कि शरीर पर आक्रमण करके उसे नष्ट करते हैं। अब यह बात निश्चिय है कि रक्तकी मथन करके वीर्य्यं निकल जानेसे रक्त निःसार हो जायगा जिससे वे सब रक्तके कीट भी दुर्बल हो जायंगे और उनमें रोगके कीटोंसे लड़नेकी शक्ति नहीं रहेगी। इसका फल यह होगा कि शरीर बहुत प्रकारके रोगोंसे आक्रान्त हो जायगा, शारीरिक आरोग्यता नष्ट हो जायगी और मनुष्य जीता ही मुर्देकी तरह बन जायगा। यही सब शुक्रनाशका फल है। जिस प्राणके साथ शरीरका इतना सम्बन्ध है कि उसके अभावसे शरीर मृत हो जाता है, वीर्य्यके नाशसे उस प्राणशक्तिका भी नाश होने लगता है जिससे मनुष्य अल्पायु और चिररोगी हो जाते हैं। योगशास्त्रमें श्वास प्रश्वास पर संयम करके लिखा गया है कि मनुष्योंकी नियमित आयुके लिये नियमित श्वासकी भी आवश्यकता होती है। साधारणतः दिन और रातमें प्रत्येक मनुष्यके श्वास २१६०० बार निकलते हैं। योगशास्त्रमें लिखा है कि :—

देहाद्वहिर्गतो वायुः स्वभावाद्द्वादशांगुलिः।
गायने षोडशांगुल्यो भोजने विंशतिस्तथा॥
चतुर्विंशांगुलिः पान्थे निद्रायां त्रिंशदंगुलिः।
मैथुने षट्त्रिंशदुक्तं व्यायामे च ततोऽधिकम्॥
स्वभावेऽस्य गते न्यूने परमायुः प्रवर्द्धते।

आयुःक्षयोऽधिके प्रोक्तो मारुते चाऽन्तराद्गते ।
तस्मात्प्राणे स्थिते देहे मरणं नैव जायते ॥

जो दिवारात्रमें इक्कीस हजार छः सौ वार श्वास निकलता है उसी हिसाबसे निकला करे तो प्रत्येक श्वासका वायु १२ अंगुलि तक नासिकासे बाहर जायगा। यही स्वाभाविक रूपसे निकलते हुए श्वासकी पहुँच है। यही श्वास गाते समय १६ अंगुलि, भोजन करते समय २० अंगुलि, रास्ता चलते समय २४ अंगुलि, निद्रामें ३७ अंगुलि, मैथुनके समय ३६ अंगुलि और व्यायाममें उससे भी अधिक दूर तक पहुंचता है। श्वासकी इस स्वाभाविक गति को घटानेसे आयु बढ़ती है और अधिक श्वास जानेसे आयुःक्षय होता है। व्यायाममें श्वास अधिक निकलने पर भी व्यायामके द्वारा शरीर सबल तथा नीरोग रहता है परन्तु इससे आयुकी वृद्धि नहीं होती है। प्राणायाम करने पर शरीर सबल तथा नीरोग रहता है। और आयु भी बढ़ती है। इसीलिये शास्त्रमें कहा है कि —"प्राणायामः परं बलम्" प्राणायाम परम बल है। इस तरहसे प्राणायामकी स्तुति और उसके करनेकी आज्ञाकी गई है। परन्तु मैथुनमें व्यायामका कोई फल नहीं होता है, उल्टा श्वास ३६ छत्तीस अंगुलि तथा अधिक निकलनेसे विशेष रूपसे आयुःक्षय होता है। स्वाभाविक श्वास जो कि १२ बारह अंगुलि है उससे तीन गुण अधिक जोरसे श्वास निकलने पर मनुष्य बहुत ही अल्पायु हो जाता है और प्राण रूप वीर्य्यके निकलनेसे अत्यन्त दुर्बल तथा रुग्णदेह हो जाता है। यही सब ब्रह्मचर्य्यनाशका विषम फल है। इसीलिये योग शास्त्रमें कहा है कि—"मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्" अर्थात् वीर्य्यनाशसे मनुष्यकी मृत्यु और वीर्य्य धारणसे मनुष्यका जीवन है।

शरीरके समस्त यन्त्रोंमेंसे स्नायु, पाकस्थली, हृदय तथा मस्तिक ये चार यन्त्र मुख्य हैं। वीर्य्यनाशसे इन चारों यन्त्रों पर कठिन आघात पहुंचता है। कामका तुच्छ सुख केवल इन्द्रियके स्नायुओंके चाञ्चल्यसे ही होता है, परन्तु पुनः पुनः चञ्चल करनेसे वे सब नसें दुर्बल हो जाती हैं और साथ ही साथ समस्त शरीरके स्नायुओंमें आघात होनेसे वे सब भी दुर्बल हो जाते हैं। फल यह होता है कि स्नायुओंके दुर्बल होनेसे उनमें वीर्य्यधारण करनेकी शक्ति नहीं रहती है जिससे सामान्य काम सङ्कल्प तथा चाञ्चल्यसे ही वीर्य्य नष्ट होने लगता है और धातुदौर्बल्य, प्रमेह, स्वप्नमेह, मधुमेह आदि कठिन कठिन रोग हो जाते हैं। और शरीरके स्नायुओं पर धक्का अधिक लगनेसे पक्षाघात, ग्रन्थिवात, अपस्मार (मृगी) आदि भीषण रोगोंकी उत्पत्ति होती है। द्वितीयतः अपानवायुके साथ प्राण वायुका और प्राणवायुके साथ वीर्य्यका सम्बन्ध रहनेसे अपानवायुके साथ भी वीर्य्यका सम्बन्ध है और अपानवायुके साथ पाकयन्त्र, पायु तथा उपस्थयन्त्रका सम्बन्ध है। अपानके ठीक रहनेसे अन्नका परिपाक भी ठीक ठीक होता है जिससे अजीर्ण रोग नहीं होता है। परन्तु वीर्य्यके

नाश या चाञ्चल्यसे जब अपानकी क्रियामें भी खराबी हो जाती है तो पेटमें अन्न नहीं पचता है, अजीर्ण रोगसे शरीर आक्रान्त हो जाता है, और संसारमें ऐसा कोई रोग नहीं है जो कि अजीर्ण रोगके परिणामसे नहीं हो सकता है। बहुमूत्र, शिरोराग, धातुरोग, दृष्टि-हीनता, रक्तविकार, अर्श आदि सभी रोग अजीर्णरोगके परिणामसे होते हैं और मनुष्यके जीवनको भारभूत तथा अशान्तिमय कर देते हैं। अपानवायुके खराब होनेसे पायुयन्त्रके भी सब रोग हो जाते हैं। यथा समयपर शौच न होना, अधिक दस्त होना, दस्त बन्द हो जाना, पेटमें आम होना अदि बहुत रोग हो जाते हैं। जिस उष्णताके रहनेसे पेटमें अन्न पचता है, वीर्य्यनाशसे वह उष्णता नष्ट हो जाती है जिससे पित्तप्रकृति नष्ट होकर कफ-प्रकृति होती है और पित्त दुर्बल होनेसे अजीर्ण होता है। तृतीयतः वीर्य्यके निकलते समय कलेजेमें धक्का बहुत लगता है क्योंकि जब हृदय ही रक्तका मूलस्थान है तो जितने बार दुग्ध के सारभूत मक्खनकी तरह रक्तके सारभूत वीर्य्य नष्ट होंगे उतनी ही बार दुर्ब्बल रक्तको पुष्ट करनेके लिये हृद्यन्त्रसे रक्तका प्रवाह होगा जिसका फल यह होगा कि हृद्यन्त्र पर चोट लगेगी जिससे क्षय, कास; यक्ष्मा आदि कठिन रोग उत्पन्न होकर अकाल मृत्युके ग्रासमें मनुष्यको डाल देंगे। और चतुर्थतः वीर्य्यनाशसे मस्तिष्क पर बहुत ही धक्का लगता है। शरीरका सर्व्वोत्तम अङ्ग मस्तिष्क है उसमें शरीरके सारभूत पदार्थ भरे रहते हैं और समस्त स्नायुओंका केन्द्रस्थान भी मस्तिष्क ही है, इसलिये वीर्य्यके नाशसे मस्तिष्क निस्सार व दुर्बल हो जाता है जिससे स्मृति, बुद्धि प्रतिभा सभी नष्ट होने लगती है, मनुष्य सामान्य दिमागी परिश्रमसे ही थक जाता है, सिर घूमने लगता है, आध्यात्मिक विषयों पर विचार नहीं कर सकता है, बहुत देरतक किसी बातको चित्त लगाकर सोच नहीं कर सकता है, कोई बात बहुत देर तक स्मरण नहीं रहती है थोड़ी थोड़ी बातमें घबराहट होने लगती है, धैर्य्य सम्पूर्ण नष्ट हो जाता है, प्रकृति रूखी, क्रोधी व भीरु हो जाती है और अन्तमें उन्माद रोग तक हो जाता है। पागलखानोंमें जितने उन्मादी देखे जाते हैं, अनुसन्धान करने पर कई बार पता लगा है कि, उनमेंसे फी सैकड़ा नब्बे व्यभिचार द्वारा वीर्य्यहीन होकर पागल बन गये हैं। मस्तिष्क सब स्नायुओं का केन्द्रस्थान होनेसे मस्तिष्कके दुर्बल होने पर स्नायु भी दुर्बल हो जाते हैं जिससे सब इन्द्रियोंमें दुर्बलता होती है क्योंकि प्रत्येक स्थूल इन्द्रियका जो मस्तिष्कके स्नायुओंके द्वारा सम्बन्ध है उसीसे इन्द्रियोंका कार्य ठीक ठीक चलता है इसलिये मस्तिष्क जब दुर्बल होता है तब इन्द्रियोंका कार्य्य भी बिगड़ जाता है। आँखमें, कानमें, सबमें कमजोरी आने लगती है। यही सब वीर्य्यनाशका फल है।

आज तो भारतवर्षमें सच्चे ब्राह्मण और सच्चे क्षत्रिय आदि विरल ही मिलते हैं, ब्राह्मणोंकी वह शक्ति और क्षत्रियोंका वह तेज कुछ भी नहीं है, जो ऋषि पहले अमोघवीर्य्य

होते थे उनके पुत्र आज निर्वीर्य हो रहे हैं, आर्य्यसन्तान आज तेजोहीन होकर भारत-माताके मुखपर कलङ्क आरोपण कर रही हैं, ऋषियोंके दिव्यनेत्र और ज्ञाननेत्र सब नष्ट होकर आज उपनेत्रके विना देखा नहीं जाता है, हमारा शरीर और मन श्मशानके दृश्यको स्मरण करा रहा है, वेदके मन्त्रोंको देखना और शुद्ध उच्चारण करना दूर रहा वेदके अर्थ पर भी हजारों लड़ाइयां चल पड़ी हैं, तपस्याके फलस्वरूपसे ज्ञान अर्जन करके ब्रह्मका साक्षात्कार दूर रहा अज्ञानकी घनघोर घटा भारत-आकाशको आच्छन्न कर रही है, ये सब दुर्भाग्य और दुर्द्दशाएँ आर्य्यजातिमें ब्रह्मचर्य्य-हीनताके ही फलस्वरूप हैं। इसलिये ब्रह्मचर्य आश्रमकी पुनः प्रतिष्ठा करके द्विज बालकोंको उपनयन संस्कारके बाद अवश्य ही यथासम्भव रूपसे ब्रह्मचर्य्यव्रत पालन कराना चाहिये जिससे उनका समस्त जीवन शान्त, सुखमय और देश-धर्म्मके लिये कल्याण कर हो जाय। ब्रह्मचर्य पालनके विषयमें दक्षसंहितामें लिखा है कि:—

ब्रह्मचर्यं सदा रक्षेदष्टधा मैथुनं पृथक्।
स्मरणं कीर्त्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्॥
सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च।
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः॥

स्मरण, कीर्त्तन, केलि, दर्शन, गुप्तबात, सङ्कल्प, चेष्टा और क्रियासमाप्ति ये ही मैथुनके आठ अङ्ग हैं, इनसे विपरीत ब्रह्मचर्य है जो कि सदा पालन करने योग्य है। इसके पूरे पालनके लिये शरीर मन बुद्धि तीनोंको ही संयत रखना ब्रह्मचारीका कर्त्तव्य है। इस विषयमें मनुजीकी आज्ञा पहिले ही बताई गई है। प्रथम शरीरको संयत रखनेके लिये अन्यान्य उपायोंके अतिरिक्त खानपानका भी विचार अवश्य रखना चाहिए, जैसा कि 'सदाचार' प्रबन्धमें बताया गया है।

ब्रह्मचारीको सात्त्विक आहार करना चाहिये। प्याज, लहसुन, लालमिरच, खटाई आदि राजसिक, तामसिक पदार्थ और गरिष्ठ मसालेदार अन्न और उत्तेजक अन्न ब्रह्मचारीको कभी नहीं खाना चाहिये। तमाखू भाँग आदि मादक द्रव्योंका सेवन कदापि नहीं होना चाहिये कोमल शय्या, जैसे पलँग आदि पर नहीं सोना चाहिये। भूमिशय्या पर सोना चाहिये। खराब पुस्तक पढ़ना, कुसंग, कुचिन्ता, खराब चित्र देखना, आपसमें कामविषयक बातचीत कभी नहीं करनी चाहिये। एकाहार करना चाहिये अथवा रातको बहुत कम हलका अन्न खाना चाहिये। सोते समय ठंडा जल पीना प्रातःकाल निद्रा टूटनेपर फिर सोना, पान खाना, अधोअंगमें वृथा हाथ लगाना, दिनमें सोना, मछली या मांस खाना, प्रातःकाल तक सोते रहना आदि ब्रह्मचारीके लिगे निषिद्ध हैं। दूसरा-ब्राह्ममुहूर्तमें उठकर शौचादिसे निवृत्त

हो प्रातःसन्ध्या और देवता ऋषि एवं पितरोंका तर्पण करना चाहिये। सन्ध्याके साथ साथ गुरुके आज्ञानुसार कुछ कुछ पूजा, प्राणायाम मुद्राओंके करनेसे चित्त शान्त और एकाग्र होगा, स्नायु भी सतेज रहेंगे जिससे ब्रह्मचर्य्यकी रक्षा और शारीरिक नीरोगता रहेगी। पूजा करनेसे मानसिक उन्नति तथा भक्ति बढ़ेगी। मनको संयत रखनेके लिये सदा ही ब्रह्मचारीको यत्न करना चाहिये।

श्रीमद्भागवतमें कहा है कि—'असङ्कल्पाज्जयेत्कामम्' असङ्कल्पसे कामको जीतना चाहिये। कभी कामका संकल्प चित्तमें उदय हो उसी वक्त चित्तको उससे हटाकर और चिन्ता या शास्त्र-पाठमें लगाना चाहिये। तीसरा—ब्रह्मचर्य्यकी रक्षाके लिये बुद्धिकी भी सहायता लेनी चाहिये। बुद्धिके द्वारा विचार करके सत्यासत्य निर्णय करना चाहिये। संसार में त्यागका सात्त्विक सुख भोगके राजसिक सुखसे कितना उत्तम है, विषयसुखके अन्तमें किस प्रकार परिणामदुःख मनुष्यके चित्तको दुखी करता है, इन्द्रियोंके साथ विषयका सम्बन्ध पहिले मधुर होने पर भी परिणाममें किस प्रकार अत्यन्य दुःख उत्पन्न करके सब सुखको मिट्टीमें मिला देता है और निवृत्तिका आनन्द किस प्रकार मनुष्यके लिये प्रवृत्तिसे उत्तम व नित्यानन्दमय है, इन बातोंका विचार सदा ही ब्रह्मचारीको हृदयमें धारण करके अपने व्रतके पालनमें पूर्ण होना चाहिये। महाभारतमें लिखा है कि—

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नाऽर्हतः षोडशीं कलाम्॥

संसारमें जो काम सुख या स्वर्गमें जो महान् दिव्यसुख हैं, ये कोई भी सुख वासना-नाशसुखके सोलह अंशमेंसे एक अंश भी सुख देनेवाले नहीं हैं। भगवान्‌ने गीतामें भी आज्ञा की है कि:—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय! न तेषु रमते बुधः॥

विषयके साथ इन्दियोंका सम्बन्ध होनेसे जो कुछ सुख होता है वह दुःखका ही उत्पन्न करनेवाला है। विषयसुख आदि अन्तसे युक्त है अतः विचारवान् पुरुषको विषयसुख में फँसना नहीं चाहिये। श्रीभगवान्‌की इस आज्ञाको हृदयमें धारण करके ब्रह्मचारीको सदा ही संयत होना चाहिये।

ब्रह्मचर्य्य दो प्रकारका है। यथा—नैष्ठिक और कुर्व्वाण। नैष्ठिक ब्रह्मचारीके लिये गृहस्थाश्रमकी आज्ञा नहीं है, आजन्म ब्रह्मचर्य्य रखनेकी आज्ञा है यदि शिष्यका अधिकार इस प्रकार उन्नत होवे तो गुरु उसे नैष्ठिक ब्रह्मचारी बनावे। श्रुतिमें नैष्ठिक ब्रह्मचारीके लिये संन्यासकी आज्ञा लिखी है। यथा—जाबालश्रुतिमें:—

ब्रह्मचर्य्यं परिसमाप्य गृही भवेत्। गृही भूत्वा बनी भवेत्।
वनी भूत्वा प्रव्रजेत्। यदि वेतरथा ब्रह्मचर्य्यादेव प्रव्रजेद्
गृहाद्वा वनाद्वा। यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्॥

ब्रह्मचर्य्यं-आश्रम समाप्त करके गृही होवे। गृहस्थाश्रमके बाद वानप्रस्थ होवे। वान-प्रस्थाश्रमके बाद संन्यास लेवे। अथवा ब्रह्मचर्य्याश्रमसे ही संन्यास आश्रम ग्रहण करे या गृहस्थ या वानप्रस्थ आश्रमसे संन्यास लेवे। वैराग्यका उदय होते ही संन्यास लेवे। इस प्रकारसे श्रुतिने वैराग्यवान् नैष्ठिक ब्रह्मचारीके लिये संन्यासकी आज्ञा दी है। इस प्रकारकी आज्ञा प्रारब्धवान् उत्तम अधिकारीके लिये है। जिसका इस प्रकारके नैष्ठिक ब्रह्मचर्य्यमें अधिकार नहीं है उसके लिये मनुजीने उपकुर्व्वाण ब्रह्मचर्य्यकी आज्ञा की है। ऐसे ब्रह्मचारी गुरुके आश्रममें कुछ वर्ष तक ब्रह्मचर्य्य धारण पूर्व्वक विद्याभ्यास करनेके बाद गुरुको यथा-शक्ति दक्षिणा देवे और उनकी आज्ञा लेकर व्रतसमाप्तिका स्नान करके गृहस्थाश्रम ग्रहण करें। यथा—मनुसंहितामें:—

षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्य्यं गुरौ त्रैवेदिकं व्रतम्।
तदर्द्धिकं पादिकं वा ग्रहणान्तिकमेव वा॥
वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वाऽपि यथाक्रमम्।
अविप्लुतब्रह्मचर्य्यो गृहस्थाऽऽश्रममावसेत्॥ (३य अध्याय)

ब्रह्मचारी तीन वेद समाप्त करनेके लिये गुरुके आश्रममें ब्रह्मचर्य्य धारण पूर्व्वक ३६ छत्तीस वर्ष, १८ अठारह वर्ष या ९ नौ वर्ष तक निवास करें अथवा निज शाखा-अध्ययनके अनन्तर वेदकी तीन शाखा, दो शाखा, या एक शाखा मन्त्रब्राह्मणक्रमानुसार अध्ययन करके अस्खलित ब्रह्मचर्य्यके साथ गृहस्थाश्रममें प्रवेश करें। और भीः—

गुरुणाऽनुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि।
उद्वहेत द्विजो भार्य्यां सवर्णां लक्षणान्विताम्॥

गुरुकी आज्ञा से यथाविधि व्रतस्नान समावर्त्तन करके द्विज सुलक्षणा सवर्णा कन्या का पाणिग्रहण करे। विवाहसंस्कार गृहस्थाश्रमका सर्वप्रधान संस्कार है। इसके तीन उद्देश्य हैं। अनर्गल प्रवृत्तिका निरोध, पुत्रोत्पादन द्वारा वंशकी रक्षा और भगवत्प्रेमका अभ्यास

मनुष्य योनि प्राप्त करके जीवके स्वतन्त्र होनेसे इन्द्रियलालसा अत्यन्त बढ़ जाती है। प्रत्येक पुरुषके चित्तमें सभी स्त्रियोंके लिये और प्रत्येक स्त्रीके चित्तमें सभी पुरुषोंके लिये भोगभाव प्राकृतिकरूपसे विद्यमान है। उसीका सङ्कोच करक एक पुरुष और एक स्त्रीके परस्परमें प्रवृत्तिको बांधकर धर्म्मके आश्रयसे; भावशुद्धिसे तथा बहुत प्रकारके नियमोंसे उस प्रवृत्तिको भी धीरे धीरे घटाकर अन्तमें महाफला निवृत्तिमें ही मनुष्यको लेजाना विवाहका प्रथम उद्देश्य है।

विवाहका दूसरा उद्देश्य प्रजोत्पत्ति द्वारा वंशरक्षा और पितृ-ऋण शोध करना है। श्रुतिमें लिखा है कि: -

प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः।

पितामह, पिता, पुत्र, पौत्र आदि परम्परासे प्रजाका सूत्र अटूट रखना चाहिये। मनुजीने कहा है कि—

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्।
अनपाकृत्य मोक्षन्तु सेवमानो व्रजत्यधः॥
अधीत्य विधिवद्वेदान् पुत्राँश्चोत्पाद्य धर्म्मतः।
इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत्॥

ऋषि-ऋण, देव-ऋण और पितृ-ऋण तीनों ऋणोंको शोध करके मोक्षमें चित्तको लगाना चाहिये। ऋणत्रयसे मुक्त न होकर मोक्षधर्म्मका आश्रय लेनेसे पतन होता है। स्वाध्याय द्वारा ऋषि-ऋण, पुत्रोत्पत्ति द्वारा पितृ-ऋण और यज्ञसाधन द्वारा देव-ऋणसे गृहस्थ मुक्त होते हैं। नैष्ठिक ब्रह्मचारीके सब ऋण ज्ञानयज्ञमें लय होते हैं। उसको उक्त प्रकारसे ऋणत्रयसे मुक्त नहीं होना पड़ता है; परन्तु गृहस्थके लिये पितृ-ऋणादि शोध करनेके लिये पुत्रोत्पादनादि धर्म्म है।

ऊपरलिखित विवाहके उद्देश्योंकी पूर्णताके लिये पाणिग्रहण बहुत विचारपूर्वक होना चाहिये। अन्यथा, संसारमें अशान्ति, दाम्पत्यप्रेमका अभाव और अधम सन्तानकी सम्भावना रहती है। अतः विवाहसंस्कारके विषयमें नीचे लिखी हुई बातें ध्यान रखने योग्य हैं।

(१) परस्पर विभिन्न रूप और गुणवाले दम्पतिके मेलसे न दाम्पत्यप्रेम होता है और न अच्छी सन्तानोत्पत्ति होती है।

(२) स्त्री पुरुषमें प्रेमकी पूर्णता न होनेसे अच्छी सन्तान नहीं होती है।

(३) कन्या सुलक्षणा न होनेसे संसारका अकल्याण होता है।

(४) पिता माताका शारीरिक, मानसिक दोष गुण और रोग सन्तानको स्पर्श करता है।

(५) वर कन्यामें एक भी अङ्गका दोष नहीं रहना चाहिये, उससे सन्तान खराब होती है। शारीरिक और मानसिक गुणोंके मेलसे सन्तान अच्छी होती है।

(६) कन्याकी उमर पुरुषसे कम होनी चाहिये, नहीं तो पुरुषका पुरुषत्वनाश, कठिन रोग तथा अकालमृत्यु होती है और सन्तान भी रोगी तथा दुर्बल होती है।

महर्षि याज्ञवल्क्यने लिखा है कि:—

अविप्लुतब्रह्मचर्य्यो लक्षण्यां स्त्रियमुद्वहेत्।
अनन्यपूर्व्विकां कान्तामसपिण्डां यवीयसीम्॥

गृहस्थ होनेके लिये अनुरूपा, भिन्नगोत्रीया, अपनेसे अल्पवयस्का व पहले किसीके साथ अविवाहिता कन्याका पाणिग्रहण करें। मनुसंहितामें लिखा है कि:—

असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः।
सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्म्मणि मैथुने॥

महान्त्यपि समृद्धानि गोऽजाऽविधनधान्यतः।
स्त्रीसम्बन्धे दशैतानि कुलानि परिवर्ज्जयेत्॥
हीनक्रियं निष्पुरुषं निश्छन्दो रोमशार्शसम्।
क्षय्यामयाव्यपस्मारि-श्वित्रि-कुष्ठिकुलानि च॥

नोद्वहेत्कपिलां कन्यां नाऽधिकाङ्गीं न रोगिणीम्।
नाऽलोमिकां नाऽतिलोमां न वाचालां न पिङ्गलाम्॥

अव्यङ्गाङ्गीं सौम्यनाम्नीं हंसवारणगामिनीम्।
तनुलोमकेशदशनां मृद्वङ्गीमुद्वहेत् स्त्रियम्।
यस्यास्तु न भवेद्भ्राता न विज्ञायेत् यत्पिता।
नोपयच्छेत तां प्राज्ञः पुत्रिकाऽधर्म्मशङ्कया॥

जो कन्या माताकी सपिण्डा और पिताकी सगोत्रा नहीं है, वही विवाहकार्य्य व संसर्गके लिये प्रशस्ता है। गो, छाग, मेष व धन धान्यसे समृद्धिसम्पन्न होनेपर भी स्त्रीग्रहणके विषयमें दश कुल त्याज्य हैं। जिस कुलमें नीच क्रिया होती है, जिसमें पुरुष उत्पन्न नहीं होते हैं, जिसमें वेदाध्यन नहीं है, जिसमें लोग बहुत रोमयुक्त हैं और जिस कुलमें अर्श, क्षय, मन्दाग्नि, अपस्मार श्वित्र और कुष्ठ रोग हैं उस कुलमें विवाहसम्बन्ध नहीं करना चाहिये। जिस कन्याके केश पिङ्गलवर्ण हैं, छः अंगुलि आदि अधिक अङ्ग हैं, जो चिररुग्णा रोमहीना या अधिक रोमवाली, अधिक वाचाल व जिसके चक्षु पिङ्गलवर्ण हैं, ऐसी कन्यासे विवाह नहीं करना चाहिये। जिसके किसी अङ्गमें विकार नहीं है, सौम्य नामवाली, हंस या गजकी तरह चलनेवाली, सूक्ष्म रोम केश व दन्तवाली और कोमलाङ्गी कन्यासे विवाह करना चाहिये। जिसका भ्राता नहीं है और पिताका वृत्तान्त भी ठीक नहीं मिलता है ऐसी कन्यासे पुत्रिका प्रसव करनेकी व अधर्म्मकी आशङ्काके कारण विवाह नहीं करना चाहिये। कन्याकी तरह वरका भी लक्षण देखना कन्याके पिता माताका अवश्य कर्त्तव्य है। रूप, गुण, कुल, शील, स्वास्थ्य, विद्वत्ता, नीरोगता, सच्चरित्रता, ब्रह्मचर्य्य, मर्य्यादा, सुलक्षण, दीर्घायुः, नम्रता, सत्याचार, आस्तिकता, धर्म्म-भीरुता आदि पुरुषके जितने गुण होने चाहिये उन सबको अवश्य ही कन्याके पिता माता देख लेवें।

वर कन्याके निर्वाचनमें वर कन्या या अध्यापककी अपेक्षा पिता-मातापर निर्भर करना उत्तम विवाह और भविष्यत्में गृहस्थाश्रमकी शान्तिके लिये अधिक हितकर होगा। अध्यापकसे इतनी आशा ही नहीं की जा सकती है कि वे पितामाताकी तरह हार्दिकभावसे इतनी जाँच करेंगे। जिनको वर वधूको लेकर जीवनयात्रा निर्वाह करना है, ऐसे माता पिता हीहृदयके साथ इसमें यत्न कर सकते हैं। द्वितीयतः वर कन्याके ऊपर इसका भार छोड़ना तो संपूर्ण ही अविचारका काम है। विचार व दूरदर्शिता वृद्धत्वके साथ सम्बन्ध रखती है, युवावस्थाके साथ नहीं। युवावस्थामें मानसिक वृत्ति बलवती होनेसे प्रायः विचार दब जाय

खास करके जहां इन्द्रियसुख या कामका सम्बन्ध हो, वहां तो ज्ञान और विचारका सम्बन्ध ही नहीं रहता है। अतः वर और कन्यासे इस दूरदर्शिताकी आशा कभी नहीं की जा सकती है। पिता-माताका ही कर्त्तव्य है कि पुत्र कन्याकी भविष्यत् शुभ कामनासे लक्षणोंको ठीक ठीक जाँचकर विवाहसंस्कार करें। और जो विवाह इस प्रकार उभय पक्षके पिता-माताके द्वारा सम्पादित होता है वही विवाह सब प्रकारसे श्रेष्ठ है इसमें सन्देह ही नहीं। और यह भी बात सत्य है कि हिन्दूशास्त्रमें कन्याका दान होता है, देय वस्तुके देनेमें दाताका ही अधिकार है अन्य किसीका अधिकार नहीं है।

इस विषयमें कतिपय पश्चिमो विद्वानोंने भी अच्छा विचार प्रकट किया है। यथा फ्रेड्रिक पिन्कट्की सम्मति है :—

In England we are prepared to think it a shocking thing that parents would give their children in marriage to whomsoever they please. Our feelings are due to our own habits. In India the parental choice is regarded as necessary and as a grave responsibility; a father will hamper his future life with pecuniary liabilities in ordar to secure a suitable husband for his daughter. This is suffcient to prove that marriage is not in India, the frevolous thing it has been in the West. By the Hindu system every girl has a natural guardian. Who is solemnly bound to see her properly married, at any expenditure of trouble and money. The absence of self-choice in India obviates the harassing uncertainty under which English girls live; it imparts to marriage a sense of destiny which has a beneficial effect on the after-life, A boy and a girl in India, grow up to the knowledge that they are destined for each other and from their earliest years they have to adapt themselves to their future condition.

पिता-माता जिसके साथ चाहेंगे अपने लड़के लड़कोका विवाह कर देंगे, यह बात इंगलेण्डनिवासी हम लोगोंको बड़ी ही भयानक मालूम पड़तो है। किन्तु ऐसा भाव अपने अभ्यासके कारण हमें होता है। भारतवर्षमें पिता-माताके लिये यह बहुत ही आवश्यक

तथा दायित्वपूर्ण कार्य है कि वे अपनी कन्याको योग्य वरके हाथमें सौंप देवें और इस दायित्वको पूरा करनेके लिये पिता-माता अर्थक्लेश आदि कितने ही क्लेशोंको सहन करते हैं। इसीसे प्रमाणित होता है कि भारतवर्षमें पश्चिम देशकी तरह विवाह कोई नगण्य मामूली वस्तु नहीं है, हिन्दू सामाजिक विधिके अनुसार प्रत्येक कन्याके नैसर्गिक रक्षक उनके पिता-माता हैं, जिनका धार्मिक अवश्य कर्त्तव्य है कि कितना ही क्लेश या अर्थ-क्लेश क्यों न सहना पड़े अपनी लड़कीको सुपात्रमें प्रदान करें। इस प्रकारसे स्वयं वर ढूंढ़नेकी आवश्यकता नष्ट होनेपर विवाहके विषयमें अनिश्चित भाव जो कि पश्चिमी लड़कियोंमें है वह भी नष्ट हो जाता है। इस विधिमें विवाह संस्कारके साथ 'अदृष्ट' का सम्बन्ध मिल जाता है, जिसका फल भविष्यत् जीवनमें बहुत ही उत्तम होता है। भारत के वरवधू विवाह संस्कारके समयसे ही यह समझने लगते हैं कि पूर्वकर्मानुसार उनका संयोग हुआ है और उसी धर्मसम्बन्धको अटूट रखनेके लिये वे पहिलेसे ही प्रयत्न करने लग जाते हैं।

हमारे शास्त्रोंमें विवाह आठ प्रकारके लिखे हैं। मनुसंहितामें लिखा है कि—

ब्राह्मो दैवस्तथैवाऽऽर्षः प्राजापत्यस्तथाऽऽसुरः।
गान्धर्व्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः॥

ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व्व, राक्षस और पैशाच ये आठ तरह विवाह हैं। इन आठ प्रकारके विवाहोंके लक्षणोंके विषयमें मनुजीने कहा है कि कन्याको वस्त्र अलङ्कार आदिसे सज्जित करके विद्या और शीलवान् वरको बुलाकर जो कन्याका विधिपूर्वक विवाह संस्कारसे दान किया जाता है उसकोब्राह्मविवाह कहते हैं। ज्योतिष्टोमादि यज्ञोंके होनेपर उस यज्ञमें कर्म्मकर्त्ता ऋत्विक्को अलङ्कारादि द्वारा सज्जिता कन्याका दान दैवविवाह है। यज्ञादि धर्म्मकार्यके लिये एक या दो जोड़ा बैल या गौ लेकर वधिपूर्वक कन्यादान करनेको आर्षविवाह कहते हैं। "तुम दोनों मिलकर गृहस्थधर्मका आचरण करना इस प्रकार कहकर इस विवाहका विशेष शास्त्रोक्त विधिके साथ वरकी पूजा करके कन्या-दानका नाम प्राजापत्य विवाह है। स्वेच्छासे कन्याके कुटुम्त्रियोंको वा कन्याको धन देकर जो कन्याग्रहण करे उसे आसुरविवाह कहते हैं। इसमें कन्याकी एक प्रकार विक्रय होता है। कन्या और वर दोनोंका परस्परके अनुरागसे जो संयोग है उसको गान्धर्व्व-विवाह कहते हैं। यह संयोग एकान्तमें भी हो सकता है और स्वयम्बर प्रथाके अनुसार भी हो सकता। यह विवाह काम मूलक है परन्तु इसमें होम आदि के द्वारा पीछे शास्त्रीय

संस्कार हुआ करता है। कन्याके पक्षके लोगोंको मार कर, काटकर और उनका घर तोड़ कर रोती हुई और किसी रक्षकको पुकारती हुई कन्याको बल पूर्वक हरण करके जो विवाह किया जाता है उसको राक्षस विवाह कहते हैं। निद्रिता, मद्यपानसे विह्वला अथवा और तरह से उन्मत्ता स्त्रीके साथ एकान्तमें सम्बन्ध करके जो विवाह होता है वह अधम और पाप जनक विवाह पैशाच विवाह कहा जाता है। इनमेंसे प्रथम चार विवाहोंकी प्रशंसा शास्त्रमें की गयी है और बाकी चार विवाहोंकी निन्दाकी गयी है।

यथा—मनुसंहितामें लिखा है कि—

ब्राह्मादिषु विवाहेषु चतुर्ष्वेवाऽनुपूर्व्वशः।
ब्रह्मवर्चस्विनः पुत्रा जायन्ते शिष्टसम्मताः॥
रूपसत्त्वगुणोपेता धनवन्तो यशस्विनः।
पर्य्याप्तभोगा धर्म्मिष्ठा जीवन्ति च शतं समाः।
इतरेषु तु शिष्टेषु नृशंसाऽनृतवादिनः।
जायन्ते दुर्विव.हेषु ब्रह्मधर्म्मद्विषः सुताः॥
अनिन्दितैः स्त्रीविवाहैरनिन्द्या भवति प्रजा।
निन्दितैर्निन्दिता नृणां तस्मान्निन्द्यान्विवर्ज्जयेत्॥

ब्राह्म, दैव, आर्ष और प्राजापत्य इन चार विवाहोंसे जो सन्तानें उत्पन्न होती हैं वे ब्रह्मतेजसे युक्त और शिष्टसम्मत होती हे। ऐसी सन्तानें सुन्दर स्वरूप, सात्त्विक, धनवान्, यशस्वी, पर्याप्तभोगवान् और धार्म्मिक होकर शतवर्ष तक जीवित रहती हैं और बाकी चार प्रकारके विवाह अर्थात् आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच विवाहोंसे क्रूर. मिथ्यावादी धर्म्म और वेदके विद्वेषी पुत्र उत्पन्न होते हैं। अनिन्दित स्त्रीविवाह से अनिन्दित सन्तान और निन्दित स्त्रीविवाहसे निन्दित सन्तान उत्पन्न होती है इसलिये निन्दित विवाहको त्याग देना चाहिये।

इस स्थल पर सन्देह यह हो सकता है कि श्रीकृष्णचन्द्रका रुक्मिणी हरण और श्रीरामचन्द्रके विवाहमें सीता स्वयम्वरका निन्द्या विवाह हो सकता है? इस श्रेणीकी शंका का समाधान यह है कि, यह सब कर्मविपाक जनित होकर पीछेसे ऊपर-कथित

अनिन्दित विवाहके रूपमें वैदिक कर्म्मके द्वारा संस्कृत होने से इसमें निन्दाका सम्पर्क नहीं था।

शास्त्रोंमें धन लेकर कन्यादानको बड़ी निन्दा की गई है। यथा मनुसंहितामें लिखा है कि—

न कन्यायाः पिता विद्वान् गृह्णीयाच्छुल्कमण्वपि।
गृह्णन् शुल्कं हि लोभेन स्यान्नरोऽपत्यविक्रयी।
स्त्रीधनानि तु ये मोहादुपजीवन्ति बान्धवाः।
नारीयानानि वस्त्रं वा ते पापा यान्त्यधोगतिम्॥

विचारशील पिता कन्यादान करनेके लिये सामान्य भी धन वरपक्षसे न लेवे, क्योंकि लोभसे धन लेलेनेपर अपत्यविक्रयका पाप होता है। पिता आदि आत्मीयगण मोहके कारण स्त्री-धन, उसकी दासी वाहन या वस्त्रादि जो कुछ लेते हैं वा जो कुछ भोग करते हैं उससे उनकी अधोगति होती है। किसी किसीने गोवध और अपत्य-बिक्रय, दोनोंको ही समान पाप कहा है। आर्षविवाहमें जो गोमिथुन लिया जाता है उसको शुल्क नहीं कहना चाहिये योंकि यह धर्म्म कार्य्यार्थं लिया जाता है। भोगार्थं नहीं लिया जाता है। और ऐसी ही मनुजीकी सम्मति है कि धर्म्मकार्य्यार्थं यज्ञादिके लिये वह लिया जाता है। वरपक्षके लोग स्वेच्छासे प्रीतिके साथ कन्याको कुछ धन देवें, यदि कन्याका पिता उस धनको न लेकर कन्याको देदे तो उसको भी कन्याविक्रय नहीं कहना चाहिये, क्योंकि वह एक प्रकारका उपहारमात्र है। स्त्रीजातिकी पूजाके लिये शास्त्रोंमें आज्ञा भी है। यथा मनुसंहितामें लिखा है कि—

यत्र नार्य्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्व्वास्तत्राऽफलाः क्रियाः॥

जिस कुल में स्त्रियोंका समादर है वहां देवता प्रसन्न रहते हैं और जहां ऐसा नहीं है उस परिवार में समस्त योगादि किया वृथा होती है।

कन्याविक्रयकी तरह पुत्रके विवाह में भी कन्याके माता-पितासे दबाकर धन लेना

एक प्रकारका पुत्रविक्रय है। जितने प्रकारके दानयज्ञ होते हैं उनमें कन्यादान एक सबसे बड़ा दान है। विशेषतः वेद और शास्त्रोंमें कन्यादानकी महिमा सर्वोपरि है और विवाहका प्रथम विज्ञान कन्यादानकी भित्ति पर निर्भर है। चार प्रकारके निन्द्य विवाहमें कन्यादानका अवसर न होनेसे वह निन्दनीय हे। हाँ, केवल स्वयम्वर आदिके अन्तमें कन्यादानकी विधि कर देनेसे निन्दा नहीं रहती और आसुर विवाहमें तो कन्याका विक्रय ही किया जाता है, इस कारण वह प्रत्यक्ष निन्दनीय है। अवश्य यह भी मानने योग्य है कि, लोभी वरपक्ष जो धन जबर्दस्ती लेकर कन्याका दान ग्रहण करते हैं वह भी पाप भागी होते हैं और जिसके मूलमें अधर्म है उस कार्यसे धर्ममें बाधा होती है और ऐसे दम्पतिसे धार्मिक सन्तान होना कठिन हो जाता है। कन्याके पिताका यह कर्त्तव्य है कि कन्याको कुछ अलङ्कारादि देकर वरके हाथमें समर्पण करे, क्योंकि पुत्रकी तरह कन्याका भी अधिकार पिताके धन पर है और यह अधिकार प्राकृतिक है। अलङ्कारादिके द्वारा उस प्रकृतिकी पूजा करनी चाहिये, अर्थात् उस प्रकृतिसिद्ध अधिकारका पालन करना चाहिये। परन्तु पूजा भी अपनी शक्ति और अपने अधिकारके अनुसार हुआ करती है इसलिये वरके पिताको कन्याके पितासे उसकी शक्तिके अतिरिक्त दबाकर उससे धन कभी नहीं लेना चाहिये। कन्या सुन्दरी है, उसका स्वभाव नम्र है। उसके पिता धर्म्मशील और उसकी माता धर्मपरायणा है इत्यादि बातोंका विचार पहले करना चाहिये। यदि ये सब बातें ठीक ठीक मिल जायँ तो कन्यारत्नको अवश्य ही ग्रहण कर लेना चाहिये। इतना होने पर भी धनके लिये दबाना नीचता और पाप है। इसी पापसे भारतके बहुतसे समाजोंका आजकल अधःपतन हो रहा है। पुत्रका भावी सुख और वंशकी उन्नति पर पिताका लक्ष्य होना चाहिये। अर्थलोभसे कुटुम्बमें विरोध और अशान्ति करना अधर्म्म और अविचारका कार्य्य हे। सामाजिक नेताओं-की दृष्टि इस पर अवश्य आकृष्ट होनी चाहिये।

विवाहसंस्कारके बाद दाम्पत्यप्रेमके साथ पति पत्नीको संसार चलाते रहना चाहिये। इसके लिये मन्वादि शास्त्रोंमें बहुत कुछ कर्त्तव्योंका निर्णय किया गया है। विवाहका मुख्य उद्देश्य प्रजाकी उत्पत्ति करना है इसलिये शास्त्रके अनुकूल गर्भाधान संस्कारके अनुसार सन्तानोत्पत्ति करना चाहिये। इस विषयमें मनुजीने कहा है कि :—

ऋतुकालाऽभिगामी स्यात् स्वदारनिरतः सदा।

अर्थात् एक पत्नीव्रत होकर, ऋतुकालमें अपनी स्त्रीमें गर्भदान करना चाहिये। इस कारण सनातनधर्ममें एक पत्नीव्रतकी महिमा सदासे चली आ रही है। परन्तु यदि सन्तान उत्पन्न न हो तो दूसरा विवाह करनेकी विधि भी शास्त्रोंमें है। परन्तु एक पत्नीव्रतकी

मर्यादा सबसे बड़ी है। भगवान् रामचन्द्रका चरित्र एकपत्नीव्रतसे ही इतना गौरवशालो हुआ है। और भी लिखा है :—

ऋतुः स्वाभाविकः स्त्रीणां रात्रयः षोडश स्मृताः।
चतुर्भिरितरैः सार्द्धमहोभिः सद्विगर्हितैः॥
तासामाद्याश्चतस्त्रस्तु निन्दितैकादशी च या।
त्रयोदशी च शेषास्तु प्रशस्ता दश रात्रयः॥
युग्मासु पुत्रा जायन्ते स्त्रियोऽयुग्मासु रात्रिषु।
तस्माद्युग्मासु पुत्राऽर्थी संविशेदार्त्तवे स्त्रियम्॥
पुमान्पुंसोऽधिके शुक्रे स्त्री भवत्यधिके स्त्रियाः।
समेऽपुमान्पुंस्त्रियौ वा क्षीणेऽल्पे च विपर्य्ययः॥
निन्द्यास्वष्टासु चाऽन्यासु स्त्रियोरात्रिसु वर्जयन्।
ब्रह्मचार्य्येव भवति यत्र तत्राऽश्रमे वसन्॥

पहली चार रात्रि सहित स्त्रियों का स्वाभाविक ऋतुकाल १६ सोलह रात्रियाँ हैं। इनमें पहली चार रात्रियाँ, एकादश और त्रयोदश रात्रियाँ ये ६ निषिद्ध हैं, बाकी १० दस रात्रियाँ स्त्रीगमनके लिये प्रशस्त हैं। इन दसोंमेंसे भी छठी आठवीं दसवीं आदि युग्म रात्रियोंमें गर्भ होने पर पुत्र होना है और पाँचवीं सातवीं नवीं आदि अयुग्म रात्रियोंमें गर्भाधान करनेसे कन्या होती है इसलिये पुत्रके लिये ऋतुकालकी युग्म रात्रियों में ही गमनका विधान किया गया है। अयुग्म रात्रि होने पर भी पुरुषका वीर्य्य अधिक होने पर पुत्र उत्पन्न होता है और युग्म रात्रि होने पर भी रजके अधिक होनेसे कन्या उत्पन्न होती है। और दोनोंके समान होनेसे क्लीव अथवा यमज कन्या-पुत्र उत्पन्न होते हैं। और यदि दोनोंके ही रजवीर्य्य असार हों तो गर्भ ही नहीं होता है। इस प्रकार निन्दित छः रात्रि और अनिन्दित दस रात्रियोंमेंसे कोई भी आठ रात्रियाँ अर्थात् कुल १४ चौदह रात्रियोंमें सम्बन्ध त्याग करके बाकी २ रात्रियोंमें जिनमें कोई पर्व्व न हो, जो पुरुष स्त्रीगमन करते हैं वे आश्रममें रहने पर भी ब्रह्मचारी ही बने रहते हैं। पूर्णिमा, आमावश्या, चतुर्दशी, अष्टमी और संक्रांतिको पर्व्व दिन कहा जाता है इसलिये इन दिनोंमें भी स्त्री सम्बन्ध करना मना है। दिनमें संसर्ग अत्यन्त दोषयुक्त है। यथा प्रश्नोपनिषद्में—

प्राणा वा एते प्रस्कन्दन्ति
ये दिवा रत्या संयुज्यन्ते ॥

दिनमें रतिके द्वारा प्राणमें हानि होती है। सन्ध्याकालमें भी संसर्ग नहीं करना चाहिये। यमसंहितामें लिखा है किः—

चत्वारि खलु कर्म्माणि संध्याकाले विवर्जयेत्।
आहारं मैथुनं निद्रां स्वाध्यायञ्च चतुर्थकम् ॥

सन्ध्याकालमें आहार, मैथुन, नींद और स्वाध्याय, ये नहीं करने चाहिये। इसी प्रकार प्रातःकालके समयमें भी संसर्ग प्राणान्तकर है। ऋतुकालके पहले तीन दिनकी तो बात ही क्या कहना है, उस समय संसर्ग सर्व्वथा त्याग करना उचित है उससे स्त्री पुरुष दोनोंको ही कठिन पीड़ा, आध्यात्मिक अवनति और प्राणनाश होता है। रजःसंयमका काल साधारणतः चार दिन होने पर भी स्वास्थ्यके व्यतिक्रमसे और अधिक भी हो सकता है। इसलिये नियम होना चाहिये कि जबतक रजःसंयम न हो तबतक संसर्ग न हो। उदरमें आहार्य्य द्रव्य अपक्व रहते स्त्री-पुरुषका संयोग नहीं होना चाहिये। स्त्री अथवा पुरुष किसोके शरीरमें किसी प्रकारकी ग्लानि रहने पर भी स्त्रीसंयोग होना निषिद्ध है। गर्भिणी स्त्रीके साथ सम्बन्ध या रजोदर्शनसे पहले सम्बन्ध महापाप है। गर्भिणी स्त्रीके चित्तमें किसी प्रकारके कामभावके उत्पन्न होनेसे गर्भस्थ सन्तान कामुक व खराब होती है इसलिये हिन्दुशास्त्रमें उस दशामें पुरुषका सम्बन्ध निषेध किया गया है और बहुत प्रकारके संस्कार तथा धर्म्मभाव बढ़ानेकी आज्ञा की है और स्त्रीसम्बन्ध जब सन्तानके लिये है तो उस समय अर्थात् गर्भके समयमें सम्बन्ध वृथा है। किसी किसी निरंकुश व्यक्तिकी सम्मति है कि स्त्रीसम्बन्धसे निवृत्त रहने पर पुरुषको रोग हो जाता है यह सम्पूर्ण मिथ्या है। भीष्मदेवने ब्रह्मचर्य्यसे इच्छामृत्यु लाभ किया था, बीमार नहीं हो गये थे। अवश्य चित्तमें कामभाव रहनेसे उसके दमन करनेकी इच्छा न करके जो लोग मानसमैथुन किया करते हैं उनको रोग हो सकता है परन्तु संयमी ब्रह्मचारी वीर्य्यके बलसे सकल प्रकारकी उन्नति कर सकते हैं क्योंकि उनका शरीर और दृढ़ होता है, उनमें द्वन्द्वसहिष्णुता और परिश्रम करनेकी शक्ति बढ़ती है, आयु और मस्तिष्ककी शक्ति, चित्तकी एकाग्रता और मानसिक शक्ति बढ़ती है, उनको रोग नहीं होता है।

स्वदार-गमन करते समय स्त्रीपुरुष दोनोंको यह धारणा रहनी चाहिये कि यह इन्द्रिय सेवाका कार्य नहीं है, यह भगवान्‌का सृष्टि विस्तारका कार्य है। ऐसे धार्मिक वृत्ति रखनेसे सन्तान धार्मिक होती है और पितरोंकी कृपा होती है। स्त्रीपुरुषका संयोग होतेही

वह युगल देह पीठ बन जाता है, ऐसा शास्त्रोंमें प्रमाण है। देवलोकसे सम्बन्धयुक्त स्थानको पीठ कहते हैं। शास्त्रोंमें यह भी प्रमाण है कि उस समय यदि दम्पति चाहे तो देवता और पितरोंकी सहायतासे इच्छानुरूप शक्तिशाली सन्तति उत्पन्न कर सकता है। अतः यह क्रिया पुनीत क्रिया है और दैवी राज्यसे सम्बन्धयुक्त क्रिया है यही शास्त्रकी आज्ञा है। आध्यात्मिक उन्नतिशील आर्य्य जातिकी दृष्टिमें इस प्रकारका महत्त्व है।

सकल परिवार ही एक राज्यकी तरह है। जिस प्रकार राजाकी योग्यता और न्यायपरताके बलसे राज्यमें शान्ति रहती है उसी प्रकार परिवारकी भी शान्ति और उन्नति गृहकर्त्ता और गृहकर्त्रीकी न्यायपरतापर निर्भर करती है। परिवारके व्यक्तियों के बीचमें वैमनस्य लड़ाई व वागित्रतण्डा आदि अशान्तिकर विषय जिससे न होसकें इस विषयमें कर्त्ता व कर्त्रीको सदा ही सावधान रहना चाहिये और कभी हो भी जाय तो निष्पक्षविचारसे शीघ्र ही शान्त कर देना चाहिये। एक परिवार एक छोटा राज्य होनेसे गृहपतिका सम्मान प्रत्येक परिवारमें राजाके सदृश होना चाहिये। गुरुजनोमेंसे प्रधान व्यक्ति गृहपति होने योग्य है। यही सदाचार है। परिवाररूपी छोटा राज्य समाजरूपी वृहद्राज्यके अन्तर्गत है इसलिये सामाजिक शान्ति व उन्नतिके साथ प्रत्येक परिवारकी शान्ति व उन्नतिका सम्बन्ध है। प्रत्येक गृहस्थका कर्त्तव्य है कि सामाजिक अनुशासनको मानकर चले, उसकी कदापि अवज्ञा न करे अधिकन्तु सामाजिक उन्नतिके लिये अपना स्वार्थ त्याग भी करे। जाति और कुटुम्बको अपने गौरवका अंशभागी करके उनके साथ सदा ही प्रेमके साथ मेल रखना चाहिये। प्रत्येक सार्व्वजनिक कार्य्यमें उनके परामर्श लेने चाहिये। उनकी उन्नतिमें ईर्ष्यालु न होकर अपनेको सुखी व गौरवान्वित समझना चाहिये। अपनी उन्नतिके साथ साथ सन्तानोंकी उन्नति व सत्शिक्षाके लिये पिता-माताको सदा ही सचेष्ट रहना चाहिये। स्मरण रहे कि पिता-माता जिस संसारमें आदर्श चरित्र हैं उसमें सन्तान भी अच्छी होती है। गर्भाधानसंस्कार ठीक ठीक शास्त्रानुकूल होनेसे धर्म्मपुत्र उत्पन्न होता है और कामज सन्तति नहीं होती है। क्योंकि गर्भाधानके समय दम्पतिके चित्तको जैसा भाव होता है उसीके ही अनुरूप पुत्रका भी चित्त होता है। सात्त्विक भावसे उत्पन्न पुत्र सात्त्विक होता है। अत्यन्त पशुभावके द्वारा उन्मत्त होकर सन्तान उत्पन्न करनेसे सन्तान भी तामसिक होती है। दुर्ब्बल शरीर, दुर्ब्बल चेता और कामुक पुत्र जो कि आजकल देखनेमें आते हैं इसका कारण गर्भाधानसंस्कारका बिगड़ जाना ही है। पिता-माताको इन बातोंका विचार अवश्य रहना चाहिये, नहीं तो कुसन्तान उत्पन्न होकर उन्हींको दुःख देगी और वंशमर्य्यादाको नष्ट करेगी। दूसरी बात विचार रखनेकी यह है कि सन्तानकी सकल प्रकारकी उन्नतिके लिये माता-पिताको आदर्श चरित्र होना चाहिये। गृहस्थाश्रममें सन्तान होना विशेष सौभाग्यकी बात

है क्योंकि पुत्र माता-पिताका नरकसे त्राण करता है यह जो शास्त्रमें कहा गया है इसकी चरितार्थता इहलोक परलोक दोनोंमें ही देखनेमें आती है। श्राद्ध तर्प्पण आदि द्वारा पुत्र परलोकमें शान्ति व उन्नतितो माता-पिताकी करते ही हैं; अधिकन्तु मायामय संसारमें बद्ध पिता-माताकी आध्यात्मिक उन्नतिके लिये इहलोकमें भी पुत्र निमित्तरूप होते हैं जीव भाव स्वार्थमूलक है। सन्तान होनेसे पिता-माताके इस स्वार्थमें बहुत ही सङ्कोच हुआ करता है। सन्तानके सुखके लिये पिता, माता अपनी सुखेच्छा तथा स्वार्थबुद्धिको तिलाञ्जलि देते हैं इससे उनकी उन्नति होती है। शास्त्रोंमें कहा है कि :—

सर्व्वत्र विजयं हीच्छेत्पुत्रादिच्छेत्पराजयम्।

सर्व्वत्र विजय चाहने पर भी लोग अपने पुत्रसे पराजय होने पर भी प्रसन्न होते हैं। अपने पुत्रको अपनेसे भी गुणवान् देखनेकी इच्छा पिता-माताको हुआ करती है। यह भाव अहङ्कारका नाश करके गृहस्थकी आध्यात्मिक उन्नति करता है। अपने चालचलनमें खराबी होनेसे पुत्र भी बिगड़ जायगा और अपनेमें मितव्ययिता, सदाचार स्वास्थ्यरक्षा प्रवृत्ति, अध्यात्म लक्ष्य, दैवी जगत पर विश्वास, धर्मभाव आदि गुण न होनेसे पुत्र भी अमितव्ययी, कदाचारी व रोगी होगा, ये सब भाव माता-पिताको सच्चरित्र मितव्ययी, सदाचारी नीरोग और धार्मिक बननेमें सहायता करते हैं। इस प्रकारसे सन्तान इहलोकमें भी पिता-माताके नरकत्राणमें निमित्त रूप होती है। प्रत्येक गृहस्थ पिता-माताका कर्त्तव्य है कि अपनी सन्तानके सामने ये ही अब आदर्श रक्खें जिनसे अपनी उन्नतिके साथ साथ सन्तानकी भी उन्नति हो और दिन पर दिन वंशगौरवकी प्रतिष्ठा हो। सन्तानके शिक्षा-विषयमें पिता-माताको ध्यान रखना चाहिये कि शिक्षा पूर्व्व संस्कारोंके अनुकूल होनेसे ही ठीक ठीक उन्नति हो सकती है। शास्त्रोंमें लिखा है कि :—

पूर्व्वजन्मार्ज्जिता विद्या पूर्व्वजन्मार्ज्जितं धनम्।
पूर्व्वजन्मार्ज्जितं पुण्यमग्रे धावति धावति॥

पूर्व्वजन्ममें अर्जित विद्या, धन व पुण्योंके संस्कारानुकूल ही इस जन्ममें उन वस्तुओंकी प्राप्ति होती है। इसलिये विद्या वही पढ़ानी चाहिये जिसका संस्कार सन्तानमें पूर्व्वजन्मसे है। आजकल कई माता-पिता अपनी ही इच्छा तथा संस्कारके अनुसार पुत्रको शिक्षा देना चाहते हैं, ऐसा करना ठीक नहीं है। अवश्य, पुत्रका संस्कार पिता-माताको संस्कारके अनुकूल ही बहुधा पाया जाता है, परन्तु सब विषयोंमें ऐसा नहीं भी होता है। इस विषय पर लक्ष्य रखकर पुत्रकी शिक्षा, खासकरके उसकी व्यावहारिक शिक्षा होनी चाहिये। उसका संस्कार जिस विद्या या विभागके सिखनेका हो उसे वही पढ़ना चाहिये और साथ ही साथ

आदर्शचरित्र व धार्मिक होकर पिताको पुत्रके लिये धार्मिक शिक्षाका प्रबन्ध करना चाहियें जिससे बालकपनसे उसके चित्तमें धर्म्मसंस्कार जम जायँ। ऐसा होनेपर भविष्यत्में सन्तान सच्चरित्र, धार्मिक, गुणवान् और विद्यावान् अवश्य होगी। यही गृहस्थाश्रमका धर्म्म संक्षेपसे बताया गया, इसके ठीक ठीक अनुष्ठानसे गृहस्थ देव, ऋषि और पितरोंके ऋणसे मुक्त होकर तृतीय अर्थात् वानप्रस्थाश्रमके अधिकारी अनायास ही हो सकते हैं।

अब वानप्रस्थाश्रमधर्म्मका वर्णन किया जाता है। मनुसंहितामें लिखा है कि :—

एवं गृहाश्रमे स्थित्वा विधिवत्स्नातको द्विजः।
वने वसेत्तु नियतो यथावद्विजितेन्द्रियः॥
गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वलीपलितमात्मनः।
अपत्यस्यैव चाऽपत्यं तदाऽरण्यं समाश्रयेत्॥
सन्त्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्व्वं चैव परिच्छदम्।
पुत्रेषु भार्य्यां निक्षिप्य बनं गच्छेत्सहैव वा॥

इस प्रकारसे स्नातक द्विज गृहस्थाश्रम-धर्म्मका पालन करके यथा विधि जितेन्द्रिय होकर वानप्रस्थ-आश्रम ग्रहण करे। गृहस्थ जब देखे कि, वार्द्धक्यका लक्षण हो रहा है और पुत्रका पुत्र हो गया है तो उसी समय वानप्रस्थी होजाय। ग्रामके आहार परिच्छद परित्याग करके स्त्रीको पुत्रके पास रखकर अथवा स्त्रीके साथही बनमें जावे। ये सब आज्ञायें मनुजीने की हैं। पहिले हो कहा गया है कि प्रत्येक धर्म्मविधिके लक्ष्यको दृढ़ रखकर देशकाल पात्रके अनुसार विधिका नियोजन होनेसे ही यथार्थ फल मिल सकता है। आजकल देशकाल इस प्रकार हो गया कि प्राचीन रीतिके अनुसार वानप्रस्थाश्रमविधिका पालन करना बहुत ही कठिन है और पात्रके विषयमें भी बहुत कठिनता होगई है क्योंकि वानप्रस्थमें जिस प्रकार तपस्या या व्रत आदि करनेकी आज्ञा शास्त्रमें पाई जाती है उन सब तपस्या या व्रतोंका आचरण कामज शरीरके द्वारा नहीं हो सकता है इसलिये वनमें जाकर कठिन तपस्या, भृगुपतन, अग्निप्रवेश आदि करना असम्भव हो गया है। इन्हीं सबबातों पर विचार करके भगवान् शङ्कराचार्य्यने वानप्रस्थ व संन्यास दोनोंको सहायताके अर्थ मठस्थ ब्रह्मचर्य्य-की नवीन विधिकी सृष्टि की थी। अतः देशकालपात्रानुसार लक्ष्यको स्थिर रखते हुए वानप्रस्थाश्रमका निवाहना ही विचार तथा शास्त्रसङ्गत होगा।

वानप्रस्थआश्रम निवृत्तिमार्गका द्वार है। पूर्वजन्मोंके कर्मोंके प्रभावसे कोई भाग्यशाली व्यक्ति कदाचित् यथार्थ संन्यासी बन सकते हैं; परन्तु ऐसे भाग्यशाली मनुष्य संसारमें

बहुत ही कम होते हैं इस कारण वानप्रस्थाश्रमकी स्थापना किसी न किसी स्वरूपमें अवश्य होनी चाहिये। किसी प्राचीन तीर्थको अथवा किसी प्राचीन तीर्थके किसी भागको सत्संग व सच्चर्चाके द्वारा आदर्श-स्थान बनाकर वहीं यदि निवृत्तिसेवी व्यक्ति अपनी अपनी आध्यात्मिक उन्नति निवृत्ति मार्गमें जानेके विचारसे प्रतिज्ञा करके गुरु और शास्त्रके आश्रयसे उक्त आदर्शतीर्थमें वास करें और क्रमशः साधुसङ्ग, वैराग्यचर्च्चा, अध्यात्मशास्त्रोंका पठन पाठन और योगसाधनादि आध्यात्मिक उन्नतिकारी अनुष्ठानोंको करते हुये अपने जीवनको कृतकृत्य करें तो वे इस कराल कलियुगमें वानप्रस्थ-आश्रमका बहुतसा फल प्राप्त कर सकेंगे। और इस प्रकारसे ऐसे निवृत्तिसेवी भाग्यवान् तपस्वी क्रमशः अच्छे संन्यासी बन सकेंगे। और यदि वे कठिन संन्यासाश्रममें न भी पहुंचना चाहें तो भी अपनी बहुत कुछ आध्यात्मिक उन्नति कर सकेंगे एवं जगत्का भी कल्याण कर सकेंगे।

उक्त प्रकारसे संयत होकर वानप्रस्थ-आश्रमका पालन करनेसे क्या गति होती है सो मुण्डकोपनिषद्में लिखा है। यथा :—

तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये,
शान्ता विद्वांसो भैक्षचर्य्यां चरन्तः।
सूर्य्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति,
यत्राऽमृतः सपुरुषो ह्यव्ययात्मा॥

भिक्षावृत्तिका आश्रय करके जो विद्वान् शान्तस्वभाव वानप्रस्थ, अरण्यमें निवास करते हुये तपस्या और श्रद्धाका सेवन करते हैं वे पुण्य पापसे मुक्त होकर उत्तरायण पथसे अमृत अव्य पुरुषके लोकमें अर्थात् ब्रह्मलोकमें जाते हैं। यही वानप्रस्थाश्रमका संक्षेप रहस्य वर्णन किया गया। इसका अपने अपने अधिकार और देश-कालसे मिलाकर अनुष्ठान करने पर त्रिविध तप व संयमके द्वारा निवृत्तिभावका अभ्यास होगा जिससे द्विजगण चतुर्थाश्रमके अधिकारी बन सकेंगे।

अब संक्षेपसे चतुर्थ अर्थात् संन्यासाश्रमका कुछ वर्णन किया जाता है। मनुसंहितामें लिखा है :—*

वनेषु तु विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः।
चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा सङ्गान् परिव्रजेत्॥

* विस्तारित वर्णन सन्यासगीता और सन्यास-धर्मपद्धति जो श्री महामण्डलसे निकली है उसमें देखें।

आश्रमादाश्रमं गत्वा हुतहोमो जितेन्द्रियः।
भिक्षाबलिपरिश्रान्तः प्रव्रजन् प्रेत्य वर्द्धते॥

इस प्रकारसे आयुका तृतीय भाग वानप्रस्थाश्रममें बिता करके चतुर्थ भागमें निःसंग होकर संन्यास ग्रहण करे। एक आश्रमसे आश्रमान्तर ग्रहण करते हुये अग्निहोत्रादि होम समाप्त करके जितेन्द्रियताके साथ जब भिक्षा बलि आदि कर्मोंसे श्रान्त हो तब संन्यास ग्रहण करनेसे परलोकमें उन्नति होती है। यह संन्यासका साधारण क्रम है। असाधारण दशामें ब्रह्मचर्य्य-आश्रमसे ही प्रारब्धबलसे एकाएक भी संन्यासाश्रम ग्रहण होता है जैसा कि पहिले कहा गया है। श्रुतिमें लिखा है कि :—

न कर्मणा न प्रजया धनेन
त्यागेनैकेनामृतत्वमानशुः।

सकाम कर्म, सन्तति या धन किसीसे भी अमृतत्वलाभ नहीं होता है, केवल त्यागसे ही अमृतत्व लाभ होता है।

संन्यासाश्रम निवृत्तिकी पूर्ण चरितार्थता होती है। जो महाफल निवृत्तिव्रत ब्रह्मचर्य्याश्रममें प्रारम्भ हुआ था, संन्यासाश्रममें उस महाव्रतका उद्यापन होता है जिससे जीवको मोक्षरूप फलप्राप्ति होती है।

ब्रह्ममें अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत ये तीन भाव हैं, इसलिये कार्यब्रह्मरूपी इस संसारकी प्रत्येक वस्तुमें भी तीन भाव हैं, अतः जीवमें भी तीन भाव हैं। इन तीनों भावोंकी शुद्धि पूर्णता द्वारा ही साधक ब्रह्मरूप बन सकता है। निष्काम कर्मके द्वारा आधिभौतिक शुद्ध, उपासनाके द्वारा आधिदैविक शुद्धि और ज्ञानद्वारा आध्यात्मिक शुद्धि होती है। इसलिये संन्यासाश्रममें निष्काम कर्म, उपासना और ज्ञानका अनुष्ठान शास्त्रोंमें बताया गया है।

निष्काम कर्म्मके विषयमें श्रीगीतामें कहा है :—

अनाश्रितः कर्म्मफलं कार्यं कर्म्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाऽक्रियः॥
काम्यानां कर्म्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्व्वकर्म्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः॥

कर्म्मफलकी इच्छा न करके जो कर्त्तव्य कर्म करता है वही संन्यासी व योगी है, निरग्नि व अक्रिय होनेसे ही संन्यासी नहीं होता है। काम्य कर्मोंका त्याग ही संन्यास है और

सकल कर्मोंका फल त्याग ही त्याग है। कर्म्मत्याग त्याग नहीं। इसलिये निष्काम जगत्कल्याण-कर कार्य्य संन्यासीका अवश्य कर्त्तव्य है। जीवभाव स्वार्थमूलक है। जब तक यह स्वार्थभाव नष्ट नहीं होता है तब तक जीवभाव भी नष्ट नहीं हो सकता है। निःस्वार्थ जगत्सेवा द्वारा स्वार्थबुद्धि नष्ट होकर जीवभावका नाश होता है तभी संन्यासी अपने लक्ष्यको प्राप्त कर सकते हैं। संन्यासी निष्काम कर्म द्वारा अपनी सत्ताको विराट्की सत्तासे मिलाकर ही सद्भावकी पूर्णताको प्राप्त हो सकते हैं क्योंकि परमात्मामें जब सत् चित् व आनन्दभाव है तो परमात्माके अंशरूप जीवोंमें भी ये तीनों भाव विद्यमान हैं। जीवमें ये तीनों भाव परिच्छिन्न हैं। जब तक ऐसी परिच्छिन्नता है तब तक जीव बद्ध है। मुक्तिके लिए अपनी सत्सत्ताको उदार करके विराट्की सत्तामें विलीन करना पड़ता है, अन्यथा सद्भावकी पूर्णता नहीं हो सकती है। संसारको भगवान्का रूप मानकर निष्काम जगत्सेवामें प्रवृत्त होनेसे साधक अपने जीवनको विश्वजीवनके साथ सहजही मिला सकते हैं और इसीसे उनकी सत्सत्ता विराट्की सत्तासे मिल सकती है। यही संन्यासाश्रममें मुक्तिका प्रथम साधन है। मुक्तिका द्वितीय साधन उपासना और तृतीय साधन ज्ञान है। उपासनाके द्वारा परमात्माकी आनन्दसत्ता और ज्ञानके द्वारा परमात्माकी चित्सत्ताका अनुभव पुत्र-धन-यशरूपी एषणात्रयमुक्त महात्माको हो जाता है, तभी वे पूर्ण ब्रह्मका साक्षात्कारकर ब्रह्मरूप हो जाते हैं। यही तुरीयाश्रमका अन्तिम अनुभव है और यही मनुष्य जीवनकी अन्तिम चरितार्थता है।
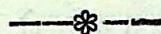
सतीधर्म रहस्य।

आर्यजातिको समाजिक रीतियोंकी श्रेष्ठताको समझकर फ्रेड्रिक पिन्कट (Frederic Pincott) साहब ने कहा है—

It may with safety be assumed that, when millions of intelligent people practise certain customs for thousands of years, there must be something in these customs to redeem them from the charge of folly or criminality. This should be frankly admitted in the case of the Hindus, who have been not inappropriately called by Prof. Max Muller, 'a nation of philosophers'. It is certain that the whole religious and social system of the Hindus is the outcome of centuries of profound thought and carefully recorded experience. Whatever we English people may

be able to teach them in mechanical arts and in experimental science, we have very little to teach them in matters of social philosophy. Every thing tending to the peace and well-being of society has been long since reduced by the Hindus to well-ordered rules, deduced from the unchanging facts of nature. Any introduction among them of our crude ideas can only result in mischief and tend to bring the Hindus to the same chaotic scramble of antagonistic interest which is the characteristic of our own disgraceful social muddle.

"इस प्रकार विचार करनेमें कोई भी शंका नहीं हो सकती कि करोड़ों बुद्धिमान् मनुष्य हजारों वर्षों से जिन सामाजिक रीतियोंको वर्त्तावमें ला रहे हैं उनके भीतर ऐसा तत्त्व अवश्य होगा, जिसे मूर्खता या अत्याचार कहकर हम दोष नहीं दे सकते। हिन्दुओंके विषयमें ठीक यही बात निःसंकोच रूपसे कही जा सकती है, जिसे मैक्स मूलर साहबने ठीक ही कहा है कि यह 'दार्शनिक जाति' है। यह निश्चय है कि हिन्दुओंकी समस्त धार्मिक तथा सामाजिक विधियाँ उनके शतशत वर्षव्यापी गंभीर चिन्ता तथा सत्य अनुभवके फलस्वरूप हैं। हम अङ्गरेज लोग उन्हें शिल्पकला तथा सायन्सके विषयमें जो कुछ सिखा सकें, किन्तु सामाजिक विज्ञानके विषयमें हम उन्हें कुछ भी नहीं सिखा सकते। जिससे सामाजिक जीवनमें पूर्ण उन्नति तथा शान्तिकी प्रतिष्ठा हो ऐसी सभी विधियोंको हिन्दुओंने प्रकृतिके स्थिर सिद्धान्तोंसे संग्रह करके अपने सामाजिक संगठनमें लगा दिया है। इन सब उत्तम विधियोंके भीतर हम अपनी जातिके भद्दे भावोंको मिलावेंगे तो फायदेके वदले उनकी हानि ही करेंगे, और उन्हें परस्परविरोधी स्वार्थके तुच्छ झगड़ेमें प्रवृत्त हो जाना पड़ेगा जैसा कि हमारे यहांके अतिहीन सामाजिक विधिका स्वरूप है।" इस प्रकारके पश्चिम देशके विज्ञ विज्ञ पुरुषोंने हिन्दूसामाजिक रीतियोंकी भूरिभूरि प्रशंसा की है। अब सतीधर्मके द्वारा आर्यजातिके सामाजिक जीवनकी उत्तमता कैसे सिद्ध हो सकती है, उसीका वर्णन किया जाता है।

पूर्वप्रबन्धमें आश्रमकी उपयोगिता बतानेके प्रसंगमें यह दिखाया गया है कि ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास इन चारों आश्रमोंमें क्रमशः शक्तिलाभ करते हुये द्विजगण मोक्षपदवी पर पहुँच सकते हैं। उनकी सहधर्मिणी गृहस्थाश्रममें उनके किये हुये पुण्यकी अर्धांशभागिनी होती है अन्य तीन आश्रमोंमें स्त्रीके साथ कोई सम्बन्ध ही नहीं रहता है अतः उन आश्रमोंमें किये हुये पुण्यका कोई भी अंश स्त्रीका नहीं प्राप्त होता है। इधर श्रुतिने मनुष्य जीवनका उद्देश्य यही वताया है कि—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति नो चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥
(केनोपनिषत्)

इस संसारमें आकर यदि परमात्माको जान लिया तभी मनुष्यजन्म पाना सार्थक है, अन्यथा मनुष्यजन्म वृथा तथा उसका नाश ही जानना चाहिये। इसलिये धीर योगिगण घट घटमें आत्माको जानकर इहलोकत्यागनेके अन्तर अमृतत्वलाभ किया करते हैं। इस अमृतत्वकी प्राप्ति स्त्रीजातिको किस प्रकारसे हो इसीका समाधान सतीधर्मरहस्य है। अनेक तपस्या, त्याग, ब्रह्मचर्य, योगसाधन, आत्मानुसन्धान आदि कठिन उपायोंसे कितने ही जन्मोंमें पुरुष जिस परमपदको प्राप्त करता है, उसीकी अनायास प्राप्ति बिना किसी त्याग या योगसाधनके स्त्रीजाति केवल सतीधर्मके पूर्ण आचरण द्वारा कर ले सकती है, इसी कारण सतीधर्मकी इतनी महिमा वेद तथा स्मृति शास्त्रमें गाई गई है। यथा अथर्ववेद १८।३।१ में—

इयं नारी पतिलोकं वृणाना निपद्यत उपत्वा मर्त्य प्रेतम्।
धर्मं पुराणमनुपालयन्ती तस्मै प्रजां द्रविणं चेह धेहि ॥

दाहके समय देवर आदिका मृतकको लक्ष्यकर कथन है कि (मर्त्य) हे मनुष्य! (पतिलोकं) जहाँ पति गया हो उस लोककी (वृणाना) इच्छा करती हुई (पुराणं) उस जन्ममें भी यही पति मिले इस सनातन (धर्म) धर्मका (अनुपालयन्ती) पालन करती हुई (इयं) यह (नारी) स्त्री (प्रेतं) मृतक हुए (त्वा उपनिपद्यते) तुम्हारे समीप निरन्तर प्राप्त होती है अर्थात् सहमरणार्थ निश्चय कर चुकी है। (तस्मै) उसके लिये (प्रजां द्रविणं धेहि) पुत्रादि और धनको धारण करो। और भी मनुसंहिता ५म अध्यायमें—

नास्ति स्त्रीणां पृथग् यज्ञो न व्रतं नाऽप्युपोषितम्।
पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते ॥

स्त्रियोंको पृथक् रूपसे कोई यज्ञ, व्रत या उपवासादि करनेकी आवश्यकता नहीं है, केवल पतिसेवाके द्वारा ही वह उत्तम गतिको पा सकती है। इन तत्त्वोंके समझनेमें पूर्ण समर्थन न होने पर भी पश्चिमी विद्वानोंने अच्छी चीज जानकर सतीधर्मकी कितनी ही प्रशंसा की है यथा—

Nothing makes a woman more esteemed by the opposite sex than chastity. Chastity a with its collateral attendants truth, fidelity and constancy gives the man property in the person he loves and

consequently endears her to him above all things. (Addison). It is proper to leave abundance of chastity rather than gold to children (Plato) I do not deem that a dowry, which is called a dowry, bnt chastity and subdued desire. (Plautus). Nothing can atone for the want of modesty, without which beauty is ungraceful and wits detestable (Steele).

सतीधर्मके द्वारा ही स्त्रीजाति पुरुषके पास सबसे अधिक सम्मानयोग्य बन सकती है। स्त्रीमें सतीत्व, सत्य, विश्वास और दृढ़ता इन्हींको परम सम्पत्ति रूपसे पाकर पुरुष सबकी अपेक्षा उनसे अधिक प्रेम करते हैं। अपनी सन्तानोंके लिये धनरत्न छोड़ जानेकी अपेक्षा सतीत्व छोड़ जाना ही पितामाताका कर्त्तव्य है। जिसको 'दहेज' कहा जाता है, उसे मैं दहेज' नहीं समझता हूँ, पातिव्रत्य और संयमको ही मैं यथार्थ दहेज समझता हूँ। स्त्रियोंमें शील और सतीत्व नष्ट होजाय तो इस पापका कोई प्रायश्चित्त नहीं हो सकता है, इसके बिना उनकी सुन्दरता शोभाविहीन और चतुराई घृणाजनक होजाती है।

(एडिसन, प्लेटो, प्लोटस्, स्टील)

अब सतीधर्मके साथ नारीजातिके मोक्षपदलाभका अच्छेद्य सम्बन्ध बताया जाता है। पश्चिमदेश तथा इस देशके विद्वानोंने अनेक विचार कर स्त्रीप्रकृति और पुरुषप्रकृतिके निम्नलिखित भेद निर्णय किये हैं :—

There are deep-seated, essential differences, the result of ages of evolution between boy-nature and girl-nature both physically and psychically. These manifest physically in height, weight, blood corpuscles, brain volume, brain structure, and as only recently discovered, in ductless glands–a study of these latter showing, how intimate and delicate is the interaction between our mental life and our bodily functions. (An uptodate and impartial summing up of the main sex differences is to be found in Dr. Heilbroonn's 'The Opposite Sexes' published by Methuen). In the course of evolution the male of the species has had occasion to develop his cerebro-spinal nervous system more, while the female has developed her sympathetic nervous system more specially. Women excel in the

subjective, instinctive intuitional aspects of human life, while men on the other hand are objective, rational, abstract and analytical. Man is Apollonian. He is interested in form, in abstract thought. Woman is Dionysian. She is rooted in nature, in the elemental and life-giving. Hence Nature's working is through this law of human Bi-polarity; for a division of labour between the sexes is part of the scheme of evolution. Hence has been felt the age-long need of woman by man and of man by woman, the search for the self-complimentary opposite. Hence the right social ideal is that, which aims at helping the sexes to complement and aid each other.

(Dr. Meyrick Booth's Woman and Society, George Allan and Unwin Ltd.)

शत शत वर्षतक क्रमोन्नतिके फलसे स्त्रीप्रकृति और पुरुष प्रकृतिमें स्थूल, सूक्ष्म दोनों ही भावोंमें गम्भीर मार्मिक पार्थक्य हो जाता है। स्थूलरूपसे यह पार्थक्य शरीरकी ऊँचाई, वजन, रक्तके कीट, मस्तिष्कका आकार, मस्तिष्कका गठन और नलविहीन पेशीके रूपमें प्रकट होता है और इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि शारीरिक भेदके अनुसार मनोवृत्तिमें भी किस किस प्रकारके भेद हुआ करते हैं। (डा० हिल ब्रूनकी पुस्तकमें स्त्रीपुरुषभेदके और भी अनेक वर्णन मिलते हैं) उन्नतिके क्रममें पुरुषको मस्तिष्क और मेरुदण्डसम्बन्धीय स्नायुओंको उन्नत करनेका मौका मिलता है और स्त्रीको मनोवृत्ति पुष्ट करनेवाली सहयोगी स्नायुओंके उन्नत करनेका विशेष मौका मिलता है। मनुष्यजीवनके जिन अंशोंमें मन तथा मानसिक वृत्तियाँ और नैसर्गिक बुद्धि विचारहीन भावोंका सम्बन्ध है, उन सभीमें स्त्रियाँ अधिक निपुण होती हैं, दूसरी ओर जिन अंशोंमें बुद्धि, विचार, प्रत्यक्ष व्यवहार या वस्तुविश्लेषणका सम्बन्ध है उनपर पुरुषोंका विशेष अधिकार रहता है। बुद्धिके प्रेरक सूर्यकी प्रकृति मनुष्यकी है, वह बुद्धिजीवी, प्रत्यक्षदर्शी, विचारप्रधान जीव है, किन्तु स्त्रीमें मायाका भाव अधिक है, बल्कि स्त्री प्रकृतिकी जड़में ही मायाशक्ति है, वह मनोवृत्ति तथा नैसर्गिकभावप्रधान जीव है। प्रकृतिका क्रमोन्नतिकार्य इन दोनों विपरित केन्द्रोंको लक्ष्य करके इनमें श्रमविभाग द्वारा सम्पादित होता है। यही कारण है कि परस्परमें पूर्णता लानेके लिये अनादिकालसे पुरुषको स्त्रीकी चाह और स्त्रीको पुरुषकी चाह रहती है। अतः यथार्थ सामाजिक आदर्श वही कहलावेगा जिसमें स्त्री और पुरुष अपनी अपनी

प्रकृतिके अनुसार उन्नति लाभकर सके और विवाहसूत्रमें बद्ध होकर पारस्परिक श्रमविभाग तथा सहायता द्वारा पूर्णताको प्राप्त कर सके।

(डा० मेरिक बूथ)।

इसी विचारधाराको अनुभव करके अन्यान्य वैज्ञानिक पण्डितोंने और भी विचार किया है। यथा :—

As the Sun, the great manifestation of day typified the creative force, the positive male element, so the moon, signifying the supernal feminine principle ranked equally with the forms in talismanic popularity.

(Artie Mae Blackburn—The Alchemy of precious Stones—Kalpaka)

The mind has two poles, a negative and a positive. The emotional side is the negative and the intellectual side is the positive. Like wise the body has two poles. The right hand is positive and the left negative in all right handed people.

(The Nature and Cultivation of Personal Magnetism by Dr. Sheldon Leavitt—Kalpaka.)

सूर्यशक्ति 'पजिटिभ' (सम) पुरुषशक्ति है जिसके द्वारा सृष्टिशक्ति प्राप्त होती है, चन्द्रमें 'नेगेटिभ' (विषम) स्त्रीशक्ति है, जिसका उपयोग यन्त्रधारणमें बहुधा किया जाता है। (आर्टि मी ब्लैकबर्न)। अन्तः करणकी दो परिधियां हैं, एक पजिटिभ और दूसरी नेगेटिभ। मनका अंश नेगेटिभ और बुद्धिका अंश पजिटिभ है। इसीप्रकार शरीर की भी दो परिधियाँ हैं, उसमें दाहिना भाग पजिटिभ और बाम भाग नेगेटिभ है। (डा० शेल्डन लिभिट)

It is a significant coincidence that the lunar month exactly tallies with woman's Catamenia from menses to menses.

(The Sacrament of Marriage Ceremony.)

चन्द्रमाके साथ स्त्रीप्रकृतिकी स्वाभाविक एकता होनेके कारण ही स्त्रियोंका ऋतुधर्म चन्द्रमासके हिसाबसे हुआ करता है। और भी—

Man and woman are evolved on divergent lines from the original impregnated ovum, differing in their metabolic ratio as more

katabolic and more anabolic respectively. These metabolic impressions can be studied in the anatomical, physiological and even psychological differences of the male and the female. The costal prominence of man and the pelvic superiority of woman, the greater muscular activity of man and the less of it in woman, and the grander masculine cerebrations in the one and the deeper retentivity and application to details in the other are respectively among the famous illustrations of the three sets of sexual demorphism. (Cf. Ernest Haekal's Evolution of Man and Havelock Ellis' Man and Woman).

उत्पत्तिके समयसे ही स्त्री और पुरुषकी प्रकृतिमें भेद है, पुरुषमें 'कैटाबलिक' और स्त्रीमें 'एनाबलिक' भाव अधिक है। शरीरका गठन, शारीरिक क्रिया, मानसिक भाव-सभीमें यह पार्थक्य प्रकट हुआ करता है। अस्थि पञ्जरकी विशेषता पुरुषमें और गर्भाशयकी विशेषता स्त्रीमें है। मज्जा और पेशीकी क्रिया पुरुषमें अधिक और स्त्रीमें कम है। मस्तिष्क तथा बुद्धि सम्बन्धीय क्रिया पुरुषमें अधिक और धारणा तथा छानबीनकी क्रिया स्त्रीमें अधिक है। इसप्रकारसे ही नरनारीभेद बनाया गया है।

(अर्नेष्ट हेकेल औरहैभलक इलिस)

और भी :—

Consequent upon primary sexual dimorphism and causing its, numerous results as secondary sexual characteristics, there are also many important mental and temperamental peculiarities in man and differently in woman, constituting the final list of psychic differences between him and her and serving to bring them together on a moral and mental basis. Greater cerebral variability and appreciation of generalisations with lesser attention to the details of things are masculine. Greater memory and appreciation of details and lesser cerebration are truly feminine. Courage, impetuosity and knocking about in the world for ideals or otherwise are in line with the katabolic nature of man. Greater patience, endurance and sacrifice mark the anabolic

nature of the femal sex. The maintenance of this fundamental difference is indispensable for the evolution of species.

(Ernest Haekal.)

Variation and preservation are the two important functions of evolution. Being incongruous, they remain divided between man and woman with comparative preponderance. In view of the further possibilities of evolution, a union between them has been therefore made the sine qua non for the propagation of species.

(A. A. Phillip)

प्रारम्भसे ही दोनों लिङ्गोंके भेद तथा उसीके अनुसार लक्षणभेद होनेसे स्त्रीपुरुषोंके अन्तःकरण और मनोवृत्तिमें बहुत कुछ भेद हो जाते हैं। और इसी भेदके कारण ही विवाह बन्धनके द्वारा दोनों मिलकर परस्परकी पूर्णता सम्पादन करते हैं। मष्तिक सम्बन्धीय अनेक विषयोंमें लगे रहना और अधिक छान-बीनमें न पड़कर मौलिक सिद्धान्तों पर दृष्टि रखना पुरुष प्रकृतिके लक्षण हैं। अधिक स्मरणशक्ति, अधिक छानबीन और मस्तिष्कसे काम कम लेना स्त्रीप्रकृतिके लक्षण हैं। साहस उद्यम, जोशके साथ भिड़ जाना, लक्ष्यसिद्धिके लिये सर्वत्र विचरण—ये सब पुरुषकी 'कैटाबलिक' प्रकृतिके अनुकूल कार्य हैं। अधिक धैर्य्य, सहनशीलता और त्याग तथा समर्पण भाव—ये सब स्त्रीजातिकी 'एनाबलिक' प्रकृतिके अनुकूल कार्य हैं। सृष्टिप्रवाहको क्रमोन्नतिके लिये इस मौलिक भेदकी रक्षा करना नितान्त आवश्यक है। (अर्नेष्ट् हेकेल)।

अनेकरूपता और रक्षा, क्रमविकासके ये दो आवश्यक कार्य हैं। इनमें एक दूसरेसे पृथक होनेके कारण, एक पुरुषमें और दूसरा स्त्रीमें अधिकताके साथ बना रहता है। क्रमविकासकी सम्भावना पर विचार करके सृष्टिप्रवाहके विस्तारार्थ विवाहके द्वारा इन दोनोंका मेल करा दिया जाता है। (ए० ए० फिलिप)।

नरनारियोंकी प्रकृतिमें इस प्रकार स्वाभाविक भेदकी दशामें भी यदि कहीं पर नरके गुण नारीमें और नारीके गुण नरमें देखनेमें आजाँय तो इस विषयमें कैसा सिद्धान्त करना चाहिये इसपर प्रसिद्ध विद्वान् हर्बर्ट स्पेन्सरने कहा है—

The most serious error usually made in drawing these comparisons (i. e. between the minds of man and woman) is that of overlooking the limit of normal mental power. Either sex, under special stimulations is capable of maniesting powers ordinarily shown only by

the other; but we are not to consider the deviations so caused as affording proper measures. Thus to take an extreme case, the mammae of men will, under special excitation, yield milk; there are various cases of gynaecomatsy on record and in famines infants whose mothers have died have thus been saved. But this ability to yield milk, which, when excited, must be at the cost of masculine strength, we do not count among masculine attributes. Similarly, under special discipline, the feminine intellect will yield products higher than the intellects of most men can yield. But we are not to count this productivity as truly feminine, if it entails decreased fulfilment of the maternal function. Only that mental energy is normally feminine which can co-exist with he production and nursing of the due number of healthy children.

स्त्री और पुरुषकी मानसिक शक्तिके विषयमें तुलना करते समय प्रायः यह भारी गलती हो जाती है कि उनकी मानसिक शक्ति साधारणतः कहाँ तक है इसे हम देखना भूल जाते हैं। किसी खास उत्तेजनाके वशीभूत होकर इनमेंसे एक दूसरेके अधिकारकी शक्तिको प्रकट कर सकता है किन्तु ऐसे असाधारण कारणसे शक्तिकी ठीक परीक्षा नहीं होती है। एक असाधारण कारणका दृष्टान्त यह है कि खास उत्तेजनाको पाकर पुरुषके स्तनसे भी दूध निकल आवेगा। स्त्री जाति सुलभ गुणोंका इस प्रकार विकाश और भी अनेक मौके पर देखा गया है, जिससे दुर्भिक्षके दिनोंमें मातृहीन शिशुकी प्राण रक्षा हो सकी है। किन्तु इस प्रकार उत्तेजनावश दूध देनेकी शक्तिको पुरुषकी स्वाभाविक शक्ति हम नहीं कह सकते, बल्कि पुरुष शक्तिको नष्ट करके यह स्त्रीजातिसुलभ शक्ति उसमें आगई, यही कहना चाहिये। ठीक इसी प्रकारसे खास प्रयत्नके द्वारा किसी समय किसी स्त्री की बुद्धि पुरुषसे भी अधिक विभूतिका विकाश कर सकती है, किन्तु यदि ऐसे विकाशसे किसी प्रकार मातृ गुणका अपचय हो तो इसे यथार्थ स्त्रीबुद्धि विकाश नहीं कहना चाहिये। स्त्रीजातिकी उतनी ही मनोवृत्ति तथा बुद्धिवृत्ति स्वाभाविक है, जिसके रहनेसे सन्तानोत्पादन और सन्तानके पालनमें किसी प्रकारका विघ्न न हो।

इस प्रकारसे पश्चिमदेशके माने हुये विद्वानोंने स्त्रीप्रकृति तथा पुरुष प्रकृति पर संयम करके बहुत कुछ भेद निर्णय तथा दोनोंका कर्त्तव्य निर्णय किया है। अब इस विषयमें आर्यशास्त्रमें कैसे कैसे विचार प्रकट किये गये हैं उसीका वर्णन क्रमशः किया जाता है। वृहदारण्यक श्रुतिमें लिखा है—

सोऽनुवीक्ष्य नाऽन्यदात्मनोऽपश्यत् । स वै नैव रेमे । तस्मादेकाकी न रमते । स द्वितीय मैच्छत् स हैतावानास यथा स्त्रीपुमांसौ सम्परिष्वक्तौ । स इममेवाऽऽत्मानं द्वेधाऽपातयत्ततः पतिश्च पत्नी चाऽभवताम् । तस्मादिदमर्द्धवृगलमिव स्व इति स्माऽऽह याज्ञवल्कः । तस्मादयमाकाशः स्त्रिया पूर्यत एव तां समभवत्ततो मनुष्या अजायन्त ।

सृष्टिसे पहिले आत्मा एक ही थे इसलिये रमण न कर सके, क्योंकि एकाकी रमण नहीं हो सकता है। इसलिये उन्होंने द्वितीयकी इच्छा की और स्त्री-पुरुष जैसे एक साथ मिलकर रहते हैं ऐसा संकल्प किया। परमात्माने संकल्पके अनुसार अपनेको दो भागमें विभक्त किया—आधेमें पुरुष और आधेमें स्त्री हो गये। उपनिषद्का यह सार है एक अद्वितीय सत्‌चित्त और आनन्दमय परमात्मा अपने सतभावसे अपनी शक्ति बन जाते हैं और चित भावसे उसके द्रष्टा बने रहते हैं। तब आनन्दभावके प्रकट करनेके निमित्त शक्ति अर्थात् महामायाके द्वारा जगत प्रपंचकी सृष्टि होती रहती है। जब तक सच्चित और आनन्द भाव एक अद्वितीय रूपमें बना रहता है तभी तक वह स्वरूप ब्रह्मका है और जब पूर्व कथित रूपसे सत विलास रूप द्वैत प्रपंच आनन्द विकाशके निमित प्रकट होता है तभी चिदात्मा ईश्वर बनकर उस सृष्टिको देखते हैं वही सगुण ईश्वर कहाते हैं यही निर्गुण ब्रह्म ओर सगुण ईश्वरके भेद प्रतीतिका रहस्य है। इसलिये यह शरीर अर्द्धचणककी तरह रहता है। विवाहके द्वारा स्त्रो इसे पूर्ण करती है और इसीसे सृष्टिका प्रवाह चलने लगता है। मनुसंहितामें भी ठीक इसी प्रकार लिखा है—

द्विधा कृत्वाऽऽत्मनो देहमर्द्धेन पुरुषोऽभवत् ।
अर्द्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत् प्रभुः ॥

सृष्टिके समय परमात्माने अपनेको द्विधा विभक्त कर दिया और आधेमें पुरुष तथा आधेमें नारी हो गये, उसी नारीमें परमात्माने विराटकी सृष्टि की। इन दोनोंमें से कौन किस भागमें है, इसका वर्णन देवी भागवतमें आता है यथा :—

स्वेच्छामयः स्वेच्छया च द्विधारूपो वभूव ह ।
स्त्रीरूपो वामभागांशो दक्षिणांशः पुमान् स्मृतः ॥

सृष्टिको इच्छा करके परमात्मा द्विधा विभक्त होगये। वामभाग स्त्री और दक्षिण भाग पुरुष हुआ। और भी सप्तशती तथा देवीभागवतमें —

'स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु
'सर्वाः प्रकृतिसम्भूता उत्तमाधममध्यमाः'
'कलांशांशसमुद्भूताः प्रतिविश्वेषु योषितः'

संसारकी समस्त स्त्रियाँ प्रकृतिके अंशसे उत्पन्न हुई हैं उत्तम, मध्यम, अधम सबमें प्रकृतिकी ही भिन्न भिन्न कला है। इनमें मायाका अंश होनेसे मनोवृत्ति मायाक भाव, स्नेह ममता आदि नैसर्गिक भाव अधिक होते हैं। इन सब विचारोंसे यही सिद्ध होता है कि स्त्री पुरुषको अर्द्धाङ्गिनी है, वामाङ्गी है और इसलिये पूर्व वर्णनके अनुसार 'नेगेटिभ' है, पुरुष 'पजिटिभ' है। सृष्टितत्त्व पर विचार करने से यही पता लगता है कि जहाँ पर नेगेटिभ पजिटिभमें लय है वह निष्क्रिय दशा है। यही आधुनिक सायन्सका भी सिद्धान्त है। प्रलयमें निष्क्रिय परमात्मा एकाकी रहते हैं, उनमें प्रकृति लवलीन रहती है। सृष्टिके समय दोनों अलग अलग होकर आधे हो जाते हैं जिससे सृष्टि होती है। आधे आधे होनेसे दोनोंमें समान शक्ति है, शक्ति बराबरकी होनेसे संघर्ष भी उत्तम और सृष्टि भी उत्तम हो सकती है। और सृष्टि अवसानमें नेगेटिभ पजिटिभमें पुनः लय होकर शान्ति दशाको भी ला सकती हैं। यही कारण है कि आर्यशास्त्रमें स्त्रीको better half अर्थात् उत्तमतर अर्द्धाङ्गिनी न कहकर और इसी कारण पुरुषको worse half अर्थात् अधमतर अर्द्धाङ्ग न कहकर दोनोंको ठीक आधा आधा कहा गया है। जिस देशके मनुष्य स्त्रीको better half कहते हैं, वहाँ मायाका प्राधान्य है, ऐसा समझना होगा, अतः वहाँकी जातिका लक्ष्य परमात्माकी प्राप्ति न होकर मायाकी अर्थात् अर्थकामकी ही प्राप्ति होगी। यह लक्ष्य शास्त्रानुकूल तथा प्रशंसा योग्य नहीं है। और इससे न संघर्ष ही ठीक होगा, न सृष्टिविस्तार ही ठीक होगा और अन्तमें नेगेटिभका पजिटिभमें लय होकर शान्तिकी ही प्राप्ति हो सकेगी। वहाँ तो पजिटिभ नेगेटिभ की ओर खींचता ही रहेगा और मायाके आकर्षण से बद्ध होकर जीव शिवभाव प्राप्त नहीं हो सकेगा, उत्तरोत्तर बन्धन दशाको ही प्राप्त करेगा। और ऐसी दशामें न पजिटिभको ही मुक्ति है और न नेगेटिभकी ही मुक्ति है, क्योंकि नेगेटिभ पजिटिभमें लय होने पर ही क्रियाहीन समता और शान्तिकी दशा आती है, अन्यथा अनन्तकाल तक मायाका ही चक्र चलता रहता है। अतः पजिटिभके लिये कर्त्तव्य यही है कि वह नेगेटिभमें न फंसकर उसे ही अपनेमें लय कर ले और नेगेटिभका भी यह कर्त्तव्य है कि वह पजिटिभकी सहायतासे सृष्टिविस्तार करती हुई अन्तमें उसीमें लयको प्राप्त होजाय। अर्थात् पुरुषका यह धर्म है कि वह स्त्रीमें न फंसकर मायाशक्तिको ही अपनेमें लय कर ले और अपने नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभावको पहिचान जाय। और स्त्रीका यह धर्म

है कि वह पुरुषकी सहायतासे सृष्टि विस्तार करती हुई अन्तमें पुरुषमें ही लय होकर मुक्त हो जाय। इसलिये जो धर्म स्त्रीको शरीर, प्राण, मन, बुद्धि, आत्मा सब तरहसे पुरुषमें लय होना सिखावे वही स्त्रीजातिका एक मात्र धर्म है। और इसीको पातिव्रतधर्म या सतीधर्म कहते हैं। इसी सतीधर्मके बिना स्त्रीजाति कदापि मुक्ति लाभ नहीं कर सकती। यथा विष्णुस्मृतिमें—

नारी भर्त्तारमासाद्य यावन्न दहते तनुम्।
तावन्न मुच्यते सा हि स्त्रीशरीरात् कथञ्चन॥

पतिमें सब तरहसे लवलीन होकर जब तक स्त्री उनके साथ सहमृता नहीं होती है अथवा अपनी सत्ताको उनमें समाप्त नहीं कर देती है तब तक न स्त्री शरीरसे उनका छुटकारा ही होता है और न मोक्षकी ही प्राप्ति होती है। यही स्त्रीजीवनमें सतीधर्मकी परम आवश्यकताका कारण है। और इसी कारण ज्ञानदृष्टिसम्पन्न महर्षियोंने स्त्री जातिके लिये सतीधर्म पालन पर इतना जोर दिया है। जिन जातियोंमें इतनी उच्च कक्षाके ज्ञानका अभी तक विकाश नहीं हुआ है वे अपनी जातिकी स्त्रियोंके लिये इस प्रकार मोक्ष साधन बतानेमें अब तक असमर्थ ही देख पड़ती हैं।

पहिले ही पश्चिमी तथा एतद्देशीय विद्वानोंके प्रमाण देकर बताया गया है कि स्त्रीजाति महामायाकी अंशरूपिणी होनेके कारण उनमें स्नेह, ममता, प्रेम, सन्तान पालन आदि मायाके भाव अधिक होते हैं और ऐसा हुये बिना माँका माँपन ही वृथा है जैसा कि हर्बर्ट स्पेन्सर साहबने लिखा है। अतः प्रेम, ममता आदि मधुर भावोंको किसी केन्द्रमें डालकर उसके द्वारा ही स्त्री जाति मोक्ष मार्गमें अग्रसर हो सकती है। किसी निराकार वस्तुमें स्नेह, प्रेम आदिका डालना सम्भव नहीं है, साकार स्वरूपमें ही स्नेह प्रेम आदि डाले जा सकते हैं। पुरुष संसारसे वैराग्य लाभ कर, ज्ञानके आश्रयसे निराकार, अव्यक्त ब्रह्ममें लवलीन हो सकता है, इसके लिये पुरुषका संन्यासाश्रम शास्त्रमें बताया गया है। किन्तु स्त्रीप्रकृतिमें स्नेह, ममता, प्रेम, भक्ति आदि स्वाभाविक भावोंके होने से भगवान्का साकार रूपही उनकी पूजाके लिये उनकी प्रकृतिके अनुकूल है। वही साकार रूप पति-भगवान्का उनकेलिये पूज्य महर्षियोंने उनकी प्रकृतिको देखकर बता दिया है। पतिको भगवान् समझ कर उन्हींकी सेवामें शरीर मन प्राणको स्त्री समर्पण करदें, उनका शरीर, शरीरका वेशभूषण, प्राणधन, समस्त गृहकार्य, मनकी सारी चिन्ता, प्राणका सभी व्यापार पति भगवान्की पूजाके लिये नैवेद्यरूपसे उन्हींमें समर्पित हो जाय तो जिस प्रकार भक्त भगवान्में शरीर मन प्राण सौंपकर अपनी स्वतन्त्र सत्ताको भगवान्में लय होकर, उन्हींम

समाधि लाभ कर उन्हींका रूप बन जाता है, ऐसे ही सती स्त्री पतिभगवान्में सब कुछ लवलीन कर उन्हींके कमल चरणोंमें समाधि लाभ कर स्त्री शरीरसे मुक्त तथा संसारसे मुक्त हो सकती है। इस दशामें उनके लिये पुरुषकी तरह कठिन ज्ञानप्रधान, वैराग्यप्रधान मोक्षपथकी आवश्यकता नहीं रहती है। वह प्रेम, स्नेह, ममता आदि सभी मायिक वृत्तियोंको रखती हुई केवल तीव्र एकाग्रता और भावशुद्धिके द्वारा अतिदुर्लभ मोक्ष-पदको पा सकती हैं। यही पुरुषधर्मसे नारीधर्मकी उत्तमता तथा सहजसाध्य सोधापन है। इसी कारण श्रीभगवान् मनुने कहा है :—

विशील: कामवृत्तो वा गुणैर्वा परिवर्जितः।
उपचर्यः स्त्रिया साध्व्या सततं देववत् पतिः॥
पाणिग्राहस्य साध्वी स्त्री जीवतो वा मृतस्य वा।
पतिलोकमभीप्सन्ती नाऽऽचरेत् किञ्चिदप्रियम्॥ (५ अ०)
भुङ्क्ते भुक्तेऽथ या पत्यौ दुःखिते दुःखिता च या।
मुदिते मुदितात्यर्थं प्रोषिते मलिनाम्बरा॥
सुप्ते पत्यौ च या शेते पूर्वमेव प्रबुध्यते।
नाऽन्यं कामयते चित्ते सा विज्ञेया पतिव्रता॥

शील, चरित्र या गुणोंसे हीन होने पर भी देवता समझ कर सती स्त्रीको अपने पतिकी सेवा करनी चाहिये। पति जीवित हो या मृत हो पतिलोककी चाहने वाली सती स्त्रीको कदापि उनका अप्रिय आचरण नहीं करना चाहिये। पतिके भोजनके बाद भोजन करनेवाली, उनके सुखमें सुखिनी और दुःखमें दुःखीनी, प्रवासमें मलिनवस्त्रधारिणी, उनके सोनेके बाद सोनेवाली और जागनेसे पहिले जागनेवाली और मनमें भी अपने पतिके सिवाय अन्य किसी पुरुषको न चाहनेवाली स्त्री पतिव्रता और सती कहलाती है।

प्रसङ्गोपात्त यहाँ पर यह कहना अनुचित न होगा कि इस साधारण नियमके साथ कुछ असाधारण नियम भी हैं जैसा कि महर्षि हारीतने कहा है—

द्विविधाः स्त्रियो ब्रह्मवादिन्यः सद्योवध्वश्च।

स्त्रियाँ दो प्रकारकी होती हैं—ब्रह्मवादिनी और सद्योवधू। उनमेंसे सद्योवधू स्त्रियाँ अपने पतिको ही भगवान् मान कर उन्हींमें आत्मसर्पण कर मुक्तिलाभ करती हैं। किन्तु विदुषी ब्रह्मवादिनी स्त्रियाँ सबके पति, पतियोंके भी पति, परमात्मामें ही आत्मसमर्पण

कर मुक्तिलाभ करती हैं, उसमेंसे बहुत सी तो वेदके मन्त्रोंको भी देखती हैं। उनकी कोटि असाधारण है और इसीलिये इस प्रकार लोकविरुद्ध धर्माचरणमें उन्हें दोष भी नहीं लगता है। गार्गी, मैत्रेयी आदि इसी असाधारण कोटिकी स्त्रियाँ थीं। महर्षि याज्ञवल्क्यने संन्यास लेनेके समय जब मैत्रेयीको घरमें रहने कहा तो उन्होंने स्पष्ट उत्तर दिया कि 'येनाऽहं नामृता स्यां किं तेनाहं कुर्याम्' जब संसारकी धन सम्पत्तिसे परमात्माकी प्राप्ति नहीं हो सकती है तो मुझे संसार की आवश्यकता नहीं है। ब्रह्मवादिनी गार्गीका राजर्षि जनककी सभामें उपस्थित होकर महर्षियोंके साथ शास्त्रार्थ करना तो सर्वत प्रसिद्ध ही है। इस प्रकार ज्ञानाधिकारकी तरह भक्ति अधिकारमें भी व्रजगोपियोंका दृष्टान्त, कृष्णप्रिया, मीराबाई आदिके दृष्टान्त इतिहास पुराणमें प्रसिद्ध हैं, जिन महिलाओंने समस्त लौकिक धर्म त्यागकर परमात्माकी शरण ली थी और परमात्माने भी उन पर कृपाकर मोक्षप्रदान किया था जैसा कि उन्होंने श्रीगीतामें कहा है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

वर्णाश्रमानुकूल समस्त लौकिक धर्मोंको त्याग कर परमात्माकी शरण लेने पर परमात्मा ही लौकिकधर्मत्यागजन्य पापोंसे अपने भक्तोंको बचाकर उनका उद्धार कर देते हैं। उन्होंने और भी कहा है—

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यक् व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वत् शान्ति निगच्छति।
कौन्तेय! प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

अत्यन्त दुराचारी मनुष्य भी यदि वैराग्यवान् होकर अनन्यमनके साथ परमात्माकी उपासना करेगा तो शीघ्र ही उसका दुराचार छूट जायगा, और धर्मात्मा साधु बनकर, परमात्माकी कृपा कर वह नित्य शान्तिका अधिकारी हो जायगा। भगवद्भक्तका कभी नाश नहीं होता है क्योंकि उसके रक्षक स्वयं श्रीभगवान् हैं। इसी असाधारण दृष्टान्तमें श्रीभगवान्के प्रति व्रजगोपियों की मधुर उक्ति भी ध्यान देने योग्य है। 'पतिसेवा उनका धर्म है' ऐसा उनके प्रति श्रीभगवान्का उपदेश होने पर उन्होंने यही उत्तर दिया था—

यत् पत्यपत्य सुहृदामनुवृत्तिरङ्ग
स्त्रीणां स्वधर्म 'इति धर्मविदा त्वयोक्तम् ।
अस्त्वेवमेतदुपदेशपदे त्वयीशे
प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा ॥
(भागवत १०म स्कन्ध)

पतिसेवा, सन्तानपालन आदि स्त्रीजातिका स्वधर्म है यह जो धर्मतत्वज्ञ आपने हमें उपदेश किया है, यह उपदेश सकल उपदेशके आश्रयस्थान आपमें ही रह जाय, क्योंकि पति पुत्र आदि प्रिय हो सकते हैं। किन्तु सबके आत्मा होनेके कारण आप सबके बन्धु तथा प्रियतम हैं। उपनिषद्में भी लिखा है—न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति इत्यादि। अर्थात् पतिके लिये पति प्रिय नहीं होता है, किन्तु आत्माके लिये ही पति प्रिय होता है, आत्मा प्रिय वस्तु है, इसलियं जहाँ जहाँ पर आत्माका अनुकूल अभिमान है वह सभी आत्माके कारण ही प्रिय हो जाता है। अतः जिसका मन सबके मूलभूत आत्मामें रम गया है उसके लिये सांसारिक कोई भी कर्त्तव्य नहीं रहता है। यथा भागवतमें—

यथा तरोर्मूलनिसेचनेन तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोपशाखाः ।
प्राणोपहारैश्च यथेन्द्रियाणि तथैव सर्वार्हणमच्युतेज्या ॥

जिस प्रकार वृक्षके मूलमें जल देनेसे स्कन्ध शाखा आदिकी तृप्ति हो जाती है, उनको अलग सींचनेकी आवश्यकता नहीं होती, जिस प्रकार प्राणको तृप्त कर देने पर इन्द्रियाँ स्वयं ही तृप्त हो जाती है, ऐसे ही परमात्माकी पूजासे सबकी पूजा हो जाती है। किन्तु ये सब ज्ञानाधिकार तथा भक्ति-अधिकार असाधारण हैं। गोपियाँ पूर्वजन्ममें ऋषि थीं, बहुत सी देवियाँ थीं, और बहुतसी श्रुतियाँ थीं, अतः उनके लिये यह असाधारण धर्म सम्भव था, सबके लिये असाधारण व्यवस्था होने पर धर्म ही बिगड़ जायगा और स्त्रियाँ 'इतो नष्टास्ततो भ्रष्टाः' हो जायँगी। अतः सबको मैत्रेयी, गार्गी बनाना या गोपी बनाना ठीक नहीं है। स्त्रीजातिका आदर्श गार्गी नहीं है, किन्तु सीता, सावित्री है। इन रमणीरत्नोंने उपास्य-उपासक भावके अनुसार वास्तवमें ही अपनेको पति भगवान्में लवलीन कर अपना उद्धार साधन तथा जगत्के इतिहासमें अलौकिक परमपवित्र आदर्श स्थापन किया था। इस विषयमें आदर्शसती सीताके जीवनकी एक घटना हनुमन्नाटकमें लिखी गई है। लंकापुरीकी अशोकवाटिकामें एक दिन सीतादेवीने त्रिजटाको बुलाकर कहा—

कीटोऽयं भ्रमरीभवत्यतिनिदिध्यासैर्यथाऽहं तथा।
स्यामेवं रघुनन्दनोऽपि त्रिजटे दाम्पत्यसौख्यं गतम् ॥

जिस प्रकार तिलचट्टा नामक कीट भ्रमरकीटकी तीव्र चिन्ता करता हुआ भ्रमरकीट बन जाता है, ऐसो ही मुझे आशंका है कि रामकी रातदिन चिन्ता द्वारा किसी समय राममें तन्मय होकर मैं राम बन जाऊंगी तो मेरा दासीभावका आनन्द जाता रहेगा, यही मुझे बड़ा दुःख है। इसके उत्तरमें त्रिजटाने जो कुछ कहा था सो भी ध्यान देने योग्य है। यथा —

शोकं मा वह मैथिलेन्द्रतनये! तेनाऽपि योगः कृतः।
सीता सोऽपि भविष्यतीति सरले! तन्नो मतं जानकि!

सीते! आपको शोक नहीं करना चाहिये, क्योंकि जैसी तन्मयता आपकी राममें है, ऐसी ही रामकी भी आपमें है; इसलिए यदि आप राममें तन्मय होकर राम हो जाँयगो तो राम भी आपमें तन्मय होकर सीता बन जायेंगे, जिससे सीतारामका दाम्पत्य प्रेम संसारमें अटूट रहेगा, यही मेरी सम्मति है। यही आदर्श सतीधर्म और उसके द्वारा स्त्रीजातिका मोक्षलाभ है। इसी कारण सतीधर्मकी इतनो आवश्यकता आर्यशास्त्रमें बताई गई है।

सृष्टितत्त्व पर विचार करनेसे निश्चय होता है कि स्त्रीजातिकी अलग सृष्टि प्रथम नहीं थी, बल्कि सृष्टिकी चौथी दशामें जाकर तब उसकी अलग सृष्टि हुई है। प्रथम सृष्टि मानसी सृष्टि कहलातो है जिसमें भगवान् ब्रह्माने सनक, सनन्दन आदि तथा सात ऋषियोंको उत्पन्न किया था। यथा गीतामें—

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोके इमाः प्रजाः ॥१०॥

सात महर्षि, सनकादि चार, मनुगण—यह सब मानसी सृष्टि है, जिससे सब प्रजा उत्पन्न हुई है। महाभारतमें भी लिखा है—

आदिदेवसमुद्भूता ब्रह्ममूलाऽक्षयाव्यया।
सा सृष्टिर्मानसी नाम धर्मतन्त्रपरायणा ॥

आदिदेव ब्रह्मासे उत्पन्न अक्षय, धार्मिक सृष्टि मानसी सृष्टि कहलाती है उपनिषदमें भी लिखा है—'मनसा साधु पश्यति मानसाः प्रजा असृजन्त' ब्रह्माने मनके बलसे प्रजाओंकी मानसी सृष्टि की थी। यह बात आधुनिक सायन्ससे भी विरुद्ध नहीं है बल्कि अङ्गरेजी creation और *Pro*-creation शब्दके द्वारा इसकी सार्थकता स्पष्ट प्रतीत होती है।

मानसी सृष्टि ही वास्तवमें सृष्टि या creation है और सब Pro-creation अर्थात् असली सृष्टिके स्थानमें कमजोर सृष्टि है लिखा भी है—When one remembers the case of 'Yalandi' in modern psychical science-how a plant with flowers could be evolved by spirit agency merely the above mind-born sons may not appeal to one as improbable.' (The Philosophy of Marriage)

आधुनिक सूक्ष्म सायन्स विद्यामें यह देखा गया है कि पुष्पसहित वृक्ष आत्माओंकी सहायतासे एकदम उत्पन्न हो गये हैं। इसीसे मानसी सृष्टि असम्भव नहीं मालूम होती है। सृष्टिकी द्वितीय दशामें लिङ्गभेद विचारके बिना ही जहाँ तहाँ सृष्टि होती है। और सृष्टिकी तृतीय दशामें एक ही शरीरमें स्त्री-पुरूष दोनोंकी सृष्टि होतो है। इन दोनों सृष्टियोंके विषयमें भी आधुनिक विज्ञानने बहुत कुछ पता लगा लिया है। यथा—

Then came the bodily procreation, but without the condition of sex comparable to the multiplication of an amoeba and to the parts of the bodies of spiders, grasshoppers, crabs, etc., that are restored by nature, if the original ones happen to be lost. Sex was developed later on as a precondition of procreation but sexes were undivided. Science also recognises androgynous and hermaphroditical species. The ideal of this is emblemed in the half Devi (female) form of Shiva.

(The world's Eternal Religion)

A Greek legend describes that a bi-sexual god was split into two by the Almighty, From then the male or the female, always seeks the company of the other. This conception is not strange to modern science. Dr. Arthur Torrance, an authority on tropical diseases, maintains that the human race originated in a dual-sex tribe. Believing that examples of this tribe are still to be found he set out on expedition to Africa. He says he has already encountered some of these peculiar people who are supposed to live near Lake Chad, on a previous expedition. (Hindu 27-1-31)

मानसो सृष्टिके बाद शरीरसम्बन्धसे सृष्टि प्रारम्भ होती है, किन्तु उसमें लिङ्गभेदका विचार नहीं रहता है। जैसा कि मकड़ो, ककड़ा, झिङ्गुर या वह सब जीव जिसे 'एमिवा' कहते हैं—जिनकी कितनी ही श्रेणियां प्रकृतिके द्वारा लिङ्गभेदविचारके

बिना ही बनाई जाती हैं। इसके बादकी सृष्टिमें लिङ्गभेद मालूम होता है, किन्तु प्रथमतः एक ही शरीरमें स्त्री-पुरुष दोनों लिङ्ग देखनेमें आते हैं। सायन्सने भी ऐसी 'एण्ड्रजिनस' सृष्टि मानी है। आर्यशास्त्रमें इसीके आदर्शरूप अर्द्धनारीश्वर मूर्ति प्रसिद्ध ही है। वृक्षोंमें भी ऐसी स्त्री-पुरुषमयी सृष्टि देखी जाती है। एकही वृक्षके फूलमें परागकेशर और गर्भकेशर होते हैं। गर्भकेशर स्त्रीशक्ति होती है, जो कि पुष्पके नीचेके अंशमें होता है, और ऊपरके अंशमें परागकेशर होता है, जिसमें पुरुषशक्ति होती है। भ्रमर या वायुके द्वारा परागकेशर गर्भकेशरमें जा मिलता है और उससे सृष्टि होती है। ग्रीसदेशकी पौराणिक गाथामें वर्णन है कि परमात्माने किसी स्त्रीपुरुषमयी देवताको दो भागमें विभक्त कर दिया था, जिससे स्त्री और पुरुष अलग अलग हो गये और तभी से एक दूसरेसे मिलनेके लिये लालायित रहते हैं। आधुनिक वैज्ञानिक जगत्में यह कोई आश्चर्यजनक वस्तु नहीं हैं। डाक्टर अर्थर टरेन्स, जो कि एतद्देशीय चिकित्साशास्त्रमें भी विशेष पारदर्शी हैं, उनका सिद्धान्त है कि इस प्रकार सम्मिलित-लिङ्ग जीवसे ही पृथक् लिङ्ग विशिष्ट जीवोंकी उत्पत्ति हुई है और अब भी पृथिवीके कई स्थानोंमें ऐसे जीव विद्यमान हैं। आपका कहना है कि अफ्रिकाके अन्तर्गत चाद ह्रदके समीप ऐसे अनेक विचित्र जीव रहते हैं और उधर यात्राके समय आपने ऐसे जीव देखे हैं। (हिन्दु २७-१-३१)

इसके बाद चौथी दशामें पुरुष शरीरसे अपने योग्य उपादान लेकर स्त्री शरीर अलग हो जाता है और तभीसे स्त्री और पुरुष अलग अलग दृष्टिगोचर होते हैं और क्षेत्र रूपसे पुरुषका बीज लेकर स्त्री सन्तान प्रसव करने लगती है। इस प्रकार बहुत देरमें तथा सृष्टिकी परिणत दशामें उत्पन्न होनेके कारण और पुरुषदेहसे ही उपादान लेकर उत्पन्न होनेके कारण स्त्री शरीरमें बल, वीरता, शूरता आदिके वे सब चिन्ह नहीं प्रकट होते हैं, जैसा कि पुरुष शरीरमें पाया जाता है। प्राकृतिक शोभा, शौर्य्य और विशेषताके भी कोई चिन्ह स्त्री शरीरमें नहीं होते हैं। सिंहका केशर सिंहिनीमें नहीं है, मयूरके पङ्खकी विचित्र शोभा मयूरीमें नहीं है, षांड़के शरीर वीरत्वके चिन्ह गायमें नहीं है, कोकिलकी मनप्राण-मुग्धकर मधुर ध्वनि कोकिलामें नहीं है हाथीका वीरत्व सूचक दाँत हाथिनीमें नहीं है, पुरुषकी वीरताभरी डाढ़ी और मूँछ स्त्रीमें नहीं हैं। इसीसे एकाएक वही सिद्धान्त सत्य मालूम होता है जैसा कि ब्रुक साहबने कहा है—

A division of physiological labour has arisen during the evolution of life; the function of reproductive elements has become descialised in different directions. The males are as a rule more

variable than the female; the male leads and the female follows, in the evolution of new races.

जीवनके क्रमविकाशमें स्त्री पुरुषके अवयव भेदानुसार श्रमके भी भेद हो जाते हैं। विभिन्न श्रेणीके अङ्गोंका कार्य विभिन्न रूपसे होने लगता है। साधारणतः स्त्रियोंकी अपेक्षा पुरुषोंमें विशेषता तथा प्रकार भेद अधिक होता है। सृष्टिके क्रमविकाशमें पुरुषशक्ति सञ्चालन करती है और स्त्री शक्ति उसे मानकर पीछे पीछे चलती है, यही प्राकृतिक नियम है। इसी प्राकृतिक नियमका अनुसरण करने पर यही युक्तियुक्त प्रतीत होता है कि स्त्री पुरुषकी वशम्बद रहकर उनकी सेवा करती हुई उन्हींमें शरीर मन प्राण सौंप देनेका प्रयत्न करे और जब पुरुष से ही स्त्री निकली है तो इसी उपाय द्वारा वह पुनः पुरुषशक्तिमें लय होकर पुरुषके द्वारा परम पुरुष परमात्मा तक पहुँच सकती है। यही कारण है कि पातिव्रत धर्मको स्त्रीजातिकी 'मुक्तिके लिये उनका एकमात्र धर्म बताया गया है। यही शास्त्रवर्णित सतीधर्मका मधुर रहस्य है।

अब इस सतीधर्मकी रक्षा तथा पूर्ण परिपालनके लिये स्त्रीजातिको कन्यापनसे लेकर वृद्धावस्था पर्यन्त किस तरहसे अपना जीवन बिताना चाहिये उसी पर क्रमशः विचार किया जाता है। कन्यापनके साथ शिक्षाका बहुत कुछ सम्बन्ध है, 'कन्याप्येवं पालनीया शिक्षणीयातियत्नतः' कन्याको यत्नसे पालना तथा शिक्षा देनी चाहिये, ऐसा शास्त्र प्रमाण भी है। अब यह शिक्षा कैसी होनी चाहिये सो ही विचार करने योग्य है। पहिले ही कहा गया है कि स्त्री जातिकी उत्पत्ति महाशक्तिके अंशसे हुई है। यथार्थ उन्नति बीजवृक्षन्यायसे होती है, अर्थात् बटबीजकी उन्नति बटका वृक्ष बनकर ही हो सकती है आम या पीपलका वृक्ष बनकर नहीं हो सकती है। ऐसी उल्टी उन्नतिमें तो बटका नाश ही कहा जायगा, उन्नति नहीं कही जायगी। इसी सिद्धान्तके अनुसार स्त्रियोंको ऐसी शिक्षा मिलनी चाहिये जिससे वे अपने भीतरकी महाशक्ति भावको जाग्रत कर सके। महाशक्ति जगदम्बा—पूर्ण पतिव्रता सती, स्नेहमयी माता और उत्तमा गृहिणी है। अतः कन्याकी शिक्षामें इन तीन बातों पर विशेष ध्यान रखना होगा, जिससे वह शिक्षिता होकर पूर्ण सती, पूर्ण माता और उत्तमा-गृहिणी बन सके। आजकल पश्चिमियोंने इन विषयोंमें बहुत कुछ विचार करना प्रारम्भ किया है। क्योंकि उन देशोंमें उल्टी शिक्षासे बड़ी हानि हुई है। यथा—

Socially Life's wastage among millions;—a large army of young men and of young women eager to satisfy sex-craving, but unwilling to bear the responsibilities of family life and parentage—net result bemoaned by Dr. Booth:—"What is happening to the domestic life

of the Anglo-Saxon race? It is the same tale wherever the English tongue is spoken:—more hotels, fewer homes; more divorces fewer children." Physically—The growing unfitness of the Anglo-saxon girl for maternity on account of her increased physical exercises and outdoor sports. Say experts like Dr. Stanley Hall, author of Adolescence, Dr. Arabella Keneally—authoress Femininism and Extinction and others:—'It does not at all follow that because a girl plays hockey well or because she develops a heavy muscular system she will for this reason be really healthy. Some of the worst cases of hysteria and other serious nervous disorders occur among physically powerful, sport-loving girls" According to Dr. Englemann "women who develop their muscular system highly suffer in child-birth.' According to a recent Vienna calculation the birth rate amongst women predominant in athletic life in Austria was less than one fifth of the rate amongst others of the same class who were not notably athletic. On these evidences Dr. Booth rightly warns:—"Let those who believe that the athletic activities of our young women are going to give us a higher race ponder these facts carefully, and also ponder the useful tale told by the figures that from 1922 to 1928 the birth-rate in England has gone down by 16 per cent." इङ्गलेण्ड के प्रसिद्ध डाक्टर बुथ साहबकी सम्मतिमें "नवीन शिक्षाके द्वारा वहांके सामाजिक जीवनकी बड़ी अवनति हुई है। वहांपर दलके दल ऐसे स्त्री-पुरुष देखनेमें आरहे हैं जो कि कामसम्बन्धके लिये सदा लालायित रहते हैं, किन्तु सन्तान उत्पन्न कर गृहस्थाश्रम करना नहीं चाहते। जहां जहां अङ्गरेजी विद्या पढ़ाई जाती है वहां पर सर्वत्र ही यह कथा है। होटलोंकी संख्या बढ़ रही है और गृहस्थोंके घरकी संख्या घट रही है, विवाह विच्छेद बढ़ रहा है और सन्तानकी संख्या घट रही है।" सामाजिक हानिके साथ ही साथ शारीरिक हानि भी यथेष्ट हो रही है। जो स्त्रियां शिक्षाके नवीन आदर्शके अनुसार पुरुषोंकी तरह व्यायाम, खेल आदि करती हैं, उनमें 'मां' बननेकी शक्ति नष्ट हो जाती है। डाक्टर स्टेनले हाल, अरबिला कैनेली आदिकी सम्मति है कि—"किसी स्त्रीने पुरुषकी तरह व्यायाम करके अपनी मांशपेशी या मज्जाको मजबूत कर लिया है अथवा किसी स्त्रीको 'हाकी' खेलना बहुत अच्छा आता है, इसके द्वारा यह नहीं समझना चाहिये कि उसके स्वास्थ्यकी यथार्थ उन्नति हो गई। क्योंकि अपस्मार

(हिस्टरिया) तथा अन्यान्य कई एक स्नायुदौर्वल्य सम्बन्धीय कठिन रोग ऐसी ही स्त्रीोंमें देखनेमें आते हैं जो पुरुषोंकी तरह फुटबाल, हाकी, टेनिस आदि खेलोंको खेलती रहती हैं।" डाक्टर एङ्गमैनकी सम्मति यह है कि ऐसी स्त्रियोंको प्रसवके समय भी बड़ा कष्ट होता है। आस्ट्रियाके अन्तर्गत भायेना नगरमें देखा गया है कि ऐसी स्थूल व्यायामवाली स्त्रियोंकी सन्तानसंख्या अन्य स्त्रियोंकी सन्तानसंख्याका पञ्चमांश भी नहीं है। इन्हीं प्रमाणों पर डाक्टर बुथ चेतावनी देते हैं कि "जो लोग यह समझते हैं कि नवीन शिक्षानुकूल युवतियोंके व्यायाम द्वारा हमारी जाति उन्नति हो जायगी उन्हें सावधान होकर इन विषयोंपर सोचना चाहिये और यह भी दुखद विषय सोचना चाहिये कि सन् १९२२ से १९२८ के भीतर इङ्गलैण्डमें सोलह प्रति सैकड़ा सन्तान उत्पत्ति कम हो गई है।" इन्हीं बातों पर विचार कर लेडी इरविन साहेबाने अखिलभारतीय स्त्री कान्फरेन्स, देहलीके व्याख्यानमें कहा था:—

In one respect, India is favoured as she comes to close quarters with a problem of which other countries have been pioneers and have made mistakes by which India, if she is wise, may profit.

"They have been slow to recognise the necessity for differentiating between the education of the boys and girls, It is of course true that they both have to live in the same world, that they both have to share it between them, but their functions in it are largely different. In many countries today they see girls' education developing on lines which are a slavish imitation of boys' education.

"We must, therefore, do all in our power to set a different standard and to create desire in the public mind and in the girls themselves, for an education which will allow girls to develop in other lines.

"What I feel, we should aim to give them, is a practical knowledge of domestic subjects and the laws of health which will enable them to fulfil one side of their duties as wives and mothers, reinforced by the study of those subjects which will help most to widen their interests and outlook."

स्त्री शिक्षाके विषयमें भारतवासियोंको अच्छा मौका मिला है, कि अन्य देशके लोग इसमें जो गलती कर रहे हैं उससे फायदा उठावें। अन्यदेशके लोग स्त्री और पुरुषकी शिक्षामें क्या क्या भेद होना चाहिये अभीतक इसको ठीक तरहसे मान नहीं सके हैं। यह

बात सत्य है कि स्त्री और पुरुष दोनों एक ही संसारमें समान दायित्वके साथ निवास करते हैं, किन्तु इसमें दोनों का कार्य विलकुल एक दूसरेसें भिन्न है। बहुतसे देशोंमें स्त्रीशिक्षाको केवल पुरुषशिक्षाकी नकल बनाई गई है यह ठीक नहीं है। अतः हमें प्रयत्न करना चाहिये कि स्त्रीजातिके लिये उसकी प्रकृतिके अनुसार पृथक् शिक्षादर्श कायम किया जाय, जिससे वह अपने ही ढङ्ग पर पूर्ण शिक्षिता बन सके। उसमें मेरा अनुभव यह है कि उन्हें अच्छी स्त्री और अच्छी माता बनने लायक कर्त्तव्योंकी व्यावहारिक शिक्षा देनी चाहिये, जिससे पारिवारिक समस्त विषय और गार्हस्थ स्वास्थ्यरक्षामूलक सब विषय उन्हें आयत्त हो सके। और साथही साथ ऐसे विषयोंको भी उन्हें पढ़ाना चाहिये जिससे उनका दृष्टिकोण उदार बन जाय और सामाजिक जीवनके प्रति उनकी हार्दिक सहानुभूति प्रकट हो सके।" अतः निश्चय हुआ कि 'मां' को 'मां' बनने लायक शिक्षाही आदर्श शिक्षा है। उनको पिता बनानेके लिये यत्न करना उन्मत्तता और अधर्म्म है। इससे फलसिद्धि न होकर "इतो नष्टस्ततो भ्रष्टः" हो जायगा; क्योंकि स्त्रीको पुरुषकी तरह शिक्षा देनेका यही विषमय फल होगा कि प्रकृतिविरुद्ध होनेसे वह पुरुषभावको तो अभी नहीं प्राप्त कर सकेगी, अधिकन्तु कुशिक्षाके कारण स्त्रीभावको भी खो देगी जिससे उसके और संसारके लिये बहुत ही हानि होगी। पतिभावमें तन्मयता ही स्त्रीकी पूर्णोन्नति होनेके कारण, पुरुषके अधीन होकर ही स्त्री उन्नति कर सकती है, स्वतन्त्र होकर नहीं कर सकती है और ऐसा करना भी स्त्री-प्रकृतिसे विरुद्ध है। इसीलिए मनुजीने कहा है कि :—

अस्वतन्त्राः स्त्रियः कार्य्याः पुरुषैः स्वैर्दिवानिशम्।
विषयेषु च सज्जन्त्यः संस्थाप्या आत्मनो वशे ॥
पिता रक्षति कौमारे भर्त्ता रक्षति यौवने।
रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥ (९ म अ०)

पुरुषोंका कर्त्तव्य है कि स्त्रियोंको सदा ही अधीन रक्खें। उन्हें स्वतन्त्रता न देवें। गृहकार्य्यमें प्रवृत्त करके अपने वशमें रक्खें। स्त्री कन्यावस्थामें पिताके अधीन रहती है, योवनकालमें पतिके अधीन रहती है और वृद्धावस्थामें पुत्रके अधीन रहती है। कभी स्वतन्त्र करने योग्य स्त्रीजाति नहीं है। किन्तु इसके द्वारा यह नहीं समझना चाहिये कि आर्य-शास्त्रमें स्त्रीजातिको हर तरहसे-जञ्जीरमें जकड़ रखनेको ही धर्म कहा गया है, जैसा कि आजकल स्वतन्त्रता-वादीगण हिन्दुसभ्यता पर दोष लगाया करते हैं। सत्यदर्शी पश्चिमी विद्वानोंने भी इस बातकी पुष्टि की है। यथा :—

At no age should a woman be allowed to govern herseif as she pleases. (Harace Maun)

To obey is the best grace of woman. (Lewis Morris)

The superficial observer, who applies his own standard to the customs of all nations, laments with an affected philanthropy the degraded condition of the Hindu female. He particularly laments her want of liberty and calls her seclusion imprisonment. From the knowledge I possess of the freedom, the respect, the happiness which Rajput women enjoy, I am by no means inclined to deplore theri state as one of captivity. (Colonel Tod).

Their state is not one of slaves to their husbands; they have as much influence in their families as I imagine, the women have in this country. (Sir Thomas Munro).

The women of the East are not so much in evidence as those of Europe, but their influence within the ligitimate circle of their domestic relations is quite as great, their manners are as good and their morality is as high. Those who know most of the results of this freedom of women in the West, may well doubt whether the occidental or the oriental method of treating the fair sex is more in accord with practical wisdom. (Sir Lepel Griffin)

In no nation of antiquity were women held in so much esteem as amongst the Hindus. (Prof H. H. Wilson)

स्त्रियोंको स्वेच्छानुसार अपनेको चलाने देना कदापि उचित नहीं है। (हरेस मैन्) पुरुषोंकी वशम्वदा होनेमें ही स्त्रियोंको सर्वोत्तम शोभा है। (लिविस् मरिस)। स्थूलदर्शी पुरुष, जो कि अपने ही आदर्शसे सब जातिकी सामाजिक रीतियों पर विचार करते हैं, प्रायः हिन्दुजाति पर कपटदया दिखाते हुए उनकी स्त्रियोंकी हीन दशाको रोते हैं, कि उन्हें स्वतन्त्रता नहीं दी जाती और जेलखाने की तरह उन्हें पर्देमें रख दिया जाता है। किन्तु राजपूत स्त्रियोंकी स्वतन्त्रता, सम्मान तथा गार्हस्थ सुखके विषयमें मुझे जो कुछ ज्ञान है उससे मुझे तो कभी यह अफसोस नहीं होता है कि वे जेलखानेकी तरह बन्धनमें रक्खी जाती हैं। (कर्नेल टाड)। जैसा कि प्रायः कहा जाता है हिन्दु स्त्रियां पराधीनकी

तरह नहीं रहती हैं, क्योंकि अपने घरमें उनकी स्वतन्त्रता और प्रभुता पूरी ही है जैसा कि इस देशमें है। (सर टोमस मनरो)। पूर्वदेशकी स्त्रियाँ यूरोपकी स्त्रियोंकी तरह जहाँ तहाँ घूमती नहीं रहती हैं किन्तु अपने परिवारको मर्यादायुक्त सीमामें उनका बहुत ही प्रभाव रहता है और इसी प्रकार उनका आचरण तथा नैतिक जीवन बहुत ही उत्तम होता है। पश्चिमी स्त्रियोंकी स्वतन्त्रताका भीषण परिणाम जिन्हें मालूम है वे लोग सन्देह करने लगे हैं कि वह रीति अच्छी है या पूर्वी रीति यथार्थ विचारसम्मत है। (सर लेपेल ग्रिफिन)। हिन्दुओंमें स्त्रियोंको जितना सम्मान दिया जाता है, इतना संसारकी और किसी जातिमें नहीं दिया जाता। (एच. एच. विलसन)।

पतिभगवानके साथ स्त्रीका उपास्य उपासक भक्त उपास्य देवताके वशमें होकर उनमें भक्तिके द्वारा लय हो जानेसे ही मुक्ति लाभ कर सकता है। उनसे स्वतन्त्र होने पर नहीं कर सकता है। यही पातिव्रत्य धर्म है। स्त्रीको पुरुषकी तरह शिक्षा देनेसे उसमें स्वतन्त्र भ्रमण, स्वतन्त्र प्रेम और स्वेच्छाचार आदि स्वतन्त्राके भाव आ जांयगे जिससे पातिव्रत्य धर्म नष्ट हो जायगा। वह यदि ग्रेजुयेट एम० ए० या शास्त्री हो जाय किन्तु माता या सती होना भूल जाय तो उसकी शिक्षा तीन कौड़ीकी भी नहीं होगी। जैसा कि प्रसिद्ध विद्वान् गेटे (Goethe) ने कहा है—

We love a girl for very different things other than understanding. We love her for her beauty, her comfidence, her character but we do not love her for her understanding. Her mind we esteem and it may greatly elevate her in our opinion, but her understanding is not that which awakens and inflames our passion.

स्त्रियोंके प्रति पुरुषका प्रेम उनके ज्ञानको देखकर नहीं होता है। उनकी सुन्दरता, श्रद्धा, विश्वास, चरित्रबल यही सब उनके प्रति प्रेमका कारण है। उनका उच्च मनोभाव पुरुषहृदयमें पूज्यबुद्धि उत्पन्न कर सकता है, किन्तु उनका ज्ञान बल पुरुष हृदयमें प्रेमोत्पत्तिका कारण कदापि नहीं बन सकता है। अतः विचार कर कन्याको ऐसी शिक्षा देनी चाहिये कि जिससे वह भविष्यत्में पतिके अधीन रहकर अच्छी माता, चतुरा गृहिणी और पतिव्रता सती बन सके, क्योंकि अपनी उन्नति और सन्तानोंकी पहली शिक्षाके लिये पितासे भी माताका सम्बन्ध अधिक रहता है। वीर माताकी वीर सन्तान और धार्मिक माताकी धार्मिक सन्तान प्रायः हुआ करती हैं। अतः वर्तमान देशकालके विचार से यदि स्त्रीको शिक्षा देनेकी आवश्यकता समझी जाय तो पिता माताको सदा ही ध्यान रखना चाहिये

कि उनकी शिक्षामें ऊपर लिखित लक्ष्य अटूट रहे, क्योंकि पातिव्रत्यके द्वारा ही स्त्रीजातिको उन्नति और मुक्ति मिलती है। इसलिये शिक्षाका वही उद्देश्य होना चाहिये।

इस प्रकार शिक्षादर्शन प्रशंसा पश्चिमी विद्वानोंने भी की है यथा :—

"Mr. Arthur Mayhew in his 'Education of India'

Woman as she presents herself to Hindu imagination is the priestess of the home, watering the sacred plant, keeping the sacred fire, guarding sacramently the purity of the food b her ablution and prayers. Her household service is an act of Bhakti (personal devotion); she goes abroad only for pilgrimage. But within the house, she is the centre of all activity not shut off in any way from males of varying ages and generations but infuencing vitally their home talk, thought and actions.

"She has never been regarded as unfit for arts and acomplishments. Sanskrit literature has many examples of learned ladies and there are women poets. Does not a Sanskrit educationist draw up a list of sixty four arts for young ladies ? Did not Sankara design to argue with a women Pandit ? Sita and Draupadi, Savitry and Damayanti knew how to retain love by other arts than those of the toilet and were real companions, as is the Hindu wife of today."

सर अर्थर मेहिऊकी सम्मति है कि "हिन्दु आदर्शके अनुसार स्त्री गृहदेवी है, वह घरके तुलसी आदि पवित्र वृक्षोंको प्रेमसे सींचती है, अग्निहोत्रकी अग्निको जगाये रखती है, स्नान से शुद्ध होकर अन्नको भी शुद्ध रखती है, गृह कार्य उनके लियेपतिभक्तिका विलासमात्र है और बाहर उनका भ्रमण केवल तीर्थयात्राके लिये है। घरके समस्त व्यापारोंकी वह केन्द्ररूपिणी है और भिन्न भिन्न देशकालके पुरुषोंसे अलग न रहकर वह उनकी चिन्ता तथा क्रियाओं पर प्रभाव विस्तार किया करती है।

किसीप्रकार कला विद्यामें भी वह अयोग्य नहीं समझी गई है। संस्कृत साहित्यमें अनेक विदुषी महिलाओं तथा स्त्रीकवियोंके प्रमाण मिलते हैं। स्त्रियों के लिये ही तो ६४ कला विद्याके प्रमाण संस्कृत शास्त्रमें मिलते हैं। श्रीशंकराचार्यने एक विदुषी महिलाके साथही तो शास्त्रार्थ किया था। सीता, द्रौपदी, सावित्री, दमयन्ती आदि आदर्श महिलाओंमें

कलाविद्याकी बहुत कुछ योग्यता थी जिससे वे अपने अपने पतिकी यथार्थ सङ्गिनी बन सकी थी।" यही हिन्दू आदर्श है।

विवाहके अनन्तर नारीजीवनकी दूसरी अर्थात् गृहिणी अवस्था प्रारम्भ होती है। कन्यावस्थामें पति देवतामें तन्मयतामूलक पवित्रतामय सती धर्म्मकी जो शिक्षा हुई थी, गृहिणी अवस्थामें उसी सतीधर्म्म या पातिव्रत्यका पालन होता है। जिस प्रकारश्रेष्ठ भक्त भगवान्के चरणकमलोंमें अपने शरीर, मन, प्राण और आत्मा सभीको समर्पण करके भगवद्भावमें तन्मय होकर भगवान्को प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार सती स्त्री पतिदेवताके चरण-कमलोंमें अपना जो कुछ है सभी समर्पण करके उन्हींमें तन्मय होकर मुक्ति प्राप्त करती है।

सतीत्वकी महिमाको वर्णन करते हुये परम पूज्यपाद महर्षियोंने बहुत बातें लिखी हैं। मनुजीने कहा है कि :—

प्रजनार्थं महाभागा पूजार्हा गृहदीप्तयः।
स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन ॥
पतिं या नाऽभिचरति मनोवाग्देहसंयता।
सा भर्तृलोकमाप्नोति सद्भिः साध्वीति चोच्यते ॥

सन्तानप्रसव करनेके कारण महाभाग्यवती, सम्मानके योग्य और संसारको उज्ज्वल करने वाली स्त्रीमें और श्रीमें कोई भेद नहीं हैं। जो स्त्री शरीर, मन और वाणीसे अपने पतिके सिवाय और किसी पुरुषसे सम्बन्ध नहीं रखती वही सती कहलाती है। उसको पतिलोक प्राप्त होता है। याज्ञवल्क्यजीने कहा कि :—

मृते जीवति वा पत्यौ या नाऽन्यमुपगच्छति।
सेह कीर्तिमवाप्नोति मोदते चोमया सह ॥

पतिकी जीवतावस्थामें या मृत्युके बाद भी स्त्री अन्यपुरुषकी कभी इच्छा नहीं करती है उसको इहलोकमें यश मिलता है और परलोकमें उमाके साथ सतीलोकमें वह आनन्दसे रह सकती है। दक्षसंहितामें लिखा है कि :—

अनुकूला न वाग्दुष्टा दक्षा साध्वी प्रियंवदा।
आत्मगुप्ता स्वामिभक्ता देवता सा न मानुषी ॥

जो स्त्री पतिके अनुकूल आचरण करती है, कटुवचन नहीं कहती है गृहकार्य्योंमें दक्षा सती, मिष्टभाषिणी, अपने धर्मकी रक्षा करनेवाली और पतिभक्तिपरायण है वह मानवी नहीं परन्तु देवी है। ब्रह्मवैवर्त्तपुराणमें कहा है कि :—

सर्व्वदानं सर्व्वयज्ञः सर्व्वतीर्थनिषेवणम् ।
सर्व्वं व्रतं तपः सर्व्वमुपवासादिकञ्च यत् ॥
सर्व्वधर्म्मंश्च सत्यञ्च सर्वदेवप्रपूजनम् ।
तत्सर्वं स्वामिसेवायाः कलां नार्ऽहन्ति षोडशीम् ॥

समस्त दान, समस्त यज्ञ, सकल तीर्थोंकी सेवा, समस्त व्रत, तप और उपवास आदि सब कुछ और सब धर्म्म, सत्य और देवपूजा ये पतिसेवाजनित पुण्यके षोडशांश पुण्यको भी उत्पन्न नहीं कर सकते हैं।

इसप्रकार से आर्य्यशास्त्रमें सतीधर्मकी महिमा बताई गई है जिसके सम्यक् पालन द्वारा स्त्रीजति अनायास ही उत्तम गति लाभ कर सकती है।

आर्यजातिकी महिलाओंके इस प्रकार आदर्श जीवनकी भूरि भूरि प्रशंसा पश्चिम देशके विद्वानोंने भी की है। यथा -

"What is the kind of marriage that will preserve the integrity and keep the stable equilibrium of society–that is what Hinduism tried to discover. Just as the Royal Houses of Europe used to arrange marriages for reasons of state, just as Eugenics bids men sacrifice personal sentiment to human progress, so the Hindu does the same to withhold the seductions of the life Force in the interests of social good-that is the idea. The mother is encouraged to undergo voluntary penance for the elevation of the human race and to keep her natural instinct in rigorous subordination to the dictates of mind and soul. The sense of degradation some women feel in submmitting to the tyranny of nature over their sex is avoided not by adjuring motherhood but by making it subserve an impersonal ideal."

(Rev. J. Tyssul Devis.)

"The person of a Hindu woman is sacred. She can not be touched in public by a man even with the ends of the fingers. How object soever may be her condition, she is never addressed by any body, not excepting the persons of the highest rank, but under the respectful name of Mother." (Father Abbe Dubois)

"The ideal which the wife and mother makes for herself, the manner in which she understands duty and life, contains the fate of the community. Her faith becomes the star of the conjugalship and her love the animating principle that fashions the future of all belonging to her. Woman is the salvation or destruction of the family. She carries its destinies in the folds of her mantle." (Amiel.)

"Perfect daughters, wives and mothers, after the severly disciplined, self-sacrificing Hindu ideal, remaining modestly at home, as the proper share of their duties, unknown beyond their families, and seeking in the happiness of their children their greatest pleasure and in the reverence of their husbands the amaranthene crown of a woman's truest glory."

(Sir George Birdwood in the Asiatic Quarterly Review.)

किस विधिसे विवाह होने पर समाजमें तथा व्यक्तिगत जीवनमें शान्ति और समता रह सकती है—हिन्दु जातिने इसीके पता लगानेका प्रयत्न किया था। जिस प्रकार यूरोपके राजघरानेके लोग राज्यके विचारसे विवाह सम्बन्ध करते थे और यूजिनिक लोग मानवीय प्रगतिके लिये व्यक्तिगत स्वार्थत्यागका उपदेश करते थे, ऐसा ही हिन्दुजातिमें भी विवाहविधिका उपयोग किया गया है जिससे सामाजिक जीवनकी समुन्नति तथा सुखके विचारसे स्त्रीपुरुष व्यक्तिगत वैषयिक सुखमें न फंस जाय और उस सुखलालसाका उदारतर सामाजिक जीवनमें विनियोग कर सके। माता इसीलिये गृहस्थाश्रममें तपस्विनीक जीवन बिताया करतो है और विचारकी जञ्जीरमें मनोवृत्तियोंको जकड़ देती है कि उनके जोवनादर्शसे समग्र जातिका कल्याण हो। 'उनपर प्रकृतिने अत्याचार किया है' ऐसा समझ कर कहीं कहीं जो स्त्रियां 'मां' बननेसे घवड़ाती हैं इस हीनताकी चिन्ताको आर्यमाता अपने मातृभावको और भी उन्नत अलौकिक भावमें विलीन कर परित्याग करती है।

(जे. टिसल डेविस)।

हिन्दूजाति अपनी स्त्रियोंके शरीरको पवित्र मानती है। प्रकाश्य स्थानमें अंगुलियोंके अग्रभागसे भी कोई उन्हें स्पर्श नहीं कर सकता। कितनी ही हीन दशा उनकी क्यों न हो, बड़े बड़े आदमी भी उन्हें 'माता' कहकर ही सम्बोधन करते (फादर अब्बे ड्यूबो)

स्त्री और माता अपने लिये जिस प्रकार आदर्शको रखती हैं, जिस तरहसे वे अपने जीवन और कर्त्तव्यको समझती हैं, उससे समग्र जातिका भाग्यनिर्णय होता है। उनका विश्वास दाम्पत्यप्रेमका उज्ज्वल तारा है, उनका प्रेम उनके आत्मीय जनोंके जीवनमें

प्राणशक्तिका सञ्चारक है। स्त्री ही गृहस्थ जीवनमें उद्धार या नाशका कारण है। गृहस्थके समग्र भाग्यको मानो वह अपने उत्तरीय वसनमें (ओढ़नीमें) बांधे ही फिरती है।

(एमियेल)।

त्यागमय, संयमपूर्ण हिन्दु आदर्शके अनुसार उनकी स्त्रियां आदर्श कन्या, आदर्श सती और आदर्श माता होती हैं। वे मर्यादा और शीलताके साथ गृहकार्यको करती हुई उसी अन्तःपुरमें प्रच्छन्न रहा करती हैं। सन्तानोंके सुखमें ही उनका सर्वोत्तम सुख है और पतिके प्रति पूजा तथा श्रद्धाभावप्रदर्शनमें ही उनकी चिर अमर महिमा है।

(सर जार्ज बर्डउड)।

नारीजीवनकी तृतीय दशा वैधव्य है। प्रारब्ध कर्म्मके चक्रसे यदि सतीको विधवा होना पड़े तो इस वैधव्य दशामें पतिव्रत्यकी पूर्ण परीक्षा होती है। सतीत्वके परम पवित्र भावमें भावित सतीका अन्तःकरण वैधव्यरूप संन्यास दशामें परमदेवता पतिके निराकार रूपमें तन्मय होकर पातिव्रत्य धर्म्मकी पूर्णताका साधन और उद्यापन करता है। इसीलिये यह तृतीय दशा परमगौरवान्वित तथा पवित्रतामय है। यह बात पहिले ही सिद्ध की गई है कि भगवच्चरणकमलोंमें भक्तोंकी तरह पतिके चरणकमलोंमें लवलीन होनेसे ही स्त्रीकी मुक्ति होती है। पतिव्रता सती पातिव्रत्यके प्रभावसे पतिलोक अर्थात् पञ्चमलोकमें जाकर पतिके साथ आनन्दमें मग्न रहती है। इस प्रकारकी तन्मयता द्वारा पतिव्रत्यकी पूर्णता होनेसे ही पुनर्जन्मके समय उनको स्त्रीयोनिमें नहीं आना पड़ता है। वह अपनी योनिसे मुक्त हो उत्तम गतिको प्राप्त करती है। आर्य्यमहर्षियोंने जो स्त्रीजातिको सकल दशाओंमें ही एकपतिव्रतका उपदेश दिया है उसका यही कारण है। क्योंकि बिना एकपतिव्रतके तन्मयता नहीं हो सकती। अनेकोंमें जो चित्त चञ्चल होता है उसमें तन्मयता कभी नहीं आ सकती है और बिना तन्मयताके पातिव्रत्यकी पूर्णतया नहीं हो सकती है एवं बिना पातिव्रत्यकी पूर्णताके स्त्रीयोनि समाप्त होकर मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती है। इसलिये गृहणी और विधवाकी सकल दशामें ही महर्षियोंने एकपतिव्रतरूप धर्म्मपर इतना जोर दिया है। इस धर्म्मके बिना स्त्रीका जन्म ही वृथा है। कन्याकालमें इस धर्म्मकी शिक्षा और गृहिणीकालमें इसका अभ्यास होकर विधवाकालमें इसकी समाप्ति होती है। इसलिये वैधव्यदशामें भी पातिव्रत्यका पूर्ण अनुष्ठान होकर मृत पतिकी आत्मामें अपनी आत्माका लयसाधन करना ही विधवाका एकमात्र धर्म्म है।

आर्य्यशास्त्रोंमें विवाह स्थूल शरीरके भोगमात्रको लक्ष्य करके नहीं रक्खा गया है। क्योंकि इस प्रकार करनेसे भोगस्पृहा बलवती होकर आर्य्यत्व मनुष्यत्व तकको नष्ट कर देगी और मनुष्यको पशुसे भी अधम बना देगी। आर्य्यजातिका विवाह भोगको बढ़ानेके लिये नहीं

है; किन्तु स्वाभाविक अनर्गल भोगस्पृहाको घटानेके लिये है। स्त्री अपनी स्वाभाविक पुरुषभोगेच्छाको एक ही पतिमें केन्द्रीभूत करती हुई उन्हींमें पातिव्रत्य द्वारा तन्मय हो मुक्त हो जायगी इसलिये स्त्रीका विवाह है। पुरुष अपनी स्वाभाविक अनर्गल भोगेच्छा को एकही स्त्रीमें केन्द्रीभूत करके उसी प्रकृतिको देखकर उससे अलग हो मुक्त हो जायँगे इसलिये पुरुषका विवाह है। स्त्रीके लिये एक ही पतिमें तन्मय होना धर्म्म है, उसमें एकके सिवाय दूसरा होनेसे एकाग्रता नहीं रहेगी, अतः तन्मयता नहीं होगी और मुक्तिमें बाधा हो जायगी इसलिये एक पतिव्रत स्त्रीके लिये परम धर्म है। स्त्रीके लिये इस प्रकारका द्वितीय विवाह धर्म्म नहीं हो सकता। वैधव्य क्यों होता है इस विषयमें स्कन्द पुराणमें अरुन्धती आख्यानमें निम्नलिखित प्रमाण मिलता है। यथा :—

यः स्वनारीं परित्यज्य निर्दोषां कुलसंभवाम्।
परदाररतो हि स्यादन्यां वा कुरुते स्त्रियम्॥
सोऽन्यजन्मनि देवेशि! स्त्री भूत्वा विधवा भवेत्।
या नारी तु पतिं त्यक्त्वा मनोवाक्कायकर्मभिः॥
रहः करोति वै जारं गत्वा वा पुरुषान्तरम्।
तेन कर्मविपाकेन सा नारी विधवा भवेत्॥

पार्वतीके प्रति महादेवकी उक्ति है, जो पुरुष अपनी निर्दोषा कुलीन स्त्रीको छोड़कर परस्त्रीमें आसक्त या अन्य स्त्री ग्रहण करता है वह दूसरे जन्ममें स्त्रीयोनि पाकर विधवा हो जाता है। इसी प्रकार जो स्त्री अपने पतिको छोड़कर अन्य पुरुषमें रत हो जाती है उसको भी जन्मान्तरमें वैधव्य होता है। अतः वैधव्य जब स्त्री या पुरुष दोनोंको ही किसी प्राक्तन दोषके कारण होता है तो तपस्याके द्वारा उस दोषका नाश करना ही धर्म होगा। पुनः विवाह करने पर यह दोष नष्ट नहीं हो सकेगा, बल्कि एक दोष पर अन्य दोष बढ़ जायगा, यही कारण है कि महर्षियोंने नारी जातिके लिये निवृत्तिके साथ वैधव्य धर्म पालनेकी ही आज्ञा दी है।

आर्य्य स्त्रीके विवाहमें पतिके साथ सम्बन्ध स्थूल सूक्ष्म तथा कारण तीनों शरीर और आत्माका भी होता है। इसलिये पतिके परलोक जानेपर भी स्त्रीके साथ सम्बन्ध नहीं टूटता है। क्योंकि मृत्यु केवल स्थूल शरीरका परिवर्त्तन मात्र है। सूक्ष्म तथा कारण शरीर और आत्मामें परिवर्त्तन कुछ भी नहीं होता है। अतः आर्य्यविवाह सूक्ष्म शरीर, कारण शरीर और आत्माके साथ होनेके कारण पतिके परलोक जानेसे भी नष्ट नहीं हो सकता है।

मनुसंहितामें लिखा है कि:---

कामन्तु क्षपयेद्देहं पुष्पमूलफलैः शुभैः।
न तु नामापि गृह्णीयात् पत्यौ प्रेते परस्य तु॥
आसीतामरणात् क्षान्ता नियता ब्रह्मचारिणी।
यो धर्म्म एकपत्नीनां कांक्षन्ती तमनुत्तमम्॥
अनेकानि सहस्राणि कुमारब्रह्मचारिणाम्।
दिवं गतानि विप्राणामकृत्वा कुलसन्ततिम्॥
मृते भर्तरि साध्वी स्त्री ब्रह्मचर्य्यव्रते स्थिता।
स्वर्गं गच्छत्यपुत्रापि यथा ते ब्रह्मचारिणः॥ (५म अ०)

पतिकी मृत्युके अनन्तर सती स्त्री पुष्प, मूल और फल खाकर भी जीवन धारण करे परन्तु कभी अपने पतिके सिवाय अन्य पुरुषका नाम तक नहीं लेवे। सती स्त्रीकी मृत्यु जब तक नहीं हो तब तक क्लेशसहिष्णु, नियमवती तथा ब्रह्मचारिणी रहकर एक पतिव्रता सती स्त्रीका ही आचरण करे। अनेक सहस्त्र आकुमार ब्रह्मचारी प्रजाकी उत्पत्ति न करके भी केवल ब्रह्मचर्य्यके बलसे दिव्य लोकमें गये हैं। पतिके मृत होने पर भी उन कुमार ब्रह्मचारियोंकी तरह जो सती ब्रह्मचारिणी बनी रहती है उसको पुत्र न होनेपर भी केवल ब्रह्मचर्य्यके ही बलसे स्वर्गलाभ होता है।

भारतखण्ड यूरोप होकर उन्नत नहीं हो सकता और आर्य्य पुरुष अनार्य्य होकर उन्नत नहीं हो सकते और आर्य्य सतियाँ बिलायती मेमें बनकर उन्नत नहीं हो सकती किन्तु सीता सावित्री बनकर ही उन्नत हो सकती हैं, इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं है। इन्हीं सब कारणोंसे मनुजीने स्त्रीके लिये द्वितीय बार विवाह करना मना किया है। यथाः—

सकृदंशो निपतति सकृत्कन्या प्रदीयते।
सकृदाह ददामीति त्रीण्येतानि सतां सकृत्॥ (९म अ०)

पैतृक सम्पत्ति एक ही बार विभक्त होती है, कन्या एक ही बार पात्रमें दी जाती है और दान एक ही बार सकल वस्तुओंका हुआ करता है। सत्पुरुष इन तीनोंको एक ही बार करते हैं। और भी मनुस्मृतिमें—

"न विवाहविधावुक्तं विधवाऽऽवेदनं पुनः" (९म अ०)

अर्थात् विवाह विधिमें विधवाका विवाह कहीं नहीं बताया गया है।

आर्य्यशास्त्रमें कहा गया है कि प्रकृति रूपिणी स्त्रीजातिमें अष्टम धातु रज (जो कि पुरुषमें नहीं है) और अविद्याका अंश होनेके कारण पुरुषसे अष्टगुण अधिक काम होने पर भो विद्याके अंशसे लज्जा और धैर्य्य बहुत कुछ है। यथा वृहत् पराशर ४-५३ में—

स्त्रीणामष्टगुणः कामः व्यवसायश्च षड्गुणः।
लज्जा चतुर्गुणा तासामाहारश्च तदर्धकः॥

अतः विधवाजीवन इस प्रकार बना देना चाहिये कि जिससे उनमें अविद्याका अंश नष्ट हो जाय और विद्याका अंश पूर्ण प्रकट हो सके। आजकल जो विधवाएँ बिगड़ती हैं उसमें शिक्षा तथा उनके साथ ठीक ठीक वर्तावका अभाव ही कारण है। विधवा होनेके दिनसे ही गृहस्थ लोग उनके लिये यह भाव उत्पन्न करने लगते है कि संसारमें उनके सदृश दुःखी और हतभाग्य कोई नहीं है। ऐसा करना सर्वथा भ्रमयुक्त है। यह केवल विचारके विरुद्ध ही नहीं किन्तु शास्त्रके भी विरुद्ध है। आर्यशास्त्रोंमें भोगसे त्यागकी महिमा अधिक कही गई है। महाभारतमें लिखा है :—

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नाऽर्हतः षोडशीं कलाम्॥

संसारमें कामजनित सुख अथवा स्वर्गमें उत्तम भोग-सुख ये दोनों ही वासनाक्षय-जनित अनुपम सुखके सोलह भागमेंसे एक भाग भी नहीं हो सकते। श्रीभगवान्ने गीतामें कहा है :—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥
शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः।

विषयोंके साथ इन्द्रियोंका सम्बन्ध हो जानेसे जो कुछ सुख होता है वह दुःखयोनि होनेसे दुःखरूप ही है और इस प्रकारका सुख आदिअन्तसे युक्त और नश्वर है इसलिये विचारवान पुरुष विषय-सुखमें मत्त नहीं होते। संसारमें वही सच्चा सुखी और योगी है जिसने आजन्म काम और क्रोधके वेगको धारण किया है। विधवाका जीवन संन्यासीका जीवन है। इसमें निवृत्तिकी शान्ति तथा त्यागका विमल आनन्द है। फिर विधवा स्त्री हतभागिनी क्यों कही जाती है? क्या त्याग करना हतभाग्य बननेका लक्षण है?

सोचने से पता लगेगा कि निवृत्तमें ही आनन्द है प्रवृत्तिमें नहीं। त्यागमें ही आनन्द है भोगमें नहीं और वासनाके क्षयमें ही आनन्द है वासनाके अधीन बननेमें नहीं। गृहस्थ विषयी होनेसे दुःखी है और संन्यासी विषय त्याग करनेसे सुखी है। जब यही अवस्था विधवाकी है तो विधवा हतभागिनी है या वास्तवमें सुखी है सो विचार-शील पुरुष सोच सकेंगे। विधवाका पुरुषके साथ कामभोग छूट गया इसलिये विधवा दुःखिनी हो गई यह बात बड़ी ही कौतुकजनक है। क्या कामके द्वारा किसीको सुख भी होता है? आजतक किसीको कामके द्वारा सुख मिला था? या किसी शास्त्रमें ऐसा लिखा भी है? गीतामें कामको नरकका द्वार कहा है, आनन्दका द्वार नहीं कहा है। काम चित्तका एक उन्माद मात्र है। मनुष्य उस उन्मादमें फँस जाया करता है। परन्तु फँस जाकर सुखका भान होना और बात है और यथार्थ सुख प्राप्त होना और बात है। कामके द्वारा किसीको सुख प्राप्त नहीं होता इसको विषयवद्ध गृहस्थ भी स्वीकार करेंगे क्योंकि वे भी चाहते हैं कि वासना छूटकर शान्ति हो जाय। परन्तु पूर्वजन्मका संस्कार अन्यरूप होनेसे वासना नहीं छूटती; इसलिये वे विषयोंमें मत्त रहते हैं, अपिच चित्त दुर्बल होनेके कारण विषयोंमें मत्त होनेसे ही विषय सुखकर हो जायेंगे यह बात कोई नहीं कहेगा परन्तु विषयके छूट जानेपर ही सच्चा सुख होगा यही बात सब लोग कहेंगे। जब विधवाको विषयोंको त्याग करके निवृत्तिके परमानन्द प्राप्त करनेका सुयोग मिला है तो विधवा दुःखिनी नहीं है, गृहस्थ सधवा स्त्रियोंसे अधम नहीं किन्तु उनकी गुरु तथा पूज्या है क्योंकि संन्यासी गृहस्थोंके गुरु तथा पूज्य होते हैं। आहार, निद्रा, भय, मैथुन ये पशु भी करता है, इसमें मनुष्यकी विशेषता क्या है? लाखों जन्मोंसे यही काम होता आया है। यदि विधवा गृहस्थमें रहकर बालबच्चे उत्पन्न करती तो उन्हीं लाखों जन्मोंके किये हुये कामोंको और एक बार करती, परन्तु इसमें क्या रक्खा है? इसलिये अनन्त जन्म तक संसारका दुःख भोगने पर भी विषयी जीवको जो भगवान्‌का अलभ्य चरणकमल प्राप्त नहीं होता और जिसके लिये समस्त जीव लालायित होकर संसारचक्रमें घूम रहे हैं उसी चरणकमलमें यदि भगवान्‌ने विधवाको संसारसे अलग करके शीघ्र बुलाया है और निवृत्ति सेवन करके नित्यानन्द प्राप्त करनेका अवसर दिया है तो इससे अधिक उत्तम बात और क्या हो सकती है?

जब गृहस्थमें कोई स्त्री विधवा हो जाय तो वहाँके सब लोगोंका प्रथम कर्त्तव्य यह होना चाहिये कि विधवाको उनकी अवस्थाका गौरव समझा देवें। उनपर श्रद्धाके साथ पूज्यबुद्धिका बर्ताव करें। उनके पास गृहस्थाश्रमके अनन्त दुःख और विषय-सुखकी परिणाम दुःखताका वर्णन करें और साथ ही साथ निवृत्तिमार्गपरायण होनेके कारण

उनको कितना आनन्द, कितनी शान्ति और कितना सुख प्राप्त हो सकता है. इसका ध्यान दिलावें एवं उनकी स्थितिकी अपूर्वता तथा संसार बन्धन मोचनका सुयोग, जो कि उनकी सङ्गिनी गृहस्थ स्त्रियोंको न जाने कितने जन्ममें जाकर मिलेगा, सो उनको इसी जन्ममें मिल गया है अतः वे धन्य हैं तथा पूज्या हैं, इस प्रकारका भाव विधवाके हृदयमें जमा देवें। ऐसा समझा देनेसे विधवाको अपनी दशाके लिये दुःख नहीं होगा किन्तु सुख ही होगा, भोग न मिलनेसे दुःख नहीं होगा, संन्यासीकी तरह त्यागी बननेमें गौरव ज्ञात होगा, शम दमादि साधन क्लेशकर तथा देव पीड़न ज्ञात नहीं होंगे परन्तु संयम और अनन्त आनन्दके सहायक प्रतीत होंगे। यही वैधव्य दशामें पातिव्रत्य रखनेका तथा अविद्या-भावको दूर करके विद्याभावके बढ़ानेका प्रथम उपाय है। संसारमें सुख दुःख करके कोई वस्तु नहीं है। भिन्न भिन्न दशामें चित्तके भिन्न भिन्न भावोंके अनुसार सुख दुःखकी प्रतीति होती है। एक ही वस्तु एक भावमें देखनेसे सुख देनेवाली और दूसरे भावमें देखनेसे दुःख देनेवाली हो जाती है। संसारीके लिये कामिनी, काञ्चन आदि जो सुख है, संन्यासीके लिये वही दुःख है और संन्यासीके लिये जो सुख है गृहस्थके लिये वही दुःख है। प्रवृत्तिकी दृष्टिसे देखने पर सांसारिक भोगकी वस्तुओंमें सुख प्रतीत होने लगता है परन्तु वे ही सब वस्तु निवृत्तिकी दृष्टिसे देखे जानेपर दुःखदायी होने लगती हैं इसलिये विधवाओंके भीतर ऐसी बुद्धि उत्पन्न करनी चाहिये कि वे सांसारिक सभी वस्तुओंको निवृत्तिकी दृष्टिसे अकिञ्चित्कर तथा दुःखपरिणामी देखें, यही वैधव्य दशामें पातिव्रत्य पालनका द्वितीय उपाय है। विधवाकी हृदयकन्दरामें निहित पवित्र प्रेमधाराको हृदयमें ही बद्ध रखकर सड़ जाने देना नहीं चाहिये, किन्तु संन्यासीकी तरह उसे 'वसुधैव कुटुम्बकम्' भावमें परिणत करना चाहिये। परिवारमें जितने बाल-बच्चे हैं सबकी माता मानो विधवा ही है इस प्रकारका भाव विधवाके हृदयमें उत्पन्न करना चाहिये। उनके हृदयमें निःस्वार्थ प्रेम तथा परोपकार प्रवृत्तिका भाव जगाना चाहिये। यही वैधव्य दशामें पातिव्रत्य रक्षाका तृतीय उपाय है। इसका चतुर्थ उपाय सबसे सहज और सबसे कठिन है। वह यह है कि पितृकुलमें यदि विधवा रहे तो उनके माता पिता और श्वसुरकुलमें रहे तो उसके सास ससुर जिस दिनसे घरमें स्त्री विधवा हो उसी दिन विलास-क्रिया छोड़ देवें। ऐसा होनेसे घरकी विधवा कभी नहीं बिगड़ सकती। उसके सामनेका ज्वलन्त आदर्श उसके चित्तको कभी मलीन नहीं होने देगा। इसका पञ्चम उपाय यह है कि जिस घरमें विधवा हो वहाँके सभी स्त्री पुरुष बहुत सावधानतासे विषयसम्बन्ध करें जिसका कुछ भी पता विधवा को न मिले। इसका षष्ठ उपाय सदाचार है। विधवा स्त्रियां आचारवती होवें, खान पान आदिके विषयमें सावधान रहें। विधवाको श्वेत वस्त्र पहिनना चाहिये और अलङ्कार धारण नहीं करना चाहिये, क्योंकि

रंगीन वस्त्र और धातुका अलङ्कार स्नायविक उत्तेजना उत्पन्न करके विधवाके ब्रह्मचर्य्य व्रतमें हानि पहुंचा सकता है। इसमें वैज्ञानिक कारण बहुत है जो कि पहिले ही कहा जा चुका है। उनको निर्लज्जा होकर इधर-उधर घूमना नहीं चाहिये। नाटक देखना, जिस तिसके मकान पर जाना और वैषयिक बातें करना और इस प्रकारकी तस्वीर या पुस्तक देखना कभी नहीं चाहिये। विधवाके खानपानकी व्यवस्था परिवारके स्वामी ही करें अन्य कोई न करे। जिस प्रकार देवताके नाम पर आई हुई वस्तु अन्य कोई नहीं खाते उसी प्रकार विधवाके लिये निर्दिष्ट वस्तुको कोई ग्रहण न करे। रातको एक दो शिशुके साथ विधवाको शयन करना चाहिये। विधवाको किसी बातकी आज्ञा करनी हो तो श्वसुर सास, माता पिता स्वयंही करें, बहू कन्या आदिके द्वारा कभी न करावें। उनको गृहकार्य्यमें उन्मुख करके सधवाओंकी सहचारिणी तथा उनपर कृपा करनेवाली बना देवें। विधवा कोई व्रत करना चाहे तो उसी समय करा देना चाहिये, उसमें कृपणता कभी नहीं करनी चाहिये। अन्यान्य सधवाओंकी अपेक्षा विधवाके व्रतोद्यापनमें अधिक व्यय तथा धूमधामसे कार्य होना चाहिये। इसका सप्तम उपाय यह है कि बालविवाह और वृद्धविवाह उठा देना चाहिये। आर्य्यशास्त्रानुसार बालिकापनमें विवाह न कराकर रजस्वलासे पहिले ही करा देना चाहिये। पुत्र होनेपर पुरुषको अन्य कारणोंसे वृद्धावस्थामें या अधिक अवस्थामें विवाह नहीं करना चाहिये। अष्टम उपाय यह है कि ब्रह्मचर्य्य और संन्यासाश्रममें पुरुषके लिये शारीरिक, वाचनिक और मानसिक जितने तपोंका विधान किया गया है और सात्त्विक भोजन, मनः संयम, सदाचारपालन आदि जितने नियम बताये गये हैं उन सबका ठीक ठीक अनुष्ठान विधवाके लिये होना चाहिये। भगवद्भजन, शास्त्रचर्चा, वैराग्यसम्बन्धी ग्रन्थोंका पठन और मनन, पतिव्रत्य-महिमाविषयक ग्रन्थोंका विचार और अध्यात्मिक उन्नतिकारी ग्रन्थों तथा उपदेशोंका श्रवण और मनन होना चाहिये। गृहस्थ दशामें पति देवताकी साकार मूर्त्तिकी उपासना थी, अब संन्यासीकी तरह वैधव्य दशामें उनके निराकार स्वरूपकी उपासना द्वारा तन्मयता प्राप्त करनेसे मुक्ति प्राप्त होगी, यह अवस्था तुच्छ विषयसुखमें मत्त गृहस्थ नरनारियोंकी अवस्थासे उन्नत और गौरवान्वित है, सदा ही उनके चित्तमें यह भाव विराजमान कराना चाहिये। जिस परमपति भगवान्की कृपासे प्रारब्धानुसार यह उन्नत साधन दशा प्राप्त हुई है उनके चरणकमलमें भक्तिके साथ नित्य बार बार प्रणाम तथा उनका नियमित ध्यान करना सिखाना चाहिये। इस सब उपायोंका अवलम्बन करनेसे घरमें विधवा स्त्री साक्षात् जगदम्बास्वरूपिणी बन जाती है। उसकी अविद्याप्रकृति लय होकर विद्याप्रकृतिका पूर्ण प्रकाश हो जाता है। ऐसी विधवा स्वयं ही भोगवासना आनन्दके साथ त्याग कर देती है; विषयका नाम लेनेसे उसको घृणा आती है, गृहकार्य्यमें परम निपुण

होती हैं; अतिथि सत्कार, अभ्यागत, कुटुम्बी आत्मीय जनोंकी संवर्धना आदि कार्य्यको परम प्रेमके साथ करने लगती है, सबल निरोग तथा तेजस्विनी सन्तानोंके प्रति मातृवत्स्नेह-शीला होती है। जिस संसारमें इस प्रकारकी विधवा विद्यमान है वहाँ एक प्रत्यक्ष देवीमूर्त्तिका अधिष्ठान समझना चाहिये। वहाँ पर सभी लोग ऋषिचरित्रके द्रष्टा तथा फलभोक्ता हैं और जहाँ इस प्रकारकी दृष्टि, भाव और फल भोग हैं वहां अदूरदर्शी व्यक्तियोंकी पाप और भ्रूणहत्याकी शंका तथा कल्पना कभी नहीं आ सकती। आर्य्यजाति ऐसी ही थी और यदि भारतको यथार्थमें उन्नत करना हो तो ऐसे आदर्शकी ही प्रतिष्ठा करनी चाहिये। अन्य किसी आदर्शके द्वारा आर्य्यजाति अपने स्वरूप पर स्थित रहकर उन्नत नहीं हो सकती। अपने जातिगत आदर्शका त्याग करके अन्य देशके आदर्शके ग्रहण करनेकी चेष्टा करनेसे संस्कारविरुद्ध होनेके कारण 'इतो नष्टस्ततो भ्रष्टः' हो जायगा। और आर्य्यजाति घोर अवनतिको प्राप्त हो जायगी। अतः आजकलके सभी नेताओंको इन सब नारीधर्म्मसम्बन्धीय विज्ञानोंका रहस्य समझकर यथार्थ उन्नतिके पुरुषार्थमें सन्नद्ध होना चाहिये।

शंका समाधान।

नारीधर्मके विषयमें आजकल अनेक प्रकारकी शंकायें प्रायः उठा करती हैं। अतः शंका समाधानरूपसे आगे कुछ विचार किया जाता है।

मनुजीने पुरुषप्रकृति व स्त्रीप्रकृति पर संयम करके दोनोंका प्रभेद देखकर स्त्रीके लिये निम्नलिखितरूपसे संस्कारोंकी आज्ञा की है। यथा :—

> अमन्त्रिका तु कार्य्येयं स्त्रीणामावृदशेषतः।
> संस्कारार्थं शरीरस्य यथाकालं यथाक्रमम्॥
> वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः।
> पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया॥
>
> (२य अ०)

शरीरकी शुद्धिके लिये यथाकाल व यथाक्रम जातकर्म्मादि सभी संस्कार स्त्रियोंके लिये भी कराने चाहिये, परन्तु उनके संस्कार वैदिकमन्त्ररहित होने चाहिये। सभी संस्कार कहनेसे यदि स्त्रियोंके लिये उपनयन संस्कारकी भी आज्ञा समझी जाय, इस सन्देहको सोचकर मनुजी दूसरे श्लोकमें कहते हैं कि स्त्रियोंका उपनयन संस्कार नहीं होना चाहिये।

विवाहसंस्कार ही स्त्रियोंका उपनयन संस्कार है। इसमें परमगुरु पतिकी सेवा ही गुरुकुलमें वास है और गृहकार्य्य ही सन्ध्या वा प्रातःकालमें हवनरूप अग्निपरिचर्या है। यही स्त्रियोंके लिये उपनयन संस्कार है। द्विज बालकोंकी तरह उपनयन संस्कार स्त्रियोंके लिये नहीं है।

स्त्रियोंके लिये वेदपाठका निषेध, इसलिये मनुजीने किया है कि 'मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा' इत्यादि महाभाष्यके प्रमाणानुसार, यदि स्वर या वर्णसे वेदमन्त्रका अशुद्ध उच्चारण हो तो वह मन्त्र यजमानका कल्याण न करके उल्टा उसका नाश करता है। स्त्रीशरीर कुछ असम्पूर्ण होनेके कारण स्त्रीके द्वारा स्वरतः वर्णतः वैदिक मन्त्रोंका ठीक ठीक उच्चारण असम्भव है, अतः जिस प्रकार शूद्रके वेदमन्त्रके उच्चारण करनेपर उसकी हानि है ऐसा ही स्त्रीके भी वेदमन्त्रोच्चारणसे उसकी बहुत हानि होगी, इसलिये मनुजीने स्त्रियोंके लिये उपनयन संस्करका पूरा निषेध और जातिकर्मादिमें वैदिक मन्त्रोच्चारणका निषेध किया है। साधारण विचारसे हो ज्ञात हो सकता है कि स्त्रियोंका कण्ठ व जिह्वा असम्पूर्ण है। उनमें उदात्त और अनुदात्त आदि वैदिक स्वरोंका ठीक ठीक प्रकट होना असम्भव है। उनका स्वर प्रायः एकही ढङ्गका होता है उसमें गुरु लघुभेद कम होता है जो कि मन्त्रोंके उच्चारणके योग्य नहीं है। असम्पूर्णस्वर व शरीरके द्वारा पूर्ण शक्तियुक्त मन्त्रोंके उच्चारण करनेसे कल्याण व शुभफलके बदले हानि व अशुभफल प्राप्त होता है इसलिये मनुजीने ऐसी आज्ञा स्त्रियोंके लिये की है। यथा—

नास्ति स्त्रीणां क्रिया मन्त्रैरिति धर्मव्यवस्थितिः।
निरिन्द्रिया ह्यमन्त्राश्च स्त्रियोऽनृतमिति स्मृतिः॥ मनु ९।१८

अर्थात् वागिन्द्रिय असम्पूर्णताके कारण वैदिक मन्त्रोंसे स्त्रियोंका संस्कार नहीं होना चाहिये। और भी महाभारत अनु० ४०।१२ में—

'निरिन्द्रिया ह्यशास्त्राश्च स्त्रियोऽनृतमिति श्रुतिः'

अर्थात् वागिन्द्रियकी असम्पूर्णताके कारण उनका वेदाधिकार नहीं है।

अब इस साधारण विधिका उल्लंघन केवल दो असाधारण दशामें हो सकता है। एक विवाह और दूसरी ब्रह्मवादिनी स्त्री दशा है। स्त्रियोंके जातकर्म्मादि संस्कारोंमें वैदिक मन्त्रोच्चारण निषद्ध होने पर भी विवाहसंस्कारके समय जो मन्त्रोच्चारणकी आज्ञा की गई है उसका उद्देश्य बहुत गम्भीर है। मन्त्र दो प्रकारके होते हैं। यथा—एक शक्तिप्रधान और दूसरा भावप्रधान। निरुक्तमें भी वर्णन है किः—

अथाऽपि कस्यचिद्भावस्याऽऽचिख्यासा।

शक्तिप्रधान मन्त्रोंके अतिरिक्त कोई कोई मन्त्र भावप्रधान भी होते हैं। शक्तिप्रधान मन्त्रोंके साथ स्थूल शरीरका और भावप्रधान मंत्रोंके साथ चित्तका सम्बन्ध प्रधानतः रहता है। जातकर्म्मादि संस्कारोंमें जो वैदिक मन्त्र आते हैं वे सब शक्तिप्रधान होनेके कारण उन्नत स्थूल शरीरवाले द्विजपुरुषोंके लिये ही विहित हो सकते हैं, अनुन्नत स्थूलशरीर स्त्रियोंके विहित नहीं हो सकते हैं। परन्तु विवाहसंस्कारके जितने मन्त्र हैं वे सभी भावप्रधान हैं। विचारवान् पुरुष सप्तपदीगमनके जितने मंत्र पढ़े जाते हैं उनपर ध्यान देनेसे ही इस बातको अच्छी तरह अनुभव करेंगे; अतः विवाहसंस्कारके मंत्रोंमें भावप्राधान्य होनेसे स्त्री पुरुष दोनों ही उन मन्त्रोंको पढ़ सकते है। आर्य्यशास्त्रोंमें विवाह संस्कार अन्य देशीय विवाहसंस्कारोंसे कुछ विलक्षण ही है। आर्य्य विवाह कामभोग द्वारा पशुभाव प्राप्त करनेके लिये नहीं है, परन्तु अद्वितीय परमात्माके वाम अंगसे जिस प्रकृतिने सृष्टिके समय निकलकर संसारमें स्त्रीपुरुषरूपी द्वितीयताको फैला दिया था, उस प्रकृतिका परमात्मामें पुनः लय साधन करके उनको उसी अद्वितीय भावमें लानेके लिये है। विवाहके सब मन्त्र इसी भावको सूचित करते हैं। यजुर्वेदमें पाणिग्रहणका एक मन्त्र मिलता है, जिसका अर्थ यह है कि "मैं लक्ष्मीहीन हूँ तुम लक्ष्मी हो, तुम्हारे बिना मैं शून्य हूँ तुम मेरी लक्ष्मी हो, मैं सामवेद हूँ तुम ऋग्वेद हो, मैं आकाश हूँ तुम पृथिवी हो और तुम व मैं दोनों मिलकर ही पूर्ण हैं। तुम्हारा हृदय मेरा हो जाय और मेरा हृदय तुम्हारा हो जाय," "अन्नरूप पाश व मणितुल्य प्राणसूत्र द्वारा और सत्यरूप ग्रन्थिसे तुम्हारे मन व हृदयका मैं बन्धन करता हूँ," "तुम्हारे केश नेत्र हस्त व पद आदि शरीरके अंगोंमें यदि कोई दोष हो, तो मैं उसे पूर्णाहुति व आज्याहुतिके द्वारा नष्ट करता हूँ," इत्यादि इत्यादि विवाहसंस्कारके मन्त्रोंसे स्पष्ट सिद्ध होता है कि विवहकालमें स्त्री पुरुष दोनोंकी ही विशेष भावशुद्धि ओर पातिव्रत्यके लक्षण व पतिमें तन्मयताकी प्राप्ति स्त्रीकी उस समय होती है। अतः पुरुषकी तरह भावप्रधान वैदिक मन्त्रोंका उच्चारण उस समय स्त्री कर सकती है। यही कारण है कि अन्य संस्कारोंमें स्त्रियोंके लिये वैदिक मन्त्रोच्चारण निषिद्ध होनेपर भी विवाहके समय वैवाहिक मन्त्रोंके उच्चारणके लिये आज्ञा की गई है।

मन्त्रोच्चारणमें दूसरा अधिकार ब्रह्मवादिनी स्त्रियोंका है। स्त्रीमें प्रकृतिका भाव अधिक होनेसे ज्ञानशक्तिके विकाशकी अपेक्षा भक्तिभाव, ममताभाव आदि अधिक रहता है, परन्तु ब्रह्मवादिनी स्त्रीकी दशा एक असाधारण दशा है जिनमें ज्ञानशक्तिका विकाश विशेष होता है। वर्णविज्ञान नामक अध्यायमें कहा जायगा कि आरूढ़पतित मनुष्यमें या पशु आदि तकमें भी साधारण प्राकृतिक नियमसे उन्नत मनुष्य या पशु आदिकी अपेक्षा विशेष योग्यता देखनेमें

आती है। इसी प्रकार ब्रह्मवादिनी स्त्रीकी दशाको भी आरूढ़पतित दशा समझनी चाहिये। साधारण रीतिसे प्रकृतिके प्रवाहमें क्रमोन्नति प्राप्त स्त्रीमें ज्ञानशक्तिका इतना विकाश कभी नहीं हो सकता है क्योंकि साधारण स्त्रीमें प्रकृतिभाव प्रधान रहता है। असाधारण ब्रह्मवादिनी स्त्रीकी दशा तभी प्राप्त हो सकती है जब किसी विशेष ज्ञानशक्तिसे युक्त पुरुषको पूर्व्वजन्मके किसी स्त्रीयोनिप्रद प्रवल कर्मके कारण स्त्रीयोनि प्राप्त हो। त्रिगुणमयी मायाके लीला विलासमय संसारमें ऐसा होना असम्भव नहीं है क्योंकि भरत ऋषि आदि महत्पुरुषोंमें भी जब मोहके सम्बन्धसे मृगयोनिकी प्राप्ति होना आदि देखा जाता है तो अच्छे पुरुषके द्वारा भ्रान्तिसे स्त्री-संस्कार-प्रधान कर्म्म होना कुछ भी असम्भव नहीं है और इसी प्रकारके कर्म्मोंसे स्त्रीयोनिका प्राप्त होना भी निश्चय है। कात्यायनसंहितामें लिखा है कि:—

मान्या चेन्म्रियते पूर्व्वं भार्य्या पतिविमानिता।
त्रीणि जन्मानि सा पुंस्त्वं पुरुषः स्त्रीत्वमर्हति॥
यो दहेदग्निहोत्रेण स्वेन भार्य्यां कथञ्चन।
सा स्त्री सम्पद्यते तेन भार्य्या वाऽस्य पुमान्भवेत्॥

यदि निर्दोषा माननीया भार्य्या पतिके द्वारा अवमानिता होकर मरे तो तीन जन्मतक वह स्त्री पुरुषयोनिको और पुरुष स्त्रीयोनिको प्राप्त होते हैं। जो पुरुष अपने अग्निहोत्रके द्वारा किसी तरहसे अपनी पत्नी का दाह करता है और उसकी स्त्री पुरुषयोनि प्राप्त होती है। दक्षसंहितामें भी लिखा है कि:—

अदुष्टाऽपतितां भार्य्यां यौवने यः परित्यजेत्।
स जीवनाऽन्ते स्त्रीत्वञ्च बन्ध्यात्वं च समाप्नुयात्॥

निर्दोषा और निष्पापा भार्य्याको जो गृहस्थ यौवनकालमें परित्याग करता है वह मृत्युके अनन्तर दूसरे जन्ममें वन्ध्या स्त्री होता है।

भागवतके पुरञ्जनाख्यानमें भी प्रमाण मिलता है। यथाः—

शाश्वतीमनुभूयाऽऽर्त्तिं प्रमदासङ्गदूषितः।
तामेव मनसा गृह्णन् बभूव प्रमदोत्तमा॥

पुरञ्जन प्रमदासङ्गके कारण बहुत दिनों तक दुःख अनुभव करके मृत्युके समय अपनी पतिव्रतास्त्रीको स्मरण करता हुआ मरा और इसी कारण उसको उत्तम स्त्रीयोनि प्राप्त हुई। स्कन्दपुराणका अरुन्धती आख्यान पहिले ही कहा जा चुका है। इन सब प्रमाणोंके द्वारा

पुरुषकी स्त्रीयोनिप्राप्ति सिद्ध होती है; अतः इस तरहसे यदि कोई ज्ञानराज्यमें उनन्नत पुरुषको भावविकारके कारण स्त्रीयोनि प्राप्त हो जाय तो पूर्व्व संस्कार ज्ञानप्रधान होनेसे वह स्त्री साधारण स्त्रियोंको सी नहीं होगी; परन्तु असाधारण ब्रह्मवादिनी स्त्री होगी और असाधारण होनेसे उसका अधिकार भी असाधारण होगा। इसलिये उन ब्रह्मवादिनी स्त्रियोंके लिये शास्त्रोंमें उपनयनसंस्कार और वेदपाठका भी विधान किया गया है। यथा महर्षि हारीतने कहा है—

> **द्विविधाः स्त्रियो ब्रह्मवादिन्यः सद्योवध्वश्च। तत्र ब्रह्मवादिनी-**
> **नामुपनयनमग्नीन्धनं वेदाऽध्ययनं स्वगृहे भिक्षाचर्य्या ॥**

दो प्रकारकी स्त्रियाँ होती हैं यथा—ब्रह्मवादिनी और सद्योवधू। इनमेंसे ब्रह्मवादिनी स्त्रियोंके लिये उपनयन, अग्नीन्धन, वेदाध्ययन और निजगृहमें भिक्षाचर्य्या विहित है। सद्योवधू स्त्रियोंके लिये ऐसी विधि नहीं है उनके लिये विवाह ही उपनयनसंस्कार और पतिसेवा गुरुकुलवास आदि धर्म्म है जैसा कि मनुजीने बताया है। प्राचीनकालमें ज्ञानकी प्रधानता थी इसलिये ज्ञानोन्नत पुरुष अनेक थे और इसी कारण उस प्रकारकी आरूढ़पतिता ब्रह्मवादिनी स्त्रियाँ भी मिलती थीं एवं उसीलिये उन स्त्रियोंके अर्थ उपनयन और वेदपाठ आदिका विधान भी था। अब इस युगमें ज्ञानका ह्रास हो गया है अतः विशेष ज्ञानोनन्नत पुरुष विरले ही मिलते हैं और आरूढ़पतिता ब्रह्मवादिनी स्त्रियाँ भी नहीं मिलती हैं। इसी कारण स्त्रियोंके लिये कलियुगमें उपनयन और वेदपाठ आदि निषिद्ध हैं। महर्षि यमने भी लिखा है किः—

> **पुरा कल्पे कुमारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते।**
> **अध्यापनञ्च वेदानां साविन्नीवचनं तथा ॥**
> **पिता पितृव्यो भ्राता वा नैनामध्यापयेत्परः।**
> **स्वगृहे चैव कन्याया भैक्ष्यचर्य्या विधीयते ॥**
> **वर्ज्जयेदजिनं चीरं जटाधारणमेव च ॥**

पूर्व कल्पमें कुमारियोंका मौञ्जीबन्धन, वेदाध्ययन व सावित्री वचन इष्ट था। पिता पितृव्य या भ्राता उनको वेद पढ़ाते थे। दूसरे किसीका अधिकार उनको वेद पढ़ानेका नहीं था। अपने ही घरमें भीक्षाचर्य्याकी व्यवस्था थी। उनके लिये मृगचर्म्म, कौपीन या जटाधारणकी आज्ञा नहीं थी। यह सब पूर्व्वयुगके लिये व्यवस्था है जैसा महर्षि यमने कहा है। और यह भी व्यवस्था ब्रह्मवादिनी स्त्रियोंके लिये है, सद्योवधू-साधारण स्त्रियोंके

लिये नहीं है जैसा कि कारण बताकर पहिले कहा गया है। विधि साधारण प्रकृतिको देखकर ही हुआ करती है, असाधारणको देखकर नहीं हुआ करती है। कहीं एक दो स्त्री ब्रह्मवादिनी निकलें और वे वेदपाठ आदिकी शक्ति रखती हों, इससे यह नियम सबके लिये नहीं हो सकता है। सबके लिये असाधारण नियमकी आज्ञा होनेसे पूर्व्व सिद्धान्तानुसार अनधिकारी व्यक्तिके शक्तिमान् वैदिक मन्त्रादि पढ़नेपर कल्याण न होकर अकल्याण ही होगा। अतः विचारवान् पुरुषोंको इन सब सिद्धान्तोंपर विचार करके सावधान रहना चाहिये। मनुजीने जो उपनयन आदिका एकबारगी निषेध किया है सो साधारण विधिके विचारसे ही किया है और हारीत व यम ऋषिने साधारण असाधारण दोनों अधिकारोंका ही विचार करके कलियुगकी स्त्रियोंके लिये साधारण विधि ही समीचीन बताई है।

आजकल अवरोधप्रथा अर्थात् स्त्रियोंके पर्देके विषयमें अनेक शंकायें फैल गई हैं। अतः इस विषयमें विचार किया जाता है। सती-जीवनमें श्रीके साथ ही (लज्जा) का भी मधुर विकाश नयनगोचर होता है। चण्डी (सप्तशती) में कहा है किः—

या देवी सर्व्वभूतेषु लज्जारूपेण संस्थिता।

मनुष्योंमें लज्जा देवीका भाव है। स्त्रीजातिमें देवीभाव नैसर्गिक होनेसे लज्जा भी नैसर्गिक है। सतीत्वके उत्कर्षके साथ साथ देवीभावका अधिक विकाश होनेसे स्त्रीकी भी पूर्णता होती है सती स्त्री स्वभावतः ही विशेष लज्जाशीला हुआ करती हैं लज्जाका कारण अनुसन्धान करनेसे यही प्रतीत होता है कि पशुधर्मके प्रति मनुष्योंकी जो स्वाभाविकी घृणा है वही लज्जाका कारण है। मनुष्यप्रकृतिमें पशुत्वका आवेश अनुभव करनेसे ही लज्जाका उदय हुआ करता है। पशुप्रकृतिमें लज्जा नहीं है, पशु निर्लज्ज होकर आहार, निद्रा, मैथुनादि करता है। मनुष्य पशु नहीं है, इसलिए मनुष्यको स्वभावतः इन सब कार्य्योंको करते हुए लज्जा आती है। पुरुषमें देवीभाव (प्रकृतिभाव) से पुरुषभावकी अधिकता होनेसे पुरुषको इन सब कार्य्योंमें स्वभावतः लज्जा कम होती है; परन्तु स्त्रीमें पुरुषभावसे देवीभाव (प्रकृतिभाव) की अधिकता होनेसे स्त्रीको इन सब कार्य्योंमें स्वभावतः अधिक लज्जा होती है। पुरुषप्रकृतिका यही प्रभेद है। इसी प्रभेदको रखते हुये दोनों अपने अपने अधिकारके अनुसार पूर्णताको प्राप्त कर सकते हैं। पुरुष अपने ज्ञानस्वरूपकी ओर अग्रसर होता हुआ अन्तमें भेदभाव विस्मृत हो लज्जारूप पाशको काट सकता है; परन्तु स्त्रीकी पूर्णता तभी होगी जब स्त्री अपने लज्जामूलक देवीभावको पूर्णतापर पहुंचावेगी। देवीभावकी पूर्णता पातिव्रत्यकी पूर्णतासे होती है इसलिए लज्जाशीलता सतीधर्मका लक्षण है। निर्लज्जा स्त्री सती नहीं हो सकती है। लज्जा स्त्रीजातिका भूषण है, इसके न होनेसे

स्त्रीका स्त्रीभाव ही नहीं रहता है। लज्जाके बलसे स्त्री अपने पातिव्रत्यधर्मको भी ठीक ठीक पालन कर सकती है। स्त्रीको पुरुषका अधिकार या पुरुषकी तरह शिक्षा देकर अथवा ऐसा ही आचार सिखाकर निर्लज्ज बनानेसे उसकी बड़ी भारी हानि होती है। ऐसी निर्लज्जा स्त्रियोंके द्वारा उत्तम सतीका धर्म्मपालन होना असम्भव हो जाता है क्योंकि जो आचार प्रकृतिसे विरुद्ध है उसके द्वारा कदापि किसीकी उन्नति नहीं हो सकती है। लज्जा जब स्त्रीजातिका स्वाभाविक भाव है तो इसके नष्ट करनेसे स्त्रीकी कभी उन्नति नहीं हो सकती है, अधिकन्तु प्रकृतिपर बलात्कार होनेके कारण अवनति होना हो निश्चय है। इसमें और भी बहुतसे कारण हैं जो नीचे दिखाये जाते हैं।

पाश्चात्य देशोंमें स्त्री पुरुषका साथ बैठकर भोजन, आलाप और एकत्र भ्रमण आदि आचार विद्यमान हैं, इसी कारण वहांकी स्त्रियोंमें निर्लज्जता व पुरुषभाव अधिक है और पातिव्रत्यकी महिमापर भी दृष्टि कम है। उत्तम सतीका क्या भाव है और पतिके साथ सहमरण कैसा होता है, पाश्चात्य स्त्रियां स्वप्नमें भी इन बातोंका अनुभव नहीं कर सकती हैं। आर्यशास्त्रोंमें पातिव्रत्यके बिना स्त्रीका जीवन ही व्यर्थ है ऐसा सिद्धान्त सुनिश्चित किया गया है; इसलिये अवरोधप्रथा (Purdah System) आदिके द्वारा आर्य्य नारियोंमें लज्जाभावकी रक्षाके लिये प्रयत्न किया गया है और इसीलिये स्त्री पुरुषोंको एकत्र भोजन व भ्रमण आदिका आर्य्यशास्त्रोंमें विधान नहीं किया गया है। यथा—मनु ४। ४३—

'नाश्नीयाद् भार्यया सार्द्धं नैनामीक्षेत चाश्नतीम्'

स्त्रीके साथ एकत्र भोजन और उनको भोजन करती हुई नहीं देखना चाहिये।

आजकल धर्मभावहीन पाश्चात्य शिक्षाके द्वारा विकृतमस्तिष्क कोई कोई मनुष्य अवरोधप्रथाको नष्ट करके स्त्रियोंको निर्लज्ज बनाना, पुरुषोंके भीतर निरंकुशभावसे भ्रमण या नृत्य, गीत, वाद्य अथवा नाटकादि उनसे कराना और विदेशीय नर नारियोंकी तरह उनका हाथ पकड़कर डोलते रहना या हवाखोरी करने जाना आदि बातोंको सभ्यताका लक्षण और स्त्रियोंपर दया समझते हैं और इससे विरुद्ध सनातन अवरोधप्रथाको उनपर अत्याचार, अन्याय व निर्दयता समझते हैं। विचार करनेसे स्पष्टरूपसे सिद्ध होगा कि उन उन लोगोंकी इस प्रकारकी धारणा नितान्त भ्रममूलक है। किसीपर दया करना सदा ही अच्छा है, परन्तु जिस दयाके मूलमें विचार नहीं है उससे कल्याण न होकर अकल्याण ही होता है। स्त्रीजातिपर दया करना अच्छा है; परन्तु जिस दयासे पातिव्रत्यका मूल ही कट जाय, स्त्रीभाव नष्ट होजाय और संसारमें अनर्थ उत्पन्न हो, वह दया दया नहीं है, अथच वह महापाप है। ज्ञानमय आर्य्यशास्त्र इस प्रकारकी मिथ्या दयाके लिये आज्ञा नहीं दे सकता

है और घरकी स्त्रियोंको निर्लज्ज बना कर बाहर न निकलनेसे निष्ठुरता होती है इसलिये सनातन अवरोधप्रथा निष्ठुरतासे भरी हुई है ऐसा लाञ्छन जो लगाया जाता है वह भी सम्पूर्ण भ्रममूलक है; क्योंकि विचार करनेपर सिद्धान्त होगा कि आर्य्यशास्त्रोंमें स्त्रीजातिका जितना गौरव बढ़ाया गया है ऐसा और किसी देश या जाति या शास्त्रमें नहीं है। अन्य देशोंमें स्त्री पुरुषके विषयविलासमें सहचरी है और आर्य्यजातिमें भार्य्या समस्त गार्हस्थ्य धर्म्ममें सहधर्मिणी व अर्द्धांशभागिनी है। अन्य जातियोंमें स्त्रीशरीर कामका यन्त्ररूप है और आर्य्यजातिमें स्त्री जगदम्बारूपिणी है जिनकी प्रत्येक दशाकी दिव्यभावके साथ पूजा करनेसे साधकको मुक्तिलाभ हो सकता है। स्त्रियोंके प्रकृतिरूपिणी होनेसे उनकी प्रत्येक दशाको देवीभावसे पूजनेकी विधि आर्य्यशास्त्रोंमें बताई गई है। दशमहाविद्याकी दशमूर्ति दिव्यभावमें स्त्रीकी दश दशाकी ही सूचना करती है और प्रत्येक दशाकी पूजा हुआ करती है। दशमहाविद्याओंमें से कुमारी गौरी रूपिणी है, युवती गृहिणी षोडशी व भुवनेश्वरी आदि-रूपिणी है और वृद्धा व विधवा धूमावतीरूपिणी है, यहां तक कि रजस्वला भी त्रिपुरामयी छिन्नमस्तारूपिणी है ऐसा सिद्धान्त आर्य्यशास्त्रोंका है। देवीभागवतमें लिखा है कि:—

सर्व्वाः प्रकृतिसम्भूता उत्तमाऽधममध्यमाः।
योषितामवमानेन प्रकृतेश्च पराभवः॥
रमणी पूजिता येन पतिपुत्रवती सती।
प्रकृतिः पूजिता तेन वस्त्राऽलङ्कारचन्दनैः॥
कुमारी चाऽष्टवर्षा या वस्त्राऽलङ्कारचन्दनैः।
पूजिता येन विप्रेण प्रकृतिस्तेन पूजिता॥
कुमारी पूजिता कुर्य्याद्दुःखदारिद्रयनाशनम्।
शत्रुक्षयं धनाऽऽयुष्यं बलवृद्धिं करोति वै॥

उत्तम मध्यम व अधम सभी स्त्रियाँ प्रकृतिके अंशसे उत्पन्न होती हैं। प्रकृतिमाताकी ही रूप होनेसे स्त्रियोंके निरादर व अवमाननासे प्रकृतिकी अवमानना होती है। पतिपुत्रवती सतीकी पूजासे जगदम्बाकी पूजा होती है। गौरी या कुमारीकी पूजासे प्रकृतिकी पूजा होती है जिससे गृहस्थका दुःख दारिद्रयनाश, शत्रुनाश और धन, आयु व बलकी वृद्धि होती है। आर्य्यशास्त्रोंमें स्त्रियोंका यही स्वरूप वर्णन किया गया है और इसलिये उनकी रक्षा व गौरव वृद्धि करनेकी इतनी विधि बताई गई है। परन्तु जिनको जगदम्बाका रूप समझ कर पूजा करनेकी आज्ञा शास्त्र दिया करता है उनको निर्लज्जा होकर बाजारमें घूमनेकी आज्ञा या

रूप बनाकर पुरुषोंके सामने नाटक करनेकी आज्ञा आर्य्यशास्त्र नहीं दे सकता है। ऐसी आज्ञा दया नहीं होगी; परन्तु स्त्रीधर्म्मकी सत्ताका नास, पातिव्रत्यरूपी कल्पतरुके मूलमें कुठाराघात और जगदम्बापर मूर्खतामूलक अत्याचार होगा। प्रकृतिकी पूजा करनेकी आज्ञा देनेवाला आर्य्यशास्त्र ऐसी आज्ञा कभी नहीं कर सकता है। जो वस्तु जिसकी प्रिय होती है वह उसकी रक्षा भी यत्नसे करता है। धन और अलङ्कारादि प्रिय वस्तुओंको गृहस्थ लोग बहुत यत्नके साथ छिपाके ही रखते हैं, बाजारमें फेंक नहीं देते हैं यदि आर्य्यजाति अपनी माताओंको निर्लज्जकी तरह बाजारमें नहीं घुमाती है तो इससे आर्यजातिकी माताओंके प्रति उपेक्षा वा निर्द्दयता प्रकट नहीं होती है बल्कि प्रेम और भक्तिभाव ही प्रकट होता है। द्वितीयतः उनको यदि पुरुष हाथ पकड़कर भ्रमण करावें तो इससे स्त्री तथा पुरुष दोनों ही की बहुत हानि होगी। यथा—It was discovered that certain subjects, more especially women, could produce changes in the aura by an effort of will, causing rays to issue from the body or the colour of the aura to alter, (Aurospect by Stanley Red grove Kalpaka—अर्थात् बहुत सी वस्तु, खास कर स्त्रियाँ पुरुषकी 'अरा' अपनी इच्छा शक्तिसे बदल देती हैं, पुरुषके शरीरसे मनोवेगकी शिखायें निकलने लगती हैं, 'अरा' का रङ्ग भी बदल जाता है। शास्त्रमें भी कहा है—

"सङ्गात्सञ्जायते कामः"
"हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाऽभिवर्द्धते"

काम आदि वृत्तियां सङ्गके द्वारा अधिक हुआ करती हैं, घटती नहीं हैं। अग्निमें प्रक्षिप्त घृतकी तरह सङ्गद्वारा काम बढ़ता जाता है इसलिये स्त्रीके साथ एकत्र रहनेका अवसर जितना अधिक होगा ऊतना ही दिव्यभाव नष्ट होकर पशुभावकी वृद्धि होगी इसमें कोई सन्देह नहीं है और यह भी सिद्धान्त पूर्ण सत्य है कि जिस स्त्रीको अनेक पुरुष कामभाव व कामादृष्टिसे देखते हैं उसके पातिव्रत्यमें अवश्य ही हानि होती है। मानसिक व शारीरिक बिजली की शक्ति आँखसे, स्पर्शसे या केवल चित्तके द्वारा ही अन्य व्यक्तिपर अपना प्रभाव डालकर कैसे उसको अभिभूत कर सकती है इसका वर्णन पहिलेही आचुका है। अतः जिस स्त्रीके शरीरपर कामुक पुरुष कामशक्तिके द्वारा कामभावसे दृष्टि डालेंगे उसके पातिव्रत्यमें धीरे धीरे हानि हो सकती है। अन्य पुरुषके नेत्रकी या मनकी तामसिक शक्तिके प्रभावसे स्त्रीका चित्तचाञ्चल्य होना व सतीधर्म्मका गाम्भीर्य्य नष्ट होना अवश्य निश्चित है। इसलिये अवरोधप्रथाको तोड़कर, स्त्रियोंको निर्लज्जा हो पुरुषोंको बीचमें रहनेकी और बाजारमें घूमनेकी आज्ञा देनेसे आर्य्यस्त्रियोंमें से पातिव्रत्यधर्म्म धीरे धीरे नष्ट हो जायगा,

इसमें कोई भी सन्देह नहीं है। पाश्चात्य देशमें इस प्रकार निरंकुश घूमनेके कारण ही वहांकी स्त्रियाँ पातिव्रत्यकी महिमाको नहीं जानती हैं। अतः विचारवान् पुरुषोंको इन सब अनर्थकर कदाचारोंसे सदा सावधान रहना चाहिये। देवीभागवतके तृतीयस्कन्धके २० बीसवें अध्यायमें इसी विषयका एक प्रमाण दिया गया है। वहाँ शशिकला नाम्नी एक कन्या अपने पिताको उस स्वयंवर सभामें भेजनेके लिये मना कर रही है और कह रही है कि स्वयंवर-सभामें राजाओंकी कामदृष्टिसे उसके पातिव्रत्यमें हानि होगी।

शोककी बात है कि एक क्षत्रिय-कन्या जिन बातोंको विचार करके निर्णय कर सकती थी आजकलके अनेक विद्याभिमानी उनपर सन्देह करने लग गये हैं। अवरोधप्रथाकी पुष्टि वेदादि शास्त्रोंमें भी की गई है। ऋग्वेदके अष्टम मण्डलके चौथे अध्यायके २६ वें सूक्तमें लिखा है कि:—

यो वां यज्ञेभिरावृतोऽधिवस्त्रा वधूरिव।

वस्त्र द्वारा आवृता वधूकी तरह यज्ञके द्वारा जो आवृत है। इस प्रकार कहकर अवरोधप्रथाका ही समर्थन किया गया है। रामायणके कई एक स्थानोंमें अवरोधप्रथाकी बातें लिखी हुई हैं। यथाः—

या न शक्या पुरा द्रष्टुं भूतैराकाशगैरपि।
तामद्य सीतां पश्यन्ति राजमार्गगता जनाः॥

श्रीभगवान् रामचन्द्रके साथ सती सीताको वनवासके लिए राजपथसे जाती हुई देखकर अयोध्यावासियोंने कहा कि "पहिले जिस सीतादेवीको खेचर जीव भी नहीं देखने पाते थे उसी माताको आज राजमार्गके पथिकगण भी देखने लगे।" मृतपति रावणको देखकर मन्दोदरी विलाप करती हुई कह रही है कि:—

दृष्ट्वा न खल्वसि क्रुद्धो मामिहाऽनवगुण्ठिताम्।
निर्गतां नगरद्वारात् पद्भ्यामेवाऽऽगतां प्रभो॥
पश्येष्टदार ! दारांस्ते भ्रष्टलज्जाऽवगुण्ठनान्।
बहिर्निष्पतितान्सर्व्वान्कथं दृष्ट्वा न कुप्यसि॥

हे स्वामिन् ! मैं तुम्हारी महिषी होनेपर भी अवगुण्ठन (घुंघट) त्याग करके आज नगरसे बाहर पैदल यहाँ आई हूँ इसको देखकर भी क्या तुम्हें क्रोध नहीं होता है। यह देखो तुम्हारी सब स्त्रियाँ आज लज्जा व अवगुण्ठनको त्याग करके बाहर आगई हैं, ऐसा देखकर

भो तुम्हें क्रोध क्यों नहीं हो रहा है ? इन सब प्रमाणोंके द्वारा प्राचीनकालमें रूपान्तरसे अवरोधप्रथा थी ऐसा निश्चय होता है। मालविकाग्निमित्र व मृच्छकटिक आदि काव्य और उपन्यास ग्रन्थोंसे भी हजार वर्षके पहले यहाँ पर अवरोधप्रथा प्रचलित थी ऐसा सिद्ध होता है। सीता, सावित्री व दमयन्ती आदि सतियाँ जो अपने पतिके साथ बाहर गईं थी उसका विशेष कारण था। घटनाचक्रसे उनको ऐसा करना पड़ा था। जैसा कि रामायण ६।११४ में श्रीरामचन्द्र भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

व्यसनेषु न कृच्छ्रेषु न युद्धेषु स्वयंवरे।
न क्रतौ नो विवाहे च दर्शनं दुष्यति स्त्रियाः॥

अर्थात् दृष्टिवियोग, राजविकल्पव, युद्धक्षेत्र, स्वयम्बर, यज्ञशाला और विवाहमण्डपमें पर्देकी आवश्यकता नहीं है हाँ, इतना तो मानना ही पड़ेगा कि आर्य्यजातिमें स्त्रियोंकी शील-रक्षा व स्त्रियोंके लिये अन्तःपुरका निवास और अवरोधप्रथा यथाविधि प्रचलित रहने पर भी इस समय जो भारतवर्षके किसी किसी देशमें कठिन पर्देकी रीति जेलखानेकी तरह प्रचलित है सो आर्य्यरीति नहीं है। यह कठिन रीति यवन-साम्राज्यके कठिन समयमें उनके ही अनुकरण पर प्रचलित हुई है सो उनकी कठिनता अवश्य त्याग करने योग्य है। और दूसरा आज कल भारतके किसी प्रान्तमें जो अवरोधप्रथामें शैथिल्य देखनेमें आता है वह सब आधुनिक व अनार्य्यभावमूलक है इसलिये वह भी अनुकरण करने योग्य नहीं है। अवरोध-प्रथा सम्पूर्णरूपसे विज्ञानसिद्ध और सतीधर्म्मके अनुकूल है। इसके यथा शास्त्र पालन करनेसे भारतमहिलाओंकी सब प्रकारसे उन्नति और आर्य्यगौरवकी वृद्धि होगी इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं है। और यही कारण है कि अपनी जातिमें प्रचलित न होने पर भी दूरदर्शी पश्चिमी विद्वानोंने अन्तःपुर प्रथाकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा की है। यथा—

Their very aloofnees, their seclusion gives them half their charm and they know it. Not for them, for instance the dismal method oj American Schools where mixed elasses and common play-grounds rub away all the attraction of the sexes. In India women are so much valued and attain half their power. because they are noly occasiona-lly seen and seldom met (Otto Rothfield).

The reputation of a woman is as a crystal mirror, shining and bright, but liable to be sullied by every breath that comes near it. (Cervantes).

She is not made to be the admiration of every body but the happiness of our. (Burk).

A woman smells sweetest, when she smells not at all. (Plautus).
Woman is flower that breathes its perfume in the shade only.
(Lamenneis)

The flower of sweetest smell is shy and lovely. (Wordsworth).
अन्तःपुरमें छिपी रहनेसे ही हिन्दू स्त्रियोंकी शोभा बढ़ जाती है। उनके लिये अमेरिकाके स्कूलोंकी भद्दी प्रथा नहीं है, जहांपर स्त्री पुरुषोंकी एक साथ पढ़ाई तथा खेल होनेसे उनकी आकर्षण शक्ति ही नष्ट हो जाती है। भारतवर्षमें स्त्रियाँ रत्नकी तरह मूल्यवान् वस्तु इसलिये हैं कि वे अन्तःपुरमें रहती हैं और कभी कभी दृष्टिपथमें आती हैं। (अटो रथफील्ड)।

स्त्रीजातिकी कीर्ति स्फटिक दर्पणकी तरह है, जो कितनी ही उज्ज्वल तथा चमकती हुई, दूसरेके श्वाससे भी मलिन होने लगती है। (सर् भान्टे)।

स्त्रीका जन्म जगत्को मुग्ध करनेके लिये नहीं, किन्तु अपने पतिदेवताको सुख देनेके लिये ही होता है। (एडमांड बर्क)।

स्त्रीजाति फूलकी तरह है जिसकी गन्ध एकान्तमें ही अच्छी फैलती है, और बहुत दूर तक नहीं फैलती है। उत्तम गन्धवती कुसुमकुमारी सदा लज्जावती ही होती है। (टप्लस्, लेमेनिस, वर्ड्सवर्थ)।

अर्वाचीन पुरुषोंने नियोगविधिको सर्व-साधारण धर्म्म प्रमाण करनेके लिये बहुत ही क्लिष्ट कल्पना की है। कहीं कहीं उन्होंने वेद स्मृत्यादि शास्त्रोंसे भी प्रमाण उठाकर उनके मिथ्या अर्थ किये हैं परन्तु यदि उनको यह विचार होता कि "स्मृतियोंकी आज्ञा देश काल पात्रानुसार लक्ष्य स्थिर रखकर सामञ्जस्यके साथ ही मानी जासकती है और आज्ञा यथार्थ होने पर भी यदि देश काल व पात्र उपयोगी न हो तो उसका उपयोग नहीं हो सकता है" तो उनको इस विषयमें इतना भ्रम नहीं होता। अब नीचे स्मृतिसम्मत नियोगका पालन वर्तमान युगमें हो सकता है या नहीं इसीपर विचार किया जाता है। नियोगके विषयमें संहिताके ९म अध्यायमें कहा है कि:—

देवराद्वा सपिण्डाद्वा स्त्रिया सम्यङ्नियुक्तया।
प्रजेप्सिताऽधिगन्तव्या सन्तानस्य परिक्षये॥

विधवायां नियुक्तस्तु घृताऽऽक्तो वाग्यतो निशि।
एकमुत्पादयेत्पुत्रं न द्वितीयं कथञ्चन॥

यदि अपने पतिके द्वारा सन्तानोत्पत्ति न हुई हो तो स्त्री देवर अथवा अन्य किसी सपिण्ड पुरुषसे नियोग कराकर सन्तान लाभ करे। रातको सर्व्वाङ्गमें घृत लेपन करके मौन हो सगोत्र नियुक्त पुरुष विधवा स्त्रीमें एक ही पुत्र उत्पन्न करे, दूसरा पुत्र कभी उत्पन्न न करे। इस प्रकार नियोगकी विधि बताकर मनुजीने इसको पशु-धर्म्म कहकर इसकी बड़ी निन्दा की है। यथा :—

नाऽन्यस्मिन्विधवा नारी नियोक्तव्या द्विजातिभिः।
अन्यस्मिन्हि नियुञ्जाना धर्म्मं हन्युः सनातनम्॥
नोद्वाहिकेषु मन्त्रेषु नियोगः कीर्त्यते क्वचित्।
न विवाहविधावुक्तं विधवाऽऽवेदनं पुनः॥
अयं द्विजैर्हि विद्वद्भिः पशुधर्म्मो विगर्हितः॥

(९ म अ०)

द्विजगणको विधवा या निस्सन्ताना स्त्रीका नियोग कदापि नहीं करना चाहिये क्योंकि पतिके सिवाय अन्य किसी पुरुषमें नियुक्त होनेसे सनतान एक पतिव्रतधर्म्मकी हानि होती है। विवाहक्रियाके लिये जितने वैदिक मन्त्र हैं उनमें नियोगकी आज्ञा कहीं नहीं पाई जाती है और इसी प्रकार वैदिक मन्त्रोंमें विधवाविवाह भी कहीं नहीं लिखा है। शास्त्रज्ञ द्विजगण नियोगको पशुका धर्म्म कहकर निन्दा करते हैं। इसी प्रकार अन्यान्य स्मृतियोंमें भी नियोगकी अत्यन्त निन्दा की गई है। मनुष्य पशु नहीं हैं, इसलिये पशुका जो धर्म्म है सो मनुष्योंके लिये विहित नहीं हो सकता है। इसके सिवाय मनुष्योंमें श्रेष्ठ जो आर्य्यजाति है उसमें पशुधर्म्मको जो आज्ञा देता है उसके सदृश पापी संसारमें और कौन हो सकता है। इन सब विचारोंके अतिरिक्त नियोगकी विधि वर्त्तमान देशकाल व पात्रमें सम्पूर्ण असम्भव होनेसे सर्व्वथा परित्याज्य है। नियोगके लिये घृताक्त होकर सम्बन्ध करनेकी जो आज्ञा मनुजीने की है उसका कारण यह है कि नियोगमें साधारण स्त्री-पुरुष, सम्बन्ध की तरह कामभोगका सम्बन्ध ही नहीं है; इसलिये गर्भाधानके अर्थ इन्द्रियके स्पर्श होनेसे सिवाय और किसी अङ्गका स्पर्श न हो इस कारण ही घृताक्त होने की आज्ञा की गई है। मनुजीने कहा है कि :—

भ्रातुर्ज्येष्ठस्य भार्य्या या गुरुपत्न्यनुजस्य सा।
यवीयसस्तु या भार्य्या स्नुषा ज्येष्ठस्य सा स्मृता ॥

देवरके लिये ज्येष्ठ भ्राताकी स्त्री गुरुपत्नीतुल्या है और कनिष्ठ भ्राताकी स्त्री ज्येष्ठ भ्राताके लिये पुत्रवधूतुल्या है। अतः मनुजीकी आज्ञानुसार इनमें कामभोग सम्बन्ध होना अतीव गर्हित व पापजनक है। इसलिये सन्तानके लिये नियोगकी आज्ञा होनेपर भी नियोगमें कामका वर्ताव होना सर्व्वथा पापजनक व निषिद्ध है। मनुसंहितामें लिखा है कि :—

विधवायां नियोगाऽर्थे निवृत्ते तु यथाविधि।
गुरुवच्च स्नुषावच्च वर्त्तेयातां परस्परम् ॥
नियुक्तौ यौ विधिं हित्वा वर्त्तेयातान्तु कामतः।
तावुभौ पतितौ स्यातां स्नुषागगुरुतल्पगौ ॥

यथाविधि नियोगका प्रयोजन सिद्ध हो जानेपर भ्राता व भ्रातृवधू पुनः पूर्व्व सम्बन्धके अनुसार वर्ताव करें। नियुक्त ज्येष्ठ व कनिष्ठ भ्राता नियोग-विधिको छोड़करके यदि कामका बर्ताव करें तो पुत्रवधूगमन व गुरुपत्नीगमनके कारण दोनों ही पतित हो जाते हैं। अब विचार करनेकी बात है कि इन्द्रियोंका सम्बन्ध करते हुये भी और स्त्रीके सामने रहते हुये भी पुरुषको काम नहीं होगा ऐसा नियोग इस कलियुगमें सम्भव है ही नहीं। प्रथम तो नियोगकी रीति काम मोहित जीवके लिये अतिशय कठिन है। दूसरी बात यह है कि अध्यात्मिक उन्नतिशील ब्राह्मण जातिमें इसकी प्रथा प्राचीन युगोंमें भी नहीं देखनेमें आती है। तीसरी बात यह कि ऐतिहासिक वंशकी रक्षाके लिये कहीं-कहीं प्राचीन ग्रन्थोंमें इसका परिचय मिलता है। चौथी बात यह है कि यह आपद्धर्म मूलक पशु धर्म था, सद्धर्म नहीं था।

कलियुगका देशकाल हीन है तथा गर्भाधान आदि संस्कारोंके नष्ट होनेसे और पिता माताके पाशविक कामोन्मादके द्वारा सन्तानकी उत्पत्ति होनेसे कलियुगमें साधारणतः शरीर कामज होता है। अतः इस प्रकारके शरीरमें स्त्रीसे सम्बन्ध करते समय नियोग-विधिके अनुकूल धैर्य्य रखना व कामभोगका अभाव होना सम्पूर्ण असम्भव है। इसलिये और युगोंमें नियोगकी विधि प्रचलित थी ऐसा प्रमाण शास्त्रोंमें मिलनेपर भी कलियुगमें नियोग नहीं चल सकता है और इसीलिये महर्षियोंने नियोगकी निन्दा करते हुये कलियुगमें इसका पूर्ण निषेध किया है। यथा बृहस्पति कहते हैं कि :—

उक्तो नियोगो मुनिना निषिद्धः स्वयमेव तु ।
युगक्रमादशक्योऽयं कर्त्तुमन्यैर्विधानतः ॥
तपोज्ञानसमायुक्ताः कृतत्रेतायुगे नराः ।
द्वापरे च कलौ तेषां शक्तिहानिर्हि निर्म्मिता ॥
अनेकधा कृताः पुत्रा ऋषिभिश्च पुरातनैः ।
न शक्यन्तेऽधुना कर्त्तुं शक्तिहीनैरिदन्तनैः ॥

मनुजीने नियोगकी आज्ञा देकर पुनः उसकी निन्दा स्वयं ही की है क्योंकि युगानुसार शक्तिके ह्रास होनेसे मनुष्य पहिलेकी तरह नियोग अब नहीं कर सकते हैं। सत्य, त्रेता, द्वापर युगोंमें मनुष्य तपस्वी ज्ञानी थे; परन्तु कलियुगमें त्रेतादि युगोंकी वह शक्ति नष्ट हो गई है इसलिये महर्षिगण पहले जिस प्रकार नियोगादिसे सन्तान उत्पन्न कराते थे वह अब शक्तिहीन कलियुगके मनुष्योंसे नहीं हो सकता है।

अतः आदित्यपुराणमें लिखा है कि :—

एतानि लोकगुप्त्यर्थं कलेरादौ महात्मभिः ।
निर्वर्त्तितानि कार्य्याणि व्यवस्थापूर्व्वकं बुधैः ॥

महात्मागणने संसारकी रक्षाके लिये इसी कारण कलियुगके आदिमें व्यवस्थापूर्वक इन कार्य्योंका निषेध किया है। ऊपर लिखित युक्ति व प्रमाणोंसे कलियुगमें नियोग सर्वथा असम्भव सिद्ध होनेसे परित्याज्य है।

नियोगके ऊपर लिखित रहस्यको न समझकर अर्वाचीन पुरुषोंने इस विषयमें अनेक महापापजनक कल्पनाएं की हैं और अपनी पापमयी कल्पनाकी चरितार्थताके लिये वेदमन्त्र तथा स्मृतियोंके श्लोकोंका बड़ा ही झूठा अर्थ किया है। उन्होंने एक स्थानपर लिखा है— 'गर्भवती स्त्रीसे एक वर्ष समागम न करनेके समयमें पुरुषसे वा दीर्घरोगी पुरुषकी स्त्रीसे न रहा जाय तो किसीसे नियोग करके उसके लिये पुत्रोत्पत्ति करदें।' थोड़ी बुद्धिवाले मनुष्य भी समझ सकते हैं कि इससे अधिक व्यभिचारवृद्धिकारी महापापमयी व्यवस्था और कुछ भी नहीं हो सकती है एक तो 'न रहा जाय' इन शब्दोंके द्वारा नियोगका लक्ष्य ही भ्रष्ट कर दिया गया, क्योंकि नियोग कामभावसे नहीं होता है, केवल सन्तानोत्पत्तिके लिये होता है, कामभावजन्य नियोग, नियोग नहीं है प्रत्यक्ष व्यभिचार है, जैसाकि मनुजीने कहा है। और द्वितीयतः गार्हस्थ्यधर्म-पालनमें रत स्त्री पुरुष यदि इतना भी संयम न कर सके कि स्त्रीकी गर्भावस्थामें एक वर्षतक जितेंद्रिय रहे और रोगी पतिको रुग्णावस्थामें

फेंककर स्त्री उनके सामने परपुरुष गमन करे, तो इससे अधिक पशुभाव और घृणित नारकियोंका भाव और क्या होगा। अतः अर्वाचीन पुरुषोंने इसी पापमयी कल्पनाके द्वारा केवल नियोगविधिको ही भ्रष्ट नहीं किया है, अधिकन्तु अपने सम्प्रदाय, सम्प्रदायके माननेवाले तथा अपने ग्रन्थको भी कलंकित किया है, इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं है। अब उनके दिये मन्त्रोंपर विचार करते हैं। एक मन्त्र यह है—

इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु।
दशास्यां पुत्रानाधेहि पतिमेकादशं कृधि॥

ऋ० मं० १० सू० ८५ मं० ४५

यह मन्त्र विवाहमें आशीर्वाद देनेके लिये कहा जाता है, नियोगके लिये नहीं। इसका इस प्रकार अर्थ होता है—(मीढ्वः इन्द्र) समस्त सुखदायी पदार्थोंके देनेवाले इन्द्र, (त्वं इमां सुपुत्रां सुभगां कृणु) तुम इस विवाहिता स्त्रीको उत्तम पुत्रवती और सौभाग्यवती करो। (अस्यां दश पुत्रान् आधेहि) इस स्त्रीमें दस पुत्र धारण कराओ, (एकादशं पतिं कृधि) ग्यारहवें पतिको पुत्रोंके साथ दीर्घजीवी बनाये रखो। यही आशीर्वादसूचक इसका अर्थ है, नियोग द्वारा दस पुत्र उत्पन्न कराना या ११ पति कराना इसका अर्थ नहीं है। क्योंकि इस मन्त्रमें नियोगका कोई शब्द ही नहीं है। इसके सिवाय मनुजीने तो 'एकमुत्पादयेत् पुत्रं न द्वितीयं कथञ्चन' कहकर नियोगमें एकसे अधिक सन्तान उत्पन्न करनेकी आज्ञा ही नहीं दी है। फिर ऐसी मिथ्या कल्पनाकी गुञ्जायश ही नहीं हो सकती है। डाक्टरी सायन्सने आजकल यह प्रत्यक्ष प्रमाण कर दिया है कि अनेक पुरुषोंके सम्बन्धसे ही स्त्रीशरीरमें सिफिलिश, गनोरिया आदिके भयानक विष उत्पन्न हो जाते हैं, जो पिता माता द्वारा वंशपरम्परा तक चलकर समस्त वंशको तथा इहलोक परलोकको बिगाड़ देते हैं। हैभलक ईलीस् आदि कई एक पश्चिमी विद्वानोंने इसपर पुस्तकें भी लिखी हैं और आर्य-जातिके एक पतिव्रतधर्मको इसी युक्ति पर बहुत ही दूरदर्शितापूर्ण कहा है और यहाँपर वेदमन्त्र उठाकर प्रमादका भरमार देखिये! अब दूसरा मन्त्र बताया जाता है।

उदीर्ष्व नार्यभिजीवलोकं गतासुमेतमुपशेष एहि।
हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभिसंबभूव॥

ऋ० मं० १ सू० १८ मं० ८

इसका यह अर्थ है। (नारि) हे मृतकी पत्नी–(जीवलोकं अभि उदीर्ष्व) जीवित पुत्र पौत्रादिके पालनार्थ —इस चिताके पाससे उठो, (एतं गतासुं उपशेषे एहि) इस मृतपतिके

पास तुम लेटी हुई हो। (हस्तग्राभस्य दिधिषोः) तुम्हारे पाणिग्रहण तथा गर्भाधान करने-वाले (पत्युः तव इदं जनित्वं अभि सम्बभूव) तुम्हारे इस पतिके पत्नीपनको लक्ष्य करके तुमने इसके साथ मरनेका निश्चय किया है। इस मन्त्रका भावार्थ यह है कि सती स्त्री मृत-पतिके साथ सहमरणमें जाना चाहती है, किन्तु कुटुम्बी लोग मना कर रहे हैं, क्योंकि घरमें छोटे छोटे बा बच्चे हैं। इसमें नियोगसूचक एक भी शब्द न होनेपर भी अर्वाचीन पुरुष न जाने कहाँसे इसमें यह अर्थ देख रहा है कि श्मशानमें गये हुये लोग स्त्रीसे कह रहे हैं कि 'स्त्री तू उठ और हमारेमेंसे किसके साथ नियोग करके सन्तान पैदा करले।' बुद्धिकी बलिहारी है कहाँ तो स्त्री पतिवियोगसे रोदन कर रही है और कहाँ उसी समय श्मशानमें ही पाशविक क्रिया सूझने लगी! इससे अधिक असभ्यता और क्या हो सकती है? अब तीसरा मन्त्र कहा जाता है—

'अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्'

ऋ० मं० १० अ० १, सू, १०, मं० १०

पूरे मन्त्रका केवल इतना ही अंश उठकर अर्वाचीन लोग अर्थ कहते हैं कि पति पत्नीको आज्ञा दे रहे हैं कि उनसे सन्तान नहीं होती है, इसलिये स्त्री अन्य पतिके द्वारा सन्तान पैदा कर लेवे। अब पूरे मन्त्रके अर्थपर विचार करनेसे अर्वाचीन लोगोंकी झुठाईका ठीक पता चल जायगा। पूरा मन्त्र यह है—

आघातागच्छानुत्तरायुगानि यक्ष जामयः कृण्वन्नजामि।
उपबर्वृंहि वृषभाय बाहुमन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्॥

इसका अर्थ निरुक्त अ० ४, ख० २० के अनुसार निम्नलिखितरूप होता है। यमयमी संवादमें यमी अपने भ्राता यमको उसके साथ कामसम्बन्ध करनेको कह रही है, किन्तु यम उत्तर देता है कि "अभी पापमय कलियुग नहीं आया है जिसमें ऐसे अनाचार भी होंगे, इसलिये तुम अन्य किसीको पति बना लो, मुझसे कामसम्बन्ध नहीं हो सकता।" (आघा-तागच्छान् उत्तरायुगानि) आगे ऐसा युग आने वाला है, (यत्र जामयः कृण्वन् अजामि) जिससे भगिनियाँ भगिनिधर्मके विरुद्ध कार्यको करेंगी, (वृषभाय बाहुँ उपबर्वृंहि) अभी ऐसा युग नहीं आया है इसलिये योग्य पतिका पाणिग्रहण करो, (सुभगे! मत् अन्यत् पतिं इच्छस्व हे भगिनि! मुझसे भिन्न दूसरे पतिकी इच्छा करो। इस मन्त्रमें भ्राता भगिनीका सम्वाद है नियोग सूचक कोई भी मन्त्र न होने पर भी अर्वाचीन लोगोंने वृथा प्रसङ्ग बदलकर झूठा अर्थ किया है। और साथ ही साथ कुन्ती और माद्रीका दृष्टान्त देकर पक्षसमर्थनकी चेष्टा की है। महाभारतके पढ़ने वाले जानते हैं, कुन्ती माद्रीने नियोग नहीं

कराया था। और न उनमें देवताओंसे स्थूल मैथुनसम्बन्ध ही हुआ था। यह केवल दैवी-शक्तिके प्रभावसे दैव सृष्टि थी, इसके साथ स्थूल मैथुनी सृष्टिकी तुलना नहीं हो सकती। इस प्रकार मनुसंहिताके नवमाध्यायके दो श्लोकोंका मतलब बिगाड़कर अर्वाचीन लोगोंने स्वमतपुष्टिका प्रयत्न किया है। यथा :—

> **प्रोषितो धर्मकार्यार्थं प्रतिक्ष्योष्टौ नरः समाः।**
> **विद्यार्थं षड् यशोर्थं वा कामर्थं त्रींस्तु वत्सरान् ॥**
> **वन्ध्याष्टमेऽधिवेद्याब्दे दशमे तु मृतप्रजा।**
> **एकादशे स्त्रीजननी सद्यस्त्वप्रियवादिनी ॥**

इसमें पहिला श्लोक पुरुषके विषयमें दूसरा श्लोक स्त्रीके विषयमें है और पूर्वापर श्लोकोंका सम्बन्ध मिलानेसे 'नियोग' का कुछ भी अर्थ नहीं निकलता है। इतना ही निकलता है कि विदेश जानेसे पहिले पति स्त्रीके ग्रासाच्छादनकी व्यवस्था कर जावे। यदि धर्मकार्यके लिये पति विदेश गये हों तो आठ वर्ष, विद्या या यशके लिये गये हों तो छः वर्ष और कामसेवाके लिये गये हों तो तोन वर्ष तक पत्नी प्रतीक्षा करे और पश्चात् पतिके पास चली जावे। जैसा कि वशिष्टस्मृतिमें लिखा है—

> **प्रोषितपत्नी अष्टवर्षाण्युपासीत् ऊद्ध्वं पतिसकाशं गच्छेत्।**

प्रवासी पतिकी स्त्री आठवर्ष प्रतीक्षा करके पतिके पास चली जाय। इस प्रकार दूसरे श्लोकका अर्थ प्रकरणानुसार यह होता है कि यदि वन्ध्या स्त्री हो तो विवाहकालसे आठ वर्षके बाद, मृतवत्सा हो तो दस वर्षके बाद, केवल कन्या प्रसव करनेवाली हो तो ग्यारह वर्षके बाद और पतिको दुःख देनेवाली हो तो शीघ्र ही पति दूसरा विवाह कर सकता है। इस श्लोकमें केवल वंशरक्षा और सुसन्तान उत्पन्न करनेके लिये ही ऐसी आज्ञा दी गई है। इसमें नियोगका कोई वाक्य नहीं है। अर्वाचीन पुरुषोंने इसके साथ और भी एक असम्बद्ध बात यह लिखी है कि "यदि पुरुष दुःखदायी हो तो स्त्रीको उचित है कि उसे छोड़ दूसरे पतिसे नियोगकर उससे सन्तानोत्पत्ति कर उसी विवाहित पतिका दायभागी बना देवे।" क्या यह सम्भव हो सकता है कि स्त्री पतिसे लड़कर दूसरे पुरुषसे यदि सन्तानोत्पादन करे तो उसे और उसके लड़केको पति घरमें घुसने देंगे और ऐसे व्यभिचारसे उत्पन्न सन्तानका दायभागमें किस शास्त्रके अनुसार अधिकार दिया जा सकता है? ये सब युक्तियाँ तथा प्रमाण बिलकुल व्यर्थ हैं और नियोग पर अर्वाचीन जनोंका विचार प्रारम्भसे अन्ततक सम्पूर्ण भ्रमात्मक है यही सिद्ध हुआ।

नियोगके विषयमें शंका समाधान करके अब विधवाविवाहके विषयमें शंका समाधान किया जाता है। यह बात पहिले ही कही गई है कि स्त्रीजाति प्रकृतिका अंश होनेके कारण उसमें विद्या व अविद्या दोनों प्रकृति विद्यमान हैं। अविद्याभावके कारण पुरुषसे आठगुणा काम अधिक होने पर भी विद्याभावके कारण उसमें पुरुषसे धैर्य्य अधिक है। अतः जिस प्रकार किसीकी ऐसी प्रकृति यदि हो कि एक छटांक भोजनसे भी निर्वाह कर सकता है और लोभ बढ़ाया जाय तो मन मन भर खिलानेसे भी तृप्ति नहीं होती है, तो उसके लिये एक छटाँकमें निर्वाह करानेका अभ्यास कराना ही बुद्धि व विचारका कार्य्य होगा और मनभर खानेका लोभ दिलाना अविचारका कार्य्य होगा। ठीक उसी प्रकार जब स्त्रीजातिकी प्रकृति ही ऐसी है कि एकपतिव्रता होकर तपोधर्म्मके अनुष्ठान द्वारा उसीमें आनन्दके साथ निर्वाह करके मुक्ति पा सकती है और अनेक पुरुषोंके साथ सम्बन्ध करनेका लोभ दिलानेसे अजस्र कामभोग करके संसार व अपनेको भ्रष्ट कर सकती है; तो स्त्रीके लिये वही धर्म्म व विचारका कार्य्य होगा जिससे उसमें एकपतिव्रताका संस्कार बढ़ता रहे एवं अनेक पुरुषोंसे सम्बन्धका भाव कुछ भी न हो। विषयसुख एक प्रकार चित्तका अभिमानमात्र होनेसे पुरानेकी अपेक्षा नवीन वस्तुमें अधिक सुखबोध होने लगता है क्योंकि पुरानी वस्तु अभ्यस्त होनेके कारण उसमें ऐसा अभिमान भी कम हो जाता है। नवीनमें नवीन सौन्दर्य्य आदिका अभिमान होनेसे नवीन सुख व आग्रह होने लगता है। यह सब मायाकी ही लीला है। इसी सिद्धान्तके अनुसार जिसमें काम जितना होगा उसमें नवीन भोगकी लालसा भी उतनी ही होगी। अतः पुरुषसे स्त्रीमें कामका वेग जब आठगुणा अधिक है तो स्त्रीमें नवीन नवीन पुरुषसम्भोगलालसा भी पुरुषसे आठगुणी अधिक होगी। इसीलिये महाभारतमें कहा गया है कि :—

न चाऽऽसां मुच्यते कश्चित्पुरुषो हस्तमागतः।
गावो नवतृणान्येव गृह्णन्त्येता नवं नवम्॥

जिस प्रकार गौ नई नई घास खानेकी इच्छासे एक ही स्थानपर न खाकर इधर उधर मुँह मारती रहती है उसी प्रकार नवीन नवीन पुरुषभोगकी स्पृहा स्त्रियोंमें स्वाभाविक है। उनके हाथमें आया हुआ कोई पुरुष खाली नहीं जा सकता है। यही स्वाभाविक नवीन नवीन भोगस्पृहा स्त्रीजातिमें अविद्याका भाव है। पातिव्रत्यके द्वारा इस अविद्याभावका नाश होकर विद्याभावकी वृद्धि होती है, परन्तु विधवा विवाहके द्वारा विद्याभावका नाश होकर अविद्याभावकी ही वृद्धि होगी जिससे स्त्रीजातिका सत्यानाश हो जायगा। जिस दिन बिचारी अबला स्त्रियोंको यह आज्ञा दी जायगी कि उनके एक

पतिके मरनेके अनन्तर नवीन पति उन्हें मिल जायगा और इस प्रकारसे अनेक पुरुषोंसे सम्बन्ध करती हुई भी वे धार्मिका रह सकेंगी, उस दिनसे उनके चित्तमें नवीन नवीन पुरुषोंसे सम्बन्धको इच्छा कितनी बलवती हो जायगी इसको सभी लोग समझ सकते हैं। धर्मका लक्ष्य कामादि प्रवृत्तियोंको रोककर निवृत्तिकी पुष्टि करना है; परन्तु जब अजस्र कामभोग करनेपर भी पतिव्रता व धार्मिका रह सकती है ऐसी आज्ञा उन्हें मिल जायगी तो कौन चाहेगा कि कठिन तपश्चर्य्या व एकपतिव्रताका पालन करे ? उस समय सभी स्त्रियोंके चित्तमें आठगुणा काम व नवीन पुरुषोंसे भोग करनेका दावानल धकधकाकर जल उठेगा जिसके तेजसे संसारकी शान्ति व प्रेम आदि सब कुछ नष्ट होकर संसार भीषण श्मशानरूपमें परिणत हो जायगा। इस प्रकार विधवाविवाहकी आज्ञाके द्वारा सतीत्वरूपी कल्पतरु, जिसके अमृतफल श्रीभगवान् कृष्णचन्द्र, श्रीभगवान् रामचन्द्र, ऋषि, महर्षि व ध्रुव एवं प्रह्लाद आदि हैं और जिस कल्पतरुके मधुरफल भगवान् शङ्कर व महाराणा प्रताप आदि हैं उसके मूलमें कठिन कुठारका आघात होकर उसे नष्ट कर देगा, इसमें कोई सन्देह नहीं है। भारतसे सतीधर्म्मका गौरव, जिस गौरवके कारण आज भी भारत इतनी हीनदशा होनेपर भी समस्त संसारमें ज्ञानगुरु होकर इतने विप्लवोंको सहन करता हुआ अपनी सत्ताके प्रतिष्ठित रखनेमें समर्थ हुआ है, वह भारत-गौरव-रवि चिरकालके लिये अस्त होकर भारतको घोर अज्ञानान्धकारमय नरकरूपमें परिणत कर देगा एवं दुःख, दारिद्रय, अविद्या और अशान्ति आदि पिशाचिनी उस नरकमें नृत्य करेंगी, इसमें कोई भी सन्देह नहीं है। संसारमें कितनी ही जातियाँ कालसमुद्रपर बुद्बुदकी तरह उठकर पुनः काल-समुद्रमें ही विलीन होगईं, आज उनका नाम निशान भी नहीं है, हमारे भारतने केवल माताओंकी ही कृपासे व सतीधर्म्मके बलसे चिरजीवी आर्य्यपुत्रोंको उत्पन्न करके आर्य्य-जातिको जीवित रक्खा है। यह महिमा एवं आर्य्यजातिकी यह चिरायुता पातिव्रत्यके नाशसे पूर्ण नष्ट हो जायगी, जिससे आर्य्यजाति ही नष्ट हो जायगी। केवल आर्य्यजाति ही नहीं, परन्तु विधवाविवाहके प्रचार होनेसे घर घरमें घोर अशान्ति फैल जायगी। आर्य्यशास्त्रोंमें सती चार प्रकारकी कही गई है। उत्तम सती वह है, जो अपने पतिको ही पुरुष देखे और अन्य पुरुषोंको स्त्री देखे अर्थात् उनमें सतीत्वका भाव इतना उच्च है व धारणा इतनी पूर्ण है कि सिवाय पतिके और किसी मनुष्यमें पुरुषभावकी दृष्टि ही नहीं होती है। मध्यम सतीका यह लक्षण है कि जो अपने पतिको ही पति समझे एवं अपनेसे अधिक आयुवाले पुरुषोंको पिता, समान आयुवाले पुरुषोंको भ्राता व कम आयुवाले पुरुषोंको पुत्र समझे। तृतीय श्रेणीकी सती वह है, कि जिसमें धारणा इतनी पक्की न होनेपर भी धर्म्म व कुल मर्य्यादा आदिके विचार से जो शरीर व अन्तःकरणको पवित्र

रक्खे। और अधम सती वह है कि जो मनके द्वारा परपुरुषचिन्ताको न छोड़ सकने पर भी स्थूल शरीरको पवित्रता रक्षा करे। इस प्रकारके पातिव्रत्यके प्रभावसे ही शास्त्रोंमें कहा गया है कि :—

अर्द्धं भार्य्या मनुष्यस्य भार्य्या श्रेष्ठतमः सखा।
भार्यावन्तः क्रियावन्तो भार्यावन्तः श्रियाऽन्विताः॥
सखायः प्रविविक्तेषु भवन्त्येताः प्रियंवदाः।
पितरो धर्म्मकार्य्येषु भवन्त्यार्त्तस्य मातरः॥

संसारमें स्त्री पुरुषकी अर्द्धाङ्गिनीस्वरूपिणी व परम मित्ररूपा है। जिनकी भार्य्या है उन्हींको सब धर्म्मकार्य्योंमें सफलता व श्रीवृद्धि हुआ करती है। एकान्तमें प्रियवादिनी सखी, धर्म्म कार्य्योंमें पिताके सदृश सहायता देनेवाली और रोगादि क्लेशोंके समय माताकी तरह शुश्रूषा करनेवाली भार्य्या ही हुआ करती है। दुःखमय संसारमें गृहस्थ पुरुषोंको यदि कोई गार्हस्थ शान्ति है. तो यही है, कि उनके घरमें उनकी सम्पत्तिके समय अधिकतर आनन्ददायिनी और विपत्तिके समयपर अर्द्धांशभागिनीरूपसे विपत्तिके भारको कम करके हताश हृदयमें आशामृतसिञ्चनकारिणी सहधर्म्मिणी हैं; जो कभी स्वप्नमें भी परपुरुषको नहीं जानती है; परन्तु विधवा-विवाहके प्रचारके द्वारा पुरुषके हृदयमें बद्धमूल यह आशालतिका दग्ध होकर हृदयको भीषण मरुभूमिरूपमें परिणत कर देगी। क्योंकि पुरुषके चित्तमें सदा ही यह सन्देह उत्पन्न होता रहेगा कि "न जाने कब यह मेरी स्त्री मुझे मारकर दूसरेसे विवाह कर लेगी; क्योंकि स्त्रीप्रकृति नवीन नवीन पुरुषको चाहने वाली है, विधवा-विवाहके प्रचारसे नवीन नवीन पुरुष प्राप्त करना धर्म्मरूप होगया है इसलिये वह क्यों मेरे जैसे पुरानेके पास रहेगी, अनेक दिनोंका सम्बन्ध होनेके कारण मैं पुराना होगया हूँ, मेरा शरीर भी नाना कारणोंसे उसकी पूर्ण तृप्ति करने लायक नहीं रह गया है" इत्यादि इत्यादि। और इस प्रकारकी चिन्ता उस दशामें स्वाभाविक भी है, क्योंकि विधवा विवाहकी आज्ञाको धर्म्म कहकर प्रचार करनेसे स्त्रीजातिके चित्तसे सतीत्वका संस्कार ही नष्ट हो जायगा; जिससे एक पतिमें ही संयमपूर्व्वक नियुक्ति रहनेकी कोई आवश्यकता स्त्रियां नहीं समझेंगी और इसका यही फल होगा कि स्त्रीजातिकी स्वाभाविक कामपिपासा व नवीन नवीन पुरुषभोगप्रवृत्ति अत्यन्त बलवती होकर स्त्रीचित्तकी सत्ताका नाश कर देगी। और जहाँ एक बार सतीत्वका बन्धन टूट गया, फिर कहना ही क्या है? उसे कभी रोक नहीं सकते। शेरको नारक्तका स्वाद मिलने पर उसकी मनुष्य मारनेकी प्रवृत्ति कभी नहीं नष्ट हो सकती है। अतः इस प्रकारकी आज्ञा देनेका यही फल होगा कि गृहस्थाश्रममें

बड़ी भारी अशान्ति फैलेगी, गृहस्थाश्रम श्मशान हो जायगा, उसकी गृहलक्ष्मी अपने स्वरूपको छोड़कर पिशाचिन बनकर उसी श्मशानमें नृत्य करेगी, प्रेमकी मन्दाकिनी शुष्क हो जायगी, कामका हुताशन भीषणरूपसे जलने लग जायगा और पतिका पवित्र देह उसी हुताशनमें आहुतिरूप हो जायगा। संसारमें थोड़ी थोड़ी बातपर ही लड़ाई होगी, लड़ाईमें दाम्पत्यप्रेम नष्ट हो जायगा, पति सदा ही स्त्रीसे डरने लगेंगे, "क्या जाने कब वह मुझे मारदे, मेरा शरीर कुछ वृद्ध हो गया है, बहुत सुन्दर भी नहीं है, मैंने आज धमकाया था, उसको क्रोध तो नहीं आगया, शायद क्रोध करके मुझे रातको मार न दे, किसी दूसरेसे गुप्त प्रेम करके मुझे दूधके साथ जहर देकर मार न डाले क्योंकि मेरेसे उसका चित्त नहीं भरता है, मैं पुराना और बूढ़ा हो गया हूँ" इत्यादि इत्यादि सब दुर्दशायें ग्रहस्थाश्रममें होने लग जायेंगी, इसमें कोई भी सन्देह नहीं है। पुरुषको सामान्य रोग होते ही वह आधे रोगमें चिन्ताहीसे पूरा मर जायगा क्योंकि उधर तो आठगुणी कामकी अग्नि निशिदिन आहुतिके लिये लहलहाती है और इधर रोगसे विषय भोगकी शक्ति कम हो गई है अतः इस दशामें व्यभिचारका भय व मार डाले जानेका भय सदैव पुरुषको सताया करेगा और वह सामान्य रोगसे ही दुश्चिन्ताके कारण मर जायगा, सब स्त्रियां स्वेच्छाचारिणी हो जायेंगी, पतिकी बात नहीं सुनेंगी, पतिको रोटी मिलनी कठिन हो जायगी, वे कुछ नहीं कह सकेंगे, क्योंकि जहां कुछ कहें वहीं मरनेका डर, विषका डर और हत्याका डर लगेगा, वह स्त्री नाराज होकर सब कुछ कर सकती है, अन्य पुरुषसे मिलकर उसे मार डाल सकती है, क्योंकि तब तो अन्य पुरुषसे मिलना धर्म्म हो जायगा। यही सब विधवा-विवाहका भारतको श्मशान बनानारूप विषमय फल है जिसको विचारवान् व दूरदर्शी पुरुष विचार कर देखनेसे अक्षरशः सत्य जान सकेंगे। क्या यही सब भारतवर्षकी उन्नतिका लक्षण है? इसी प्रकार करनेसे भारतवर्षकी उन्नति होगी? यही सब आर्य्यत्वका लक्षण है? समुद्रके गर्भमें डूबजाय वह भारत और नष्ट हो जाय वह आर्य्यजाति जिसमें अपने आर्य्यभावको नष्ट करके इस प्रकारके अनार्य्य आचारको ग्रहण करना ही उन्नतिका लक्षण हो। प्रमादी हैं वे लोग जो इन सब विषयोंको बिना सोचे ही पवित्र आर्य्यजातिके मौलिक भावोंके उड़ा देनेमें अपना पुरुषार्थ और देशकी उन्नति समझते हैं। उन्नति अपने जातिगत संस्कारोंकी उन्नतिसे हुआ करती है, अपनी सत्ताको नष्ट करके नहीं हो सकती है। भारत यूरोप होकर उनन्त नहीं हो सकता है, आर्य्य अनार्य्य होकर उन्नत नहीं हो सकते हैं और आर्य्यसतियां विलायती मेम बनाकर उन्नत नहीं हो सकती हैं, परन्तु सीता सावित्री बनकर ही उन्नत हो सकती हैं, इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है। इन्हीं सब कारणोंसे मनुजीने स्त्रीके लिये द्वितीय वार विवाह मना किया है।

अब जो वाग्दत्ता कन्याके विवाहका विषय है सो इस विषयमें भी मनुजीने स्पष्ट विवाह नहीं लिखा है। यथाः—

> यस्या म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः।
> तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः॥
> यथाविध्यधिगम्यैनां शुक्लवस्त्रां शुचिव्रताम्।
> मिथो भजेताऽऽप्रसवात्सकृत्सकृहतावृतौ॥

यदि विवाहसे पहले वाग्दत्ता कन्याके पतिकी मृत्यु हो तो इस नियमानुसार देवरके साथ उसका संसर्ग हो सकता है, कि यथाविधि इस प्रकारकी स्त्रीको प्राप्त करके देवर सन्तान होनेतक प्रति ऋतुमें एक बार उससे संसर्ग करे; परन्तु वहस्त्री शुभ्र वस्त्र पहिनी हुई व शुचिव्रता होनी चाहिए। शुभ्र वस्त्र पहनना व शुचिव्रत होना विधवाका धर्म है, सधवाका नहीं है। अतः इस प्रकारकी आज्ञाके द्वारा मनुजी वाग्दत्ताका विवाह नहीं बता रहे हैं, केवल सन्तानोत्पत्ति करना ही बता रहे हैं। अधिकन्तु यदि कोई मनुष्य ऊपरके श्लोकोंसे वाग्दत्ताका विवाह समझ लेवे तो इस सन्देहके निराकरणार्थ पुनः तीसरे श्लोकमें कहा है कि :—

> न दत्त्वा कस्यचित् कन्यां पुनर्दद्याद्विचक्षणः।
> दत्त्वा पुनः प्रयच्छन् हि प्राप्नोति पुरुषोऽनृतम्॥

एक बार वाग्दान करके ज्ञानी लोगोंको अपनी कन्याका अन्य पात्रमें सम्पर्ण नहीं करना चाहिये क्योंकि एक पुरुषको दान करना अङ्गीकार करके दूसरेको देनेपर समस्त संसारको प्रतारणा करनेका पाप होता है। मनुजीकी यह आज्ञा उत्तम कोटिकी है परन्तु भिन्न भिन्न देशकालके विचारसे अन्यान्य स्मृतियोंमें मध्यम कोटिकी भी आज्ञायें मिलती हैं तदनुसार वाग्दत्ता कन्याका अन्य पात्रमें सम्पर्ण भी माना जाता है। उनका यह सिद्धान्त है कि मन्त्रसंस्कारके अनन्तर सप्तपदीगमन होनेसे हो जब कन्या पर पूर्णतया वरका अधिकार होता है तो केवल वाग्दत्ता होनेसे पूरा दान नहीं हुआ अतः उसका विवाह हो सकता है। वशिष्ठसंहितामें लिखा है कि :—

> अद्भिर्वाचा च दत्तायां म्रियेताऽथो वरो यदि।
> न च मन्त्रोपनीता स्यात्कुमारी पितुरेव सा॥
> यावच्चेवाहृता कन्या मन्त्रैर्यदि न संस्कृता।
> अन्यस्मै विधिवद्देया यथा कन्या तथैव सा॥

यदि ऐसा हो कि केवल जलसे या वाक्यसे दानमात्र हुआ है परन्तु मन्त्रोंके द्वारा संस्कार नहीं हुआ है, तो इस दशामें वरकी मृत्यु होनेसे वह कन्या, पिताकी ही रहेगी। इसलिये मन्त्रसंस्कृत न होनेके कारण वह कन्या अन्य पात्रमें दी जा सकती है क्योंकि ऐसी अवस्थामें वाग्दत्ता कन्या और अवाग्दत्ता कन्या दोनों ही बराबर हैं। यही उत्तम तथा मध्यम कोटिका विचार है। इसी प्रकार महर्षि पराशरके 'नष्टे मृते' इत्यादि श्लोकोंमें भी 'अपतौ' शब्दके प्रयोगसे वाग्दत्ता प्रकरणका ही ग्रहण किया गया है। अर्वाचीन पुरुषोंने जो 'तामनेन पिधानेन' इत्यादि श्लोकसे अक्षतयोनि विधवाका विवाह बताया है यह उनकी भूल है। इसका प्रकरणानुसार अर्थ ऊपर बताया गया है।

अन्तमें एक दो विषय और भी विचार करने योग्य हैं। ऊपरलिखित नियमोंके अनुसार विधवाओंकी रक्षा और शिक्षा होनेसे वैधव्य दशामें पातिव्रत्यधर्म्मका पूर्ण पालन हो सकेगा इसमें कोई सन्देह नहीं है। परन्तु यदि प्रारब्ध मन्द होनेके कारण इतनी शिक्षा देने पर भी कोई विधवा अपने धर्म्मका पालन न कर सके और अजस्र व्यभिचार द्वारा कुलमें कलङ्क आरोपण करने लग जाय या विधर्मियोंके साथ भागने लगे तो उस दशामें असच्छूद्रजातियोंके सिवाय अन्यके लिये यह करना होगा कि अनेक पुरुषोंका सङ्ग व अजस्र व्यभिचारको घटानेके लिये एक पुरुषके साथ उसका सम्बन्ध कराकर उसे जातिसे अलग कर देना होगा। इस प्रकारसे पुरुषसम्बन्ध करा देना आदर्शधर्म्म नहीं होगा या विवाह नहीं कहलावेगा; परन्तु अनेक पुरुषसङ्ग द्वारा अधिक व्यभिचारसे बचानेके लिये एक पुरुष संग्रह मात्र कहलावेगा। अतः ऐसी पतिता स्त्रीको घरमें सती स्त्रियोंके साथ कभी नहीं रखना चाहिये क्योंकि ऐसा होनेसे कुसङ्गके कारण सतियाँ भी बिगड़ जाँयगी, कमसे कम उनके चित्तसे पातिव्रत्यकी गंभीरता कम हो जायगी, ऐसी स्त्रियों तथा पुरुषोंकी एक जाति या कई एक जातियां अलग अलग बन सकती हैं। इस प्रकार सती और असती स्त्रियोंमें भेद रखने पर सती स्त्रियों पर बड़ा ही अच्छा प्रभाव पड़ेगा, वे मनसे भी सती धर्म्मसे च्युत नहीं होंगी और विधवा होनेपर भी व्यभिचार करनेकी इच्छा नहीं करेंगी, कमसे कम शरीरको तो पवित्र रक्खेंगी।

मनुजीने अपनी संहिताके नवम अध्यायमें ऐसा ही एक वैदिक विवाह संस्कारके अतिरिक्त पुनर्भू संस्कार लिखा है। यथा :—

या पत्या वा परित्यक्ता विधवा वा स्वयेच्छया।

उत्पादयेत्पुनर्भूत्वा स पौनर्भव उच्यते॥

सा चेदक्षतयोनिः स्याद्गतप्रत्यागताऽपि वा।
पौनर्भवेन भर्त्रा सा पुनः संस्कारमर्हति ॥

दोषी होनेसे पतिने त्याग कर दिया है अथवा विधवा हो गई है ऐसी स्त्री अपनी इच्छासे किसीकी स्त्री बनकर अर्थात् व्यभिचार द्वारा जो पुत्रउत्पन्न करे उसे पौनर्भव पुत्र कहते हैं। ऐसो कुलक्षणांक्रान्त कोई विधवा अक्षतयोनि हो अथवा कोई सधवा घ से भागकर फिर लौट आई हो तो ऐसे हो किसी पौनर्भव पुरुषके साथ उसका विवाह हो सकता है। इस श्लोकमें पौनर्भव पति साधारण पुरुष नहीं है परन्तु घरसे भागी हुई या परित्यक्ता या विधवा स्त्रीके व्यभिचारके द्वारा उत्पन्न पुरुष है। अतः वर्तमान आपत्कालमें भी हिन्दु-जातिके भीतर यदि ऐसा कोई पन्थ बन जाय जो ऐसे स्त्री पुरुषोंको विधर्मी होनेसे बचा ले तो हम उससे रोटी बेटीका सम्बन्ध न रखने पर भी उसको हिन्दू मान सकते हैं। और ऐसा माननेसे वर्त्तमान समयमें अनेक पतित स्त्री पुरुषोंकी रक्षा होगी तथा दूसरी ओर आर्य्य नर नारियोंका उत्तमादर्श बच जायगा। यही वर्तमान आपत्कालके अनुकूल विचार है। अर्वाचीन पुरुषोंने जो इन श्लोकोंके द्वारा प्रत्येक अक्षतयोनि स्त्रीका पुर्नविवाह लिखा है यह उनकी भूल है। क्योंकि शिक्षा पानेपर क्षतयोनिकी अपेक्षा अक्षत योनि स्त्री अपने ब्रह्मचर्य्यको अधिक सुविधासे रख सकती है। गृहस्थ होकर किसी वस्तुका स्वाद पाकर उसे छोड़नेकी अपेक्षा पहिलेसे ही छोड़ना अधिक सुविधाजनक अवश्य है। अतः इन्हीं सब विचारों द्वारा सावधान होकर सतीधर्मकी रक्षा करनी चाहिये।

विवाहकाल निर्णय।

हिन्दु नरनारियोंके लिये मोक्षप्रद धर्मका विचार करके अब किस उमरमें स्त्री पुरुषका बिवाह होनेसे इस परम धर्मकी अनायास रक्षा हो सकती है इस पर विवेचन किया जाता है।

विवाहके विज्ञानपर संयम करनेसे ज्ञात होगा कि पुरुषशक्तिके साथ स्त्रीशक्तिको मिलाकर नवीन सृष्टि और नवीनभाव उत्पन्न करनेके लिये ही विवाह है। इन दोनों शक्तियोंका मेल एक प्राकृतिक व्यापार है इसलिये अणु-परमाणुसे लेकर परमात्मा पर्य्यन्त इस प्रकार दोनों शक्तियोंका सम्मेलन देखनेमें आता है। अणुओंमें (Positive and negative power)

पुरुषशक्ति व स्त्रीशक्ति विद्यमान रहती है। द्वयणुक आदि क्रमसे स्थूल जगत्की सृष्टि इन दोनों शक्तियोंके सम्मेलनसे ही होती है। स्त्रीपरमाणु व पुंपरमाणु मिलकर स्थूल सृष्टिको बनाते हैं। साधारणतः गर्भाधानके समय भी रजोवीर्यके मेलके द्वारा दोनों ही शक्तियुक्त परमाणुओंका सम्मेलन सन्ततिके स्थूल शरीर उत्पन्न करनेके लिये होता है। इन्हीं दोनों शक्तियोंका सम्मेलन और उससे सृष्टि, उद्भिज जगत्में भी देखनेमें आती है। वृक्ष भी स्त्री व पुरुष रेणुके धारण करनेवाले होते हैं अथवा दोनों प्रकारके होते हैं जिनके पराग या पुष्परेणु पृथक् पृथक् होते हैं। पुंपरागके साथ वायु या भ्रमर मधुमक्षिका आदिके द्वारा स्त्रीपरागका प्राकृतिकरूपसे सम्बन्ध होनेसे ही उद्भिज्ज सृष्टि होने लगती है। कहीं कहीं एक पुष्पमें भी दो शक्ति रहती हैं। पुंशक्तियुक्त पुंपराग पुष्पके ऊपरके भागमें और स्त्रीशक्तियुक्त स्त्रीपराग पुष्पके गर्भ्भ (बीच) में रहता है। भ्रमर अपने शरीरके ऊपर वह पुंपराग लगाकर पश्चात् पुष्पगर्भस्थ स्त्रीपरागसे पुंपरागको स्वाभाविक रूप पर मिलता है और इसी प्रकारसे उद्भिज्ज सृष्टि होती रहती है। इसी रीति पर स्वेदजयोनिके जीवोंके जो स्थूल शरीर हैं उनकी भी सृष्टि पुरुषपरमाणु व स्त्रीपरमाणुके सम्मेलनसे होती है। कोई कोई स्वेदज शरीर स्त्री और पुरुष दोनों रूपको धारण करनेवाले होते हैं। अण्डज व जरायुजमें तो इस प्रकार दो शक्तिके सम्मेलनसे सृष्टि प्रत्यक्ष ही है। सृष्टधाराके विस्तारसे इन दोनों शक्तियोंका सम्मेलन करना विवाहका प्रथम उद्देश्य है।

मनुष्ययोनि प्राप्त करके जीवके स्वतन्त्र होनेसे इन्द्रियलालसा अत्यन्त बढ़ जाती है। प्रत्येक पुरुषके चित्तमें सभी स्त्रियोंके लिये और प्रत्येक स्त्रीके चित्तमें सभी पुरुषोंके लिये भोगभाव प्राकृतिकरूपसे विद्यमान है। उसीको संकोच करके एक पुरुष व एक स्त्रीके परस्परमें प्रवृत्तिको बांधकर धर्म्मके आश्रयसे, भावशुद्धिसे तथा बहुत प्रकारके नियमोंसे उस प्रवृत्तिको भी धीरे धीरे घटाकर अन्तमें महाफला निवृत्तिमें ही मनुष्यको ले जाना विवाहका दूसरा उद्देश्य है।

विवाहका तीसरा उद्देश्य प्रजाकी उत्पत्ति द्वारा वंशरक्षा और पितृ-ऋण शोध करना है। श्रुतिमें लिखा है कि :—

प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः।

पितामह, पिता, पुत्र, पौत्र आदि परम्परासे प्रजाका सूत्र अटूट रखना चाहिये। मनुजीने कहा है कि :—

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्।
अनपाकृत्य मोक्षन्तु सेवमानो व्रजत्यधः॥

अधीत्य विधिवद्वेदान् पुत्रांश्चोपाद्य धर्म्मतः।
इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत् ॥

ऋषि-ऋण, देव-ऋण व पितृ-ऋण तीनों ऋणोंको शोध करके मोक्षमें चित्तको लगाना चाहिये। ऋणत्रयसे मुक्त न होकर मोक्षधर्म्मका आश्रय लेनेसे पतन होता है। स्वाध्य.य द्वारा ऋषि-ऋण, पुत्रोत्पत्ति द्वारा पितृ-ऋण और यज्ञसाधन द्वारा देव-ऋणसे गृहस्थ मुक्त होते हैं। चिरकुमार ब्रह्मचारीके सब ऋण ज्ञानयज्ञमें लय होते हैं। उसको उक्त प्रकारसे ऋणत्रयसे मुक्त नहीं होना पड़ता है; परन्तु गृहस्थके लिये पितृ-ऋणादि शोध करनेके लिये पुत्रोत्पादनादि धर्म्म हैं। यही विवाहसंस्कारका तीसरा उद्देश्य है।

विवाहका चौथा उद्‌देश्य भगवत्प्रेमके अभ्याससे आध्यात्मिक उन्नति करना है। जीव-भाव स्वार्थमूलक है और ईश्वरभाव परार्थमूलक है। मनुष्य जितना ही स्वार्थका संकोच करता हुआ परार्थताको बढ़ाता है उतना ही वह ईश्वरभाव और आध्यात्मिक उन्नतिको लाभ करता है जिस कार्यके द्वारा इस प्रकार स्वार्थभावका संकोच और परार्थभावकी पुष्टि हो वह धर्म्मकार्य्य और भगवत्कार्य्य है। विवाहसंस्कारके द्वारा मनुष्य इस परार्थभावकी शिक्षा प्राप्त करने लगता है क्योंकि पुरुषका जो स्वार्थ अपनेमें ही बद्ध था वह विस्तृत होकर पहिले स्त्रीमें और पीछे पुत्र कन्या व समस्त परिवारमें बंट जाता है, इससे परार्थभाव बढ़कर आध्यात्मिक मार्गमें उन्नति होती है। यही परार्थभाव अपने घरमें प्रारम्भ होकर क्रमशः समाज, देश व समस्त संसारके साथ मिल जाता है, तभी जीव "वसुधैव" कुटुम्बकम्" अर्थात् तमाम संसारको अपना परिवार समझकर मुक्त होजाते हैं। विवाहसंस्कारके द्वारा इस भावका प्रारम्भ होता है इसलिये यह प्रधान संस्कार है इससे आध्यात्मिक उन्नति होती है। आर्य नर-नारियोंके विवाह संस्कारका पाँचवा उद्देश्य भगवत् भक्तिकी प्राप्ति है विधिपूर्वक विवाह होनेसे और स्त्री-पुरुष दोनोंके सदाचारी होनेसे उनके हृदयमें भगवत्‌भक्तिका होना स्वाभाविक है। इसके द्वारा भगवत्प्रेमका अभ्यास होता है। सकल रसोंके मूलमें सच्चिदानन्दका आनन्दरस ही भरा हुआ है। वही एकरस मायाके आवरणसे कहीं प्रेम, कहीं स्नेह, कहीं श्रद्धा, कहीं काम, कहीं मोह आदि नाना रसोंमें विभक्त होगया है। इन्हीं रसोंके प्रभावकी गतिको मोड़कर भगवान्‌की ओर लगानेसे ये ही सब भगवत्प्रेमरूप हो जाते हैं विवाहसंस्कारके द्वारा इसी भगवत्प्रेमका अभ्यास होता है पति पत्नी परस्परमें प्रीतिभावको बांध करके परोक्षरूपसे भगवत्प्रेमकी ही शिक्षालाभ करते हैं और उसी परस्परमें अभ्यस्त प्रेमको धीरे २ भगवान्‌की ओर लगाकर आध्यात्मिक उन्नति और शुद्ध आनन्दको लाभ करते है तथा भगवत् भक्तिके अधिकारी बनते हैं। यही विवाहका पाँचवां उद्देश्य है।

विवाहका अति महान् छठाँ उद्देश्य यह है कि इसके द्वारा दम्पतिका जीवन मधुरिमा-मय व दिव्यभाव पूर्ण होजाता है प्रेमपाशबद्ध स्त्री पुरुष सदा ही परस्परको सन्तुष्ट रखनेके लिये उत्सुक रहा करते हैं और उसी कारणसे जो कुछ कार्य्य करते हैं सभीमें उदारता, भावशुद्धि व परार्थपरता बढ़ती है। अच्छी तरहसे पान भोजनादि करनेकी इच्छा सभीमें होती है परन्तु केवल अपने ही सुखके लिये पान भोजनादि करनेमें मनुष्यको लज्जा आती है और वह पान भोजनादि पापभोजनमात्र है। परन्तु यदि ऐसा हो कि एकके पान भोजनादिसे दूसरोंकी आत्मा सन्तुष्ट होगी तो वह पान भोजनादि पापभोजन न होकर देवसेवा होगी। विवाहके द्वारा यही दिव्यभाव दम्पतिके हृदयमें उत्पन्न होता है। इस नश्वर क्षणभङ्गुर शरीर का वेषविन्यास करते हुये किस स्त्रीको लज्जा नहीं आती? परन्तु प्रियतमके आनन्दके लिये शरीका यत्न होरहा है, अपने लिये नहीं, इस प्रकारकी भावना रखनेसे वेषविन्यासमें लज्जा नहीं आती। अधिकन्तु उसमें यही भाव उत्पन्न होता है कि जितना सौन्दर्य्य अभी है उससे कोटिगुणा अधिक न होनेसे पति देवताके चरणकमलोंमें अर्पण करने योग्य शरीर नहीं होगा। धनसञ्चय करनेसे धनदान करनेमें आनन्द अधिक है। धनसञ्चय करनेसे लोग कृपण कहकर निन्दा करते हैं और आत्मग्लानि भी होती है, परन्तु पुत्र कन्यादिके पालनके लिये मितव्य-यिता व धनसञ्चय आत्मग्लानि उत्पन्न न करके प्रशंसा व सन्तोष ही उत्पन्न करता है। एकके भोजनसे दूसरेकी तृप्ति होगी, एकके सौन्दर्य्यसे दूसरेको आनन्द मिलेगा, एकके धन-सञ्चयसे दूसरेका भावी कल्याण होगा, इस प्रकार साधुजनोचित परार्थभावकी शिक्षा विवाहके द्वारा स्त्री पुरुष सहज ही पाते हैं। स्वार्थको धीरे धीरे परार्थमें मिलाकर लय करदेनेसे ईश्वरभाव उत्पन्न होता है और यही विवाहसंस्कारका महान् उद्देश्य है; इसीलिये विवाहसंस्कार मनुष्य समाजका परम हितकारी है।

सनातन धर्मी नर नारीके विवाहसंस्कारका सातवां उद्देश्य दोनोंका निश्रेयस अर्थात् मुक्ति प्राप्त करना है। जो सब साधनोंका अन्तिम लक्ष्य है। सांख्यदर्शनका सिद्धान्त यह है कि:—प्रकृतिका लीलाविलास उष्ट्रके कुङ्कुमवहनवत पुरुषके भोग व मोक्षके लिये है। इसी कारण आर्य्यमहिलाओंका शरीर, मन, शोभा, सौन्दर्य्य सभी पतिके सुखके लिये है, अपने लिए नहीं। सांख्य दर्शनका दूसरा सिद्धान्त यह है कि:—जब उच्चाधिकार प्राप्त करके आत्मिक ज्ञानका उदय होता है तो उस समय पुरुष और उसके संगकी प्रकृति दोनोंकी मुक्ति हो जाती है। ठीक उसी प्रकार आर्य्य-दम्पतिको विवाहसे परम लाभकी प्राप्ति होती है। और वे पहली दशामें अभ्युदय और अन्तिम दशामें मुक्ति प्राप्त करते हैं। स्त्री अपने शुद्ध सतीत्व-धर्मके पालनसे पति-तन्मयता द्वारा ज्ञान लोकमें पहुंच कर मुक्त हो जाती है और पुरुष भगवद्भक्ति, इन्द्रिय संयम और भोग विषयक कर्मोंमें अनासक्त होकर समता प्राप्त

करता हुआ मुक्ति-मार्गका अधिकारी हो जाता है। यही वेद और शास्त्रोंका गूढ़ रहस्य है। यही आर्य-विवाहसंस्कार का चरम फल है। जिसका अनुभव पृथ्वीके और किसी जातिने नहीं प्राप्त किया है। ऊपर लिखित विवाहके उद्देश्योंकी पूर्णताके लिये विवाहकाल निर्णय बहुत विचारपूर्व्वक होना चाहिए।

विवाहकालके विषयमें शास्त्रोंमें मतभेद पाया जाता है। मनुसंहितामें कहा है:—

अपत्यं धर्म्मकार्य्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा।
दाराऽधीनस्तथा स्वर्गः पितॄणामात्मनश्च ह ॥

सन्तानोत्पत्ति, धर्म्मकार्य्य, सेवा, उत्तम अनुराग और पितरोंकी तथा अपनी स्वर्ग-प्राप्ति, ये सब स्त्री के आधीन हैं। अतः विवाहकालके विचारमें भी उपर्युक्त दानों उद्देश्य लक्ष्यमें रखने होंगे, अन्यथा संसाराश्रममें स्त्री पुरुष को कदापि शान्ति नहीं मिलेगी। आर्य्य-जातिकी और जातियोंसे यही विशेषता है कि इसमें सभी विचार आध्यात्मिक लक्ष्यको मुख्य रखकर हुआ करते हैं। केवल स्थूलशरीरको ही मुख्य मानकर जो कुछ विचार है, वे आर्य्यभावरहित हैं अतः इस जातिके लिये हानिकर व जातित्वनाशक हैं। इसलिये बलवान् और स्वस्थशरीर पुत्र उत्पन्न हो और दम्पतिकी भी कोई शारीरिक हानि न हो, विवाह-कालके विषयमें केवल इतना ही विचार आर्य्यजातिके अनुकूल नहीं होगा परन्तु वह असम्पूर्ण विचार कहा जायगा। आर्य्यजातिके उपयोगी पूर्ण विचार तभी होगा जब विवाहकालके विषयमें ऐसा ध्यान रक्खा जायगा कि विवाहसे उत्पन्न सन्तति स्वस्थ, सबलकाय और धार्मिक भी हो तथा दाम्पत्यप्रेम, संसारमें शान्ति व सबसे बढ़कर पतिव्रत्यधर्म्ममें किसी प्रकारका आघात न लगे। वर कन्याके विवाहकालके लिए इतना विचार करनेपर तभी वह विचार आर्य्यजातिके उपयोगी व पूर्ण विचार होगा।

अब विवाहकालके विषयमें स्मृति आदिमें जो प्रमाण मिलते हैं उनपर विचार किया जाता है। मनुजीने कहा है कि:—

त्रिंशद्वर्षो वहेत् कन्यां हृद्यां द्वादशवार्षिकीम्।
त्र्यष्टवर्षोऽष्टवर्षां वा धर्म्मे सीदति सत्वरः ॥

तीस वर्षका पुरुष अपने चित्तकी अनुकूला बारह वर्षकी कन्यासे विवाह करे, अथवा चौबिस वर्षका युवक आठ वर्षकी कन्यासे विवाह करे और धर्म्महानिकी यदि आशङ्का हो तो शीघ्र भी कर सकते हैं। महर्षि देवलने कहा है कि:—

ऊर्द्ध्वं दशाब्दाद्या कन्या प्राग्रजोदर्शनात्तु सा।
गान्धारी स्यात् समुद्वाह्या चिरं जीवितुमिच्छता ॥

दस वर्षसे ऊपर व रजोदर्शनके पहले तक कन्यागान्धारी कहलाती है। दीर्घायु चाहनेवाले माता पिताको इस अवस्थामें उसका विवाह कर देना उचित है। संवर्त्तसंहितामें लिखा है कि:—

अष्टवर्षा भवेद् गौरी नववर्षा तु रोहिणी।
दशवर्षा भवेत् कन्या अत ऊद्ध्र्वं रजस्वला ॥
माता चैव पिता चैव ज्येष्ठो भ्राता तथैव च।
त्रयस्ते नरकं यान्ति दृष्ट्वा कन्यां रजस्वलाम् ॥
तस्माद्विवाहयेत् कन्यां यावन्नर्त्तुमती भवेत्।
विवाहोऽष्टमवर्षायाः कन्यायास्तु प्रशस्यते ॥

आठ वर्षकी अविवाहिता कन्या गौरी, नौ वर्षकी रोहिणी और दस वर्षकी कन्या कही जाती है। इससे अधिक वर्षकी कन्या रजस्वला कहलाती है। इस प्रकारकी रजस्वला कन्या जिसके घरमें है वहां उसके माता, पिता व ज्येष्ठ भ्राता नरकमें जाते हैं। इसलिये रजस्वला होनेसे पहिले ही कन्याका विवाह कर देना उचित है। आठ वर्षकी अवस्थामें ही कन्याका विवाह प्रशस्त है। यमसंहितामें लिखा है कि:—

प्राप्ते तु द्वादशे वर्षे यः कन्यां न प्रयच्छति।
मासि मासि रजस्तस्याः पिता पिबति शोणितम् ॥

कन्याकी आयु बारह वर्षकी होने पर भी जो पिता उसका विवाह नहीं करते हैं उनको प्रतिमास रजोजनित रक्तपानका पाप होता है। पराशरसंहितामें भी ऐसा ही लिखा है। वशिष्ठसंहितामें लिखा है कि:—

पितः प्रदानात्तु यदा हि पूर्व्वं,
कन्यावयो या समतीत्य दीयते।
सा हन्ति दातारमपीक्षमाणा,
कालाऽतिरिक्ता गुरुदक्षिणेव ॥
प्रयच्छेन्नग्निकां कन्यामृतुकालभयात्पिता।
ऋतुमत्यां हि तिष्ठन्त्यां दोषः पितरमृच्छति ॥

यावच्च कन्यामृतवः स्पृशन्ति,
तुल्यैः सकामामभियाच्यमानाम् ।
भ्रूणानि तावन्ति हतानि ताभ्याम्,
मातापितृभ्यामिति धर्म्मवादः ।।

पिताके द्वारा कन्यादान होनेसे पहिले यदि कन्याकाल अतीत होजाय तो ऐसी कन्या कालातिरिक्त गुरुदक्षिणाकी तरह दृष्टिमात्रसे ही दाताको पापग्रस्त करती है। रजस्वला होनेके भयसे ऋतुसे पहिले ही पिता कन्यादान करे, क्योंकि ऋतुमती कन्या अविवाहिता रहनेसे पिताको दोष लगता है। कन्या चाहती है, योग्य वर भी मिल रहा है ऐसी अवस्था में यदि ऋतुकालके पहिले कन्यादान न किया जाय तो उस कन्याको जितनी बार ऋतु होगा उतनी बार माता पिताको भ्रूणहत्याका पाप लगेगा।

प्रदानं प्रागृतोरप्रयच्छन्दोषी (गौतमः)
अदृष्टरजसे दद्यात्कन्यायै रत्नभूषणम् (आश्वलायनः)
अप्रयच्छन्समाप्नोति भ्रूणहत्यामृतावृतौ (याज्ञवल्क्यः)
प्रदानं प्रागृतोः स्मृतम् (मनुः)

इन वचनोंसे सिद्ध होता है कि रजस्वला होनेसे पहिले ही कन्यादानकी आज्ञा दी गई है। अतः इन सब प्रमाणोंसे कन्याकी आयुके विषयमें सामान्यतः आठ वर्षसे लेकर बारह वर्ष तककी आज्ञा और विशेषतः कहीं आठ वर्षमें विवाह होनेकी प्रशंसा, कहीं दस वर्षमें विवाह होनेकी प्रशंसा और उससे अधिक उमरमें विवाह होनेकी निन्दा तथा कहीं कहीं बारह वर्षमें विवाह होनेकी आज्ञा और उससे अधिक आयुमें विवाह होनेकी निन्दा की गई है; परन्तु सर्व्वत्र ही एकमतसे ऋतुकालसे पहिले कन्यादानकी आज्ञा है। वास्तवमें कितने वर्षकी आयुमें कन्याका विवाह होना चाहिये इसका निश्चय कभी नहीं हो सकता है, केवल रजस्वला होनेके पहिले होना चाहिये यही साधारणतः निश्चय हो सकता है। इसका कारण क्या है सो बताया जाता है। मनुसंहितामें लिखा है कि:—

स्वां प्रसूतिं चरित्रञ्च कुलमात्मानमेव च ।
स्वञ्च धर्म्मं प्रयत्नेन जायां रक्षन् हि रक्षति ।।

स्त्रीकी सुरक्षासे निज सन्तति, चरित्र, वंशमर्य्यादा, आत्मा और स्वधर्म्मकी रक्षा होती है इसलिये स्त्रीकी रक्षा सर्व्वथा करणीया है। अब यह रक्षा कैसे हो सकती है सो

विचार करने योग्य है। पहिले ही कहा गया है कि प्रत्येक स्त्रीके साथ प्रत्येक पुरुषका जो भोग्यभोक्ता सम्बन्ध स्वाभाविक है, उसको अनर्गल होनेसे रोककर एक सम्बन्ध ही में संस्कार व भावशुद्धि द्वारा स्त्री पुरुषको बाँधकर प्रवृत्तिमार्गके भीतरसे निवृत्तिमें लेजाना ही विवाहका एक प्रधान लक्ष्य है। इसलिये स्त्रीका व पुरुषका विवाह उसी समय होना चाहिये जिस समय उनमें भोग्य व भोक्ता भावका उदय हो; क्योंकि उस समय विवाह-संस्कार न करानेसे प्रवृत्ति अनर्गल अर्थात् अनेकोंमें चञ्चल होकर अधोगति करा सकती है। यही स्त्री व पुरुष दोनोंके लिये साधारण धर्म्म है। दूसरी ओर स्त्रीजातिको पूर्णरूपसे रक्षा करनेसे निज सन्ततिकी रक्षा होती है और उसके द्वारा पितरोंकी तृप्ति होती है और कुलकी रक्षा होती है तथा आर्यजातिके पवित्रताकी रक्षा होती है। कुलाचार, व्यक्तिगत चरित्र और यहाँ तक कि आत्मा तककी रक्षा हुआ करती है इस कारण स्त्रीकी पवित्रताकी रक्षा पहलेसे ही होनी चाहिये। अतः कन्याके माता-पिता कन्याको धार्मिक शिक्षा देकर ऐसे समयमें उसका विवाह करदें जिससे उसको पवित्रता बनी रह सके। शरीरकी ही पवित्रता नहीं, किन्तु कन्याके मनके पवित्रता तककी सुरक्षा होनी चाहिये।

अब उक्त सिद्धान्तको लक्ष्यमें रखते हुए स्त्री व पुरुष दोनोंकी आयु समान होनी चाहिये या असमान होनी चाहिये और किसकी कितनी होनी चाहिये सो विशेषधर्मके विचारसे तत्त्व निर्णय किया जाता है। पहिले ही कहा गया है कि स्त्रीमें प्रकृतिभावकी प्रधानता पुरुषमें पुरुषभावकी प्रधानता होनेसे स्वभावतः ही स्त्री अज्ञानमयी व पुरुष ज्ञान-मय होता है। मनुजीने कहा है कि :—

पानं दुर्ज्जनसंसर्गः पत्या च विरहोऽटनम्।
स्वप्नोऽन्यगेहवासश्च नारीसंदूषणानि षट्॥
नैता रूपं परीक्षन्ते नाऽऽसां वयसि संस्थितिः।
सुरूपं वा विरूपं वा पुमानित्येव भुञ्जते॥
पौंश्चल्याच्चलचित्ताच्च नैस्नेह्याच्च स्वभावतः।
रक्षिता यत्नतोऽपीह भर्त्तृष्वेता विकुर्व्वते॥
एवं स्वभावं ज्ञात्वाऽऽसां प्रजापतिनिसर्गजम्।
परमं यत्नमातिष्ठेत्पुरुषो रक्षणं प्रति॥

मद्यपान, दुर्ज्जनका सङ्ग, पतिसे विरह, इधर उधर घूमना, असमयमें निद्रा व दूस-रेके घरमें वास, स्त्रियोंके ये स्वाभाविक छः दोष हैं। स्त्रीजाति, रूप या उमरका कोई भी

विचार नहीं करती हैं। सुन्दर हो या न हो, पुरुष मिल जानेसे ही सम्बन्ध करती हैं। पुरुषको देखते ही कामेच्छा, स्वाभाविक चित्तचाञ्चल्य और स्नेहहीनताके कारण वे पतिके द्वारा सुरक्षित होने पर भी व्यभिचार करती हैं। विधाताने स्त्रीजातिकी प्रकृति ही ऐसी बनाई है, इस प्रकार जानकर उनकी रक्षा करनेमें पुरुषको सदा ही यत्नशील होना चाहिये। यही स्त्रीप्रकृतिमें तमोमयी अविद्याका भाव है। इसके अतिरिक्त उनमें सत्त्वगुणमयी विद्याका भी भाव है जिससे, जैसा कि पहिले कहा गया है. पुरुषसे भी अधिक धैर्य्यं, पातिव्रत्य, तपस्या और तन्मयता आदि सद्गुण उनमें प्रकट होते हैं। अतः जिस आयुमें विवाह करानेसे स्वाभाविक अविद्याभावका उदय न हो और विद्याभावकी ही दिन-पर-दिन पुष्टि हो, उसी आयुमें कन्याका विवाह होना चाहिये। कन्याकालके विषयमें पहिले ही कहा गया है कि जबतक स्त्री पुरुषके सामने लज्जित होकर वस्त्रसे अपने अङ्गोंको आवृत न करे और कामादि विषयोंका ज्ञान जबतक उसको न हो तभी तक स्त्रीका कन्याकाल जानना चाहिए। इसी प्रमाणके अनुसार यही सिद्धान्त होता है कि जिस समय स्त्रीमें स्त्रीसुलभ चाञ्चल्य व स्त्रीभावका विकाश होने लगता है और वह समझने लगती है कि "मैं स्त्री हूँ, वह पुरुष है और हम दोनोंका भोग्यभोक्तासम्बन्ध विवाहके द्वारा होता है" उसी समय कन्याका विवाह अवश्य होना चाहिए क्योंकि जिस समय स्त्री पुरुषके साथ अपना स्वाभाविक भोग-सम्बन्ध समझने लगती है; उसी समय विवाह कर देनेसे एकही पुरुषके साथ नैसर्गिक प्रेम प्रवाहका सम्बन्ध बंध जायगा, जिससे पतिव्रत्यधर्म्ममें जोकि स्त्रीकी उन्नतिके लिये एकमात्र धर्म्म है, कोई हानि नहीं होगी। अन्यथा, स्वाभाविक चञ्चल चित्तको निरंकुश छोड़ देनेसे बहुत पुरुषोंमें चाञ्चल्य होकर पातिव्रत्यकी गंभीरता नष्ट हो सकती है और ऐसा होनेका अवसर देना स्त्रीका सत्यानाश करना है। अतः विवाहका वय इन्हीं विचारोंके साथ पिता माताको ठीक करना चाहिए। इसमें कोई नियमित वर्ष नहीं होसकता है क्योंकि देश, काल, पात्रके भेद होनेसे सभी स्त्रियोंके लिये स्त्रीभाव-विकाशका एक ही काल नहीं होसकता है। परन्तु साधारणतः ८ वर्षसे लेकर १२ वर्ष तक, इस प्रकार स्त्रीभाव-विकाशका काल है। इसलिये मनुआदि महर्षियोंने ऐसी ही आज्ञाकी है। विचारमें मतभेद होनेका कारण यह है कि जिस देश कालको मुख्य रखकर जिस स्मृतिमें विवाहके कालका विधान किया गया है उस देश कालमें कन्याभाव कब तक रह सकता है और नारीभावकब होने लगता है उसीके ही विचारसे कन्याके लिये विवाहकालका निर्णय किया गया है। देश, काल और पात्रका भी प्रभाव कन्या शरीर पर पड़ता है। गरम देशकी कन्यायें शीघ्र ऋतुमती होती हैं और नारी भावको प्राप्त होती हैं। शीत प्रधान देश तथा पर्वतीयप्रदेशोंकी कन्याओंमें स्त्री भावका विकाश कुछ देरमें होता है। विषयी प्रधान विषयी मनुष्य समाज और विषय भोग रत माता-पिताओंकी

कन्याओंमें भी, स्त्री भावका विकाश शीघ्र होना सम्भव है अतः आठ वर्षसे लेकर बारह वर्ष तकका काल, कन्याविवाहके लिये निश्चय कर देना, पूज्यपाद महर्षियोंके लिये युक्तियुक्त ही है। सात्त्विक स्थूलशरीर में विकाश देरसे होता है परन्तु तामसिक कामज शरीरमें स्त्रीभावका विकाश शीघ्र होता है। जिस प्रकार पुरुषशरीर कामज होनेसे उसमें ब्रह्मचर्य्य धारणकी शक्ति कम होती है और थोड़ी उमरमें ही यौवन-सुलभ सभी बातें आजाती हैं उसी प्रकार स्त्रीका भी शरीर कामज होनेसे उसमें नारीभावका विकाश व चाञ्चल्य शीघ्र होने लगता है। गर्भाधान संस्कार ठीक ठीक होनेसे सात्त्विक शरीर होता है और उसमें नारीभाव भी देरसे उत्पन्न होता है। परन्तु जहां धार्मिक प्रजोत्पत्तिका लक्ष्य न होकर केवल पाशविक सम्बन्धसे सन्तान होती है वहां स्त्री अथवा पुरुषका शरीर व मन भी निकृष्ट होगा इसमें सन्देह ही क्या है ? ये ही सब कारण हैं जिससे महर्षियोंने कन्याके विवाहकालके विषयमें भिन्न भिन्न मत बताये हैं। परन्तु ऊपरके प्रमाणोंसे सिद्ध होगा कि विवाहकालके विषयमें महर्षियोंके मतोंमें भेद होने पर भी रजस्वला होनेके पहिले विवाह होना चाहिये इस विषयको सभी महर्षियोंने एकवाक्य होकर स्वीकार किया है और इसमें कभी किसीने मतभेद प्रकाश नहीं किया है। ऋग्वेदमें लिखा है किः—

सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्व्वो विविद उत्तरः।
तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः ॥ (मं० १० सू० ८५)

चन्द्र देवताने स्त्रीको प्रथमतः प्राप्त किया, द्वितीयतः गन्धर्व्व व तृतीयतः अग्निने प्राप्त किया और चतुर्थतः मनुष्यपतिने स्त्रीको प्राप्त किया। इस मन्त्रके भावार्थको न समझकर किसी किसी अर्व्वाचीन पुरुषने इसे नियोग पर ही लगा दिया है और किसीने इसको विवाहकालमें लगाकर रजस्वला होनेके बाद विवाह होना चाहिये ऐसा अर्थ करनेका यत्न किया है। परन्तु वास्तवमें इसका भावार्थ न नियोगका ही है और न विवाहकाल निर्णय करनेके लिये ही यह मन्त्र है। इसके द्वारा स्त्रीशरीरको उन्नतिकी अवस्था और इसके करनेवाले तीन देवता बताये गए हैं। रजस्वला होने तक स्त्रीशरीरकी तीन अवस्था होती हैं जिनके करनेवाले तीन देवता हैं, सोम, गन्धर्व्व और अग्नि। इन तीनोंके द्वारा रजस्वला पर्य्यन्त स्त्रीशरीर पूर्ण होने पर तब स्त्री गर्भाधानकी योग्या होती है जिसके करनेका भार मनुष्यपति पर है। इसमें विवाहकी उमरका कोई निर्देश नहीं है। केवल कन्यापनसे लेकर गर्भाधानकाल तक स्त्रीशरीरकी उन्नतिकी तीन दशायें बताई गई हैं। अतः इससे विवाह संस्कारका कालनिर्णय नहीं करना चाहिये। विवाहसंस्कारका सम्बन्ध भावराज्य व सूक्ष्म शरीरके साथ है और गर्भाधानका सम्बन्ध स्थूलशरीरसे अधिक है। दोनोंमेंबहुत प्रभेद है।

अब इस मन्त्रके द्वारा स्त्रीशरीरकी कौन कौन उन्नति किस किस देवताके अधिष्ठानसे होती है सो बताया जाता है। महर्षि याज्ञवल्क्य अपनी संहितामें लिखते हैं:—

सोमः शौचं ददौ तासां गन्धर्व्वाश्च शुभां गिरम्।
पावकः सर्व्वमेध्यत्वं मेध्या वै योषितो ह्यतः॥

चन्द्र देवताने स्त्रियोंको शुचिता, गन्धर्व्वने मधुरवाणी और अग्निदेवताने सबसे अधिक पवित्रता दी है इसलिये स्त्री पवित्र है। इस श्लोकमें देवताओंके अधिष्ठानसे स्त्रियोंको मधुरवाणी आदिका लाभ होता है ऐसा कहा गया है। गोभिलीय गृह्यसंग्रहमें लिखा है कि:—

व्यञ्जनैस्तु समुत्पन्नैः सोमो भुञ्जीत कन्यकाम्।
पयोधरैस्तु गन्धर्व्वो रजसाऽग्निः प्रकीर्त्तितः॥

स्त्री लक्षणोंके विकाश होते समय चन्द्रदेवका अधिकार स्तनविकाशके समय गन्धर्व्वोंका अधिकार और रजस्वला होनेके समय अग्निका अधिकार रहता है। इन तीनों दैवीशक्तियोंके प्रभावसे ही कन्याकालके बाद रजस्वला तक स्त्रियोंकी सर्व्वाङ्गपूर्णता हुआ करती है और इसके अनन्तर ही गर्भाधानसंस्कार होता है जो कि मनुष्यपतिका कर्त्तव्य है। परन्तु विवाह संस्कार इन तीनों लक्षणोंके विकाशसे पहिले ही होना चाहिए क्योंकि उसका सम्बन्ध पतिव्रत्य भावसे है, शरीर से नहीं है। और इसीलिए गोभिल ऋषिने पूर्व्वोक्त श्लोकके द्वारा स्त्री-शरीर की उन्नतिको दशाओंको बताकर पश्चात् कहा है कि:—

तस्मादव्यञ्जनोपेतामरजामपयोधराम्।
अभुक्ताञ्चैव सोमाद्यैः कन्यका तु प्रशस्यते॥

इसलिए स्त्री-लक्षण-विकाशरूप पयोधर व रजस्वला होनेके पहिले ही या चन्द्रादि देवताओंके कार्य्यके पहिले ही कन्याका विवाह होजाना प्रशंसनीय है। यही सर्व्ववादिसम्मत शास्त्रीय सिद्धान्त है। स्मृतियोंमें कहीं कहीं रजस्वलाके बाद विवाहके वचन जो देखे जाते हैं वे सब आपद्धर्म्मविषयके हैं। यथा—मनुसंहितामें:—

त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्य्यृतुमती सती।
ऊर्द्ध्वं तु कालादेतस्माद्विन्देत सदृशं पतिम्॥ (९ अ०)

ऋतुमती होने पर भी यदि माता पिता कन्याको योग्य पात्रमें दान न करें तो वह कन्या ऋतुके बाद तीन वर्षतक प्रतीक्षा करके पश्चात् स्वयं ही योग्य पति निर्व्वाचित कर सकती है। इस श्लोकमें यदि पिता, माता या आत्मीय कोई विवाह न करावें तब तीन वर्षतक ऋतुके

बाद रहनेकी और स्वयंवरा होनेकी आज्ञा मनुजीने की है। यह आपद्धर्म्म है। इसी आपद्धर्म्मके सिद्धान्तको और भी कई महर्षियोंने स्वीकार किया है। यथा—वशिष्ठसंहितामें:—

त्रीणि वर्षाण्यृतुमती काङ्क्षेत पितृशासनम्।
ततश्चतुर्थे वर्षे तु विन्देत सदृशं पतिम्॥

अविवाहिता अवस्थामें ऋतुमती होनेपर कन्या तीन वर्षतक पिताकी प्रतीक्षा करके चौथे वर्षमें योग्य पति स्वयं देखलेसकती है। पिता माता यदि किसी स्वार्थवश अयोग्य वर या कन्याके साथ विवाह करानेकी कोशिश करें जैसाकि आजकल कहीं कहीं देखा जाता है तो भी स्त्री पुरुषके लिए स्वयं प्रयत्न करनारूप आपद्धर्मका मौका मिल सकता है। केवल इतना ही नहीं, आपद्धर्ममें तो मनुजी ने यावज्जीवन कुमारी रहनेकी भी आज्ञा दी है। यथाः—

उत्कृष्टायाऽभिरूपाय वराय सदृशाय च।
अप्राप्तामपि तां तस्मै कन्यां दद्याद्यथाविधि॥
काममामरणात्तिष्ठेद् गृहे कन्यर्तुमत्यपि।
न चैवेनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित्॥

उत्तम कुल-शीलवान् योग्य वर मिलने पर विवाहयोग्य न होने पर भी कन्याको ऐसे पात्रमें यथाविधि दान करे और ऋतुमतीको यावज्जीवन घरमें रखना भी अच्छा है, तथापि गुणहीन पात्रमें समर्पण करना उचित नहीं है। इस प्रकार आपद्धर्म्मकी बातें अन्यान्य महर्षियों ने भी कही हैं। इन सब बचनोंको साधारण विवाह-विधिमें भी नहीं लगाने चाहिए। अब स्मृतिकारगणने कन्यां-विवाहकालके विषयमें इतनी सावधानताका अवलम्बन क्यों किया है सो बताया जाता है। यदि महर्षिगण स्त्रीको केवल सन्तान उत्पन्न करनेका यन्त्रमात्र ही समझते अथवा कामभोग करनेका एक अवलम्बनमात्र ही समझते तो इतनी बातें कभी नहीं बताते। परन्तु वे इस बातको निश्चित जानतेथे कि स्त्रीमें पतिप्रेम, पातिव्रत्य धर्म्म व तपस्याभावकी थोड़ी भी न्यूनता होनेसे सन्तति धार्म्मिक व आर्य्यभावापन्न नहीं होती, और स्त्रीके दूषित होनेसे कुल, जाति, मनुष्य समाज और देश सब अधःपतित होते हैं। इसलिये उन्होंने बहुत विचार करके ऐसी ही विधि बताई है कि जिससे दाम्पत्यप्रेमके द्वारा संसारमें शांति रहे, दम्पतिकी शारीरिक व मानसिक कुछ भी हानि नहीं हो और सन्तति भी धार्म्मिक व स्वस्थशरीरवाली उत्पन्न हो।

अब महर्षियोंके द्वारा विहित विवाहसे उक्त बातोंकी सिद्धि कैसे हो सकती है सो बताया जाता है। यौवनके प्रथम विकाशके साथ ही साथ स्त्री पुरुषमें जो

भोग्यभोक्ताका ज्ञान होता है यह स्वभाविक बात है, परन्तु इस स्वभावके अतिरिक्त स्त्रियोंमें जो रजोधर्म्मका विकाश होता है यह बात असाधारण व विशेष है। रजोधर्म्म प्रकृतिकी विशेष प्रेरणा है। इसके द्वारा स्त्री गर्भधारणयोग्या होजाती है, यही प्राकृतिक इङ्गित है। और इसी इङ्गितके कारण रजस्वला होनेके समय अर्थात् ऋतुकालमें स्त्रियोंकी कामचेष्टा बहुत ही बलवती हुआ करती है अतः उस समय स्त्रियोंमें विशेष चाञ्चल्य होना स्वभाविक है। यथाः—

> रजस्वला च या नारी विशुद्धा पञ्चमे दिने।
> पीड़िता कामवाणेन ततः पुरुषमीहते ॥ (शाक्तानन्द तरङ्गिणी)

ऋतुस्नाता नारी पांचवें दिन कामपीड़िता होकर पुरुषसम्बधको चाहती है। इसी स्वभाविक प्रवृत्तिको केन्द्रीभूत करनेके लिए ही महर्षियोंने रजस्वलाके पहिले विवाहकी आज्ञाकी है क्योंकि ऐसा न होनेसे नैसर्गिकी कामेच्छा अवलम्बन न पाकर जहाँ तहाँ फैलकर पातिव्रत्यमें बहुत हानि कर सकती है। और जहां एक बार निरंकुशताका अभ्यास पड़ा पुनः उसे रास्ते पर लाना बहुत ही कठिन होजाता है क्योंकि स्त्री-प्रकृति चञ्चल होनेसे थकती नहीं है, अविद्याभावके विकाशके लिये थोड़ा भी अवसर मिलनेसे उसी भावमें रमजातीं है और उससे पुनः विद्याभावका विकाश करना बहुत ही कठिन होजाता है। परन्तु पुरुषकी प्रकृति ऐसी नहीं है, उसमें यौवन-सुलभ साधारण काम-भाव रहता है, उसमें रजस्वला-दशा का विशेष भाव नहीं है अतः उस साधारण भावका विकाश भी साधारणतः ही होती है एवं विशेष प्राकृतिक प्रेरणा स्त्रियोंकी तरह नहीं होती है इसलिये स्त्रियोंकी तरह, यौवनके उदयसे भोग्यभोक्ताभाव होतेही, उसी समय विवाह करनेकी प्रबल आवश्यकता उनके लिये नहीं होती है। इसके सिवाय पुरुषके चाञ्चल्यकी सीमा है और उसमें थकान है जिससे स्वभावतः ही पुरुष निवृत्ति होकर अपने स्वरूपमें आसकता है। इसी प्रकारकी विशेष धर्म्मकी विभिन्नताके कारण ही महर्षियोंने स्त्री व पुरुषके विवाहकालमें भी भेद रक्खा है। द्वितीयतः पुरुषमें ज्ञानशक्तिकी अधिकता होनेसे साधारण कामभावको विचार द्वारा पुरुष रोक सकता है; परन्तु स्त्रीमें अज्ञानभावकी अधिकता होनेसे असाधारण प्राकृतिक प्रेरणाको रोकना बहुत हो कठिन होजाता है। तृतीयतः यदि रोक भी न सकें तथापि पुरुषके व्यभि-चारसे समाजमें व कुलमें इतनी हानि नहीं पहुंचती है जितनी हानि स्त्रीके व्यभिचारसे पहुं-चती है। पुरुषके व्यभिचारका प्रभाव अपने शरीर ही पर पड़ता है; परन्तु स्त्रीके व्यभिचारसे वर्णसङ्कट उत्पन्न होकर जाति, समाज और कुलधर्म्म सभीको नष्ट कर देता है। इन्हीं सब कारणोंसे स्त्रीके लिये रजस्वला होनेसे पहिले ही विवाहकी आज्ञाकी गई है और पुरुषके

लिये अधिक उमर पर्य्यन्त ब्रह्मचारी होकर विद्याभ्यासकी आज्ञा की गई है। इसके सिवाय यदि पुरुष भी ब्रह्मचारी न रह सकें तो "धर्म्मे सीदति सत्वरः" अर्थात् धर्म्महानिकी सम्भावना होनेपर शीघ्र भी विवाह कर सकते हैं ऐसी भी आज्ञा मनुजीने दी है। अतः इन सब आध्यात्मिक व सामाजिक बातोंपर विचार करनेसे पूज्यपाद महर्षियोंकी आज्ञा युक्ति-युक्त मालूम होगी। पातिव्रत्यधर्म्मके पालन किये बिना स्त्रीका अस्तित्व ही वृथा है। इसलिए जिन कारणोंसे पातिव्रत्य पर कुछ भी धक्का लगनेकी सम्भावना हो उनको पहिलेसे ही रोककर जगदम्बाकी अंशस्वरूपिणी स्त्रीजातिकी पवित्रता व सत्त्वगुणमय विद्याभावकी मर्य्यादाकी ओर जब पूर्ण दृष्टि होगी तभी आर्य्यधर्म्मका पूर्ण पालन हो सकेगा।

आर्य्यशास्त्रोंमें आध्यात्मिक उन्नतिका साधन स्थूलशरीरको भी माना जाता है। स्थूलशरीरकी रक्षाके बिना आध्यात्मिक उन्नतिसे भी असुविधा होती है इसलिये स्त्रीजातिके लिये पातिव्रत्यधर्म्मके साथ ही साथ स्थूलशरीरकी रक्षा व उन्नति हो इसमें ध्यान रखना योग्य है। माता पिताका शरीर स्वस्थ न होनेसे सन्तति भी दुर्बल व रुग्ण होती है इसलिये जिससे सन्तति भी अच्छी हो ऐसा यत्न होना चाहिये। गर्भाधान कालके विषयमें सुश्रुतमें लिखा है कि :—

ऊनषोडशवर्षायामप्राप्तः पञ्चविंशतिम्।
यद्याधत्ते पुमान् गर्भं गर्भस्थः स विपद्यते॥
जातो वा न चिरञ्जीवेज्जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रियः।
तस्मादत्यन्तबालायां गर्भाधानं न कारयेत्॥ (अ० १०।४७।४८)

पच्चीस वर्षसे कम आयुका पुरुष यदि सोलह वर्षसे कम आयुकी स्त्रीमें गर्भाधान करे तो गर्भमें सन्तानकी विपत्ति होती है और यदि इस प्रकारसे सन्तान उत्पन्न भी हो, तो भी या तो वह अल्पायु होती है या दुर्बलेन्द्रिय होती है, इसलिये कम आयुकी स्त्रीमें गर्भाधान नहीं करना चाहिये। इस प्रकारसे सुश्रुतमें जो गर्भाधान कालका निर्णय किया गया है सो अवश्य माननीय है। किसी किसी अर्वाचीन पुरुषने सुश्रुतके इस वचनको विवाहकालके लिये लगा दिया है सो उनकी भूल है क्योंकि इन श्लोकोंमें ही कहा गया है कि यह विषय गर्भाधानका है। विवाहकालके विषयमें सुश्रुतके शरीराध्याय १० सू० ५३ में लिखा है— 'अथास्मै पञ्चविंशतिवर्षाय द्वादशवर्षीयां पत्नीमावहेत्' अर्थात् पच्चीस वर्षके पुरुषको बारह वर्षकी कन्याका पाणिग्रहण करना चाहिये। अब विचार करनेकी बात यह है कि कम आयुमें विवाह व गर्भाधान करनेसे सन्तति दुर्बल होती है और रजस्वला होजानेके बाद विवाह करनेसे पातिव्रत्य धर्म्ममें बाधा होती है अतः ऐसा कोई उपाय होना चाहिये जिससे

सन्तान भी अच्छी हो और पातिव्रत्यरूप विशेषधर्म्म भी पूरा बना रहे सो कैसे होसकता है यह बताया जाता है। साधारण रजःकालके विषयमें सुश्रुतमें कहा है कि:—

तद्वर्षाद्द्वादशात्काले वर्त्तमानमसृक् पुनः।
जरापक्वशरीराणां याति पञ्चाशतः क्षयम् ॥

साधारणतः १२ वर्षकी आयुसे रजोदर्शन प्रारम्भ होकर ५० वर्षकी आयुमें वार्द्धक्य आनेपर समाप्त होता हैं। बारह वर्षका काल रजोदर्शनका साधारण काल है। इससे कम आयुमें या अधिक आयुमें भी विशेषकारण होनेपर रजोदर्शन हो सकता है। गर्भाधान संस्कारके साथ इस प्रकारके विशेष कारणका क्या सम्बन्ध है सो पहिले बताया गया है प्रकृतिके वैलक्षण्यसे भी विशेष कारणका क्या सम्बन्ध है सो पहिले बताया गया है। यथा-वातप्रधान शरीरमें १२ वर्षमें और पित्तप्रधान शरीरमें १४ वर्षमें प्रायः रजोदर्शन होता है। इसके सिवाय असमयमें रजोदर्शनके और भी कईएक कारण हैं। यथा—अस्वाभाविक बल-प्रयोग, उत्तेजक औषधिसेवन, रतिविषयक चिन्ता और कार्य्य या कथोपकथन इत्यादि। अतः विवाहके पहिले पिता माताको सदा ही सावधानतापूर्व्वक देखना चाहिए जिससे ऊपर लिखे हुए दोष कभी कन्यामें न होने पावें। इस प्रकारसे पालन की हुई कन्यामें जब स्वाभाविकरूपसे स्त्रीभाव विकाशकी सूचना होने लगजाय तब उसका विवाह योग्यपात्रमें करदेना चाहिये। विवाह करदेनेके बाद ही स्त्री पुरुषका सम्बन्ध नहीं होना चाहिये। पातिव्रत्यकी सुरक्षाके लिये कन्याके चित्तको पतिरूप केन्द्रमें बांध दिया गया, इसका यह तात्पर्य नहीं है कि चाहे रजोदर्शन हुआ हो या नहीं, उस कन्याके साथ उसी समयसे पाशविक व्यवहार शुरू हो जाय। शास्त्रमें रजोदर्शनसे पहिले स्त्रीगमनको ब्रह्महत्याके समान पापजनक कहा गया है। यथा—स्मृतिमें:—

प्राग्रजोदर्शनात्पत्नीं नेयाद् गत्वा पतत्यधः।
व्यर्थीकारेण शुक्रस्य ब्रह्महत्यामवाप्नुयात् ॥

रजोदर्शनसे पहिले स्त्रीके साथ सम्बन्ध नहीं करना चाहिये क्योंकि ऐसा करनेसे पुरुषका अधःपतन होता है और इस प्रकार वृथा शुक्रनाशसे ब्रह्महत्याके समान पाप लगता है। अतः विवाहके अनन्तर जबतक स्त्री रजस्वला न हो तबतक कभी उसके साथ सम्बन्ध पतिको नहीं करना चाहिये। कन्यापनमें जो कुछ अपने अधिकारके अनुसार शिक्षा कन्याको प्राप्त हुई थी उसके अनन्तरकी शिक्षा पति उसे दिया करे। पातिव्रत्यकी महिमा, स्त्रीके लिये अनन्य धर्म्म पातिव्रत्य है, श्री, लज्जा, आज्ञाकारिणी होना, आलस्य-त्याग

और तपस्या आदि, स्त्रीके लिये आवश्यक शिक्षा-योग्य जो धर्म हैं सो सब बातें सिखाया करे। उसके साथ कामकी बातें कभी नहीं किया करे, परन्तु उसके चित्तमें विशुद्ध प्रेमका अंकुर जमाया करे। इस प्रकार रजस्वला होनेके पहिले तक स्त्रीके साथ शुभ संयमका बर्त्ताव होना चाहिये। पश्चात् रजस्वला होनेके बाद भी कुछ समय तक पतिपत्निको ब्रह्मचर्य्य धारण करना चाहिये। यह बात सत्य है कि रजस्वला स्त्रीमें गमन न करना भ्रूणहत्याके पापके समान है ऐसा महर्षियोंने वर्णन किया है। यथा व्याससंहितामें:—

भ्रूणहत्यामवाप्नोति ऋतौ भार्य्यापराङ्मुखः।
सा त्ववाप्याऽन्यतो गर्भं त्याज्या भवति पापिनी॥

ऋतुकालमें अपनी स्त्री में गमन न करनेसे पुरुषको भ्रूणहत्याका पाप होता है और यदि ऋतुमती स्त्री दूसरे पुरुषसे गर्भोत्पादन करावे तो वह पापिनी व त्याज्या होती है। स्त्रीका ऋतु होना सृष्टिविस्तारके लिये प्रकृतिकी ओरसे प्रेरणा है क्योंकि उसी समय पुरुषका बीज मिलनेसे स्त्री सन्तान उत्पन्न कर सकती है। इसलिये ऋतुकालमें गमन न करनेसे स्वाभाविक सृष्टिकार्य्यमें बाधा होनेके कारण पाप होता है, परन्तु यह धर्म्म साधारण है क्योंकि यह प्रकृतिके साधारण सृष्टिप्रवाहका विषय है। विशेष धर्म्मको आश्रय करके यदि स्त्री व पुरुष दोनों ही कुछ दिनों तक ब्रह्मचारी रह सकें तो अधिक लाभ है। गृहस्थाश्रममें स्त्री पुरुका यह साधारण धर्म्म है कि ऋतुकालमें सम्बन्ध करके सृष्टि विस्तार करें; परन्तु यदि कोई गृहस्थ नरनारी निवृत्तिके विशेष अभ्यासके लिये ब्रह्मचर्य्य धारण करें तो उससे अधर्म्म नहीं होगा, अधिकन्तु धर्म्म ही होगा और ब्रह्मचर्य्य धारण होनेसे आगेकी सन्तति अच्छी होगी। इसी सिद्धान्तके अनुसार यदि प्रकृतिका वैचित्र्य, गर्भाधान संस्कारकी न्यूनता अथवा और किसी कारणसे जितनी आयुमें शरीरकी पूर्णता होनेसे अच्छी सन्तति होसकती है उससे पहिले ही किसी स्त्रीको रजोदर्शन होजाय तो जबतक शरीर पूर्ण व गर्भाधानके योग्य न हो तबतक दम्पतिके ब्रह्मचर्य्य धारण करनेमें कोई दोष नहीं होगा। इस तपस्यासे पुरुषके पुरुषत्वका विशेष सम्बन्ध है। कुमारी कन्या प्रथम पुरुष संगकी चेष्टा अपने आप नहीं कर सकती है यह प्रकृतिका स्वभाव है। कन्यामें काम चेष्टा पुरुषके काम चेष्टासे ही प्रादुर्भूत होती है। अतः ब्रह्मचर्य व्रतमें निष्ठा रखने वाला पुरुष यदि उस व्रतको और थोड़े दिन रख कर अपनी स्त्री को संयमी, विदुषी और योग्य बननेके शुभ अभिप्रायसे स्वयं भी संयम करनेका पुण्य प्राप्त करे और स्त्रीको भी करावे तो उसको अभ्युदय और निःश्रेयसकी प्राप्ति होगी यही शास्त्रोंका अभिप्राय है। सुश्रुतमें जो १२ वर्षमें रजोदर्शनकी सम्भावना बताकर १६ वर्षमें गर्भाधानकी आज्ञा दी गई है उसका यही

तात्पर्य है और इस प्रकारसे ब्रह्मचर्य्य रखनेकी आज्ञा अन्यान्य शास्त्रोंमें भी मिलती है। यथा—कातीय गृह्यसूत्रमें :—

त्रिरात्रमक्षाराऽलवणाऽशिनौ स्यातामधः
शयीयातां संवत्सरं न मिथुनमुपेयाताम्।

तीन रात्रि तक लवण व किसी प्रकारका क्षार द्रव्य दम्पति नहीं खावें, भूमिशय्या पर सोवें और एक वर्ष तक संसर्ग न करें इत्यादि। इसी प्रकार संस्कार-कौस्तुभमें शौनकने भी कहा है कि :—

अत ऊद्ध्वं त्रिरात्रं तौ द्वादशाऽहमथाऽपि वा।
शक्तिं वीक्ष्य तथाऽब्दं वा चरन्तां दम्पती व्रतम्॥
अक्षारलवणाऽऽहारौ भवेतां भूतले तथा।
शयीयातां समावेशं न कुर्य्यातां वधूवरौ॥

विवाहके अनन्तर ३ तीन रात्रि, १२ बारह दिन और यदि शक्ति हो तो वर्ष पर्य्यन्त दम्पत्ति निम्नलिखित व्रतका पालन करें। क्षार द्रव्य व लवण नहीं खावें, भूमिशय्यापर सोवें और संसर्ग न करें। ब्रह्मपुराणमें भी लिखा है कि:—

कृते विवाहे वर्षैस्तु वस्तव्यं ब्रह्मचारिणा।

विवाह होनेके बाद बहुत वर्ष तक दम्पतिको ब्रह्मचर्य्य धारण करना चाहिये। एतद्देशमें जो द्विरागमनकी प्रथा है उससे भी ऊपर लिखित भावोंका आभास पाया जाता; अर्थात् कन्याका विवाह रजस्वला होनेसे पहिले शास्त्रोक्त समय पर करदेने पर भी कन्याको पिता अपने घरमें ही रक्खें और कुछ समयके अनन्तर कन्याको पतिसङ्गके उपयोगी समझने पर उसका द्विरागमन (गौना) कर देवें। यह उत्तम रीति अब भी बहुत देशोंमें प्रचलित है। इस रीतिका संस्कार करने पर सब ओरका कल्याण होसकता है और आसुरीशिक्षाके प्रभावसे जो कन्या-विवाह-कालके विषयमें लोग कन्याविवाह-कालका समय अधिक बढ़ाना चाहते हैं वह समस्या भी इस नियमके पालनसे पूर्ण हो सकती है। विवाहके दुर्गमें कन्याको ठीक समय पर सुरक्षित कर दिया जाय, परन्तु उत्तम शिक्षा देनेके लिये पतिके घरमें कुछ काल तक उसको न भेजा जाय। इससे सब ओर मंगल हो सकता है। पति पत्नीका एक जगहमें रहकर ब्रह्मचर्य्य रखना कलियुगमें कुछ कठिन है; परन्तु यह रीति सब तरहसे सुगम व सुफल-देनेवाली है। अतः विवाह होने पर भी जबतक स्त्रीका शरीर पूर्ण न हो तब तक गर्भाधान करना ठीक नहीं है।

अब प्रश्न होसकता है कि यदि रजस्वलाके बाद भी कुछ दिनों तक ब्रह्मचर्य्यपालन होना ही ठीक है तो अविवाहिता अवस्थामें ही रजस्वला होने पर दो तीन वर्ष तक ब्रह्मचर्य्यं पालन कराकर तब कन्याका विवाह कर देनेमें हानि क्या है ? इसका यह उत्तर है कि जाति या वंशकी पवित्रता व शुद्ध सृष्टि विस्तारके साथ जिसका सम्बन्ध जितना अधिक है, उसकी पवित्रता रक्षाके लिये भी उतनाही अधिक प्रयत्न होना चाहिए और जिस कार्य्यसे अपवित्रताकी थोड़ी भी सम्भावना हो उससे सदा ही दूर रहना चाहिये। पुरुषमें व्यभिचार-दोष हो तो उसका फल पुरुषके अपने ही शरीर व मन पर पड़ता है; परन्तु स्त्रीके व्यभिचार-दोषका प्रवाह समस्त कुल, समाज व जाति पर पड़ता है और उसके व्यभिचारसे कुछ पितरों और देवताओंकी ही अप्रसन्नता नहीं होती वल्कि त्रिलोक-पवित्रकारी वर्णाश्रम-धर्मी आर्य जाति नष्ट भ्रष्ट हो सकती है। उच्चकुलको स्त्री यदि कदापि व्यभिचारसे नोच कुलका वीर्य्य अपने गर्भमें लावे अथवा आर्य्य स्त्री व्यभिचारसे अनार्य्य वीर्य्य गर्भमें लावे तो उससे समस्त कुल, समाज व जाति कलङ्कित हो जाती है। इसलिए पुरुषसे भी स्त्रीकी रक्षा अधिक आवश्यक है। रजस्वला एक ऐसी दशा है जिसमें प्रकृतिकी ओरसे प्रेरणा होनेके कारण बहुत ही सावधान होनेकी दशा है। उसमें ब्रह्मचर्य्यकी रक्षा होसके तो अच्छी बात है परन्तु होनेकी अपेक्षा न होनेको सम्भावना ही अधिक है। श्रीगीतामें कहा है किः—

यततो ह्यपि कौन्तेय ! पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥

विद्वान्, विचारवान् और इन्द्रियनिग्रहमें यत्नशील पुरुषकी भी इन्द्रियां प्रमत्त होकर चित्तको विषयोंमें आसक्त कर देती है। इस सिद्धान्तके अनुसार साधारण दशामें भी जब इन्द्रियदमन कठिन है तो सन्तान-उत्पत्ति करनेके लिये स्वयं प्रकृतिकी ओरसे रजस्वला-दशामें स्त्रीके चित्तमें कामकी इच्छा उत्पन्न होती है उसको रोककर ब्रह्मचर्य्य धारण करना स्त्रीके लिए कदापि सम्भव नहीं हो सकता है। इसमें चाञ्चल्य, पुंश्चलीवृत्ति, अनेक पुरुषोंमें चित्तकी आसक्ति और व्यभिचारदोषकी बहुत ही सम्भावना रहती है जिससे संसारमें घोर अनर्थ, वर्णसङ्कर व अनार्य्य प्रजा उत्पन्न होकर वर्णाश्रमशृंखलासे व्यवस्थित और रजोवीर्य शुद्धिको मानने वाली हिन्दुजाति नष्ट हो सकती है। इसीलिये पहिले ही से सावधान होनेके लिये महर्षियोंने रजस्वलासे पहिले विवाह करानेको आज्ञा देकर पश्चात् पतिके साथ ब्रह्मचर्य्यपालनकी आज्ञा दी है। इससे यदि पति धार्मिक व विचारवान् हो तो गर्भाधान न करके और तरहसे साधारण प्रीतिके साथ निवाह सकता है और यदि ब्रह्मचर्य्य धारण करना कभी असम्भव ही होजाय तो पतिके मौजूद रहनेसे अन्य पुरुषोंमें चित्त जानेकी

सम्भावना कम रहेगी। अतः विवाहसे पहिले ब्रह्मचर्य्य धारणकी अपेक्षा स्त्रीके लिये विवाह-के बाद ही ब्रह्मचर्य्य धारण करना युक्तियुक्त है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि आदर्श सतीका लक्षण जो पहिले कहचुके हैं, रजस्वला होनेके अनन्तर विवाह होनेपर स्त्रीमें वह प्रकट ही नहीं हो सकता है; क्योंकि रजस्वला होते ही स्त्री पुरुषदर्शनकी इच्छा करेगी। उस समय पतिरूप दुर्गद्वारा उसका अन्तःकरण सुरक्षित न रहनेसे उसके चित्त पर अनेक पुरुषोंकी छाया स्वतः ही पड़ेगी। अतः इस दशामें वह स्त्री आदर्श सती होनेके अयोग्या हो जायगी। इसलिये शास्त्रोंमें पूज्यपाद महर्षियोंने सर्वत्र रजस्वला होनेसे पहिले ही विवाहका आदेश किया है।

अब बाल्यावस्थामें स्त्री व पुरुषका विवाह होनेसे क्या लाभ और क्या हानि है इस पर विचार किया जाता है। विवाह संस्कारके प्रयोजन वर्णनके प्रसङ्गमें पहिले ही कहा गया है कि आर्य्यशास्त्रमें सभी कार्य्य आध्यात्मिक लक्ष्य अर्थात् मुक्तिको लक्ष्यमें रखकर अनुष्ठित होनेके कारण विवाहविज्ञानके भीतर स्त्री व पुरुष दोनोंको ही मुक्तिका गम्भीर तत्त्व निहित है इसमें कोई सन्देह नहीं है। स्त्रीको मुक्ति पातिव्रत्यके पूर्ण अनुष्ठान द्वारा पतिमें तन्मय होकर अपनी सत्ताको पतिमें विलीन कर देनेसे और पुरुषकी मुक्ति प्रकृतिको देखकर और उससे अलग होकर अपने ज्ञानमय स्वरूपमें प्रतिष्ठित होनेसे सिद्ध होती है, जो विज्ञान सांख्यके सिद्धान्त द्वारा पहले दिखाया जा चुका है। विवाह संस्कारके द्वारा ये दोनोंही बातें सिद्ध होती हैं इसलिये विवाह संस्कार पवित्र है। परन्तु यह पवित्रता और इसके द्वारा लक्ष्यसिद्धि तभी ठीक ठीक हो सकती है जब अवस्थाका ठीक विचारकर विवाह हो, अन्यथा लक्ष्यमें सिद्धि लाभ होना कठिन हो जाता है। जब अपनी सत्ताको पतिमें लय कर देना ही पातिव्रत्यका लक्ष्य है तो यह बात अवश्य माननी होगी कि अधिक आयुमें कन्याका विवाह होनेसे पातिव्रत्य धर्म्मका पूर्ण अनुष्ठान बहुत ही कठिन होजायगा मायामय संसारमें समस्त मायिक सम्बन्ध अभ्यासके द्वारा बद्धमूल होते हैं। सतीके चित्तमें पतिके प्रति प्रेम, रस व उत्तापके संयोगसे कमलकी तरह रूपासक्ति गुणासक्ति आदिके द्वारा धीरे धीरे विकाशको प्राप्त होता है। इस प्रकारके विकाशकी सम्भावना बालिकावस्थाके प्रेममें जितनी है युवावस्थाके काममूलक प्रेममें उतनी कदापि नहीं हो सकती है। अच्छा देखेंगे इस प्रकारकी इच्छा चित्तमें होनेसे ही अच्छा देखा जाता है। मायाकी लीला ऐसी ही है। नवदम्पतिको प्रेमसूत्रमें बाँधनेके लिये पिता माता पुत्रके सामने वधूकी प्रशंसा करेंगे और श्वशुर व सास वधू (कन्या) के सामने जामाता (पुत्र) की प्रशंसा करेंगे। इस प्रकारसे दम्पतिके चित्तमें परस्परके प्रति अनुराग उत्पन्न होगा। वधू अपने जीवनको पतिके लिये समर्पण करनेकी शिक्षा लाभ करेगी।

अनुराग कल्पतरुकी तरह शाखा-पल्लवसे सुशोभित होकर शान्तिरूपी फल प्रसव करेगा। इस प्रकारके दाम्पत्यप्रेमकी सम्भावना बालिका विवाहमें ही अधिक है। युवावस्थामें कन्याका विवाह होनेसे यह भाव नहीं उत्पन्न हो सकता है क्योंकि उस समय कामभावकी वृद्धि होनेसे सात्त्विक प्रेमका प्रभाव चित्त परसे न्यून हो जाता है। उससमय चित्तकी कोमलता नष्ट हो जाती है, अभ्यास बँध जाता है, प्रकृति बहुपुरुषोंके भावमें भावित हो जानेसे एकमें स्थिरता अवलम्बन नहीं कर सकती है, पिताके गृहमें स्वतन्त्रता अधिक व लज्जाशीलता कम होनेसे अधिक आयुमें पतिकी अधीना व लज्जाशालिनो होना बहुत ही कठिन हो जाता है इत्यादि इत्यादि बहुत कारणोंसे अधिक आयुके विवाहमें पातिव्रत्यधर्म्मकी हानि होती है जिससे संसारमें नित्य अशान्ति, दम्पतिकलह, अनाचार आदि सभी दुर्गुण भर जाते हैं और इस प्रकार दाम्पत्यप्रेमकी न्यूनतासे पातिव्रत्यमें हानि होनेसे स्त्रीकी अधोगति होती है और विवाह संस्कारका लक्ष्य असिद्ध रहजाता है। इसलिये महर्षियोंने रजस्वलासे पहिले बालिकावस्थामें ही विवाहकी विधिको उत्तम माना है। विचार करनेकी बात है कि जिस देशमें अधिकवयस्का स्त्रियोंकी विवाहविधि है, विवाहोच्छेद (divorce) का भी नियम उसी देशमें अवश्य है। यदि अधिक आयुके विवाहमें शान्ति रहती तो इस प्रकार विवाहोच्छेदका नियम नहीं रहता। इससे संसारमें अशान्ति व दाम्पत्यप्रेममें न्यूनता आदि अनेक दोष उत्पन्न होते हैं। अतः स्त्रीकी उन्नति व मुक्तिके लिए बालिकाविवाहकी रीति ही उत्तम है और इस विषयको लक्ष्यमें रखते हुए किस समय कन्याका विवाह होना चाहिये सो पहिलेही बहुत कुछ कहा गया है। परन्तु पुरुषके विवाहमें ऐसा कभी नहीं होना चाहिये। जब प्रकृतिकी त्रिगुणमयी लीलाको देखकर उससे अलग हो स्वरूपस्थित होना ही पुरुषके लिये विवाहका लक्ष्य है तो इस प्रकार देखनेकी शक्ति उत्पन्न होनेके पहिले विवाह करनेसे प्रकृतिके द्वारा बन्धन हो जानेकी बहुत सम्भावना रहेगी। बालकपनके विवाहसे पुरुषमें निर्वीर्य्यता, दुर्ब्बलता, कठिन रोग, स्त्रैणता आदि बहुत दोष हो जाते हैं। ब्रह्मचर्य्य पुष्ट होनेसे पहिले ही ब्रह्मचर्य्य नष्ट होनेका कारण हो जानेसे पुरुषकी बड़ी ही दुर्दशा हो जाती है। वे धातुदौर्ब्बल्य, वीर्य्यतारल्य, स्नायविक तेजोहीनता, क्षयरोग, पक्षाघात, अजीर्णता व उन्माद आदि बहुत रोगोंसे ग्रस्त हो जाते हैं। उस दशामें जो सन्तति होती है सो भी रोगी अल्पायु व दुर्ब्बल होती है। वीर्य्यके दुर्ब्बल होनेसे प्रायः कन्या उत्पन्न होती है और नपुंसकता आदि भी होकर कुलकलङ्ककी सम्भावना बढ़ती है। मन, बुद्धि व स्मृतिशक्ति आदि नष्ट होकर विद्याप्राप्ति व सांसारिक जीवनमें क्षति होती है। चित्तकी अपक्वदशामें वैषयिक बातें बढ़ जानेसे चित्तविक्षेप आदि दोष हो जाते हैं जिससे संसारमें ऐसे मनुष्यसे किसी प्रकारकी उन्नति नहीं प्राप्त हो सकती है इत्यादि इत्यादि

हज़ारों दोष बाल्यविवाहके द्वारा उत्पन्न होते हैं। निस्तेजमन व निस्तेजवीर्य्य पुरुष प्रायः स्त्रैण हुआ करते हैं और उनकी आध्यात्मिक उन्नति कुछ भी नहीं होती है जिसने दलदलमें फँसे हुए बूढ़े हाथीकी तरह संसारपङ्कमें आजन्म वे निमग्न रहते हैं। वैराग्यबुद्धि, त्याग व वासनानाश आदि कोई गुण ऐसे पुरुषोंमें देखनेमें नहीं आते हैं। इन सब कारणोंसे वानप्रस्थ या संन्यास आश्रमकी योग्यता उनमें कुछ भी नहीं होती है। मनुष्यजन्म मुक्तिका साधक होनेसे सदा ही मिलना दुर्ल्लभ है परन्तु इस प्रकारके हतभाग्य पुरुषोंका मनुष्यजन्म ही वृथा हो जाता है। वे जीवन्मुक्त न होकर जीवन्मृत होते हैं। ये ही सब दोष पुरुषके बाल्यविवाहसे उत्पन्न होते हैं। आजकल भारतवर्षमें बाल्यविवाहकी तो बात ही क्या है, बहुत स्थानोंमें ऐसी कुरीतियाँ चल पड़ी हैं कि वरसे कन्याकी उमर अधिक होती है। भोगशक्ति पुरुषसे स्त्रीमें अधिक होनेके कारण और भोग द्वारा स्त्रीकी अपेक्षा पुरुषकी हानि अधिक होनेके कारण महर्षियोंने स्त्रीसे पुरुषकी आयु अधिक रखनेकी आज्ञा की है। बाल्यविवाहके द्वारा इस आज्ञाके अन्यथा होनेसे ऊपर लिखे हुए अनर्थ तो होते ही हैं परन्तु कन्याकी उमर वरसे अधिक होनेसे ऐसी कन्या सद्यः प्राणघातिनी हुआ करती है। सिंहनीकी तरह ऐसी स्त्री पुरुषकी प्राणशक्तिको पीजाती है अतः इस प्रकारका विवाह कभी नहीं होना चाहिये। इसका अधिक वर्णन क्या किया जाय, इस प्रकारके विवाहसे पुरुषका सत्यानाश हो जाता है। इसीलिये महर्षि याज्ञवल्क्यने लिखा है कि:—

अनन्यपूर्व्विकां यवीयसीम्।

अर्थात् कुमारी तथा कन्याके साथ विवाह करना चाहिये और कन्याकी अवस्था वरसे कम होनी चाहिए। मनुजीने तो कभी अढ़ाईगुणी और कभी तीनगुणी अधिक उमर कन्यासे वरकी होनी चाहिये ऐसा बताया है इसका प्रमाण पहिले दिया जाचुका है। स्मृतियोंमें साधारण आज्ञा तो यह है कि:—

वर्षैरेकगुणां भार्य्यामुद्वहेत् त्रिगुणः स्वयम्।

कन्याकी आयुसे तीनगुणी आयु वरकी होनी चाहिए और कहीं कहीं दोगुणी आयु होना भी कहा है। और भी मनुजीने कहा है कि:—

धर्मे सीदति सत्वरः।

धर्म्मनाशका भय होनेसे और भी शीघ्र विवाह हो सकता है। परन्तु इस प्रकारकी आज्ञा होने पर भी सुश्रुतके सिद्धान्तानुसार सोलह व पच्चीसका अनुपात तो अवश्य ही होना चाहिये कि जिससे पुरुषका वय स्त्रीसे इतना अधिक रहे कि गर्भाधानके कालमें शारीरिक

मानसिक या और किसी प्रकारकी न्यूनताकी सम्भावना नहीं हो और सन्तति भी धार्म्मिक और तेजस्वी हो सके। यही श्रुतिस्मृतिसिद्धान्तित वरवधूके विवाहकालका वर्णन है। इसपर ध्यान रखकर पिता माताको पुत्र कन्याका विवाहसंस्कार करना चाहिये।

विवाहकालके विषयमें आर्य्यशास्त्रसम्मत विचार बता कर अब पश्चिम देशके विद्वानोंकी राय मिलाकर और भी अधिक विवेचन किया जाता है। ऋतुकालमें स्त्रियोंकी दशा कैसी होती है इस विषयमें हैवलक इलीस साहबने कहा है—

There is nature's compulsion involved in the sexual instinct and this is shown by the insistance of the sexual craving and is confirmed by the researches of biologists who have traced the germ of this instinct in the unicellular protoplasm." (Havelock Ellis.)

अर्थात् "प्राकृतिक प्रेरणासे ही कामेन्द्रियमें उत्तेजना होती है और स्त्री पुरुषोंमें परस्पर संसर्गकी इच्छा होती है। जीवतत्त्ववित् पण्डितोंने खोजकर यह पता लगाया है कि उत्पत्तिके आदि कारणमें ही इस तृष्णाका बीज विद्यमान है"। पुरुषमें सात धातु हैं, किन्तु स्त्रीजातिमें आठ धातु हैं। उनका अष्टम धातु रज है। इस प्रकार एक धातु अधिक होनेसे और इसके साथ गर्भधारणका प्राकृतिक सम्बन्ध रहनेसे ऋतुकालमें स्त्रियोंके भीतर कामवेग अधिक होना स्वाभाविक है। मनुष्यके नीचेके पशुओंमें भी यही बात देखी जाती है। किस उमरमें ऋतुदर्शन होता है। इस विषयमें कहा है—

The age when menstruation commences varies from twelve to seventeen years; it is earlier in hot climates and later in colder regions and in the country— (Mrs. S. Herbert.)

मिस् एस् हर्बर्टका कहना है कि १२ वर्षसे १७ वर्षके भीतर स्त्रियोंके ऋतुमती होनेका काल है। ग्रीष्मप्रधान देशोंमें कुछ शीघ्र और शीतप्रधान देशोंमें कुछ देरमें रजोदर्शन होता है। इसका हिसाब डाक्टर ई. जे. टिल्ट साहबने दिया है। यथा—बङ्गदेशमें १२ वर्षमें, दक्षिणदेशमें १३ वर्षमें, जमेकामें १५ वर्षमें, कर्फूमें १४ वर्षमें, मारसिलिसमें १५ वर्षमें पेरिसमें १५ तथा १७ वर्षमें लण्डनमें १४ और १५ वर्षमें, क्रिश्चियानियामें १६ वर्षमें स्त्रियोंका रजोदर्शन होता है। इस देशमें भी कहीं कहीं पर १६ वर्षतक रजोधर्मका विकाश नहीं हुआ ऐसा भी प्रमाण मिलता है। यथा महाभारतमें—

त्रिंशद्वर्षः षोडशाब्दां भार्यां विन्देत नग्निकाम्।
अतोऽप्रवृत्ते रजसि कन्यां दद्यात पिता सकृत्॥

ऋतुमती होनेसे पहिले ही १६ वर्षकी कन्याको ३० वर्षका पुरुष ग्रहण करे। पिता कन्याको एक ही बार दान कर सकते हैं। यौवनकी प्रथम सूचना किस अवस्थासे प्रारम्भ होती है इस विषयमें अनेक खोजकर प्राच्य प्रतीच्य दोनों देशोंके विद्वानोंने यह निर्णय किया है:—

Approximately we can state that at seven consciousness begins to build seriously and slender thoughts of shy sex begin to appear. Seven is also an important physiological unit, indicating the period time required for a complete turn of cells from old to new. (Huxley.)

साधारणत: यह कहा जा सकता है कि सात वर्षको अवस्था हो जाने पर कन्याको कुछ कुछ अपने विषयमें ज्ञान होने लगता है और वह यह समझने लगती है कि वह स्त्री है। हक्सले साहबने भी कहा है कि प्रति सात सात वर्षमें शरीरके उपादानमें परिवर्त्तन हुआ करता है और शिशुकालका पुराना उपादान ७ वर्षमें बदलकर उसमें यौवनकालका नवीन उपादान आने लगता है। यही कारण है कि आर्यशास्त्रमें यौवनवेगको मूलमें ही रोकनेके अर्थ अष्टम वर्षमें बालकोंके लिये उपनयनकाल और स्त्रियोंके लिये गौरीदानकाल विहित किया गया है और उत्तम प्राक्तन संस्कार सम्पन्ना ऐसी गौरीको कभी वैधव्य नहीं हो सकता है। यह भी बताया गया है।

अब ऋतुकालके भीतर स्त्रियोंकी शारीरिक तथा मानसिक अवस्था किस प्रकारकी होती है सो क्रमशः बताया जाता है। श्रीभगवान् मनुने कहा है—

स्त्रियः पवित्रमतुलं नैता दुष्यन्ति कर्हिचित्।
मासि मासि रजस्तस्या दुष्कृतान्यपकर्षति॥

स्त्रीशरीरकी मलीनता प्रतिमास रजस्राव द्वारा निकल जाती है और वह पवित्रा होकर गर्भधारणयोग्या हो जाती है। वह मलीनता कैसी है इस विषयमें पराशरस्मृतिमें लिखा है:—

प्रथमेऽहनि चाण्डाली द्वितीये ब्रह्मघातिनी।
तृतीये रजकी प्रोक्ता चतुर्थेऽहनि शुध्यति॥ (७-१८)

रजस्वला स्त्री प्रथम दिन डोमकी तरह अपवित्रा, द्वितीय दिन ब्रह्महत्याकारीकी तरह स्पर्शसे हानिकरनेवाली, और तृतीय दिन धोबीकी तरह अपवित्रा रहती है। चौथे दिन स्नान करके शुद्ध होती है। अब इस विषयमें पश्चिमी विद्वानोंने भी बहुत कुछ पता लगा लिया है। यथा :—

(Form the American Jourual of Clinical Medicine, May 1921).
Medical Record for February, 1919 (p. 317) abstracts of an article (Wien Klin Wock, May 20, 1920), in which Prof. Schiek expresses the opinion that a menstruating woman may be a veritable upastree. His attention was first attracted to the subject on the occasion of receiving ten fresh, long stemmed roses, which he had requested a female servant to place in water. On the very next morning the roses had largely withered, the petals having dropped on the table. Greatly surprised he summoned the servant to illuminate the mystery. She said that she had known that the roses would wither; for when she was unwell, this phenomenon was always in evidence. Greatly astounded, Scheik began to experiment. The woman, along with a non menstruating control, was sent to the author's garden who cut off for each an anemone, a white chrysanthemum and a yellow helianthus. The women simply held the flowers in their hands and went to the clinic. Upon their arrival, the flowers in the hands of the menstruating woman had begun to wither and were hanging their heads. The time elapsed was but ten minutes. The blighting process was complete at the end of twenty-four hours, the petals having fallen of at the end of eighteen hours. The flowers handled by the control subject were as fresh ever at the end of forty-eight hours. The menstruation in this experiment was in its first day only. On the following day, the tests were repeated, and the flowers held in the hands of the menstruating woman showed some alteration in three minutes after she had taken them. The change consisted of a progressive dying, followed in a few hours by disthoration. The anemones were especially sensitive, and the chrysanthemum showed the greatest resistence. On the third day of menstruation, the pernicious effects were but slight; on the fourth day they had vanished; and during the entire intermenstrual period the woman showed not a trace of this mysterious power.

Schiek next learned that there was a belief in certain states that menstruating women have the power of witherring freshly cut of flowers, although many refused to believe it and looked upon it a superstition. In vineries, menstruating women are forbidden to enter and this proscription even extends to orchards; for these women are not allowed to climb upon fruit tress when in bloom and even later, lest the fruit crop should spoil. A study of this problem through the ages brings out astounding facts and beliefs. The menstruating women in an orchard can cause the insects to drop from the trees; and even in classical times there were tales of the use of partially exposed women for expelling the cantharis bettle from the trees.

The author, after extended a research, was able to show that the injurious substance, menotoxin circulates in the blood but not in the serum; in all probability it is the blood corpuscles or adherents to them. It must be volatile and must escape from the skin or lungs. Schiek thinks that we are on the threshold of a great discovery, this potent volatile poison being a menace not only to the preservation of certain organic substances, but even to growing flowers. It also seems toxic to insects. In regard to unicellular organisms, it can both inhibit and accelerate the prolification of yeast. The menotoxin is regarded by Schiek as something which the female organism must get rid and this spports the prevalent view that menstruation is a depurative phenomenon.

प्रोफेसर सीकके इस अनुसन्धानसे यही प्रमाणित हुआ कि ऋतुमती स्त्रीके शरीरमें ऐसा कोई प्रबल विष होता है जिससे इनके बगीचेमें घुसने पर बगीचेके फूल पत्ते आदि सब सूख जाते हैं, फूलके वृक्ष मर जाते हैं, फल सड़ जाते हैं, इतना तक कि वृक्ष परके कोट आदि भी गिर पड़ते हैं, भाग जाते हैं और कभी कभी मर भी जाते हैं। इस विषकी प्रबलता प्रथम दिन प्रारम्भ होकर द्वितीय दिन बहुत ही बढ़ जाती है और तृतीय दिन घट जाती है, चौथे दिन कुछ भी नहीं रहती है। अतः इस विषयमें दोनों देशके विद्वानोंके

सिद्धान्त अभिन्न प्रमाणित हो गये। यही कारण है कि रजस्वलाके स्पर्श, दर्शन, संसर्ग आदिके लिये इतने निषेध वाक्य आर्यशास्त्रोंमें मिलते हैं। यथा:—

नोपगच्छेत् प्रमत्तोऽपि स्त्रियमार्त्तवदर्शने।
समानशयने चैवं न शयीत तया सह॥
रजसाभिप्लुतां नारीं नरस्य ह्युपगच्छतः।
प्रज्ञा तेजो बलं चक्षुरायुश्चैव प्रहीयते॥
तां विवर्ज्जयतस्तस्य रजसा समभिप्लुताम्।
प्रज्ञा तेजो बलं चक्षुरायुश्चैव प्रवर्द्धते॥ (मनु ४।४०—४२)

नितान्त मूर्खको भी रजस्वला स्त्रीके पास नहीं जाना चाहिये, उससे संसर्ग या उसके साथ शयन नहीं करना चाहिये। ऐसा करनेसे बुद्धि, तेज बल, दृष्टिशक्ति और आयुकी हानि होती है और परहेज करने पर बल, तेज आदि बढ़ते हैं। और भी —

दिवाकीर्तिमुदक्यां च पतितं सूतिकां तथा।
शवं तत्स्पृष्टिनं चैव स्पृष्ट्वा स्नानेन शुध्यति॥ (मनु ५। ८५
चण्डालश्च वराहश्च कुक्कुटः श्वा तथैव च।
रजस्वला च षण्ढश्च नेक्षेरन्नश्नतो द्विजान्॥ (मनु ३। २३९)

चाण्डाल, रजस्वला, पतित, सूतिका, शव और उसके छूनेवालेको स्पर्श करने पर स्नान द्वारा शुद्धि होती है। चाण्डाल, शूकर, मुर्गा, कुत्ता, रजस्वला क्लीव भोजन के समय इनका दर्शन नहीं होना चाहिये। इसी कारण रजोदर्शन होते ही स्त्रीको क्या करना चाहिये सो शास्त्रमें आज्ञा है। तथा: —

रजोदर्शनतो दोषात् सर्वमेव परित्यजेत्।
सर्वैरलक्षिता शीघ्रं लज्जितान्तर्गृहे वसेत्॥ व्यास सं० ३।३७
स्त्रीधर्मिणी त्रिरात्रन्तु स्वमुखं नैव दर्शयेत्।
स्ववाक्यं श्रावयेन्नापि यावत् स्नानान्न शुध्यति॥
(स्कन्दपुराण मदनपारिजात)

ऋतुमती होते ही दोषसंक्रमणको आशंकासे स्त्रीको पाक आदि सब कर्म छोड़कर अलग बैठनी चाहिये और किसीके दृष्टिपथमें नहीं आनी चाहिये। चौथे दिन स्नानसे

पवित्र होने तक किसीको अपना मुख दिखाना और किसीको अपना शब्द सुनाना उन्हें नहीं चाहिये। उनका भोजनादि कैसा होना चाहिये जिससे कन्या उत्पन्न न होकर पुत्र उत्पन्न हो सके इसके लिये महर्षि वेदव्यास कहते हैं :—

अश्नीयात् केवलं भक्तं नक्तं मृण्मयभाजने।
स्वपेद् भूमावप्रमत्ता क्षपेदेवमहस्त्रयम्॥
स्नायीत च त्रिरात्रान्ते सचेलमुदिते रवौ।
क्षामालंकृतमाप्नोति पुत्रं पूजितलक्षणम्॥

और भी :—

'आमिषप्रतिसंहारात् प्रजा ह्यायुष्मती भवेत्'। (महाभारत अनु ५७।१७)

और भी महर्षि याज्ञवल्क्य :—

एवं गच्छन् स्त्रियं क्षामां मघां मूलं च वर्जयेत्।
सुस्थ इन्दौ सकृत् पुत्रं लक्षण्यं जनयेत् पुमान्॥ (आचा. ८०)

और भी विष्णुधर्मोत्तरमें :—

आहारं गोरसानां च पुष्पालंकारधारणम्।
अग्निसंस्पर्शनं चैव वर्जयेच्च दिनत्रयम्॥

इन दिनों जितना संयम, लघु आहार, तथा विलासिताका अभाव रहेगा उतना ही रससञ्चार कम होगा, स्त्रीशोणितकी शक्ति कम होगी जिससे कन्या उत्पन्न न होकर पुत्र उत्पन्न होगा। इसलिये ऋतुमती स्त्रीको चाहिये कि तीन दिन केवल एकबार भोजन करे, भूमिशय्या पर सोवे, क्षीण तथा संयत रहे, घी, दूध, दहीका सेवन न करे, फूलमाला या अलंकार धारण न करे, अग्निस्पर्श न करे और चौथे दिन सूर्योदयके बाद सचैल स्नान करे। आमिष आहार न करनेसे सन्तानकी आयु बढ़ जाती है। मघा और मूल नक्षत्रको छोड़कर तिथि विचारसे युग्म दिनमें नियमानुसार संयत स्त्रीमें गर्भाधान होने पर सुलक्षणयुक्त पुत्र सन्तानकी उत्पत्ति होती है।

अब ऋतुमती स्त्रीके चित्तकी क्या हालत उन दिनोंमें रहती है सो बताया जाता है। उनका चित्त उन दिनों ठीक फोटो लेने वाले कमेराकी तरह हो जाता है और जिसको वह ऋतुस्नाता होनेके बाद मनोयोगके साथ देखती है उसीकी तसवीर (impression) चित्त पर आ जाती है। यही कारण है कि स्नानके बाद उनके लिये सबसे पहिले पतिका मुख देखनेकी आज्ञा शास्त्रकारोंने दी है। किन्तु यदि विवाह ही न हुआ हो तो अनेक

पुरुषोंके दर्शनसे अनेक तसवं.रें चित्तमें आ जायेंगी, उनका चित्त अनेकोंमें चंचल होकर सतीधर्मको कमजोर बना देगा। इसी कारण जैसा कि पहिले बताया गया है, ऋतुकालसे पहिले ही विवाह होना मुक्तिप्रद सतीधर्मरक्षाके अर्थ नितान्त आवश्यक है। "He who thinketh of fornication hath already committed adultery" बाईवेलका यह उपदेश यथार्थ है। अर्थात् चित्तमें दूसरे पुरुषकी चिन्ता आनेसे ही आदर्श सतीका जीवन बिताना उनके लिये असम्भव हो जाता है। क्योंकि आदर्श सती अपने पतिके सिवाय और किसीको पुरुष ही नहीं समझती अथवा पिता, माता, पुत्रकी तरह देखती है, सो ऋतुके बाद विवाहिता स्त्रीके लिये एकबारगी यह बात असम्भव है।

It is believed by our Shastras, which scientifically observed facts support well, that her womb or ovary gets at this time an impression by visual reception and love, of the configuration and character of the man whom she first beholds and retains it all through her catamenia period.

(The Sacrament of Marriage Ceremony)

आर्यशास्त्रमें लिखा है और वैज्ञानिक रीतिसे भी प्रमाणित हो चुका है, कि ऋतुस्नानके बाद स्त्री प्रथम जिसको देखती है उसका संस्कार उसके चित्तपर पड़ जाता है और इस संस्कारको वह बराबर अपने चित्तमें बनाये रहती है। चित्तका प्रभाव शरीर पर कैसा पड़ता है इस विषयमें प्रोफेसर इलिमर गेट्स् (Prof. Elimer Gates) साहबने कहा है:—

The psycho-physiology shows that thoughts and feelings influence the complete physical body and can be demonstrated to characterise appropiately all the secretions and the excretions of the entire system.

"मनोविज्ञान और शरीरविज्ञानके द्वारा प्रमाणित किया गया है कि चिन्ताशक्ति और भावनाका इतना पूर्ण प्रभाव स्थूल शरीर पर पड़ता है कि स्थूल शरीरके अन्तर्गत रक्त, मांस, मज्जा, वीर्य कोई भी वस्तु उस प्रभावसे वच नहीं सकती"। चरकसंहिता शरीर अष्टमाध्यायमें इसी वैज्ञानिक तथ्यके अनुसार सुपुत्र उत्पन्न करनेकी विधियां यथेष्टरूपसे बताई गई हैं। यथा – सत्त्ववैशिष्यकराणि पुनस्तेषां तेषां प्राणिनां माता पितृसत्त्वान्यन्तर्वत्या: श्रुतयश्चाभीक्ष्णं स्वोचितं च कर्मसत्त्वविशेषाभ्यासश्चेति। अर्थात् गर्भाधानके समय रजोवीर्यके मिश्रणकालमें माता पिताके मनमें जो जो भाव रहता है, वही सब भाव पूर्व कर्मके सामञ्जस्यानुसार गर्भस्थ सन्तानमें प्रकट होता है। इसी विषयको और भी आगे बढ़ाकर

महर्षि चरकने लिखा है कि जो स्त्री पुष्ट, बलिष्ठ, पराक्रमी पुत्र चाहे, उन्हे चाहिये कि ऋतुस्नानके बाद प्रत्यह प्रातःकाल श्वेतवर्ण, वृहत्, श्वेतचन्दनभूषित प्रचण्ड वृष और उत्तम बलवान् अश्वको मनोयोगके साथ देखती रहें और उत्तम आचरवान् स्त्री-पुरुषोंका दर्शन करती रहें इत्यादि । केवल इतना ही नहीं इसी प्राकृतिक विज्ञान (Natural Science) के अनुसार पशुजातिमें आजकल भी नवीन नवीन विचित्र सृष्टि बनाई जाती है, जिसको कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता है । दृष्टान्तरूपसे बताया जाता है कि देशी दुर्बल कुतियाके पेटसे बलवान श्वान (hound) उत्पन्न करनेकी युक्ति यह है कि उसके अनुकूल दुर्बल कुत्तेके साथ उसका संयोग होते समय एक बलवान् भोंकता हुआ श्वान उसके सामने बांध दिया जाय । इसका फल यह होगा कि दुर्बल कुत्तेका वीर्य मिलने पर भी सामने भोकते हुए बलवान् श्वानका भाव उसके चित्त पर जम जानेसे वह बलवान पुत्र ही उत्पन्न करेगी । इसी प्रकार देशी घोड़ीके पेटसे भी बलवान् अश्व (Stallion) पैदा करनेकी विधि है इसमें घोड़ीकी आंखें पहले बन्दकर दी जाती है और देशी घोड़ेके साथ संयोग होते समय अचानक आंखोंकी पट्टी खोलकर बलवान् अश्व (Stallion) उसे दिखा दिया जाता है, जिसका प्रभाव घोडीके चित्त पर पड़ जानेसे बलवान् घोड़ा उत्पन्न होता है, पूज्यपाद महर्षियोंकी याज्ञिक पद्धतिके अनुसार अश्वमेध यज्ञका घाड़ा इसी प्रकारसे अलौकिक शक्ति और रूप वाला पैदा किया जाता था । अश्वमेधयज्ञमें जैसे घोड़ेकी आवश्यकता होती थी उसी रंग ढंग वाला घोड़ा बहुत उत्तम और सुन्दर बनाकर संगम करने वाली घोड़ीके सामने रख दिया जाता था । इसी प्राकृतिक मायाचक्रसे यह भी देखा गया है कि गर्भाधानके समय अफ्रिकाके एक काले हब्शी बालककी तसवीर देखकर साहब तथा मेमने कृष्णवर्ण पुत्र उत्पन्न कर डाला और सद्गृहस्थनारीने ऋतुस्नानानन्तर एक दुश्चरित्र पठानको अचानक देखकर ऐसी हो ब्राह्मणगुणहीन कदाचारी पठान प्रकृतिका पुत्र उत्पन्न किया । इसका कहांतक वर्णन किया जाय इन्हीं दुर्दैवोंसे मनुष्य स्त्रीके उदरसे बकरे, भेड़िये आदि भी कभी कभी उत्पन्न हो जाते हैं, जिसका हेतु अभो तक वैज्ञानिक जगत्के द्वारा निर्णीत न होने पर भी पूज्यपाद ज्ञानदृष्टिसम्पन्न महर्षियोंके द्वारा निर्णीत हो चुका है । यथा सुश्रुत शारीरस्थान द्वितोय अध्यायमें—

ऋतुस्नाता तु या नारी स्वप्ने मैथुनमाचरेत् ।
आर्त्तवं वायुरादाय कुक्षौ गर्भं करोति हि ॥
मासि मासि विवर्द्धेत गर्भिण्या गर्भलक्षणम् ।
कललं जायते तस्या वर्जितं पैतृकैर्गुणैः ॥

सर्पवृश्चिककुष्माण्ड–विकृताकृतयश्च ये।
गर्भास्त्वेते स्त्रियाश्चैव ज्ञेयाः पापकृता भृशम् ॥

ऋतुस्नाता स्त्रीको पति न मिलने पर वह कभी कभी कामुका होकर स्वप्नमें पुरुष संयोग करती है, उस समय उसीका वीर्य निकल कर अपने ही रजसे मिल जाता है और इस प्रकारसे रजोवीर्य जब जरायुमें पहुंचता है तो वह गर्भवती हो जाती है। किन्तु उस गर्भमें पतिवीर्यसे प्राप्त अस्थि आदि नहीं होते हैं, वह केवल मांसपिण्डमय कुष्माण्ड (कोहड़ा) जैसा होता है या सांप, बिच्छू, भेड़िया आदिके आकारके विकृत जीव ऐसे गर्भसे उत्पन्न हो जाते हैं। ऋतुकी दशामें भेड़िये, कुत्ते, बकरे आदिके मैथुन देखने पर भी उसका भाव चित्तमें जम जाता है और ऐसा ही स्वप्न रात्रिको होकर ऐसे विकृत जीव गर्भमें उत्पन्न होजाते हैं। ऋतुधर्मसे पहिले विवाह होजाने पर इस प्रकारकी आशंका प्रायः नहीं रहती है। वह पतिकी मूर्ति चिन्तन करती हुई पति जैसी सन्तान उत्पन्न कर सकती है और अपने अमूल्य सतीधर्म्मकी भी यथारीति सुरक्षा कर सकती है। उनकी सन्तान, उनका दाम्पत्य प्रेम, उनका वंश सभी उनके पवित्र भावसे मधुमय हो जाता है। इन्हीं कारणोंसे ऋतुसे पहिले विवाह होनाही परम श्रेयस्कर है।

अब इस विषयमें पश्चिमी विद्वानोंका अनुभव कैसा हो रहा है सो बताया जाता है—

It is evident to every thoughtful person that a real sexual morality is almost impossible without early marriage; for simply to refer the young to abstinence as the time solution of the problem, is a crime against the young and the race, a crime which makes the primitive force of nature, the fire of life, into a destructive element. The gradual but steady rise in the age for entering on legal marriage also points in the same direction, though it indicates not merely an increase of free unions but increase of all forms of normal and abnormal abnormal sexuality outside marriage. (Havelock Ellis.)

प्रत्येक चिन्ताशील मनुष्यको यह निश्चित होचुका है कि यथोचित शीघ्र विवाहके विना स्त्री पुरुषोंका चरित्र ठीक रहना एक प्रकारसे असम्भव ही है, क्योंकि जबरदस्ती इन्द्रियवेगको रोकनेको कहनेसे इस प्रश्नका समाधान नहीं होता है, वल्कि इससे प्राकृतिक वेग और भी बलवान् होकर नाशक ही कारण वन जाता है। आजकल विवाहकी उमर

जो क्रमशः बढ़ाई जारही है इसका केवल यही कुपरिणाम नहीं होगा, अधिकन्तु यथेच्छ इन्द्रिय संसर्ग और प्राकृतिक अप्राकृतिक सभी प्रकारका इन्द्रिय संसर्ग इससे बहुत ही बढ़ जायगा, जो कि नरनारियोंके नैतिक जीवनके लिये बहुत ही हानिकर है। (हैवलक इलीस)।

Dr. Marie Carmichael Stopes is regarded in the West as an authoisty on Sex. She writes in her book 'Enduring Passion :—

"It is not intended by nature for a man of full age to continue unmarried year after year. Early marriage is the natural and still the right thing, Almost every day that passes increases my conviction that the race runs innumerable dangers from the habit of delaying marriage which is becoming so common. Late marriage is the source of innumerable physical and social evils and incalculable unhappiness and discontent."

डाक्टर मेरी कारमाईकेल स्टोपस् अपनी पुस्तकमें लिखती हैं :—

"स्त्रीपुरुष अधिक उमर तक बिना विवाहके रहेंगे यह प्रकृतिका उद्देश्य नहीं है। यथाशास्त्र शीघ्र विवाह ही प्राकृतिक तथा उचित है। मेरा दिन पर दिन यही विश्वास बढ़ रहा है कि आजकलकी तरह विलम्बका विवाह जातिके लिये असीम विपत्तिका कारण है। इससे कितने ही प्रकारकी शारीरिक तथा सामाजिक बुराइयां तथा अनन्त दुःख और अशान्तिकी उत्पत्ति होती है"।

It is not good for man or woman to live alone. Our tendency of the times is the apparently increasing avoidance of marriage or its postponement until an age when the adaptation of one individual of the couple to the other is difficult; because habits have become fixed so firmly that their adjustment is a dificult or at least, an annoying process. Obviously, therefore, it seems to me that early marriages should be encouraged. (Thomas A. Edison.)

ग्रामोफोन यन्त्रके प्रसिद्ध आविष्कारक एडिसन साहबकी सम्मति है—

"स्त्री या पुरुषको अधिक दिन अविवाहित नहीं रहना चाहिये। जैसा कि आजकल की नवीन रुचि हो रही है कि विवाह किया ही न जाय, यथेच्छ विहार किया जाय या इतनी देरसे किया जाय कि वर वधूकी प्रकृति मेल ही न कर सके, यह ठीक नहीं है।

क्योंकि अभ्यासके पक जाने पर पीछेसे सामञ्जस्य होना कठिन और कष्टकर होजाता है। अतः मेरी रायमें यथोचित शीघ्र विवाहके लिये ही प्रोत्साहन देना चाहिये।"

The 'tolerated house' is absolutely necessary at present to protect women from diseases and immorality, by confining this kind of intercourse as far as possible in certain definite channels. Early marriage will greatly lessen the chances of this.

(Ettie A. Rout. Safe Marriage p. 20)

"There are" says Judge Lindsey "at last fifty thousand girls in New york living with men who are not their husbands, girls who should become mothers and don't care to have children because of the attitude, society would take towards them."

"Judge Lindsey gives statistics of marriage and divorce in his own country. The figures are of remarkable reading. Five years ago, it was one to four; now two to four. The actual figures in Denver for 1922 were 1492 divorce cases filed against 2908 marriages. The divorces were therefore 49% of the marriages. Here are some statistics of marriage and of divorce for the year 1924. Allanta marriages 3350 and divorces 1845, Kansas city marriage 4821 and divorces 2400, State Ohio marriages 53300 and divorces 11885, Denver marriages 3000 and divorces 1500." (Ibid 61, Hindu Tract Society)

पश्चिम देशकी स्त्रियां जो अवैध पुरुषसंसर्गसे सिफिलिस आदि रोगोंसे ग्रस्त होती हैं और नैतिक जोवनको भी अधःपातमें लाती हैं इसके रोकनेके लिये विवाहके बन्धनमें उन्हें अवश्य ही डालना चाहिये। यथोचित शीघ्र विवाहके द्वारा ऐसी आशंकायें बहुधा कम हो जांयगी। (एटो ए. रौट्)।

अमेरिकाके नामी जज लिण्डूसे साहब कहते हैं :—

कमसे कम पचास हजार स्त्रियां न्यू यार्कमें ऐसे पुरुषोंके साथ रहती हैं, जो उनके पति नहीं हैं, उनको विवाहिता होकर सन्तान प्रसव करना चाहिये था, किन्तु समाज शासनके भयसे वे ऐसा नहीं करती है जज साहबने अपने ही देशके विवाह तथा विवाहोच्छेदकी संख्या बतानेके प्रसङ्गमें कहा है कि पांच वर्ष पहिले प्रति चार विवाहमें एक विवाहोच्छेदका केस आता था, अब प्रति चारमें दो हो गये हैं। सन् १९२२ में डेनुवर

शहरमें २९०८ विवाहमें १४९२ विवहोच्छेद हुए थे। सन् १९२४ में निम्नलिखित रूपसे हुए हैं, यथा इट्लन्टामें ३३५० विवाह और १८४५ उच्छेद कनसास शहरमें ४८२१ विवाह और २४०० उच्छेद, स्टेट ओहिओंमें ५३३०० विवाह और १'८८५ उच्छेद, डेनवरमें ३००० विवाह और १५०० उच्छेद।

Out of every thousand births (in 1900) 150 are illegitimate in Bavaria, 141 in Austria, 121 in Portugal, 113 in Sweden, 101 in Denmark, 90 in Germany, 88 in France, 80 in Belgium, 74 in Norway, 68 in Scotland, 49 in Italy, 41 in England, and 27 in Russia. In cities the percentage is considerably higher; in Berlin it is as high as 14 p. c. (Review of Reviews 1931)

In some cities in Europe more than 50%of the entire population and more than 75 p. c. of the males suffer from gonorrheal infection. (Dr. Allen)

In a single dispensary in New York, out of 86000 cases, 3000 were cases of veneral disease. A commission in the same city in 1903 reported 200000 syphilitic subjects and 800000 gonorrhea cases.

Fournier :—1.7th of the population of Paris is syphilitic. In some European countries, in villages, 25 c. of the population are syphilitic. In Russia the victims are mostly women and children

Dictionary of Statistics, Mulpall – In Europe 7 to 43 p. c. of the soldiers are infected, the average national percentage was found to be 14%

Morrow :—70%of the syphilis in the women of new York is the result of conjugal nfidelity.

In England (1880-90) 1742 males over five years of age died of syphlis. In Philadelphia 37 deaths were registered as due to this cause in 1904. (Sylvanus Stall

सन् १९०० में प्रतिसहस्र जारज सन्तानोंकी संख्या यह है—बैवेरियामें १५०, अस्ट्रियामें १४१, पर्त्तगाममें १२१, स्वीडेनमें ११३, डेनमार्कमें १०१, जर्मनीमें ९०, फ्रान्समें

८८, बेल्जियममें ८०, नारवेमें ७४, स्काटलैण्डमें ६८, इटलीमें ४९, इङ्गलेण्डमें ४१ और रूसमें २७। गांवकी अपेक्षा शहरमें संख्या अधिक है जैसा कि बर्लिनमें १४ फीसदी है।

(रिविऊ आफ रिविऊज १९१३)

डाक्टर ऐलेनकी सम्मतिमें यूरोपके अनेक शहरोंमें सौमें पचास व्यक्ति और सौमें ७५ पुरुष गनोरिया रोगग्रस्त होते हैं।

न्यू यार्कके एक ही दवाखानेमें ८६००० बीमारोंमें से ३००० धातु रोगग्रस्त देखे गये हैं। सन् १९०३ में कमिशनकी रिपोर्ट है कि वहां पर दो लक्ष सिफिलिसके और आठ लक्ष गनोरियाके रोगी थे।

पेरिस नगरकी सप्तमांश जनता सिफिलिस रोगग्रस्त है। यूरोपके अनेक ग्रामोंमें सौमें २५ मनुष्य सिफिलिस रोगग्रस्त हैं। रूसदेशमें स्त्रियों और बालकोंको यह रोग बहुत होता है।

यूरोपकी फौज विभागमें ७ से ४३ फी सदी मनुष्य इस बीमारीसे ग्रस्त होते हैं। इसकी उस देशकी साधारण औसत सौमें १४ है।

न्यू यार्ककी स्त्रियां सौमें ७० सतीधर्म तोड़कर व्यभिचारद्वारा सिफिलिसकी बीमारी लाती हैं।

इङ्गलैण्डमें सन् १८८०-९० में पांच वर्षसे ऊपर उमरवाले १७४२ पुरुष सिफिलिस रोगसे मरे हैं। सन् १९०४ में फिलाडेल्फिया नगरमें ३७ मनुष्य इस रोगसे मरे हैं। (सिलवेनस स्टाल्)।

"The first apperance of menstruation coincides with the establishmant of puberty and the physical changes that accompany it indicate that the female is capable of conception and child-bearing.

"It is also generally stated that the difficulty of labour increases with the age of the patient. and that in elderly primipara it is likely to be unusually tedious, from the rigidity of the soft parts.

"Labour taking place for the first time in women advanced in life is also apt to betedious, especially in the first stage, it is probably more often referable to the rigidity and tightness of the parturient passages than to feebleness of the pains.

"The articular cartilages of coccyx become ossified, the

enlargement of the pelvic outlet during labour may be prevented and considerable difficulty may thus arise, This is most apt to happen in aged primipara." (The Science and Practice of Midwifery by W. S. Playfair M. D. LLD.)

डाक्टर प्लेफेअर साहब अपनी पुस्तकमें लिखते हैं—ऋतुधर्मके द्वारा यही प्रमाणित होता है कि स्त्री युवती हो चली है और उसके शरीरमें इस प्रकारका परिवर्त्तन हो गया है जिससे वह गर्भधारण और सन्तान प्रसव कर सकती है।

यह भी परीक्षा द्वारा निर्णीत हो चुका है कि अधिक उमरमें सन्तान प्रसव करनेमें स्त्रियोंको प्रसवकी वेदना बहुत ही कष्टकर होती है और यह व्यथा प्रथमबार प्रसवमें विशेष रूपसे हुआ करती है। प्रसवयन्त्रकी अधिक अवस्थाजनित कठिनता ही इसमें कारण बताया गया है।

Ont of 493 girls of high school age, who admitted to me that they had sex experiences with boys. 25 became pregnant. The others avoided pregnancy, some by luck, others because they had a knowledge of more or less effective contraceptive methods. I do not guess this, I know it. During the year 1920-21 the Juvenile Courts of Denver dealt with 769 delinquent girls of high school age. They ranged in age from 14 to 17 years. I handled about a hunderd cases of illegitimate pregnancy last year (1924) taking care of most of the mothers and the babies and in most cases adopting the babies out. (A famous Judge of America in his revolt of youth.)

जज साहब पुनः अपने ग्रन्थमें कहते हैं—हाई स्कूलकी ४९३ लड़कियां जिनने मेरे पास स्वीकार किया था कि लड़कोंके साथ उनका काम-संसर्ग हुआ है, उनमें २५ को गर्भ रह गया था। बाकी सब गर्भवती होनेसे बच गइ—कुछ तो अपने भाग्यसे और कुछ गर्भनिवारक उपायोंके परिज्ञानसे। मैं यह बात आन्दाजसे नहीं कह रहा हूँ, मुझे इसका पूरा पता है। सन् १९२०-२१ में डेनवर कोर्टमें ऐसी ७६९ अपराधिनी स्कूल-लड़कियोंके केस आये थे। उनकी उमर १४ से १७ वर्ष तककी थी। गत वर्ष अर्थात् १९२४ में प्रायः १०० केस व्यभिचारसे गर्भवती स्त्रियोंके मेरे कोर्टमें भी आये थे। इन स्त्रियोंकी तथा इनके बच्चोंकी सम्हाल भी मैंने की थी।

Mr. Licky in his History of European Morals :—

"The nearly universal practice of the custom of early marriages among the Irish peasantry has alone rendered possible that high standard of female chastity, that intense and jealous sensitiveness respecting female honour, for which among many failings and some vices the Irish poor have long been pre-eminent in Europe."

लिकी साहब अपनी पुस्तकमें कहते हैं—आयर्लैण्डकी गरीब किसान जातिमें शीघ्र विवाहकी जो प्रथा है उसीसे वहांकी स्त्रियोंमें उच्च कोटिका पातिव्रत्य धर्म और उसके प्रति हार्दिक आदर भाव अब तक बना रहा है। उनमें अनेक दोष होने पर भी इसी उत्तम धर्मके कारण वे यूरोपमें वर्षों तक सम्मानार्ह बने रहे और अब भी हैं।

The custom of child marriage is not merely due to the accident of Moslem conquest, when the rulers promised to protect all girls who were already affianced. But there is more in it. There is the difference of ideals. In Hindu india, because the house-hold is the essential element in its social structure, marriage is almost compulsory like conscription in Europe. To perform the duties of a householder is in fact looked upon as a special discipline. (Rev. J. Tyssul Davis)

जे. टिसल डेविस् साहबकी यह सम्मति है—मुसलमानराज्यके समयसे बालविवाह प्रथा चली है यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि सगाई होजाने पर मुसलमान शासक हिन्दू-कन्याओंकी रक्षा करते थे। इसका यथार्थ कारण आदर्शभेद है। हिन्दूजातिमें गृहस्थजीवन सामाजिकजीवनका प्रधान अङ्गरूप है, इसलिये विवाह करना एक अवश्य कर्त्तव्य धर्मकार्य है। हिन्दूजातिमें गृहस्थाश्रमके कर्त्तव्योंको करते रहना एक प्रधान धर्म करके माना गया है।

It is universally admitted that compromise and concession from the solid basis of matrimonial happiness; and the sense of destiny imparted by early marriages powerfully promotes a spirit of compromise. We must also understand that the Hindu marriage contract is inviolable and the course of life is inevitable the minds of the parties are thus in the proper frame for making the best of things. These wise provisions have stood the test of centuries and by their results continue

to proclaim their excellence. All parties are united in the opinion that Hindu married life is an exceptionally happy state and this is the clearest proof of the excellence of the system and the severest condemhation of those who are seeking to unsettle it. (Frederic Pincott)

दाम्पत्यजीवनके सुखके मूलमें स्त्रीपुरुषके हृदयका मेल और परस्परका भाव सामञ्जस्य है। बालविवाहमें जो अदृष्टका सम्बन्ध रहता है उससे यह सामञ्जस्य विशेष पुष्ट हो जाता है। हिन्दुओंका विवाहबन्धन टूटनेके लिये नहीं होता है, इसमें दम्पतिकी जीवनगति सदाके लिये नियत हो जाती है और वेद और शास्त्रोंके अनुसार हिन्दू जातिका विवाह इस लोक और परलोक दोनोंके सम्बन्धोंको बाँधने वाला होता है। हिन्दू शास्त्रोंमें विवाह विच्छेद आकाश कुसुमवत् है। इसी कारण उनके मनमें भी हर हालतमें यह सम्बन्ध निवाहते रहनेका ही उत्तम भाव प्रतिष्ठित हो जाता है। लाखों करोड़ों वर्षोंसे हिन्दूजातिमें यही व्यवस्था चली आती है और इसके उत्तम परिणामको देखकर इसे उत्तम ही कहा जाता है। दाम्पत्यजीवन हिन्दूजातिमें ही सर्वोत्तम सुखदायक है इसमें सभीकी एक राय है। इसीसे प्रमाणित होता है कि हिन्दूजातिकी विवाहप्रथा सर्वोत्तम है और जो लोग इसे नष्ट करनेकी चेष्टा कर रहे हैं वे बड़ा ही अन्याय अनुचित और पाप कार्य करते हैं। इस विषय पर विदेशीय विद्वानोंके मत भी विचारने योग्य हैं। यथा :—

(फ्रेडरिक पिनकट्)

Mr. Otto Rothfield in his 'Women of India' :—

"Moreover in practice child marriage has some clear advantages. For it allows the wedded pair to be brought together as children only in their parents' houses, till in time they beccome habituated to each other's company and affection, which gradually they come to know and learn their place in these large households to which their future lives belong.

"Real marriage, the consummation of their growth to men and women, comes much later, many years perhaps than their parents at last give their consent to the grown student and the healthy maiden who helps daily in the household tasks.

"In general it may be said that the Hindu rules of marriage are conductive to the happiness of the spouses and their happiness is less self centred and more altruistic. The worth of a nation's womanhood can best be estimated by the completeness with which they fulfil the inspirations of love and its devotion; and judged by this standard, the higher types in India need fear no comparison."

अटो रथफिल्ड साहब अपनी पुस्तकमें लिखते हैं :—

"व्यवहार दृष्टिसे देखने पर शीघ्र विवाहमें बहुत कुछ सुविधाएं दृष्टिगोचर होती हैं। इसमें प्रधान सुविधा यह है कि विवाहित स्त्रीपुरुष अपने आत्मीयोंके गृहमें एक साथ प्रतिपालित होते रहने पर परस्परक सहवास यथा प्रेममें अभ्यस्त हो जाते हैं और धीरे धीरे गृहस्थजीवनके भी कर्तव्य तथा दायित्वका ज्ञान लाभ कर लेते हैं"।

"उनका वैषयिक संसर्ग, जो द्विरागमनके अनन्तर होता है वह कई वर्षके बाद हुआ करता है। इसमें भी पिता माता जब दोनोंकी शारीरिक अवस्थाको योग्य समझें तभी आज्ञा देते हैं।"

"सब ओर विचार करने पर यही कहा जा सकता है कि हिन्दुओंकी विवाहपद्धति ही दाम्पत्यजीवनमें अधिक सुखदायिनी वस्तु है। और इस सुखमें स्वार्थगन्ध बहुत ही कम है तथा विश्वजनीन सार्वभौम भाव बहुत अधिक है। किसी जातिकी नारियोंमें उत्तमता उनके पतिप्रेम और पतिभक्तिकी पूर्णताके द्वारा जानी जाती है; यदि इसी आदर्शके अनुसार विचार किया जाय तो हिन्दूजातिकी उच्चकुलकी रमणियोंके साथ संसारकी और किसी जातिकी स्त्रियोंकी तुलना नहीं हो सकती है।"

अतः प्राच्य प्रतीच्य सभी प्रकार विचार द्वारा यही निश्चय हुआ कि आर्यशास्त्र-सम्मत विवाहकाल निर्णय ही सर्वथा श्रेयस्कर है।

वर्णविज्ञान और स्पृश्यास्पृश्य विचार ।

संस्कृतभाषाके 'वर्ण' शब्दका हिन्दीमें अर्थ 'रङ्ग' है। क्या चार वर्णका रंगके साथ भी कोई प्राकृतिक सम्बन्ध है, इस विषयमें अनेक पश्चिमी तथा एतद्देशीय विद्वानोंने विचारकर निम्नलिखित सत्यका पता लगा लिया है। यथा :—

"Has colour anything to do with matter ? We know on the face of things that colour or complexion of a people depends upon climatic conditions. But mysticism which concerns itself more with the inner man than with the outer, makes us aware of certain subtle facts. One of them is the existence of a certain subtle, invisible yet material fluid that ever emanates from man, this is a kind of bodily fire and is called the mysterious occult force, for it travels from man to man and effects him for good or evil. Mesmer, the founder of the well-known doctrine of mesmerism in the 18th century gave it the name of Animal Magnetism. Some eminent scientists of the west have given it the name of Aura, which is defined as a subtle fluid supposed to flow from a body. "Search where we may" says Professor William, "this force (Magnetism) has been universally acknowledged and used by all tribes and nations; and so far as this being but a science of yesterday it enjoys the double reputation of being very old and has stood the test of ages; indeed, we maintain that it is the oldest science extant and nothing was proclaimed as a science prior to it."

Another fact of mysticism founded on the existence of this force is that these auras, as they spread themselves in ether around us bear the impress of our thoughts, passions, and desires and evince appropriate forms, colours, smells and sounds, like all other emanations of the body; and that whenever set in motion by the human will, they assume such forms and colours as to render them capable of indicating the real character of the man. The predominance of 'gunas' likewise gives the corresponding colours to the auras and may, by a process of

action and reaction, give corresponding shade of colours to the grosser bodies as well. (The Verana System—Kalpaka 2-28)

रङ्गके साथ वस्तुका सम्बन्ध है ? साधारणतः यही विदित है कि शीतप्रधान या गर्मीप्रधान जैसे देशमें मनुष्य रहता है, उसीके अनुसार काले, गोरे आदि रङ्ग हुआ करते हैं। किन्तु सूक्ष्म विद्यामें इससे अतिरिक्त कुल भीतरी तत्त्वों का भी पता लगाया गया है। प्रत्येक मनुष्यके शरीरसे अदृश्य वाष्प जैसी एक तैजस वस्तु निकलती है जो दूसरेके शरीर तथा मन पर प्रभाव डालकर उसे अच्छा या बुरा बना सकती है। मेस्मेरिजम् विद्या के प्रवर्त्तक मेसमेर साहब इसे जैव विद्युत्शक्ति कहते थे। पश्चिम देशके कुछ प्रसिद्ध वैज्ञानिकोंने इसको 'अरा' कहा है। प्रोफेसर विलियम कहते हैं कि चाहे किसी तरहसे जांच की जाय इस सूक्ष्मशक्तिको कोई इनकार नहीं कर सकता है, इसको सभी जातिके मनुष्योंने किसी न किसी प्रकारसे माना है और वर्षों परीक्षाके बाद यही तय हुआ है कि सबसे प्राचीन वैज्ञानिक चमत्कार यह 'अरा' ही है।

'अरा' के विषयमें और एक चमत्कार यह विदित होगया है कि, मनुष्यकी चिन्ता, मनोवृत्ति और भीतरी वासनाओंके अनुसार ही 'इथर' में 'अरा' प्रकाशित होता है और उसका आकार, रङ्ग, गन्ध और शब्द भो उसी प्रकारका होता है। इसके सिवाय इच्छाशक्तिके द्वारा 'अरा' को प्रेरित करने पर उसका रूप रङ्ग ऐसा ही देखनेमें आता है जिससे प्रेरित करने वालेके चरित्रका तथा मनोभावका पूरा पता लग सके। अतः यह सिद्धान्त निश्चत हुआ कि मनुष्यप्रकृतिमें सत्त्व, रज, तम जिस प्रकारका गुण होगा 'अरा' का रङ्ग भी उसी प्रकारका होगा और क्रिया प्रतिक्रियाके परिणाममें स्थूलशरीरका रङ्ग भी ऐसा ही हो जायगा। (कल्पक २।२८

इस वैज्ञानिक तथ्यसे निम्नलिखित विषय प्रमाणित होते हैं :—

(१) शास्त्रमें सत्त्वगुणप्रधान ब्राह्मणका रङ्ग श्वेत, रजःसत्त्वप्रधान क्षत्रियका रङ्ग लाल, रजस्तमःप्रधान वैश्यका रङ्ग पीत और तमःप्रधान शूद्रका रङ्ग काला जो लिखा गया है, सो प्रकृतिभेदसे 'अरा' भेद और 'अरा' भेदका परिणाम स्थूलशरीर पर ऐसा ही होता है।

(२) जिसमें 'अरा' देखनेकी शक्ति (Psychic sight) हो, वह चार वर्णमें इसी प्रकार चार रङ्गके 'अरा' अवश्य ही देख सकेगा।

(३) जब जन्मसे ही ब्राह्मणशिशुका रङ्ग श्वेत, क्षत्रियशिशुका रङ्ग लाल, वैश्यशिशुका रङ्ग पीत और शूद्रशिशुका रङ्ग काला है तो पूर्वजन्मके कर्म्मके साथ वर्णधर्मका सम्बन्ध अवश्य है।

(४) जहां पर वर्णधर्मके अनुसार रङ्ग ठीक नहीं मिलता हो वहां किसी कारणसे प्रकृतिमें भेद पड़ गया है, जिससे 'अरा' का भी रङ्ग बदल गया है, यही मानना होगा।

शंकासमाधानके लिये कहा जा सकता है कि—स्वाभाविक क्रियामें ऐसे भेद पड़नेके अनेक कारण हो सकते हैं; यथाः— पिता माताके रङ्गका प्रभाव, उभयके संगमके समयका मनका प्रभाव, ऋतुःस्नाता स्त्रीके प्रथम मनोवृत्तिका प्रभाव, गर्भस्थ शिशुके पूर्वजन्मके विचित्र कर्म समूहोंका प्रभाव आदि अनेक कारणोंसे प्रकृतिके इस व्यवस्थाका शृङ्खलामें भेद पड़ सकता है। वर्ण शब्दके अनुसार वर्णधर्मको व्यवस्थामें चार मौलिक रङ्गोंका घनिष्ठ शास्त्रोय सम्बन्ध रहने पर भी इसका भेद जो दिखायी पड़ता है, उसके भी सूक्ष्म कारण अनेक हैं। यह भी प्राचीन कालसे प्रमाणित है। और साधारण नियम और गौण नियमके भेदसे शंका-समाधान हो सकता है।

(५) जब इच्छाशक्ति तथा वासनाके वेगसे 'अरा' का रङ्गबदलता है तो असाधारण कारणसे असाधारण रूपसे 'अरा' का रङ्ग बदलना और उसका परिणाम स्थूल शरीरपर पड़ कर जन्मान्तर प्राप्ति होना भी सम्भव है जैसा कि विश्वामित्र आदिका हुआ था। असाधारण कारण तथा रङ्ग बदलनेका प्रमाण महाभारतके शान्तिपर्वमें मिलता है। यथाः—

> असृजद्ब्राह्मणानेव पूर्वं ब्रह्मा प्रजापतीन्।
> आत्मतेजोऽभिनिर्वृत्तान् भास्कराऽग्निसमप्रभान्॥
> न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्व्वं ब्राह्ममिदं जगत्।
> ब्रह्मणा पूर्व्वसृष्टं हि कर्म्मभिर्वर्णताङ्गतम्॥
> कामभोगप्रियास्तीक्ष्णाः क्रोधनाः प्रियसाहसाः।
> त्यक्तस्वधर्म्मा रक्ताङ्गास्ते द्विजाः क्षत्रतां गताः॥
> गोभ्यो वृत्तिं समास्थाय पीताः कृष्युपजीविनः।
> स्वधर्म्मान्नाऽनुतिष्ठन्ति ते द्विजा वैश्यतां गताः॥
> हिंसाऽनृतप्रिया लुब्धाः सर्व्वकर्मोपजीविनः।
> कृष्णाः शौचपरिभ्रष्टास्ते द्विजाः शूद्रतां गताः॥

ब्रह्माण्डप्रकृतिकी गति सत्त्वगुणसे तमोगुणकी ओर होती है, इसलिये प्रथम सृष्टिमें सत्ययुग और तदनन्तर त्रेता, द्वापर, कलिका क्रम रहता है। अर्थात् सत्ययुगमें सत्त्वगुणका

प्राधान्य, त्रेतामें रजःसत्त्वका प्राधान्य, द्वापरमें रजस्तमका प्राधान्य और कलिमें तमका प्राधान्य होता है। इसीके अनुसार प्रथम सृष्टिमें सनक, सनन्दन आदि भगवान् ब्रह्माके जो चार मानस पुत्र हुए उनमें सत्त्वगुणकी पराकाष्ठा होनेसे सृष्टिकी इच्छा ही नहीं हुई। इसके बाद दूसरे अधिकारमें मरीचि, अङ्गिरा, अत्रि, पुलस्य आदि सात ऋषि भगवान् ब्रह्माके मानस पुत्र रूपसे उत्पन्न हुए, उनमें सृष्टि करनेकी इच्छा हुई, किन्तु मनोवल, योग-बलकी विशेषताके कारण उन्होंने भी मानसो सृष्टि की। यह सृष्टि केवल ब्राह्मणोंकी हुई, क्योंकि उस समय भी ब्राह्मण प्रकृतिमें सत्त्वगुणका हो प्राधान्य था। वे सव ब्राह्मण आत्मबलसे पुष्ट तथा सूर्य और अग्निको तरह तेजस्वी थे। उस समय वर्णोंकी विशेषता नहीं थी, सभी ब्राह्मण थे। किन्तु धीरे धीरे प्रकृतिकी गति नीचेकी ओर होने लगी, जिससे रजोगुण, तमोगुणका भी विकाश हो गया, और श्वेत वर्ण ब्राह्मणके स्थानमें काम-भोगप्रिय, कठिन प्रकृति, क्रोधी, साहसी, रक्तवर्ण क्षत्रिय, कृषि—गोरक्षासे जीविका करने वाले पीतवर्ण वैश्य और शौचाचारशून्य, हिंसादिप्रिय, कृष्णवर्ण शूद्र उत्पन्न हो गये। स्वधर्मत्यागका प्रभाव इन सवके मनपर पड़ जानेसे 'अरा' का रङ्ग भी वदल गया था, और तदनुसार शरीरका भी रङ्ग वदल गया था, जैसा कि इन श्लोकोंमें बताया गया है। इसी प्रकार प्रथम सृष्टिमें ब्राह्मण और तदनन्तर अन्य तीन वर्णोंकी उत्पत्तिका प्रमाण वेदमें भी मिलता है, यथा :—

'ब्रह्म वा इदमग्र आसीदेकमेव तदेकं सन्न व्यभवत्। तछ्रेयोरूपमत्यसृजत क्षत्रं यान्येतानि देवत्रा क्षत्राणीन्द्रो वरुणः सोमो रुद्रः पर्जन्यो यमो मृत्युरीशान इति……स नैव व्यभवत्स विशमसृजत यान्येतानि देवजातानि गणश आख्यायन्ते वसवो रुद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरुत इति। स नैव व्यभवत्स शौद्रं वर्णमसृजत पूषणमिमं वै पूषेयं हीदं सर्वं पुष्यति यदिदं किञ्च।' (वृह. उप. ४ ब्राह्मण)

प्रथम सृष्टिके समय सव ब्राह्मण थे, अन्य वर्ण नहीं थे। इससे काम न चला, तव परमात्माने पालनादि कार्यके लिये क्षत्रिय वर्णकी सृष्टि की, जिनका नाम पृथिवीमें क्षत्रिय हुआ और स्वर्गमें इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र, पर्जन्य, यम, ईशान इत्यादि हुआ। इससे भी काम न चला, क्योंकि पालनके लिये अर्थको आवश्यकता पड़ी। इस लिये परमात्माने वैश्यवर्णकी उत्पत्ति की, जो मनुष्यलोकमें इसी नामसे और देवलोकमें 'गण' नामसे कहे जाते हैं। देवताओंमें अष्ट वसु, एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य, त्रयोदश विश्वेदेवा और

उनचास पवन इसी गणमें हैं। किन्तु जब इससे भी काम न चला तो सेवाके लिये परमात्माने शूद्रवर्णकी सृष्टि की। देवलोकमें पोषणकारिणी पृथिवी इस वर्णमें है और मनुष्य लोकमें शूद्रजाति है।

असाधारण हेतुके द्वारा एक ही जन्ममें वर्ण बदलनेकी सम्भावना होने पर भी साधारणतः सात जन्ममें वर्ण बदल जाता है जैसा कि मनुसंहिताके अध्याय १० में लिखा है :—

शूद्रायां ब्राह्मणाज्जातः श्रेयसा चेत्प्रजायते।
अश्रेयान् श्रेयसीं जातिं गच्छत्यासप्तमात्कुलात् ॥
शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।
क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च ॥

अर्थात् शूद्रा स्त्रीमें ब्राह्मणसे उत्पन्न कन्याके साथ यदि और कोई ब्राह्मण विवाह करे और उस विवाहसे उत्पन्न कन्याका पाणिग्रहण और कोई ब्राह्मण करे, इस प्रकारसे ब्राह्मणका सम्बन्ध क्रमशः सात पुरुष तक हो तो सातवें जन्ममें वीर्य्य प्राधान्यके कारण वह वर्ण ब्राह्मण हो जाता है। इस प्रकारसे शूद्र ब्राह्मण होनेकी तरह, ब्राह्मण भी शूद्र हो सकता है। क्षत्रिय और वैश्योंके लिये भी जाति परिवर्तनका यही साधारण नियम है। किन्तु इस प्रकार असवर्ण विवाहका निषेध कलियुगमें महर्षियोंने कर दिया है। सात जन्मके साथ सम्बन्धकी क्या विशेषता है इस विषयमें जैसा कि पूर्व अध्यायमें कहा गया है हक्स्ले साहबकी तरह और भी अनेक पश्चिमी विद्वानोंने बहुत कुछ खोज निकाला है। यथा :—

For many years it was believed that every 7 years there was a complete renewal of all outworn tissues in the human body. Dr. Herman Swoboda claims to have discovered that every seventh year, over and above the fact that it marks some change, either retrogressive or progressive in the life of the individual, the period has still greater importance attaching thereto.

Every person embodies in his character and organism traits and resemblances derived from long generations of ancestors and it is the theory of Dr. Swoboda that every seventh year we have the power to transmit these traits to offsprings.

Bismarck is a brilliant example of the correctness of the Swoboda theory. The doctor claims that, along with other traits the tendency to certain diseases can be transmitted from parent to child only in years divisible by 7. (The Sacred Seven by Artic Mae Blackburn—Kalpaka-2/25)

बहुत वर्षों तक लोगोंका यही विश्वास रहा कि, प्रति सात वर्षके बाद मनुष्य-शरीरकी पुरानी पेशियां बदल जाती हैं। डाक्टर हर्मन स्वबोध कहते हैं कि, प्रत्येक सात वर्षमें मनुष्यजीवन पर अच्छा या बुरा कुछ परिवर्तन तो होता ही है, अधिकन्तु और भी आवश्यक बातोंका सम्बन्ध सातके साथ हैं।

प्रत्येक मनुष्यके चरित्र तथा अवयवोंमें अपने अनेक पितृपुरुषोंसे जन्म जन्मान्तर क्रम द्वारा प्राप्त चरित्र और अवयवोंका सादृश्य रहता है। डाक्टर स्वबोधका सिद्धान्त है कि, प्रत्येक सात वर्षमें हम लोग अपनी सन्तानोंके भीतर इन सब सादृश्योंके समावेश करनेमें समर्थ हो जाते हैं।

डाक्टर बिस्मार्कके सिद्धान्तसे डाक्टर स्वबोधके सिद्धान्तकी सत्यता अच्छी तरह प्रमाणित हो जाती है। उनका कहना यह है कि अवयव और चरित्रके अतिरिक्त खास खास बीमारियोंके संस्कार भी सातके द्वारा विभक्त होनेवाले वर्षोंमें पिता मातासे सन्तानको प्राप्त हुआ करते हैं। (कल्पक २–२५)

उपदंश, उन्माद, अर्श, अपस्मार आदि रोग सात सात पुरुष तक चलते हैं यह हमारे यहांके वैद्यशास्त्रका सिद्धान्त हो है।

वर्णविज्ञानके साथ 'अरा' और रङ्गका सम्बन्ध बताकर अब त्रिगुणमयी प्रकृतिका सम्बन्ध बताया जाता है।

वर्णधर्म्म क्या वस्तु है? जातीय जीवनको सब प्रकारकी उन्नतिके साथ वर्ण-व्यवस्थाका किसी प्रकारका सम्बन्ध है वा नहीं? वर्णव्यवस्था प्राचीन है या किसीको कपोलकल्पना वा नवीन है? इसको प्राचीन समझकर रखना चाहिये या यह नवीन तथा देशके लिये हानिजनक समझकर उड़ा देना चाहिये? इत्यादि शङ्कायें आजकल प्रायः लोग करते हैं।

किसी वस्तुके रहने या न रहनेके विषयमें विचार तथा मतामत प्रकाशित करनेसे पहिले, विचारवान् पुरुषको देखना चाहिये कि उस वस्तुके अस्तित्वके साथ प्रकृतिका कुछ मौलिक सम्बन्ध है या नहीं? क्योंकि जिस वस्तुका मौलिक सम्बन्ध प्रकृतिके साथ है,

उसका प्रकृतिसे यावद्द्रव्यभावित्व सम्बन्ध रहता है; अर्थात् जबतक प्रकृति रहेगी तबतक ध्रुव वस्तु भी रहेगी इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है।

वर्णधर्म किसी मनुष्यका बनाया हुआ धर्म नहीं है; परन्तु प्रकृतिके त्रिगुणासार स्वभाव उत्पन्न स्वाभाविक वस्तु है। प्रकृतिके सत्व, रज और तम ये तीन गुण हैं। जीव तमोगुणके राज्यमें उत्पन्न होकर रजोगुणके भीतर क्रमशः सत्त्वगुणकी ओर चलता है और अन्तमें सत्त्वगुणकी पराकाष्ठापर पहुंचकर गुणातीत ब्रह्ममें लीन हो जाता है। यह जो तीन गुणोंके भीतरसे जीवकी उन्नतिका क्रम है इसीको वर्णधर्म कहा गया है। जबतक जीव तमोगुणमें रहता है तबतक शूद्र कहलाता है, जब और कुछ भी अग्रसर होकर रजोमिश्रित तमोगुणके अधिकारको पाता है तब वैश्य कहलाता है जब और भी उन्नत होकर रजोमिश्रित सत्त्वगुणकी अवस्थाको लाभ करता है तब क्षत्रियवर्ण होता है और तदनन्तर रजस्तमोहीन शुद्ध सत्त्वगुणकी जो अवस्था है वही ब्राह्मण वर्ण है। इस प्रकारसे संसारके सर्वत्र तीन गुणोंके अनुसार चार वर्ण स्पष्ट तथा अस्पष्टरूपसे देखनेमें आते हैं। जहां प्रकृतिको पूर्णता है वहां प्राकृतिक तीन गुण की भी पूर्णता है, इसलिये वहां पर चार वर्ण स्पष्टरूप से देखनेमें आते हैं और समाजकी प्रचलित व्यवस्थामें भी उसकी गणना होती है। जहांपर प्रकृतिकी पूर्णता नहीं है, वहां जिस गुणकी या जिन गुणोंकी प्रधानता है उसी या उन्हींके अनुसार वर्णधर्मका अल्प प्रकाश देखनेमें आता है। दृष्टान्तरूपसे समझ सकते हैं कि, भारतवर्षकी स्थूल, सूक्ष्म, कारण तीनों प्रकृति ही पूर्ण है। स्थूल प्रकृतिकी पूर्णता होनेसे यहांपर षड्ऋतुओंका पूर्ण विकाश आदि अनेक लक्षण देखनेमें आते हैं; सूक्ष्म अर्थात् दैवी प्रकृतिकी पूर्णता होनेसे यहांपर देव पीठ तथा अनेक भगवदवतारोंके आविर्भाव होते हैं और कारण अर्थात् आध्यामिक प्रकृतिकी पूर्णता होनेसे यहांपर महर्षियोंकी शुद्ध बुद्धि द्वारा ज्ञानभण्डार वेद तथा ब्रह्मज्ञानका विकाश हुआ है। इसलिये जब भारतवर्षमें प्रकृतिकी ही पूर्णता है तो तीनों गुणोंको भी पूर्णता है और इसी कारण भारतीय हिन्दूसमाजमें चार वर्णकी स्वाभाविक व्यवस्था है। इस स्वभावके नष्ट करनेकी चेष्टा करने पर हिन्दूजाति उन्नति नहीं कर सकेगी, परन्तु स्वभावके नाशसे नष्ट ही हो जायगी। पृथिवीके अन्यान्य देशोंमें प्राकृतिक पूर्णता न होनेके कारण तीन गुणोंकी पूर्णता नहीं है। इसलिए उन देशोंकी जातियोंमें भी वर्णधर्मकी स्वाभाविक समाजगत व्यवस्था नहीं है। और इसी कारण जन्मान्तरके तत्त्व, मृत्युके बाद जीवोंकी कर्मानुसार गति तथा पुनः प्राक्तन कर्मानुसार मनुष्यलोकमें उत्तम अधम जातिमें जन्म इत्यादि तत्त्वोंका पता उन लोगोंको नहीं लग सका है और उनके धर्मग्रन्थोंमें भी इन विषयोंका वर्णन नहीं देखनेमें आता है। वे जन्मको केवल accident of birth अर्थात् बिना कारण अचानक जन्म

हो गया, यही कहते हैं। किन्तु पहिले ही हर्बर्ट स्पेन्सरका प्रमाण दिया गया है कि, यह विचारकी अपूर्णता मात्र है। संसारमें बिना हेतुके कोई कार्य ही नहीं होता है। तथापि तीनों गुणोंका आंशिक विकाश होनेके कारण वहांपर भी वर्णधर्मका अस्पष्ट विकाश है, जो सामाजिक व्यवस्थामें परिगणित न होनेपर भी विचारवान् सूक्ष्मदर्शी पुरुषके नेत्रमें परिदृष्ट होता है। केवल इतना ही नहीं अधिकन्तु समस्त संसार त्रिगुणमयी प्रकृतिका विकाशरूप होनेके कारण अस्पष्टरूपसे मनुष्यके नीचेकी योनियोंमें भी वर्णधर्मकी व्यवस्था देखनेमें आती है, यथा तैत्तिरीय संहितामें—"ब्राह्मणो मनुष्याणां अजः पशूनां" राजन्यो मनुष्याणामविः पशूनां" "वैश्यो मनुष्याणां गावः पशूनां" "शूद्रो मनुष्याणां अश्वः पशूनां" अर्थात् मनुष्यकी तरह पशुयोनिमें छाग आदि ब्राह्मण पशु, भेड़, सिंह आदि क्षत्रिय पशु, गौ आदि वैश्य पशु और अश्व आदि शूद्र पशु हैं। पक्षियोंमें भी शुक, कबूतर आदि ब्राह्मण, बाज, तीतर आदि क्षत्रिय, मोर आदि वैश्य और काक, गीध अदि शूद्र पक्षी हैं तथा वृक्षोंमें भी बट अश्वत्थ आदि ब्राह्मण, शाल सागवन आदि क्षत्रिय, आम कटहर आदि वैश्य और बांस आदि शूद्र वृक्ष हैं, ऐसा कह सकते हैं। काष्ठके भीतर तो चार वर्णोंकी व्यवस्था शास्त्रमें बताई ही गई है। यथा वृक्षायुर्वेदमें—

लघु यत् कोमलं काष्ठं सुघटं ब्रह्मजाति तत्।
दृढाङ्गं लघु यत् काष्ठमघटं क्षत्रजाति तत्॥
कोमलं गुरु यत् काष्ठं वैश्यजाति तदुच्यते।
दृढाङ्गं गुरु यत् काष्ठं शूद्रजाति तदुच्यते॥

जो काष्ठ लघु, कोमल और दूसरे काष्ठसे सहज ही मिल सकता है वह ब्राह्मण-जातीय है। जो काष्ठ लघु और दृढ़ है तथा अन्य काष्ठसे मिल नहीं सकता वह क्षत्रिय-जातीय है। कोमल और भारी काष्ठ वैश्यजातीय तथा दृढ़ और भारी काष्ठ शूद्रजातीय है। काष्ठकी तरह मिट्टीमें चार वर्ण देखे जाते हैं, यथा—श्वेतवर्णकी मिट्टी ब्राह्मण, लाल-वर्णकी मिट्टी क्षत्रिय, पीतवर्णकी मिट्टी वैश्य और कृष्णवर्णकी मिट्टी शूद्र है। मनुष्यके नीचेकी योनियोंकी तरह ऊपरकी देवयोनियोंमें भी चार वर्ण है, यथा-तैत्तिरीय संहितामें-"अग्निर्देवता अन्वसृज्यन्त" "इन्द्रो देवता अन्वसृज्यन्त" "विश्वेदेवा देवता अन्वसृज्यन्त" "भूयिष्ठा हि देवता अन्वसृज्यन्त" इत्यादि। देवताओंमें अग्नि आदि देवता ब्राह्मण हैं, इन्द्रादि लोकपालगण क्षत्रिय हैं, विश्वेदेवा वैश्य देवता हैं और अनेक श्रेणीके देवता शूद्र हैं। देवताओंके चार वर्णके लिये बृहदारण्यकका भी प्रमाण दिया जा चुका है। अतः यह सिद्धान्त हुआ कि त्रिगुणमयी प्रकृतिमें सर्वत्र ही त्रिगुणानुसार चार वर्ण कहीं स्पष्टरूपसे

और कहीं अस्पष्टरूप से विद्यमान हैं। इसलिये इस प्रकार स्वभावसिद्ध वर्णधर्मके नाशसे जाति उन्नत न होकर नाशको ही प्राप्त हो जायगी। इसको नष्ट न करके इसका सुधार तथा देशकालपात्रानुसार सामञ्जस्य करना ही दूरदर्शिताका कार्य्य होगा।

वर्णधर्मका विस्तार बताकर अब उसकी गंभीरता बताते हैं। वर्ण जब प्रकृतिका स्वाभाविक धर्म है तो प्रकृतिके सकल अङ्ग तथा भावोंके साथ इसका अवश्य ही सम्बन्ध होना चाहिये; अर्थात् जहां तक प्रकृतिका प्रवेश है वहां तक वर्णधर्मका भी सम्बन्ध मानना चाहिये। मनुष्यके स्थूल, सूक्ष्म, कारण तीनों शरीर त्रिगुणमयी प्रकृतिके उपादानसे ही उत्पन्न हुए हैं। अतः त्रिगुणानुसार वर्णधर्मका भी सम्बन्ध तीनों शरीरोंके अथवा अध्यात्म, अधिदैव, अधिभूत तीनों भावोंके साथ अवश्य होगा। बल्कि तीनोंकी पूर्णतासे ही वर्ण-धर्मकी पूर्णता समझी जायगी। जन्मका सम्बन्ध स्थूलशरीरके साथ, कर्म का सम्बन्ध सूक्ष्म शरीरके साथ और ज्ञानका सम्बन्ध कारण शरीरके साथ है; अर्थात् जन्मका सम्बन्ध आधिभौतिक, कर्मका सम्बन्ध आधिदैविक और ज्ञानका सम्बन्ध आध्यात्मिक है। अतः कोई भी वर्ण जबतक जन्म, कर्म तथा ज्ञानमें पूर्ण न हो तबतक पूर्ण वर्ण नहीं कहला सकता। पूर्ण ब्राह्मण वही होगा जो जन्मसे भी ब्राह्मण हो, कर्मसे भी ब्राह्मण हो और ज्ञान भी ब्राह्मणोचित हो। पूर्ण क्षत्रिय वही होगा जिसमें जन्म, कर्म तथा ज्ञान तीनों ही क्षत्रिय वर्णोचित होगा। इसी प्रकार और दो वर्णोंके विषयमें भी समझना चाहिये। इसीलिये महाभारतके अनुशासनपर्वमें कहा है—

तपः श्रुतञ्च योनिश्चाप्येतद् ब्राह्मणकारणम्।
त्रिभिर्गुणैः समुदितस्ततो भवति वै द्विजः॥

तपस्यादि कर्म, ज्ञान और जन्म तीनोंसे युक्त होनेपर तब ब्राह्मण पूर्ण ब्राह्मण होंगे। और भी—

तपः श्रुतञ्च योनिश्चेत्येतद् ब्राह्मणकारकम्।
तपः श्रुताभ्यां यो हीनो जातिब्राह्मण एव सः॥ (महाभाष्य २।२।६)
त्रीणि यस्यावदातानि विद्या योनिश्च कर्म च।
एतच्छिवं विजानीहि ब्राह्मणाग्रचस्य लक्षणम्॥ ४।१।४८

कर्म, ज्ञान और जन्म इन तीनोंकी पवित्रतासे श्रेष्ठ ब्राह्मण कहलाते हैं। कर्मज्ञानहीन ब्राह्मण जाति ब्राह्मणमात्र है—यह महर्षि पतञ्जलिका मत है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीनों वर्णोंकी पूर्णताके लिये तीनों गुणोंकी अपेक्षा है। यदि इन तीनोंमें से किसीको कमी रहे

तो पूर्ण वर्ण नहीं कहला सकते, यथा यदि केवल जन्मसे ही ब्राह्मण हो किन्तु ब्राह्मणोचित कर्म न करे अथवा ज्ञानी न हो तो पूर्ण ब्राह्मण नहीं कहला सकता। इसी प्रकार क्षत्रियादिके विषयमें भी समझना उचित है। इसीलिये श्रीभगवान् मनुजीने कर्महीन और ज्ञानहीन ब्राह्मणोंके विषयमें कहा है—

यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः।
यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति॥
यथा षण्ढोऽफलःस्त्रीषु यथा गौर्गवि चाफला।
यथा चाज्ञेऽफलं दानं तथा विप्रोऽनृचोऽफलः॥

(२य अध्याय)

जिस प्रकार काठका हाथी और चर्मका मृग नकली है उसी प्रकार मूर्ख ब्राह्मण भी नाममात्र ब्राह्मण है। जिस प्रकार स्त्रीके लिये नपुंसक, गौके लिये गौ और अज्ञको दान देना निष्फल है, उसी प्रकार अज्ञानी ब्राह्मण निष्फल है, अर्थात् ऐसे ब्राह्मण केवल शरीरसे ही ब्राह्मण हैं, कर्म और ज्ञानसे अब्राह्मण हैं। इसी प्रकार अन्य वर्णोंके विषयमें भी समझना चाहिये।

यहांपर यह बात अवश्य ही ध्यान देने योग्य है कि जन्म, कर्म और ज्ञान इन तीनोंके साथ वर्णधर्मका सम्बन्ध रहनेपर भी जन्मके साथ वर्णधर्मका साक्षात् और अतिघनिष्ठ सम्बन्ध है, क्योंकि, पूर्व जन्ममें मनुष्य जिस प्रकार कर्म करता है, उसीके अनुसार ही ब्राह्मणादि वर्णोंमें उसका जन्म होता है। श्रीभगवान् पतञ्जलिने योगदर्शनमें कहा है—

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः।

प्रारब्ध कर्मके मूलमें रहनेसे उसके फलरूपसे जीवका जाति, आयु और भोग, ये तीन वस्तुएं मिलती हैं। जिसका पूर्वकर्म सत्त्वगुणप्रधान है उसका जन्म ब्राह्मण पिता मातासे होता है, जिसका पूर्वकर्म रजःसत्त्वप्रधान है उसका जन्म क्षत्रिय पिता मातासे होता है, जिसका पूर्वकर्म रजस्तमःप्रधान है उसका जन्म वैश्य पिता मातासे होता है और जिसका पूर्वकर्म तमःप्रधान है उसका जन्म शूद्र पिता मातासे होता है। इस प्रकारसे सत्त्व आदि त्रिगुण तथा पूर्वकर्मानुसार जीवका ब्राह्मणादि वर्ण तथा आर्य, अनार्य आदि जातिमें जन्म होता है। इसीलिये श्रीभगवान्ने गीतामें भी कहा है—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।

सत्त्व, रजः, तम ये तीन गुण तथा तदनुरूप कर्मोंके विभागके अनुसार चार वर्णकी सृष्टि की गई है। मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र होनेसे एक वर्णका मनुष्य यदि पुरुषार्थ करे तो अन्य वर्णके मनुष्यका कर्म थोड़ा बहुत कर सकता है, किन्तु पूर्वगुणोंके अनुसार जो स्थूल शरीर बन चुका है उसका परिवर्तन एकाएक नहीं हो सकता है। इसलिये एक वर्णका मनुष्य अपना कर्म उन्नत या अवनत करता हुआ दूसरे जन्ममें अन्य वर्ण बन सकता है, किन्तु उसी जन्ममें नहीं बन सकता है। हां, यदि विश्वामित्र, नन्दिकेश्वर आदिकी तरह असाधारण तप आदि कर्म करे और उसके फलसे स्थूल शरीरका उपादान तक बदलकर उच्च वर्णका बन जाय तो एक ही जन्ममें वर्ण बदल सकता है। परन्तु ऐसा असाधारण कर्मका अधिकार बहुत ही विरल है और इस तमःप्रधान कलियुगमें तो एक तरहसे असम्भव ही है।

जन्मके साथ वर्णधर्मका इतना सम्बन्ध होनेके कारण ही सन्तानकी उत्पत्तिके समय देवता तथा पितृगण जीवको इतनी सहायता करते हैं। सन्तानोत्पत्तिके निमित्त गर्भाधानके समय जीवोंके प्रति देवता तथा पितरोंकी सहायता बहुत ही रहस्यमयी है। जिस प्रकार प्राणशक्तिके आवर्त्तरूपी पीठमें देवता या अपदेवता तथा मूर्ति, यन्त्र आदि मन्त्रसिद्ध पीठोंमें देवता आकृष्ट होते हैं, ठीक उसी प्रकार गर्भाधानके समय स्त्रीशक्ति और पुरुषशक्तिके संघर्ष द्वारा उनके शरीरमें स्वभावतः ही पीठ उत्पन्न हो जाता है, जिसमें उत्पन्न होने वाले अनेक जीव तथा उनकी सहायता देनेवाले देवता और पितृगण आकृष्ट होते हैं। जितने जीव उस पीठ में आकृष्ट होते हैं उनमेंसे जिसका कर्म उस प्रकार पिता माताके द्वारा उत्पन्न होने योग्य होता है वह तो वहां रह जाता है और पिताके वीर्यके द्वारा माताके गर्भमें प्रविष्ट हो जाता है, बाकी जीव अन्यत्र चले जाते हैं। पितृगण उस जीवके योग्य स्थूलशरीरप्राप्तिमें सहायता करते हैं और देवतागण उसके प्राचीन कर्मको देखकर अनुरूप गर्भमें उसे स्थापन करते हैं। इस प्रकारसे स्थूलसूक्ष्मशरीरयुक्त वह जीव कर्मानुसार जन्मको लाभ करता है। यथा श्रीमद्भागवतमें—

कर्मणा दैवनेत्रेण जन्तुर्देहोपपत्तये।
स्त्रियाः प्रविष्ट उदरं पुंसो रेतःकणाश्रयः॥

(भागवत ३।३१)

देवताओंके द्वारा सञ्चालित कर्मके अनुसार शरीर अर्थात् जन्म लाभके लिये जीव पिताके शुक्रको आश्रय करके माताके गर्भमें प्रवेश करता है। उसका पूर्वकर्म जिस वर्णमें जन्म देने योग्य होता है, उसी वर्णके माता पिताके द्वारा उसको स्थूल शरीरकी प्राप्ति

होती है और स्थूल शरीरका प्रत्येक अङ्ग प्रत्यङ्ग भी पूर्वकर्मानुसार ही होता है। अतः सिद्ध हुआ कि जन्मके साथ वर्णका सम्बन्ध अति घनिष्ठ है और पूर्व कर्मानुसार स्थूल शरीरके किसी वर्णमें बन चुकनेके कारण एकाएक वर्णका परिवर्तन कदापि नहीं हो सकता है और इसी कारण मन्वादि स्मृतिकारोंने जन्मानुसार ही नामकरण, उपनयन आदि परवर्त्ती संस्कारोंका विधान किया है। यथा—

नामधेयं दशम्यान्तु द्वादश्यां वाऽथ कारयेत्।
पुण्ये तिथौ मुहुर्त्ते वा नक्षत्रे वा गुणान्विते॥
माङ्गल्यं ब्राह्मणस्य स्यात् क्षत्रियस्य बलान्वितम्।
वैश्यस्य धनसंयुक्तं शूद्रस्य तु जुगुप्सितम्॥
गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम्।
गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः॥

(मनु० २य अध्याय)

जात बालकका नामकरण जन्मसे दसवें दिन या बारहवें दिनमें करना चाहिये अथवा पुण्यतिथि, मुहुर्त्त या शुभ नक्षत्रमें करना चाहिये। ब्राह्मणका नाम मंगलवाचक, क्षत्रियका बलवाचक, वैश्यका धनवाचक और शूद्रका दीनतावाचक होना चाहिये। गर्भके आरम्भकालसे अष्टम वर्षमें ब्राह्मणका, एकादश वर्षमें क्षत्रियका और द्वादश वर्षमें वैश्यका उपनयन होना चाहिये। इन सब श्लोकोंके द्वारा जन्मके साथ चार वर्णका स्पष्ट सम्बन्ध प्रमाणित होता है। अतः वर्णव्यवस्थामें जन्म ही मुख्य है यह सिद्धान्त निश्चित हुआ।

जीवके जन्म तथा कर्मका रहस्य न जानकर आजकल कोई कोई मनुष्य केवल इस जन्मके कर्मसे ही वर्णकी व्यवस्थाको मानने लगते हैं और कहते हैं कि इस जन्ममें जो जैसा कर्म करेगा वैसी ही उसकी जाति कहलावेगी। इस प्रकारका सिद्धान्त सर्वथा भ्रमयुक्त है। प्रथमतः पूर्व कर्मानुसार देवता तथा पितरोंकी सहायता द्वारा किस प्रकारसे जीवको आगेका शरीर मिलता है इस रहस्यको जाननेपर कोई ऐसा नहीं कह सकता कि पूर्वकर्मके साथ जातिका कोई सम्बन्ध नहीं है। द्वितीयतः मनुस्मृतिका उपनयन आदिके विषयमें जो प्रमाण दिया गया है उससे भी जन्मसे जाति स्पष्ट सिद्ध होती है। तृतीयतः योगशास्त्र और मीमांसा शास्त्रके दार्शनिक प्रमाण द्वारा तो वर्णव्यवस्था ऐसी प्रमाणित है कि जिसका प्रतिवाद तो हो नहीं सकता। और सबसे बड़ी बात यह है कि वर्ण-धर्म और आश्रम धर्मके चिरकालसे निबाहते रहने पर ही आर्य जाति सदासे जीवित है और अपना

आध्यात्मिक उन्नति द्वारा जगत्‌में सिर उठाये हुये है। अतः एकाएक इस प्रकार विरुद्ध कल्पना कर डालना ठीक नहीं है। इस जन्मके कर्मानुसार जातिका विचार करना कितना भ्रमात्मक है सो साधारण विचारके द्वारा ही मालूम हो सकता है। शुभाशुभ संस्कारानुसार इस जन्ममें जीव किस किस तरहसे कार्य करता है इस विषयमें महाभारतके शान्ति पर्वमें लिखा है—

बालो युवा च वृद्धश्च यत्करोति शुभाशुभम्।
तस्यां तस्यामवस्थायां तत्फलं प्रतिपद्यते॥

पूर्वजन्ममें बाल्य, यौवन या वार्द्धक्य जिस जिस अवस्थामें जीव जो जो शुभाशुभ कर्म संस्कार संग्रह करता है, आगेके जन्ममें ठीक उस उस अवस्थामें उन उन संस्कारोंका भोग होता है। इस शास्त्रोक्त सिद्धान्तके अनुसार कुछ भी निर्णय नहीं किया जा सकता कि किसके जीवनमें किस समय कैसे कर्मका उदय होगा; क्योंकि जीवोंके प्राक्तन संस्कार प्रायः तीनों गुणोंके मिले जुले होते हैं; अर्थात् बाल्य, यौवन, वार्द्धक्यके बीचमें संग संस्कार आदिके वश होकर जीव नाना प्रकारके सात्त्विक, राजसिक, तामसिक, तीन गुणके कर्म करते हैं और उन उन अवस्थाओंमें उनके संस्कार फलोन्मुख भी होते हैं। पूर्वजन्मके बालकपनमें किये हुए सदसत् कर्मोंका फलभोग अगले जन्ममें बाल्यावस्थामें ही होता है, यौवनकालमें किये हुए सदसत् कर्मोंका फलभोग यौवनावस्थामें ही होता है इत्यादि। अतः इस बातको कोई नहीं कह सकता है कि मनुष्यके जीवनमें किस समय कैसे कर्मका उदय होगा। संसारमें भी देखा जाता है कि घोर पाप कर्म करनेवाले भी अचानक परम महात्मा बन जाते हैं और सदाचारी महाशय व्यक्तिका भी पतन हो जाता है। अतः यदि इसी जन्मके कर्मानुसार वर्णव्यवस्था करनी हो तो एक ही मनुष्यके एक ही जीवनमें कई प्रकारके वर्ण बन सकते हैं। इस कारण पूर्वजन्मका वेग इस प्रकार जटिल होनेसे एक ही जन्ममें मनुष्य कई प्रकारकी गतिको प्राप्त कर सकता है जो कर्मसे जातिके माननेका बाधक होगा। दूसरी ओर इसी जन्मके कर्मोंको देखकर यदि वर्ण व्यवस्था बांधी जाय तो पागल बनना पड़ेगा। कोई ब्राह्मण देशकालके प्रभावसे ब्राह्मणवृत्तिके न चलनेके कारण यदि वाणिज्यादि कार्यमें लग जाय तो वह वैश्य हो जायगा, फौजमें भरती होनेपर क्षत्रिय हो जायगा, पुनः किसीकी नौकरी कर लेनेपर शूद्र हो जायगा इत्यादि इत्यादि। इस प्रकारसे एक ही घरमें कितने प्रकारके वर्ण बन जायेंगे इसका क्या ठिकाना है? इसमें पिताके वर्णके साथ पुत्रके वर्णकी एकता अनेक समयपर नहीं हो सकेगी। क्योंकि दुकानदार अर्थात् वैश्य वर्णके पिताका पुत्र पढ़ लिखकर ब्राह्मण बन सकता है। एक पितासे उत्पन्न सहोदर भाइयोंमें भी कई प्रकारके वर्ण बन सकते

हैं। स्त्री-पुरुषके तथा माता-पुत्रके वर्णमें भी प्रभेद हो सकता है। अतः इस दशामें घरकी कैसो व्यवस्था होगी और वैश्य पिताका ब्राह्मण पुत्र पितृ-मातृ-भक्ति किस प्रकारसे करेगा—इन सब बातोंपर चिन्ता तथा विचार करनेसे इस जन्मके कर्मानुसार वर्णधर्मनिर्णयकी कल्पना सम्पूर्ण भ्रमयुक्त प्रमाणित हो जायगी। अतः केवल इस जन्मके कर्मानुसार वर्णधर्म मानना अशास्त्रोय, अदूरदर्शितापूर्ण तथा भ्रमात्मक है।

वर्णधर्म आर्यजातिका प्राणस्वरूप है। इसके विना आर्यजातिका संसारमें कदापि अस्तित्व नहीं रह सकता है। आर्यजातिके ऊपर हजारों वर्षोंसे विजातीय अत्याचार तथा आक्रमण होनेपर भी आजतक जो यह जाति जोवित है इसका भी मूल कारण वर्णधर्म ही है। अतः ऊपरी दृष्टिसे देखकर इसके प्रति उपेक्षा न करके, धीर होकर सूक्ष्मदृष्टि द्वारा वर्णधर्मकी महिमा तथा उपकारिताका तत्वान्वेषण करना चाहिये। तभी आर्यजाति-का कल्याण होगा। नीचे संक्षेपसे वर्णधर्मकी उपकारिता तथा आवश्यकताके विषयमें कुछ विचार किया जाता है।

मनुष्यके शरीरमें जितने अङ्ग हैं, प्रत्येक अङ्गोंके साथ विचार करनेपर उन सभीको चार भागोंमें विभक्त कर सकते हैं। यथा—मुखमण्डल या मस्तक, हस्त, ऊरूदेश या उदर और चरण। मनुष्यशरीरकी रक्षाके लिये जिन जिन वस्तुओंकी आवश्यकता होती है वे सब इन चारोंके द्वारा हो संगृहीत हुआ करती हैं। दिमाग सोचकर शरीररक्षाका उपाय निर्णय करता है। हस्त उसका संग्रह तथा उसकी बाधाओंको दूर करता है, उदर संगृहीत वस्तुओंको पचाकर मस्तक, हस्त, पद सर्वत्र शक्ति पहुंचाता है और चरण सेवकरूपसे सारे शरीरको वस्तु संग्रहमें सहायता करता है। अतः सम्पूर्ण शरीरकी रक्षाके लिये इन चारों अंगोंकी विशेष आवश्यकता है। इनमेंसे एक अङ्ग दूसरे अङ्गका कार्य कदापि नहीं कर सकता है, यथा—मस्तकका जो चिन्ता करना-रूप कार्य है वह हस्त, उदर या चरण किसोके द्वारा भी नहीं हो सकता है. और मस्तक भो हस्त, चरण आदिका कार्य नहीं कर सकता है। उदरका कार्य उदर ही कर सकता है, अन्य किसी अंगके द्वारा वह कार्य नहीं हो सकता है। इसलिये अपने अपने कार्यके विचारसे चारोंही अंग आदर करने योग्य हैं और चारोंकी परस्पर प्रीति तथा समवेत सहायताके द्वारा ही सम्पूर्ण शरीरकी सुरक्षा और स्वास्थ्यरक्षा होती है। जिस प्रकार व्यष्टि शरीरकी रक्षाके लिये ऊपर लिखित चार अङ्ग हैं, ठीक उसी प्रकार समष्टि शरीररूपी समाजकी रक्षाके लिये चार वर्ण चार अङ्गरूप हैं। ब्राह्मण हिन्दुसमाजके विराट् शरीरका मुखरूप या मस्तकरूप है, क्षत्रिय उसकी भुजा है, वैश्य उदर है और शूद्र चरण है। सभी विराट् पुरुषके अंग हैं और समाजकी रक्षाके लिये सभीकी परम आवश्यकता है। इसी दार्शनिक विज्ञान और वैज्ञानिक समाज धर्म (Scientific

sociology) के अनुसार आर्य जातिके पूर्णताके लिये वर्णाश्रम धर्मकी व्यवस्था बाँधी गयी है। जिस मनुष्य जातिमें ऐसी शृंखला है वही मनुष्य जाति पूर्णावयव हो सकती है इसीलिये श्रुतिमें चार वर्णों की उत्पत्ति विराट् पुरुषके चार अंगोंसे बताई गई है। यथा :–

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत ॥
(यजु० अ० ३१ म० ११)

ब्राह्मण विराट् पुरुषका मुख है, क्षत्रिय बाहु है, वैश्य ऊरू है और शूद्र चरण है। इन चारोंकी शक्तियाँ परस्परकी सहायिका बनकर कार्य करें और अपने अपने कार्यमें अधिकारानुसार तत्पर रहें तभी समाजमें शान्ति रह सकती है। इसीलिये महर्षियोंने इन चारों वर्णोंकी स्थूल सूक्ष्म तथा कारण शरीरकी प्रकृति प्रवृत्ति तथा अधिकारको देखकर चारोंके लिये पृथक् कर्त्तव्य निर्देश कर दिये हैं, यथा श्रीमद्भगवद्गीतामें—

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणाञ्च परन्तप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ।
शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानविज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥
शौर्य्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥
कृषिगोरक्षवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥
(१८ अध्याय)

पूर्वकर्मानुसार स्वभावसे उत्पन्न गुणोंके द्वारा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारोंके कर्म निर्देश किये गये हैं। ब्राह्मणोंका स्वाभाविक कर्म शम, दम, तप शौच, क्षान्ति, सरलता, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिक्यमूलक है। क्षत्रियोंका स्वाभाविक कर्म वीरता, तेज, धैर्य, दक्षता, युद्धमेंसे न भागना, दान और ईश्वरभाव मूलक है। वैश्योंका स्वाभाविक कर्म कृषिकार्य, गोरक्षा और वाणिज्यमूलक है। शूद्रोंका स्वाभाविक कार्य सेवामूलक है। आर्य-शास्त्रका सिद्धान्त है कि चतुर्वर्णमेंसे शूद्रकी प्रकृति कामप्रधान, वैश्यकी अर्थप्रधान, क्षत्रियकी धर्मप्रधान और ब्राह्मणकी मोक्षप्रधान होती है। आजकल नाना कारणोंसे स्वभावका विपर्यय

हो जानेके कारण चार वर्णोंमें प्रकृतिके अनुकूल कर्त्तव्यपालन अनेक स्थानमें नहीं देखा जाता है। उसमें वर्णधर्मका कोई दोष नहीं है, परन्तु धर्मोंके कर्मविपर्यय तथा जन्मविपर्ययका ही दोष है। वणधर्मकी व्यवस्था सम्पूर्णरूपसे प्राकृतिक है, इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है।

प्रत्येक समाजकी शान्तिमयी स्थितिके लिये सदा ही चार वस्तुओंकी अपेक्षा रहती है। (१) जातिको आत्माकी ओर उन्नत करनेके लिये ज्ञान तथा उच्च चिन्ता। (२) विदेशीय अत्याचारसे बचानेके लिये तथा भीतरी शान्तिरक्षाके लिये स्थूल बल तथा शासन शक्ति। (३) स्थूल कलेवरको रक्षाके लिये अन्न तथा अर्थ और ऐश्वर्य संग्रह। (४) स्थूल आरामके लिये नाना प्रकारकी सेवा। श्रमविभाग (Division of labour) के साथ जो समाज या जाति अग्रसर होती है तथा प्रकृति प्रवृत्तिके अनुसार चार प्रकारके मनुष्य इन चारों कर्मोंमें नियुक्त किये जाते हैं उस समाज तथा जातिमें कदापि कोई अवनति या विप्लवकी सम्भावना नहीं होती है और धीरे धीरे ऐसा समाज अवश्य ही उन्नतिकी ओर अग्रसर होता है। महर्षियोंने इन चार वस्तुओंकी आवश्यकताको देखकर प्रकृति प्रवृतिके अनुसार आर्यजातिमें चार वर्णका कर्त्तव्यनिर्द्देश किया था। शूद्रमें तमोगुण अधिक है। तमोगुणयुक्त बुद्धिका लक्षण यह है कि अधर्ममें धर्म समझे तथा धर्ममें अधर्म समझे। जहाँ ऐसी विपरीत बुद्धि हो वहाँ स्वाधीनरूपसे कार्य करने पर प्रमाद अनर्थ आदि अवश्य ही उत्पन्न होंगे। इस कारण शूद्र वर्णके लिये महर्षियोंने यह आज्ञा की है कि वह स्वतन्त्र कार्य न करके त्रिवर्णके आज्ञानुसार उनकी सेवारूपसे कर्त्तव्य पालन करें। इस प्रकारसे कर्त्तव्य पालन करनेपर शूद्र शीघ्र ही जन्मान्तरमें वैश्ययोनि प्राप्त होंगे। वैश्ययोनिमें रजोगुण तथा तमोगुण दोनोंका आधिक्य है। रजोगुणका आधिक्य होनेसे धनलालसा वैश्यमें होना स्वाभाविक है। इसलिये उस धन-लालसाके द्वारा जिससे अधोगति न हो इस कारण वैश्य जातिको गोरक्षा, चार वर्णका पालन आदि सत्कर्ममें उस धनको उपयोग करनेकी आज्ञा की गई है जिससे धनके द्वारा कामका पोषण न होकर धर्मसेवा द्वारा वैश्यजाति उन्नत योनियों-को लाभ कर सके। वैश्यजाति इस प्रकारसे स्ववर्णोचित कर्त्तव्य पालन द्वारा अवश्य ही शीघ्र क्षत्रिय वर्ण प्राप्त करेगी। क्षत्रियवर्णमें रजोगुण तथा सत्त्वगुणका प्राधान्य है। रजोगुणका प्राधान्य होनेसे राजशक्तिका उदय होना क्षत्रियमें स्वाभाविक है। किन्तु वह राजशक्ति धर्मा-नुकूल न चलनेपर प्रजापीड़न, अन्यजाति तथा राज्यपर अत्याचार आदि अनर्थ उत्पन्न कर सकती है। इसलिये सत्त्वगुणके साथ मिलकर तदनुसार क्षत्रिय वर्णको धर्मानुकूल राज्य पालनकी, ब्राह्मण वर्णकी रक्षाकी तथा विजातीय अधार्मिक अत्याचारसे राज्यरक्षाकी आज्ञा की गई है। क्षत्रियवर्ण आदि इस प्रकारसे स्वधर्मानुष्ठान करे तो शीघ्र ही ब्राह्मण योनिमें उसका जन्म होगा। ब्राह्मणयोनि सत्त्वगुणप्रधान है। इसलिये तपस्या, साधना, जितेन्द्रियता,

संयम, आत्मानुसंधान, आत्मज्ञानलाभ—ये ही सब ब्राह्मण वर्णके स्वाभाविक कर्त्तव्य हैं। ब्राह्मण जाति अन्य तीन वर्णोंको ज्ञानधनसे धनी करेगी, अन्य वर्ण इसकी सेवा ग्रासाच्छादन तथा रक्षा द्वारा इसको पुष्ट करेंगे यही ब्राह्मणोंके साथ त्रिवर्णका कर्त्तव्यविनिमय है। इस प्रकारसे चार वर्ण परस्पर सहायता द्वारा समाज रक्षाके लिये श्रमविभाग कर लेनेपर तथा अपनी अपनी प्रकृतिप्रवृत्तिके अनुसार स्वधर्मानुष्ठान करनेपर समाजमें अवश्य ही विद्रोहका अभाव, अनधिकार चर्चाका अभाव और चिरशान्ति तथा आध्यात्मिक उन्नतिकी प्राप्ति हो सकती है।

पूज्यपाद महर्षियोंने इस प्रकारसे चार वर्णोंमें श्रमविभाग विधि बताकर खानदान या रोटीबेटीके साथ भी वर्णधर्मका सम्बन्ध बताया है, क्योंकि अच्छी हो या बुरी हो खानदानी वस्तु बहुकालस्थायी होती है। खानदानी रोग उपदंश, उन्माद, यक्ष्मा आदि प्रपितामह, पितामह, पिता, पुत्र, पौत्रादि क्रमसे कितने ही वंश तक लगे रहते हैं। खानदानी क्षत्रिय वीर क्षत्रिय होते हैं, खानदानी वैश्य व्यापारमें बड़े निपुण होते हैं। खानदानी गाने बजानेवाले गीत-वाद्यकलामें बड़े कुशल होते हैं। इतना तक कि खानदानी सोनार, लोहार आदि भी अपने अपने काममें पूरे योग्य होते हैं। इसलिये खानदान उपेक्षाके योग्य वस्तु नहीं है। खानदानके साथ जातिगत विशेष भावका सम्बन्ध होता है जिसकी खास विद्युतशक्ति खूनके द्वारा वंशपरम्परा क्रमसे बहुत दूर तक अपनी जातिमें चली जाती है। खूनका सम्बन्ध रोटीबेटीसे है इस कारण खानदान ठीक रखनेके लिये वर्णधर्मके साथ रोटीबेटीका सम्बन्ध ठीक रखना आवश्यकीय है। नहीं तो किसी वर्णमें भी पूर्ण योग्यताके मनुष्य उत्पन्न नहीं हो सकते। दृष्टान्तपर ध्यान देनेसे यह रहस्य अच्छी तरहसे समझमें आ जायगा। एक खानदानी वैश्य है जिसके खूनमें रगरेशेमें बुद्धिमें धन कमाना और अर्थोपार्जनकी विद्युत् शक्ति भरी हुई है। एक ब्राह्मण है, जिसका धर्म यह है कि धनको कुछ न समझकर उसे त्यागे और तपस्याको तथा अध्यात्मज्ञानको ही धन समझकर उसे कमावे। अब इन दोनोंमें यदि रोटी बेटीका सम्बन्ध होगा तो इस सम्बन्धसे उत्पन्न सन्तानकी कैसी प्रकृति होगी? क्योंकि धन कमानेवाली वैश्यप्रकृति और धन छोड़नेवाली ब्राह्मणप्रकृति दोनोंके मेलसे जो खिचड़ीसी प्रकृति उत्पन्न होगी उसमें न धन छोड़ना ही पूरा आवेगा और न धन कमाना ही पूरा आवेगा। अर्थात् इस प्रकार वर्णसंकर सन्तान न पूरी ब्राह्मण ही बनेगी और न पूरी वैश्य ही बनेगी। इसी प्रकार सहशीलता, तितिक्षा आदि ब्राह्मणका धर्म है, किन्तु अपमानका बदला लेना क्षत्रियका धर्म है। अब इन दोनों वर्णोंके विवाह सम्बन्ध द्वारा उत्पन्न सन्तानमें कौन प्रकृति उत्पन्न होगी? ऐसी सन्तान क्षत्रियवीरकी तरह न तो लड़नेवाली ही बनेगी और न ब्राह्मणकी तरह सहनशील

तपस्वी हो बनेगी। फलतः इस प्रकार चार वर्णमें रोटीबेटीके सम्बन्ध द्वारा कोई भी वर्ण ठीक नहीं रह सकेगा और ऐसा चलते चलते सौ दो सौ वर्षोंमें चारों वर्णोंका नाश होकर जाति ही नष्ट हो जायगी। यही कारण है कि पूज्यपाद दूरदर्शी महर्षियोंने आर्यजाति को वर्णसंकरता दोषसे बचाया है और चार वर्णको आपसमें भोजन तथा विवाह सम्बन्ध करनेको मना किया है। श्रीभगवान् मनुजीने भी 'सवर्णाग्रे द्विजातीनां प्रशस्ता दारकर्मणि' इत्यादि तृतीयाध्यायके वचनोंके द्वारा अपने वर्णमें विवाहादिको ही उत्तम तथा वर्ण-संकरकारी असवर्ण विवाहको अधर्म कहा है। अथर्ववेदमें भी 'ब्राह्मण एव पतिर्न राजन्यो न वैश्यः'(५-२७-९) इत्यादि मन्त्रोंके द्वारा ब्राह्मण स्त्रीका ही ब्राह्मण ही पति होना चाहिये, इस प्रकार कहकर सवर्ण विवाहककी ही पुष्टि की गई है। अब यह शंका हो सकती है कि— वर्त्तमान समयमें पूरे तौर पर वर्णाश्रम धर्मका पालन नहीं हो सकता है। अतः शंका-समाधानके लिये कहा जाता है कि—रोटी और बेटीके विषयमें रोटीका विषय यदि कुछ शिथिल कर दिया जाय तो हो सकता है, परन्तु बेटीका नियम शिथिल न किया जाय। बेटी-का नियम शिथिल कर देनेसे रजोवीर्य बिगड़ जायगा और जड़ ही कट जायगी। अतः आपद् धर्मके, अनुसार शुद्धाशुद्ध विवेक और छुवाछूत आदिके विषय कुछ शिथिलता हो जाने पर भी प्रत्येक जातिके रजोवीर्यको न बिगाड़ा जाय तभी कल्याण हो सकता है। और जब तक रजोवीर्य नहीं बिगड़ेगा तब तक आर्यजाति जीवित रहेगी। बौद्धविप्लवके समय तथा मुसलमान साम्राज्यके समय छुवाछूतके विषयमें कुछ कुछ शिथिलता आ गई थी परन्तु रजोवीर्यकी शुद्धिके विषयमें उन समयोंमें भी दृढ़ता बनी रही। यही कारण है कि आर्यजाति इस निरंकुशताके दिनमें भी जीवित है।

इस प्रकारसे गंभीर विज्ञानयुक्त वर्णधर्मकी यदि रक्षा न हो तो संसारमें क्या अनर्थ उत्पन्न होता है इसके विषयमें भी आर्यशास्त्रमें अनेक विचार किये गये हैं। महावीर अर्जुन कौरवोंका असह्य अत्याचार सहन करते हुए भी क्यों युद्धसे डरते थे इसके विषयमें कहा गया है। उनको प्रधान भय यही था कि युद्धमें पुरुषोंके मर जानेपर स्त्रियोंमें अधर्म फैल जायगा और इससे वर्णधर्मका नाश होकर वर्णसंकर प्रजाकी उत्पत्ति हो जायगी। वर्णसंकर प्रजाकी उत्पत्तिसे कुलनाश, जातिनाश, नरक प्राप्ति तथा पितृपुरुषोंका पिण्डलोप हो जायगा। महावीर अर्जुनकी यह आशंका अशास्त्रीय नहीं है। क्योंकि श्रीभगवान् मनुमहाराजने स्पष्ट कहा है—

यत्र त्वेते परिध्वंसा जायन्ते वर्णदूषकाः।
राष्ट्रिकैः सह तद्राष्ट्रं क्षिप्रमेव विनश्यति॥ (१०-६१)

वर्णधर्मके नाशसे वर्णसंकर प्रजा जिस राज्यमें उत्पन्न होती है, वहाँ कुछ दिनोंमें ही प्रजा तथा राज्य दोनोंका ही नाश हो जाता है। केवल मनुष्य राज्यमें ही नहीं अधिकन्तु पशुराज्यमें भी देखा जाता है कि वर्णसंकर पशुका वंश नहीं चलता है। गधा तमोगुणी और घोड़ा रजोगुणी है। इन दोनोंका वंश कभी नष्ट नहीं होता, किन्तु इन दोनोंके सम्बन्धसे जो खच्चर (अश्वतर) की जाति बनाई जाती है उसका वंश कदापि नहीं चलता है। इस प्रकार अन्यान्य पशुपक्षी तथा वृक्ष तकमें भी देखा जाता है कि वर्णसंकर सृष्टिको प्रकृति स्वयं ही आगे चलनेसे रोक देती है। इसका कारण यह है कि प्रकृतिके स्वाभाविक तीन गुणोंके अनुसार चार वर्ण हो सकते हैं और प्रकृतिकी समस्त शक्ति प्राकृतिकरूपसे इन तीनों गुणोंके द्वारा चार वर्णकी चार धाराओंमें ही बँटी हुई है। अतः इन चार धाराओंमेंसे किसी भी धारामें जीव बह चले तो प्रकृतिमाता निजशक्ति द्वारा उसे उन्नत करती हुई ब्रह्मतक पहुंचा सकती है। परन्तु इन चारोंके बीचमें यदि कोई अप्राकृतिक पांचवीं धारा जबरदस्ती बनाई जाय तो इसे आगे बढ़नेके लिये चारों धाराओंमें बँटी हुई प्रकृतिकी चार शक्तियोंके सिवाय और कोई पांचवीं शक्ति है ही नहीं। यह चारों रजोवीर्यकी धारायें स्वाभाविक हैं। आजकलके साइन्स (Science) ने भी यह सिद्ध करके दिखा दिया है कि— मनुष्यशरीरमें रक्त चार ही प्रकारका होता है। हमारे पूज्यपाद महर्षियोंने इस विज्ञानको और भी अच्छी तरह समझा था। उन्होंने यह दार्शनिक प्रमाणसे सिद्ध कर दिया था कि रक्तकी धारा चार श्रेणीकी होनेसे उन्नत मनुष्य जातिमें ४ वर्ण ही होना उचित है और उन चारों वर्णोंके मिश्रणसे जो जातियां बनती हैं उनमें अनुलोमज जाति अच्छी होती है और विलोमज जाति बुरी होती है। अर्थात् जिसका वीर्य उच्च वर्णका हो वह सृष्टि अपेक्षाकृत अच्छी होगी। वही शास्त्रोंमें अनुलोमज जाति कहाती है और जिसका वीर्य नीच जातिका होगा वह चांडालादि जातियां विलोमज और नीच होंगी। इसके अतिरिक्त व्यभिचारसे उत्पन्न जो संकर सृष्टि होगी वह सब देश कालमें हानि करने वाली होगी। अतः विचारके द्वारा देखा गया कि मनुजीके कथनानुसार वर्णसंकर प्रजाकी उत्पत्ति होनेपर राज्यनाश तथा प्रजानाश हो जाता है। प्रत्यक्षरूपसे देखा भी जाता है कि उच्चकुलोंमें वर्णसंकर वंशका नाश हो जाता है। पितृगण ऐसे पापमय अप्राकृतिक वंशोंको चलने नहीं देते। एक आध पुरुषके बाद ही वैसे वंश नष्ट हो जाते हैं। इसलिये किसी जातिके चिरजीवनके लिये वर्णधर्मका पालन होना एकान्त आवश्यक है। संसारमें शत शत जातियोंके नाश होने पर भी आर्यजाति केवल वर्णधर्मके कारण ही इस दीन हीन दशामें भी जीवित है और जबतक इसका वर्णधर्म अटूट रहेगा तबतक सहस्र चेष्टा करनेपर भी कोई इसको नष्ट नहीं कर सकेगा। वर्णसंकर प्रजोत्पत्तिके द्वारा पितरोंका श्राद्ध नहीं

होता है यह भी विषय पूर्णरूपसे विज्ञानमूलक है। क्योंकि मृत पितरोंके आत्माके साथ श्राद्धमें श्राद्धकर्त्ता पुत्रके आत्मा तथा मनका सम्बन्ध होता है और इसीसे पितृगण श्राद्ध-स्थानमें आकर श्राद्ध ग्रहण करते हैं। यह कार्य तभी सम्पन्न हो सकता है जब सन्तानका अन्तःकरण पिता माताके अन्तःकरणसे ठीक मिला हुआ हो किन्तु वर्णसंकर प्रजामें ऐसा हो नहीं सकता है। क्योंकि उसमें पिता एक वर्णका तथा माता अन्य वर्णकी अथवा दोनोंमें व्यभिचार संस्कार रहनेसे उन दोनोंके विलोम सम्बन्ध द्वारा उत्पन्न सन्तानका मन न पितासे ही ठीक मिल सकता और न मातासे ही ठीक मिल सकता है। और मन तो पिता माताके रजोवीर्यसे और उनके संगम समयके मानसिक संस्कारसे बहुत कुछ सम्बन्ध रखता है इस कारण व्यभिचारसे उत्पन्न सृष्टि अथवा संकर सृष्टि जो विलोमज हो उसके द्वारा किये हुए श्राद्ध आदि कर्म पूरे फलदायी नहीं हो सकते। यहाँ तक देखा गया है कि—व्यभिचारसे उत्पन्न व्यक्तिका प्रेतत्व बड़ी मुश्किलसे दूर होता है। अतः वर्णसंकर सन्तानके किये हुए श्राद्धसे पितरोंकी तृप्ति या प्रेतयोनिसे उनकी मुक्ति न होकर उनका पतन होता है। यही वैज्ञानिक सत्यतायुक्त भय अर्जुनको था और यही सकल शास्त्रोंमें वर्णित किया गया है। पितरोंकी असम्बर्द्धनासे देशमें स्वास्थ्यभंग, दुर्भिक्ष, महामारी, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, आदि नाना प्रकारके दुर्दैव उत्पन्न होकर देश रसातलको जाता है। अतः सकल विचार तथा प्रमाणों द्वारा यही सिद्ध हुआ कि इहलोकमें सुख-शान्ति, चिरजीवन, सकल प्रकारकी उन्नति, परलोकमें देवताओंसे सम्बन्ध, पितरोंकी सम्बर्द्धना तथा आध्यात्मिक उन्नति द्वारा परमात्माकी ओर अग्रसर होनेके लिये वर्णधर्मका अस्तित्व और परिपालन आर्यजातिके लिये सदा सर्वथा कर्त्तव्य है। दूसरी ओर जिस जातिमें वर्णधर्म नहीं है वह जाति कुछ कालके बाद नष्ट भ्रष्ट हो जाती है। इसका दृढ़ प्रमाण कर्म मीमांसा दर्शनमें है और प्राचीन इतिहास भी इसको सिद्ध करता है।

अब यह शंका हो सकती है कि देशकी वर्त्तमान दुर्गतिके समय इस प्रकार भेदभावके द्वारा एकता और हिन्दू जातिकी उन्नति कैसे हो सकेगी? इस प्रकारकी शंकाओंका समाधान महर्षियोंने स्मृति शास्त्रमें अच्छे प्रकारसे कर दिया है। प्रथम तो व्यक्तिगत कर्मके साथ जातीय उन्नति अवनतिका सम्बन्ध मिलाना ही युक्तियुक्ति नहीं है। क्योंकि पूर्वलिखित योगदर्शनके सूत्रके अनुसार जाति जब पूर्व जन्मके कर्मानुसार ही मिलती है तो जिसका जैसा कर्म था उसको जाति भी ऐसी ही बनी है और उसीके अनुसार खानपान आदिकी व्यवस्था भी रहनी चाहिये। इसलिये जबतक सब वर्ण तथा अछूत जाति एक साथ खानपान या विवाह सम्बन्ध न करेंगे तबतक देशका उद्धार न होगा ऐसी कल्पना करनेसे देशका उद्धार तो कभी भी नहीं हो सकेगा। क्योंकि सत्व रज तम इन तीन

गुणोंमें ही जब वैषम्य है और उसीके परिणामसे जब जातियां बनती हैं तो सब वर्ण या जाति एक तो कभी नहीं हो सकती है। एक पिताके अनेक प्रकार प्रारब्धवाले कई एक पुत्र होते हैं। कोई मैजिस्ट्रेट होता है, कोई सामान्य क्लर्क हो रहता है। इसमें यदि यह कहा जाय कि मैजिस्ट्रेट और क्लर्क दोनोंकी तनखा तथा इज्जत जब तक बराबर न होगी तब तक पिताकी सेवा दोनों मिलकर नहीं कर सकेंगे तो पिताकी सेवा कभी नहीं हो सकेगो। अतः प्राकृत व्यक्तिगत कर्मके साथ जातिगत समष्टि कर्मका मेल कभी नहीं करना चाहिये। अच्छे बुरे, उच्च नीच सभी एक भारतमाताकी सन्तानें हैं, इस कारण व्यक्तिगत भावसे पृथकता रहनेपर भी जाति-भाई रूपसे सब मिलकर मातृ-भूमिकी सेवा कर सकते हैं और करना चाहिये। वर्णधर्मको मर्यादा रखते हुए इसी प्रकारसे एकता तथा देश सेवा हो सकती है और होनी चाहिये। इसके सिवाय आपत्कालके विचारसे तथा विशेष विशेष काल विचारसे शास्त्रमें उदारता भो बहुत कुछ को गई है जिसका विचार आगे किया जायगा।

अब इन सब विषयों पर पश्चिमी विद्वानोंकी सम्मति बताई जाती है—

Mr. Sidney Low, in his recent book, A VISION OF INDIA, says—"There is no doubt that it is the main cause of the fundamental stability and contentment by which Indian Society has been braced for centuries against the shocks of politics and the cataclysms of Nature. It provides every man with his placc, his career, his occupation, his circle of friends. It makes him, at the outset, a member of a corporate body; it protects him, through life from the canker of social jealousy and unfulfilled aspirations; it ensures him companionship and a sense of community with others in like case with himself. The caste organisation is to the Hindu, his club, his trade-union, his benefit society, his philanthropic society. There are no work-houses in India and none are as yet needed. The obligation to provide for kinsfolk and friends in distress is universally acknowledged; nor can it be questioned that this is due to the recognition of the strength of family ties and of the bonds created by associations and common pursuits which is fostered by the caste principle. An India without caste, as things stand at present, it is not quite easy to imagine."

"The system of caste," says Sir Henry Cotton, "far from being the source of all troubles which can be traced in Hindu society, has rendered most important service in the past, and still continues to sustain order and solidarity."

"Caste in India cannot be either abolished or extinguished. The system will last for untold centuries, because it suits India on the whole. Hindu Society without caste, is inconceivable. Reformers must be content to make the best of a system which cannot be destroyed... The deep waters of Hinduism are not easily stirred. Ripples on the surface have the depths unmoved." (V. A. Smith)

सिड्ने साहब अपने ग्रन्थमें कहते हैं कि अनेक आघात लगने पर भी हिन्दुजाति जो सहस्रों वर्षोंसे जीवित है और उनकी जातीय भित्ति मजबूत तथा उनमें शान्ति है इसका एकमात्र कारण वर्णव्यवस्था ही है। इसके द्वारा प्रारम्भसे ही प्रत्येक व्यक्तिकी सामाजिक स्थिति और सामाजिक जीवनकी सीमा निर्दिष्ट हो जाती है, जिससे पारस्परिक ईर्ष्या, द्वेष या अपूर्ण आशाजनित दुःखका उदय समाजमें नहीं हो पाता है। भारतमें वर्णहीन हिन्दुजातिका अस्तित्व कल्पनामें नहीं आ सकता। इत्यादि। सर हेनरी काटन साहब कहते हैं—यह बात मिथ्या है कि वर्णव्यवस्थाके द्वारा हिन्दुसामाजिक जीवनमें अनेकों दुःखोंका उदय हुआ है, बल्कि प्राचीन समयमें इतने जातिकी बड़ी सेवा की है और अब भी इसीके द्वारा सामाजिक जीवनमें श्रृङ्खला तथा संगठन बना हुआ है। वी. ए. स्मिथ साहब कहते हैं—"भारतवर्षमें वर्णधर्मका नाश नहीं हो सकता और न यह उठा ही दिया जा सकता है। वर्णधर्म भारतवर्षमें अनन्तकाल तक रहेगा, क्योंकि यह भारतीय प्रकृतिके अनुकूल है। वर्णविहीन हिन्दुसमाज कल्पनामें नहीं आता। जब यह नष्ट नहीं हो सकता तो सुधारवादियोंको इस व्यर्थ प्रयत्नमें न पड़कर इससे जो कुछ फायदा होसके उसीका उपाय करना चाहिये। हिन्दुसमाजसिन्धुका गभीर तलदेश शीघ्र चञ्चल नहीं होता है, ऊपरकी लहरोंका प्रभाव नीचे तक नहीं पहुंचता है।"

खानदानके साथ वर्णके सम्बन्धको भी बहुतसे पश्चिमी विद्वानोंने अनुसन्धान कर जान लिया है, यथा—

The whole history of man, as well as that of the organic world, is simply the history of the evolution of new faculties one after the other. (P, 308, Cosmic Consciousness.)

In the self-conscious human being as we know him today, we have the psychic germ of not one higher race only, but of several. (Ibid.)

We are all an omnibus on which our ancestors ride. The good and the bad traits of character inherited and developed by each person are shown in the face and head; these may be modified by changing the habits of thought and life.

(Dr, Oliver Wendell Holmes—Kalpaka 1.23,)

The law of heredity is far more important for the preservation of race character and its promotion in the possesssion of the race than that of variation simply. (W. Cecil Dampeer Weithem.)

Every person embodies in his character and organism traits and resemblances derived from long generation of ancestors, and every seventh year we have the power to transmit these traits to offsprings.

(Artic Mae Blackburn—Kalpaka.)

All our ancestral doings are represented in our being and do in a real sense constitute in us a deeper and vaster order of consciousness than our own individual consciousness. (Ed. Carpenter.)

बके साहब अपने ग्रन्थमें कहते हैं—मनुष्य जाति तथा व्यवस्थित विश्वका यही इतिहास है कि इसमें परम्परासे नवीन गुणोंका विकाश हुआ करता है और इन सब गुणोंके संस्कार केवल एक पितृपुरुषसे नहीं, किन्तु कई एक पितृपुरुषसे प्राप्त होते हैं। डाक्टर अलिवर वेन्डेल साहब कहते हैं—गुणविकाशमें हम सब अपने पितरोंके वाहनरूप हैं। पूर्वजोंसे प्राप्त अच्छे या बुरे गुणोंके अनुसार मुख और सिरकी आकृति बनती है। जीवन और चिन्ताके प्रकारको बदलनेसे इनमें भी परिवर्त्तन हो सकता है। सेसिल डेम्पियर विथेम साहबका कहना है कि—जातीय प्रकृति और जातीय चरित्रकी रक्षा तथा समुन्नतिके लिये वंशपरम्पराकी विशेषता आवश्यकता होती है। केवल व्यक्तिगत अभ्यास बदलनेसे उतनी सफलता नहीं हो सकती है। आर्टि मी ब्लाकवर्न साहब कहते हैं—प्रत्येक मनुष्यके अवयव तथा स्वभावमें ऐसे अनेक गुण मिलते हैं जो जन्मजन्मान्तरके पितृपुरुषोंके द्वारा उसे प्राप्त हुए हैं। प्रत्येक सप्तम वर्षमें वह स्वयं भी अपनी सन्तानोंमें उन गुणोंका समावेश

कर सकता है। कार्पेन्टर साहबको उक्ति है कि—हमारे जोवनमें अपने पूर्वजोंके गुणकर्म स्वभाव विशेषरूपसे प्रकाशित होते हैं। ज्ञानशक्तिकी स्फूर्तिमें अपने व्यक्तिगत पुरुषार्थको अपेक्षा पूर्वजोंसे प्राप्त गुणोंका ही अधिक प्रभाव रहता है।

वर्णव्यवस्थाको स्पष्ट माननेमें असमर्थ होने पर भो जीवजगत्में उन्नतिके क्रम चार ही होते हैं, इस प्रकारकी चिन्ता कई एक प्रसिद्ध पश्चिमी विद्वानोंने की है, यथा—

Science has divided the human race into those branches, known as the deer, peasant and hunting types. To one of these categories every person belongs irrespective of race, colour, climatic conditions or environment The peasant and hunting types are hard materialists who set goal for themselves and attain it by sheer hard work. The deer type comprises intellectual dreamers, poets and artists. The hunting type is lively and versatile. He or she has a sharp look and as a general rule an arched nose.

(Prof. Heinrich Hartwein—German Scientist.)

जर्मनदेशके वैज्ञानिक प्रोफेसर हिनरिच हारट्वईन साहबका कथन है कि सायन्सने मनुष्यजातिको तीन श्रेणियोंमें विभक्त किया है। यथा—मृगश्रेणी, कृषक श्रेणी और शिकारी श्रेणी। इन्हीं तीन श्रेणियोंमें संसारके समस्त मनुष्य विभक्त किये जा सकते हैं। कृषक श्रेणीके लोग स्थूल परिश्रम द्वारा उन्नत होते हैं। शिकारी श्रेणिवाले भी स्थूलशरीरसे पुष्ट होते हैं किन्तु उनकी प्रतिभा विशेष होती है। वे तीक्ष्ण नेत्र, तथा उत्तम नाकवाले होते हैं। मृग श्रेणिके मनुष्य बुद्धिजीवी, विद्वान्, कवि और सूक्ष्मकलाप्रवीण होते हैं। इस प्रकारसे हिनरिच साहबने तीन विभाग करके ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णका ही आभास बताया है।

इसी प्रकार अगस्ट कोमृटे साहबने भी मनुष्यजातिको याजक, शासक और बणिक इन तीन विभागोंमें विभक्त कर ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णके धर्मका ही आभास दिया है। वैज्ञानिक बके साहबने तोनसे आगे बढ़ कर मनुष्यजातिको चार श्रेणियोंमें विभक्त किया है, यथा—

Thus we have four distinct stages of intellect all abundantly illustrated in the animal and human worlds about us, all equally illustrated in the individual growth of the cosmic conscious mind and all four existing together in that mind as the first three exist together in human

mind,—the mind made up of precepts or sense-impressions; second, the mind made up of these and recepts—the so-called receptual mind or in other words, the mind of simple conciousness; third, we have the mind made up of precepts, recepts and concepts, called sometimes the conceptional mind, or otherwise the self-conscious mind, the mind of self-consciousness; and fourth and last, we have the intuitional mind—the mind whose highest element is not a recept or a concept, but an intuition. This is the mind in which sensation, simple consciousness and self-consciousness are supplemented and crowned with cosmic consciousness. (Bucke's Cosmic Consciousness, p. 13)

बके साहबके चार विभागके अनुसार अन्तःकरणका क्रमविकाश है। प्रथम दशामें अन्तःकरण केवल इन्द्रिय सम्बन्धी संस्कारोंको प्रकट करता है। द्वितीय दशामें उसमें इन्द्रियके ऊपरकी अवस्थाका साधारण ज्ञान प्रकट होता है। तृतीय दशामें आत्माका स्वल्पज्ञान प्रकट होता है और चतुर्थ दशामें आत्माका विशेष व्यापक ज्ञान प्रकट होता है। मनकी यह चार दशाएँ क्रमशः शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण वर्णके अनुकूल हैं।

अब इन चार विभागोंके न मानने पर क्या हानि है, इस विषयमें पश्चिमीय विद्वानोंकी सम्मति बताई जाती है—

An eminent doctor, by name Leon Normet, a Director of the French Colonial Laboratory at Hue, has been making elaborate experiments on human blood for the purpose of discovering a *serum* which may be manufactured to replace the transfusion of blood from one human body into another in cases of need.

He found *four* different types of blood grouped as four separate varieties. He stated that it was fatal to mix them wrongly in transfusion and that in selecting the donors of blood for transfusion care must be taken that their groups should be ascertained beforehand. He difinitely states that if blood is transfused to a patient from a donor of the wrong group, the two fluids, instead of blending, would clot and death would be instantaneous.

Elaborate arrangements are made in some hospitals in the Continent where the donors of each type are listed and grouped separately to make adequate selections when eases arise; some instances have come in our view in this country also where such transfusion of wrong bloods has caused in some cases perpetual ailment, if not immediate death.

"फ्रान्सदेशीय औपनिवेशिक चिकित्सागारके डाईरेक्टर सुप्रसिद्ध डाक्टर लिओं नर्मेंट साहब आजकल मनुष्यशरीरके रुधिरके विषयमें पूर्ण अनुसन्धान कर रहे हैं। उनका उद्देश्य यह है कि इन रुधिरोंमेंसे कोई जलीय पदार्थ निकाला जाय जिसके रक्तके बदले शरीरमें प्रवेश कराने पर रक्त प्रवेशका ही फल लाभ हो सके। इस अनुसन्धानमें उन्हें यह पता लग गया है कि सकल प्रकारके रक्त केवल चार प्रधान श्रेणियोंमें ही विभक्त किये जा सकते हैं और श्रेणीका विचार न रख कर यदि भिन्न श्रेणीके रक्त एकसाथ मिलाये जायँ तो वे रक्त मिलते नहीं हैं, थक्के बँध जाते हैं और जिसके शरीरमें रक्त प्रवेश कराया जाता है उसकी तत्काल मृत्यु हो जाती है। इसलिये किस श्रेणीके रक्तके साथ किस श्रेणीको मिलाना चाहिए इस विषयमें पश्चिम देशके बहुतसे अस्पतालोंमें आजकल विशेष व्यवस्था की जाती है, क्योंकि इस देशमें भी ऐसी कई एक घटनायें हो चुकी हैं जिनमें अनमेल खूनके जबरदस्ती मिलाने पर तात्कालिक मृत्यु तो हुई नहीं किन्तु सदाके लिए रोगी बीमार ही रह गया है।" वर्ण चार ही हो सकते हैं और वर्णसंकरी सृष्टि चलती नहीं है, इस ऋषिवाक्यका यह अकाट्य प्रमाण है।

सन् १९२० से १९२६ तक अमेरिकाके Scientific American और इङ्गलैण्डके Science Siftings नामक दोनों पत्रोंमें Dr. Ernest Albert Abrams, Professor of Eugenics, Chicago University (डाक्टर अर्नेस्ट अल्बर्ट अब्रामस्) के यन्त्रोंके विषयमें अनेक प्रबन्ध प्रकाशित हुए थे। उनके प्रधान पांच यन्त्रोंके नाम Oscilloscope, Oscillophone, Oscillogram, Oscillograph और Oscillomitre हैं। इन सबके द्वारा विभिन्न श्रेणीकी रक्तपरीक्षा पूर्णरीतिसे हो सकती है और इसी कारण अमेरिकाकी अदालतोंमें मान्ययन्त्रोंमें इनकी गणना हो चुकी है। किसी प्रतिष्ठित पुरुषको नीचा दिखानेके लिए यदि कोई उसका शत्रु किसी नीच जातिकी स्त्रीको एक बच्चेके साथ अदालतमें पेश कर देता है तो इस यन्त्रके द्वारा रक्त परीक्षा कर यह बताया जासकता है कि इस पुरुषका यह बच्चा है कि नहीं इत्यादि। आजकल इन यन्त्रोंके द्वारा और विशेष कर इनमेंसे 'असोलोस्कोप' यन्त्रद्वारा वर्णव्यवस्थाके सिद्धान्त विषयमें बड़ा ही चमत्कार प्रकाशित

हुआ है। इस यन्त्रमें घड़ीके पेण्डुलम्‌की तरह दो पेण्डुलम् होते हैं, जिनमें रक्तविन्दुके रखने पर वे हिलते हुए परस्पर मिलने लगते हैं। इसमें यह स्पष्ट देखा गया है कि अतिदूर जातिके पुरुष और स्त्रीके खून यदि दो पेण्डुलम्‌में रख दिये जायँ तो वे अतिवेगके साथ मिलते हैं, किन्तु इसमें आश्चर्य यह देखा गया है कि इस अतिवेगवान् मिलनेमें उन खूनोंमें जो खराब मसाले होते हैं वे ही ऊपर प्रकट होते हैं, अच्छे मसाले नीचे छिप जाते हैं और इनका मेल भी एक ही बार होता है, पीछे दोनों पेण्डुलम् अलग अलग होकर पुनः मिलते ही नहीं। द्वितीयतः यह देखा गया है कि एक ही खानदानके स्त्रीपुरुषके खून यदि मिलाये जायें तो वे बड़े धीरे धीरे मिलते हैं और एक ही बार मिलते हैं। तृतीयतः यह देखा गया है कि समान खानदान भी नहीं और अति-दूरवर्ती भिन्न जाति भी नहीं इस प्रकारके स्त्रीपुरुषके रक्त यदि दोनों पेण्डुलम् पर रख दिये जायँ तो वे अति उत्तमताके साथ मिलते हैं और नियमितरूपसे बार बार मिलने लगते हैं। इन तीन परीक्षाओंके द्वारा निम्नलिखित तीन सिद्धान्त निर्विवाद प्रकट हो जाते हैं, यथा :—

(१) दूरवर्ती भिन्न जातीय विवाह द्वारा उत्पन्न वर्णसंकर प्रजामें पितामाताके दुर्गुण प्रकट होते हैं और वह सृष्टि आगे चलती नहीं। श्रीभगवान् मनुने भी यही कहा है—

अनार्यता निष्ठुरता क्रूरता निष्क्रियात्मता।
पुरुषं व्यञ्जयन्तीह लोके कलुषयोनिजम्॥
पित्र्यं वा भजते शीलं मातुर्वोभयमेव वा।
न कथञ्चन दुर्योनिः प्रकृतिं स्वां नियच्छति॥
कुले मुख्येऽपि जातस्य यस्य स्याद् योनिसंकरः।
संश्रयत्येव तच्छीलं नरोऽल्पमपि वा बहु॥१०।५८-५९-६०

वर्णसंकर प्रजामें विषयमलीन अनार्यभाव, निर्दयता, क्रूरता, जड़ता आदि दोष होते हैं। स्वभावतः सन्तानमें पिताके, माताके या दोनों ही के गुण प्रकट होते हैं, किन्तु वर्ण-संकरमें ऐसा कभी नहीं होता है, उसमें वर्णसंकरी विरुद्ध प्रकृतिके अनुसार पिताके, माताके या दोनों ही के दुर्गुण प्रकट होते हैं। वर्णसंकर सन्तान अपने उत्पत्तिदोषको कभी छिपा नहीं सकती है। किसी उत्तम कुलमें भी यदि घटनाचक्रसे कोई वर्णसंकर सन्तान उत्पन्न होजाय तथापि वह प्रजा अपनी वर्णसंकरी दुर्वृत्तिकी अर्थात् पितृदोषको थोड़ा बहुत प्रकट किये बिना नहीं रहेगी।

(२) समान खानदान या एक ही गोत्रमें विवाह होने पर सन्तान कमजोर और बुद्धिहीन होती है। इस प्रकारकी सृष्टि अधिक दिन चलती भी नहीं है। क्योंकि रक्तोंके

उपकरणमें कुछ प्रभेद न रहने पर सृष्टिका वेग (motion) नहीं आ सकता है। महर्षि आपस्तम्बने कहा है :—

समानगोत्रप्रवरां समुद्वाह्योपगम्य च।
तस्यामुत्पाद्य चाण्डालं ब्रह्मण्यादेव हीयते॥

एक ही गोत्र तथा प्रवरमें विवाह और सन्तान उत्पन्न करने पर सन्तान भी खराब होती है और पुरुषकी भी अधोगति होती है।

(३) भिन्न गोत्र प्रवर किन्तु एक ही वर्णमें विवाह होने पर सृष्टिकी धारा ठीक तौर पर चलती है। यथा मनुसंहितामें : –

असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः।
सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने॥

जो कन्या माताकी सपिण्डा और पिताकी सगोत्रा नहीं है, विवाह और प्रजोत्पत्तिके लिये वही ठीक है।

इस प्रकारसे चार वर्णकी सत्यता और वर्णसंकरकी निन्दाके विषयमें गवेषणापरायण पश्चिमी विद्वानोंने भी बहुत कुछ चिन्ता कर ली है, जिससे पश्चिमी शिक्षाप्रिय स्त्री पुरुषोंको अवश्य ही लाभवान् होना चाहिये।

अब अन्तमें यही विषय विचार करने योग्य रह गया कि यदि तीन गुणोंके अनुसार ही मनुष्य प्रकृति बनती है तो इससे विपरीत धर्म ब्राह्मणादि वर्णोंमें क्यों पाये जाते हैं। यह बात अवश्य सत्य है कि यदि ब्राह्मण अपने कर्मों पर प्रतिष्ठित रहते, अब्राह्मण, नीच या शूद्रकी तरह आचरण न करते तो कदापि इस प्रकार सन्देह नहीं होता और जन्मसे जातिका सम्बन्ध है, इसका खंडन करनेकी प्रवृत्ति लोगोंमें न उत्पन्न होती। मनुष्य कर्मोंसे भ्रष्ट हो गये हैं, कोई वर्ण अपने कर्म्मानुसार आचरण नहीं करते तभी "जन्मसे जातिका सम्बन्ध है" इस विषयमें इतना सन्देह उत्पन्न हो गया है। प्राचीन कालमें जब चारों ही वर्ण अपने अपने कर्मों पर प्रतिष्ठित थे तब इस प्रकारका सन्देह कभी नहीं उत्पन्न होता था। अब विचार करना चाहिये कि इस प्रकार चारों वर्णोंमें कर्म्मभ्रष्टता या विपरीतकर्म्मका कारण क्या है और विपरीत लक्षणोंके होनेसे वर्त्तमान देशकालमें वर्णव्यवस्थाका आदर्श किस प्रकारसे स्थिर रह सकता है।

आजकल जो इतर वर्णोंमें भी उच्च वर्णोंके गुण कर्म्म स्वभाव पाये जाते हैं और ब्राह्मण आदि उच्च वर्ण भी बहुधा अपने अपने आचरणसे गिर गये हैं जिससे इतना गड़बड़

मच गया है, विचार करने पर पता लग जायगा कि इसमें तीन कारण हैं। यथा - वर्ण-संकरता, आरूढ़पतन और मिश्रसंस्कार। आगे तीनोंका विस्तृत वर्णन किया जाता है।

कलियुग तमःप्रधान है, पापका स्रोत प्रबल वेगसे बह रहा है, स्त्रियोंमें शिक्षाके अभावसे या दोषोंसे तथा अन्य अनेक कारणोंसे पातिव्रत्य धर्मका ह्रास हो गया है, पुरुषोंमें भी विषयबुद्धि बढ़नेसे परदारगमनप्रवृत्ति बहुधा देखनेमें आती है, इन सब कारणोंसे वर्ण-संकर प्रजा बहुत उत्पन्न हो गई है और इसीसे कर्म्मसंकरता भी फैल गई है। दृष्टान्तरूपसे समझ सकते हैं कि कोई कुलस्त्री ब्राह्मणी छुपकर किसी शूद्र उपपतिसे सम्बन्ध कर पुत्र उत्पन्न करे तो वह पुत्र पूरे ब्राह्मणके गुण कर्म्म कैसे प्राप्त करेगा ? विषय गुप्त होनेसे किसी-को पता नहीं लगा, वह सन्तान ब्राह्मण ही कहलाने लगी, परन्तु उसके बहुत कर्म्म ब्राह्मणकी तरह होंगे और अनेक कर्म्म शूद्रकी तरह होंगे। उसी प्रकार शूद्रोंमें भी ब्राह्मणके व्यभिचार द्वारा उत्पन्न सन्तान साधारण शूद्रसे और प्रकारका कर्म्म करेगी उसमें कुछ ब्राह्मणका भी कर्म्म दिखाई देगा। कलिके प्रभावसे आजकल ऐसा बहुत हो गया है जिससे नीच ब्राह्मण भी मिलते हैं और अच्छे शूद्र भी मिलते हैं।

द्वितीय कारणका नाम आरूढ़पतन है। कर्म्मोंका भोग संस्कारोंकी प्रबलताके अनुसार होता है। मनुष्य अपने जीवनमें कई प्रकारके कर्म्म करते हैं। त्रिगुणमयी मायाके राज्यमें सात्त्विक, राजसिक, तामसिक ऐसे बहुत प्रकारके कर्म्म हो जाते है, उनमें से जो कर्म सबसे बलवान् होता है वही प्रारब्ध बनकर पहिले फल देता है। श्रीभगवान्‌ने गीतामें कहा है :—

ऊर्द्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥

सात्त्विक कर्म्मोंसे स्वर्गादिलोक-प्राप्ति, राजसिक कर्मोंसे पृथ्वीलोकमें ही मनुष्यादि-रूपसे जन्म और नीच तामसिक कर्मोंसे अधोलोकोंमें जन्म या पश्वादि नीच योनि प्राप्ति होती है। इसी सिद्धान्तके अनुसार यदि कोई मनुष्य ऐसे अनेक कर्म करे जिनसे उसको स्वर्ग मिलना चाहिये, ऐसे अनेक कर्म करे जिनसे उसको पृथ्वीमें ही मनुष्यजन्म मिलना चाहिये और ऐसे अनेक कर्म करे जिनसे उसको नीच पशुयोनि प्राप्त होना चाहिये तो इन तीनों प्रकारके कर्मोंमेंसे जो कर्म सबसे बलवान् होंगे वे ही उसकी मृत्युके समय प्रारब्ध कर्म बनकर चित्ताकाशको आश्रय करेंगे और उन्हींके अनुसार उसका जन्म होगा। गीतामें लिखा है :—

यं यं वाऽपि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय ! सदा तद्भावभावितः॥

मृत्युके समय साधारणतः सूक्ष्म शरीर दुर्ब्बल हो जाता है, इसलिये दुर्ब्बल सूक्ष्म शरीरको वे ही कर्म आश्रय करते हैं जो कि सबसे बलवान् होते हैं और जीव उसी भावमें भावित होकर वैसी ही योनिको प्राप्त करता है। इससे यह सिद्धान्त निकलेगा कि यदि कोई मनुष्य अन्य कर्म अच्छे करनेपर भी कुछ कर्म मन्द करे और वे कर्म प्रबलतम हों तो उन मन्द कर्मोंका भोग पहिले होगा। यथा किसी ब्राह्मणने ब्राह्मणोंके सदृश अच्छे कर्म अनेक किये, किन्तु मोहवशात् कुछ कर्म शूद्रोंके सदृश भी कर दिये और वे कर्म अन्य अच्छे कर्मों से प्रबल हुए तो मरते समय वे शूद्रोंके सदृश किये हुए कर्म हो उसका प्रारब्ध बनकर शूद्र शरीर उत्पन्न करेंगे। वह शूद्रके घरमें उत्पन्न होगा। इन शूद्र सदृश कर्मों के भोगके बाद यदि ब्राह्मणसदृश कर्म जो पहिले किये थे वे ही प्रबल हों तो पुनर्जन्म ब्राह्मणका होगा; परन्तु इस प्रकार शूद्र माता पिताके द्वारा शूद्र शरीर मिलनेपर भी पूर्वजन्ममें किये हुए ब्राह्मण-सदृश कर्मोंका संस्कार उसके कर्माशयमें रहनेके कारण वह साधारण शूद्रसे उन्नत होगा क्योंकि उसके कर्माशयमें स्थित ब्राह्मण कर्मका प्रभाव अवश्यही उसके चित्तपर पड़ेगा वह शरीरसे शूद्र होनेपरभी भाव तथा आचारसे ब्राह्मणके सदृश होगा। श्रीमद्भागवतमें जड़-भरतका जो पूर्वजन्कका वृत्तान्त लिखा है वह इसी प्रकार आरूढ़पतनके कारण हुआ था। महाराजा भरत बहुत तपस्या करनेपर भी मरनेसे कुछ पहिले एक मृगमें इतने आसक्त हो गये थे कि उसीको स्मरण करते-करते मरे और मृगयोनिको प्राप्त हुए, परन्तु वे अन्य साधारण मृगोंसे बहुत अच्छे थे क्योंकि तपस्या का संस्कार चित्तमें था इसी प्रकार अन्यान्य जीवोंमें समय समयपर असाधारण बातें जो देखनेमें आती हैं और मनुष्यमें भी जो इतर वर्णों में कभी कभी उच्चवर्णकी तरह शक्ति और गुण कर्म स्वभाव देखनेमें आते हैं उनका यही रहस्य है; अर्थात् ये ही सब आरूढ़पतनके दृष्टान्त हैं। वे सब पहिले जन्ममें उच्चवर्णके थे, परन्तु कुछ प्रबल कर्म नीच वर्णकी तरह कर दिया था जिसका प्रभाव स्थूल शरीरपर पड़नेसे स्थूल शरीर नीच मिला है; परन्तु चित्तमें उच्चसंस्कार और प्रकारके रहनेसे आचार तथा कर्म उच्च वर्णकी तरह बहुतसा दिखाई देता है। जिस प्रकार भरत राजा मृगयोनिके बाद ही पुनः पूर्व्व तपस्याके फलसे भरत ऋषि बन गये थे; उसी प्रकार वे लोग भी मन्द कर्मका भोग नीच योनिमें समाप्त होनेपर आगामी जन्ममें कर्माशय-स्थित अन्य उच्च कर्मके कारण अच्छी योनि प्राप्त करेंगे। कलियुग तमःप्रधान है, देश काल और सङ्ग इसमें बहुत विरुद्ध हैं, इसलिये कलियुगमें अच्छे मनुष्योंसे भी बहुत बुरे कर्म्म हो जाते हैं, अतः कलियुगमें इस प्रकार आरूढ़पतन होनेकी बहुत ही सम्भावना है। यही कर्म्मसङ्करताका दूसरा कारण है।

कर्म्मसङ्करताका तीसरा कारण मिश्रसंस्कार है। प्रकृतिके त्रिगुणमयी होनेसे

मनुष्योंके सब कर्म सात्त्विक, राजसिक और तामसिक, इन तीन भागोंमें विभक्त होते हैं। अन्य युगोंमें जब भावकी गम्भीरता थी तब मनुष्योंमें प्रायः एक ही गुणके कर्म प्रबल होते थे, अन्य गुण दबे रहते थे इसलिये कर्मोंकी प्राकृतिक गति प्रायः एकही होती थी और मनुष्य भी प्रायः एकही ढंगकी प्रकृतिके होते थे; परन्तु कलियुगमें भावकी गम्भीरता कम होनेसे और देशकालका प्रभाव मनुष्यप्रकृतिपर पड़नेसे कर्मसंस्कार कलियुगमें प्रायः तीनों गुणोंके मिले जुले होते हैं। सात्त्विक संस्कारके साथ भी राजसिक तामसिक कर्मोंके संस्कार होते हैं। इसी प्रकार तामसिक मनुष्यमें भी और दो गुणोंके कर्म देखनेमें आते हैं; अर्थात् मिश्र-संस्कारयुक्त मनुष्य प्रायः इस युगमें उत्पन्न होते है। मनुष्य इन तीनों प्रकारके कर्मोंमेंसे प्रबलतम कर्मानुसार आगामी जन्मको पाते हैं, किन्तु अन्य गुणके कर्मभी साथ ही साथ रहनेसे प्रकृति मिली जुली होती है जिससे अच्छे बुरे सभी संस्कार उनमें पाये जाते हैं। आजकल कलियुगके प्रभावसे मिश्रकर्म्मवाले लोग बहुत होते हैं इसलिये इतर वर्णोंमें भी नीच आचरण करनेवाले लोग मिलते हैं।

आजकल चारों वर्णोंमें कर्मसङ्करताके ये ही उपर्युक्त कारण हैं जिनके कारण इतना सन्देह तथा गड़बड़ मच गया है। अब इस प्रकार वर्णसङ्कर और कर्मसङ्करमय कलियुगमें एक ही उपाय है जिससे वर्णव्यवस्थाके आदर्शको पूर्ण रखते हुए भी देश कालानुसार व्यवस्था हो सकती है। आदर्श वर्णव्यवस्थाकी बीजरक्षा अवश्य ही करनी होगी क्योंकि बीजरक्षा न होनेसे अनुकूल देशकालमें पुनः वर्णधर्म्मकी पूर्ण प्रतिष्ठा नहीं हो सकेगी और ऐसा न होनेसे अर्थात् वर्णव्यवस्थाके नष्ट हो जानेसे आर्य्यजातिकी किस प्रकार सत्ता नाश होगी सो पहिले कहा गया है और साथ ही साथ देश कालपर भी ध्यान रखना कर्त्तव्य है क्योंकि ऐसा करना प्राकृतिक तथा धर्म्मानुकूल है। इसलिये यही उपाय अब होना चाहिये कि एक वर्णके साथ अन्य वर्णका द्वेष या घृणाभाव न रख कर जिस वर्णके मनुष्यमें जिस शरीरकी श्रेष्ठता देखी जाय उसीका योग्य सम्मान करना चाहिये और उसको ऐसा ही अधिकार देना चाहिये। जिसका स्थूलशरीर शुद्ध अर्थात् उच्च वर्णका है उससे स्थूलशरीर-सम्बन्धीय कार्य्य उच्च वर्णसे लेने योग्य जो हो सो लेना चाहिये। ऐसा ही जिस किसीका सूक्ष्मशरीर उन्नत है उससे सूक्ष्मशरीर विषयक उन्नत कार्य्य कराना चाहिये। उसका स्थूलशरीर निकृष्ट होनेपर भी सूक्ष्मशरीरके विचारसे ऐसा ही करना चाहिये। दृष्टान्तरूपसे समझ सकते हैं कि पूर्वकथित कारणोंके अनुसार यदि कोई ब्राह्मण स्थूलशरीर सम्बन्धसे ब्राह्मण हो परन्तु उसका मन बुद्धि आदि सूक्ष्मशरीरका भाव साधारण हो अर्थात् वह निर्बुद्धि हो तो उसके साथ बैठकर ब्राह्मण भोजन कर सकता है या उससे भोजन बनवाकर खा सकता है क्योंकि भोजन करना या बनवाना स्थूलशरीरसे ही सम्बन्ध रखता है। किन्तु

वह ब्राह्मण यदि कर्मसे बहुत ही हीन हो तो उसके हाथका भोजन भी नहीं करना चाहिये, क्योंकि मनुजीने अन्न शुद्धिको ही प्रधान शुद्धि कहा है, यथा :—

सर्वेषामेव शौचानामन्नशौचं परं स्मृतम् ।
योऽन्ने शुचिः स हि शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः ॥ ५-१०६

और इसी कारण महर्षि अत्रिने ब्राह्मणके दस भेद बताकर नीचकर्मी पांच प्रकारके ब्राह्मणोंके हाथका अन्न खाना निषिद्ध किया है यथा :—

देवो मुनिर्द्विजो राजा वैश्यः शूद्रो निषादकः ।
पशुर्म्लेच्छोऽपि चाण्डालो विप्रा दशविधाः स्मृताः ॥
सन्ध्या स्नानं जपं होमं देवतानित्यपूजनम् ।
अतिथिं वैश्वदेवञ्च देवब्राह्मण उच्यते ॥
शाके पत्रे फले मूले वनवासे सदा रतः ।
निरतोऽहरहः श्राद्धे स विप्रो मुनिरुच्यते ॥
वेदान्तं पठते नित्यं सर्वसङ्गं परित्यजेत् ।
सांख्ययोगविचारस्थः स विप्रो द्विज उच्यते ॥
अस्त्राहताश्च धन्वानः संग्रामे सर्वसम्मुखे ।
आरम्भे निर्जिता येन स विप्रः क्षत्र उच्यते ॥
कृषिकर्मरतो यश्च गवां च प्रतिपालकः ।
वाणिज्यव्यवसायश्च स विप्रो वैश्य उच्यते ॥
लाक्षा - लवण - संमिश्र - कुसुम्भ-क्षीर-सर्पिषाम् ।
विक्रेता मधुमांसानां स विप्रः शूद्र उच्यते ॥
चौरश्च तस्करश्चैव सूचको दंशकस्तथा ।
मत्स्यमांसे सदा लुब्धो विप्रो निषाद उच्यते ॥
ब्रह्मतत्त्वं न जानाति ब्रह्मसूत्रेण गर्वितः ।
तेनैव च स पापेन विप्रः पशुरुदाहृतः ॥

वापीकूपतड़ागानामारामस्य सरःसु च ।
निःशंकं रोधकश्चैव स विप्रो म्लेच्छ उच्यते ॥
क्रियाहीनश्च मूर्खश्च सर्वधर्मविवर्जितः ।
निर्दयः सर्वभूतेषु विप्रश्चाण्डाल उच्यते ॥ (३६३–३७३)

देव, मुनि, द्विज, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, निषाद, पशु, म्लेच्छ और चाण्डाल — ये दस प्रकार ब्राह्मण होते हैं। सन्ध्या, स्नान, जप, होम, पूजन, अतिथिसेवा, वैश्वदेवरत ब्राह्मण देवब्राह्मण कहलाते हैं। शाकफलमूलभोजी, बनवासी पितृश्राद्धपरायण ब्राह्मण मुनिब्राह्मण हैं। वेदान्तपाठी, निःसङ्ग, सांख्ययोग विचाररत ब्राह्मण द्विजब्राह्मण हैं। संग्राममें विजयी, शत्रुको अस्त्रद्वारा रोकनेवाले क्षत्रियब्राह्मण हैं। कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य व्यवसायी वैश्य-ब्राह्मण हैं। लाख, लवण, दूध, घी, मधु, मांस आदि बेचनेवाले शूद्र ब्राह्मण हैं। चोरी, डकैती करनेवाले, असूयापर, परपीड़क, मछलीमांसमें लोभी निषादब्राह्मण हैं। ब्राह्मणपनको कुछ भी न जानकर केवल जनेऊके घमण्डमें मत्त पशुब्राह्मण कहलाते हैं। जो दूसरेको तालाब, कूप आदिमें जल पीने न दें या बगीचेमें घूमने न दें ऐसे वृथा दुःख देनेवाले म्लेच्छब्राह्मण हैं। क्रियाहीन, महामूर्ख, सब धर्मसे हीन, निष्ठुर ब्राह्मण चाण्डालब्राह्मण कहलाते हैं। इन दसमें से पीछेके पांचके हाथका अन्न भोजन नहीं करना चाहिये। यही कर्मानुसार शास्त्र-व्यवस्था है। ठीक इसी प्रकार यदि कोई शूद्र सूक्ष्मशरीरसे अच्छा हो तो उससे शास्त्र तथा विद्यासम्बन्धीय कार्य्य ले सकते हैं क्योंकि ऐसा विचार केवल सूक्ष्मशरीरसे ही सम्बन्ध रखता है। परन्तु उसके साथ एक पंक्तिमें बैठकर द्विज लोग भोजन नहीं कर सकते हैं और न उसके हाथका अन्न ही खा सकते हैं क्योंकि उसका स्थूलशरीर पूर्व कहे हुए कारणोंमें से किसीके द्वारा शूद्रका हो गया है। इसीलिये स्थूलशरीरसे वह अपूर्ण है, अतः स्थूल स्पर्श-दोषका सम्बन्ध अवश्य है इस कारण स्थूलशरीरका कार्य्य उससे ब्राह्मण नहीं ले सकते। और वह स्थूलशरीरसे शूद्र परन्तु सूक्ष्मशरीरसे ज्ञानी पुरुष यदि यथार्थज्ञानी तथा विचारवान् होगा तो ऐसा करना भी नहीं चाहेगा क्योंकि जब कर्मके वैचित्र्यसे उसको यह इतर योनि प्राप्त हुई है जिससे प्रमाण होता है कि पूर्व जन्ममें और कर्म उन्नत होनेपर भी कुछ स्थूल-शरीरसम्बन्धीय कर्म उसके खराब थे जिससे स्थूलशरीर शूद्र मातापितासे उत्पन्न हुआ है तो उसका कर्त्तव्य है कि पूर्वकर्म्मका भोग स्थूल अंशमें ऐसा ही निभाया करे और सूक्ष्म-शरीरसे उन्नत आचरण करे जिससे आगामी जन्ममें उसको स्थूल शरीर भी उन्नत वर्णका प्राप्त हो जाय। उसको वर्णव्यवस्थाके प्राकृतिक सिद्धान्त पर धक्का नहीं देना चाहिये क्योंकि ऐसा करना अज्ञानका कार्य होगा; परञ्च यथावत् स्थूल सूक्ष्म शरीरके विचारसे जिस

शरीरमें जितनी योग्यता है उस शरीरसे उसी प्रकारका कार्य्य करना चाहिये। प्राचीन ज्ञानी पुरुषोंने इसी प्रकारके धर्म्मका पालन किया है यथा—

ब्राह्मणोऽसीति पूज्यो मे विश्वामित्रकृतेन च।
तस्माच्छक्तो न ते राम मोक्तुं प्राणहरं शरम्॥ (रा० बा० काण्ड)

परशुरामके अनुचित आचरण पर भी ब्राह्मण होनेके कारण श्रीभगवान् क्षत्रियकुलोत्पन्न रामचन्द्रने उनपर अस्त्रप्रहार नहीं किया था। विदुरने ज्ञानी होने पर भी "शूद्रयोनावहं जातो नाऽतोऽन्यद् वक्तुमुत्सहे (म. भा. प्रजागर पर्व) ऐसा कह कर शूद्रसन्तान होनेके कारण क्षत्रियराजा धृतराष्ट्रको ब्रह्मज्ञानका उपदेश नहीं दिया था। अन्य पक्षमें सब ऋषि शूद्र सूतके मुखसे पुराणोंको सुनते थे क्योंकि सूत शूद्र होने पर भी ज्ञानी थे; परन्तु उनके साथ ऋषियोंने स्थूलशरीरका कोई व्यवहार नहीं किया था। मनुजीने भी नीच वर्णसे अपरा विद्या सीखनेको कहा है परन्तु उससे स्थूल व्यवहार करनेको नहीं कहा है। यही सत्य सिद्धान्त है। कोई शूद्रशरीरधारी यदि ज्ञानी तथा सच्चरित्र हो तो ज्ञानका विषय सिखा सकता है परन्तु वेदके मन्त्रभाग पढ़ने पढ़ानेका उसको कोई अधिकार नहीं होगा क्योंकि वैदिक मन्त्रोंके उच्चारणके साथ स्थूलशरीरका सम्बन्ध है और वह यथार्थज्ञानी होगा तो ऐसा करेगा भी नहीं क्योंकि ऐसा करना अज्ञान है। यही सब वर्त्तमान देशकालमें वर्णव्यवस्थाके आदर्शको रखकर उन्नति करनेकी युक्ति है। किसी वर्णके प्रति घृणा न की जाय, किसीकी उन्नतिमें बाधा न दी जाय, जिसका जो शरीर जिस अधिकारका है उसके उस शरीरकी उन्नति उसी अधिकारके अनुसार की जाय, स्थूल शरीरकी उन्नति उसीके अधिकार तथा योग्यतानुसार और सूक्ष्म शरीरकी उन्नति उसकी शक्तिके अनुसार की जाय एवं सबका सम्मान अधिकारानुसार किया जाय, तभी यथार्थमें भारतवर्षको उन्नति होगी और इस घोर कलियुगमें वर्णव्यवस्थाकी बीजरक्षा होगी।

अर्वाचीन पुरुषोंने वर्णव्यवस्था-प्रकरणमें अनेक श्रुतिमन्त्र तथा स्मृतिके श्लोकोंका गलत अर्थ करके जिज्ञासुओंके चित्तमें भ्रम उत्पन्न कर दिया है। इस लिये प्रसङ्गोपात्त शंका-समाधान रूपसे कुछ विषय कहे जाते हैं। प्रथमतः वर्णके साथ जन्मका सम्बन्ध नहीं है। केवल इस जन्मके कर्मका ही सम्बन्ध है यह उनका कहना और दृष्टान्तमें जावालि ऋषि, विश्वामित्र तथा मतंगका नाम लेना सर्वथा असत्य है। जावालिका प्रकरण छान्दोग्य उपनिषद्के प्र० ४ खण्ड ४ में आता है उसमें केवल इतना ही लिखा है कि सत्यकामकी माता जवालाने गृहकार्य्यमें अधिक व्यग्रताके कारण अपने पतिसे गोत्र कभी पूछा नहीं था, पश्चात् उनकी मृत्यु हो गई, जिससे गोत्रका पता नहीं लगा। आचार्य गौतमऋषिने सत्यकामके मुखसे इस सरल उत्तरको सुनते ही समझ लिया कि सत्यकाम ब्राह्मणका बालक है। अतः

सत्यकाम अज्ञातकुल थे, विद्या पढ़कर ब्राह्मण हो गये, यह कहना मिथ्या है। विश्वामित्रकी कथा महाभारतके अनुशासनपर्व अध्याय ३ में स्पष्ट ही है, कि चरुपरिवर्तनसे पिताका अंश ब्राह्मणका उन्हें पहिले ही मिला था और माताके क्षत्रियांश अर्थात् जो क्षत्रिय परमाणु उनको मातासे मिले थे उसको बदलनेके लिये उन्होंने कितने हो वर्षों तक असाधारण तपस्या की थी, तब सृष्टिकर्त्ता भगवान् ब्रह्माजीने उन्हें ब्राह्मण स्वोकार किया था, यह असाधारण धर्म है, साधारण विधिमें प्रयुक्त नहीं हो सकता है। मतंगका उपाख्यान महाभारत अनुशासन-पर्व अध्याय २७ से २९ तकमें है, उसमें यही लिखा है कि उसने ब्राह्मण होनेके निमित्त तपस्या तो की थी किन्तु इन्द्रदेवने उसे ब्राह्मण होनेका वर नहीं दिया। अतः अर्वाचीन पुरुषोंके ये तीनों दृष्टान्त अप्रासङ्गिक तथा मिथ्या हैं। द्वितीयतः यजुर्वेदके 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' इत्यादि मन्त्रके द्वारा भी इस जन्मके गुण-कर्म द्वारा वर्ण विचार करना सर्वथा असत्य है। थोड़ी बुद्धिवाले भी सोच सकते हैं कि इस मन्त्रमें जब 'अजायत' पद है तो जिन कर्मोंके द्वारा ब्राह्मणादि विराट् पुरुषके भिन्न भिन्न अङ्गोंसे प्रकट हुए थे वे कर्म प्राक्तन अर्थात् पूर्वकृत अवश्य हैं नहीं तो वे उत्पन्न ही कैसे हो सकते थे। अतः इस मन्त्रके द्वारा भी जन्मसे ही वर्णव्यवस्था सिद्ध होती है, इस जन्मके गुण कर्मसे ही नहीं। इस प्रकार छान्दोग्य उपनिषद्के वा० उप० प्र० ५ खण्ड १० में मन्त्र आता है। यथा —

यथा हि रमणीयाचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाथ य इह कपूयाचरणा अभ्यासो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा।

अर्थात् जिनके पूर्वकर्म अच्छे होते हैं उन्हें ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्यकी अच्छी योनि मिलती है और मन्द प्राक्तनवाले श्वान, शूकर, चाण्डालादि नीच योनियोंको पाते हैं। ये सभी वर्णन पूर्वकर्मानुसार आगामी जन्म पानेके विषयके हैं। इसके सिवाय मनु, आश्वलायन आदि स्मृतियोंमें जो त्रिवर्णका नामकरण, उपनयन आदि संस्कार भिन्न भिन्न प्रकारसे भिन्न भिन्न उमरमें करनेकी आज्ञा मिलती है और यहां तक कि इनके जनेऊ, मेखला, दण्ड आदिमें भी वर्णानुसार भेद बताये गये हैं सो सब जन्मके साथ सम्बन्ध बिना तो बन ही नहीं सकते हैं। यदि विद्या पढ़नेके बाद कर्मानुसार वर्ण निर्णय करना होगा तो कितने मूर्ख ब्राह्मणको जनेऊ उतार देना होता, उनके लिए पहिले किया हुआ संस्कार सब व्यर्थ हो जायगा, कितनेका कपासका जनेऊ तोड़ सनका या सनका तोड़ ऊनका बनाना होगा और सारा संस्कार बदल देना होगा, इसका क्या ठिकाना लग सकता है? अतः विचारकी दृष्टिसे देखनेपर अर्वाचीन पुरुषोंके ये सभी सिद्धान्त भ्रममात्र दिखाई देते हैं। यदि केवल विद्या

पढ़नेसे ही ब्राह्मण हो जाता तो विश्वामित्रके पढ़े लिखे होने पर भी इतने तप करनेका प्रयोजन क्या होता ? और विद्या तथा तपस्याहीन ब्राह्मणको मनुसंहिता और महाभाष्यमें शूद्र न कहकर जातिब्राह्मण क्यों कहा जाता ? अतः ये सभी मिथ्या कपोलकल्पित युक्तियाँ हैं। यदि इस जन्मके गुणकर्ममात्रसे जाति बनती तो इतनो लड़ाई करनेपर भी परशुराम तथा द्रोणाचार्य क्षत्रिय क्यों नहीं कहलाये और गीताके उपदेष्टा होनेपर भो श्रीकृष्ण ब्राह्मण क्यों नहीं कहलाये, इतने बड़े तपस्वो और ज्ञानी विदुर शूद्र हो क्यों बने रहे और इतने पण्डित होनेपर भी कर्णको "मैं ब्राह्मण हूँ" ऐसा झूठ बोलकर परशुरामके पास अस्त्र सोखने-को क्यों जाना पड़ा ? ये सभो विचारनेकी बातें हैं।

इसके अतिरिक्त अर्वाचीन पुरुषोंने जो विद्यासभा और राजनियमके बलसे मूर्ख ब्राह्मणपुत्रको शूद्रके घरमें और पढ़े लिखे शूद्रपुत्रको ब्राह्मणके घरमें डाल देनेको कहा है, यह बड़ी विचित्र बात है। अदूरदर्शी होनेके कारण उन्हें यह नहीं सूझा कि ऐसा करनेसे गृहस्था-श्रममें कितना अनर्थ तथा विप्लव उत्पन्न होगा और स्नेह, वात्सल्य आदि भावोंका कैसा सत्यानाश होगा।

प्रथम तो —'अङ्गादङ्गात् सम्भवसि हृदयाधिजायसे। आत्मासि पुत्र मामृथाः स जीव शरदः शतम् ॥' सामवेदके ब्राह्मण भाग २ के इस मन्त्र द्वारा पिताके अङ्ग अङ्गसे निकला हुआ आत्मारूप पुत्र अन्यवर्णका हो ही नहीं सकता है और न अन्य वर्णका पुत्र अपना ही हो सकता है। आमके बीजसे आम ही होता है, चाहे उसका वृक्ष बहुत बढ़े या न बढ़े। द्वितोयतः श्राद्ध तर्पण पिण्डदानका अधिकार और पिताको सम्पत्तिपर अधिकार अपने वर्णके औरस पुत्रका हो होता है, दूसरे वर्णके पुत्रका नहीं होता है, यहो प्राचीन-शास्त्रनिर्दिष्ट दायभागको व्यवस्था है, यथा—

ज्येष्ठ एव तु गृह्णीयात् पित्र्यं धनमशेषतः
शेषास्तमुपजीवेयुर्यथैव पितरं तथा ॥
ज्येष्ठेन जातमात्रेण पुत्री भवति मानवः।
पितॄणामनृणश्चैव स तस्मात्सर्वमर्हति ॥ (अ० ९)

अर्थात् पिताको सब धनको औरस ज्येष्ठ पुत्र ही ग्रहण करे, बाकी और सब सन्तान उसमेंसे पिताके सामने जैसे खाते थे वैसे खाते पीते रहें। ज्येष्ठ पुत्रके उत्पन्न होनेसे हो पिता पुत्रवान् कहलाता है क्योंकि श्राद्ध पिण्डदानका अधिकारी होनेसे उसीके द्वारा पिता पितृ-ऋणसे मुक्त होता है, अतः पिताकी सम्पत्तिपर उसोका अधिकार है। यही दायभागकी व्यवस्था है। अर्वाचोन पुरुषोंका सिद्धान्त मानने पर इन सब शास्त्रोय व्यवस्थाओंमें बड़ा

ही गड़बड़ पड़ जायगा और गृहस्थाश्रमकी शान्ति तथा सुख एकबारगी नष्ट हो जायगा। अतः ऐसी कल्पना भ्रममात्र है।

कहीं कहीं प्रायश्चित्त विवेकके श्लोकका पाठान्तर करके भो लोग गड़बड़ करते हैं। यथार्थ श्लोक यह है—

जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्कारैर्द्विज उच्यते।
वेदाभ्यासाच्च विप्रत्वं त्रिभिः श्रोत्रिय उच्यते ॥

जन्मसे ब्राह्मण, उपनयनादि संस्कारोंसे द्विज, वेदाभ्याससे विप्र और इन तोनोंकी पूर्णतामें 'श्रोत्रिय' ब्राह्मण कहलाता है। इसमें जो—

'जन्मना जायते शूद्रः संस्कारैर्द्विज उच्यते' इत्यादि पाठान्तर किया जाता है सो भूल है।

अर्वाचीन पुरुषने मनुसंहिताके अनेक श्लोकोंसे केवल कर्म्मके द्वारा ही जातिनिर्णय करनेकी चेष्टा की है परन्तु उनकी यह चेष्टा सर्वथा भ्रमयुक्त है। क्योंकि मनुजीने ऐसा कहीं नहीं लिखा है किन्तु उन्हीं सब श्लोकोंके द्वारा मनुजोने वोर्य्यका या जन्मका प्राधान्य बताया है। यथा—

शूद्रायां ब्राह्मणाज्जातः श्रेयसा चेत्प्रजायते।
अश्रेयान् श्रेयसीं जातिं गच्छत्यासप्तमाद्युगात् ॥
शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।
क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च ॥ (अ० १०)

शूद्रा स्त्रीमें ब्राह्मणसे उत्पन्न कन्याको यदि और कोई ब्राह्मण विवाह करे और उस विवाहसे उत्पन्न कन्याको दूसरा ब्राह्मण विवाह करे, इस प्रकारसे ब्राह्मण सम्बन्ध क्रमशः सात पुरुष (जन्म) पर्य्यन्त होवे तो सातवें जन्ममें वोर्यके प्राधान्यके हेतु वह वर्ण ब्राह्मण हो जाता है। इस प्रकारसे जैसा कि शूद्र ब्राह्मण होता है एसा ही ब्राह्मण भी शूद्र हो सकता है और क्षत्रिय और वैश्यके विषयमें भो यही नियम जानना चाहिये। इन श्लोकोंमें स्पष्ट रूपसे जन्मसे जाति और वोर्यका प्राधान्य वर्णव्यवस्थाके साथ दिखाया गया है। इसमें और किसी प्रकारकी व्याख्यानका अवसर नहीं है। मनुजीने ऐसा ही और भी कहा है कि:—

स्वाध्यायेन जपैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ॥ (२य अध्याय)

इससे पहिले और भी दो श्लोक इसी विषयके, हैं यथा :—

वैदिकैः कर्म्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम् ।
कार्य्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च ॥
गार्भैर्होमैर्जातकर्म्मचौलमौञ्जोनिबन्धनैः ।
बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते ॥

इन तीनों श्लोकोंका क्रमशः अर्थ यह होता है कि वैदिक पुण्य कार्य्य द्वारा द्विजगणका गर्भाधानादि संस्कार करना चाहिये। ये सब वैदिक संस्कार इहलोक व परलोकमें पवित्र करते हैं। गर्भाधान, जातकर्म्म, चूड़ाकरण व उपनयनादि संस्कारोंके द्वारा द्विजोंके बीज व गर्भजन्य दोष नष्ट होते हैं। स्वाध्याय, व्रत, होम, त्रैविद्य व्रत, ब्रह्मचर्यदशामें देवर्षिपितृ-तर्पण, गृहस्थमें सन्तानोत्पादन, पञ्चमहायज्ञ और ज्योतिष्टोमादि यज्ञ द्वारा मनुष्योंका शरीर ब्रह्मपदप्राप्तिके योग्य होता है। इसमें पहिले दो श्लोकोंसे रजोवीर्य्यसे उत्पन्न स्थूल शरीर-शुद्धि और तीसरे श्लोकसे सूक्ष्म व कारण शरीरकी शुद्धि बताई गई है। क्योंकि जीवको ब्रह्मपदप्राप्ति तीनों शरीरोंकी शुद्धिसे ही हुआ करती है। द्विजातिगण इस प्रकार त्रिविध शुद्धि द्वारा ही मुक्तिपद प्राप्त कर सकते हैं। अर्वाचीन पुरुषोंने पहिले दो श्लोकोंका अर्थ छोड़कर और तीसरेका अर्थ बिगाड़कर जन्मके उड़ानेकी चेष्टा की है सो सर्वथा मिथ्या है। इसी प्रकार आपस्तम्बरके सूत्रके विषयमें भी अर्वाचीन लोगोंने भ्रान्तिसे कहा है कि "उसमें केवल कर्म्मसे ही जन्मकी व्याख्या की गई है।" उसका अर्थ ऐसा नहीं है। वह सूत्र यह है:—

धर्म्मचर्य्यया जघन्यो वर्णः पूर्व्वं पूर्व्वं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ ।
अधर्म्मचर्य्यया पूर्व्वो वर्णो जघन्यं जघन्यं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ ॥

धर्म्माचरणसे नीच वर्ण पूर्व पूर्व उच्च वर्णको प्राप्त होता है और ऐसा ही अधर्म्मा-चरणसे उच्च वर्ण भी नीच वर्णको प्राप्त होता है। यहाँ धर्म्म व अधर्म संस्कारका प्रभाव बताया गया है; परन्तु इसमें एक ही जन्ममें वर्ण बदलता है ऐसा नहीं कहा गया है। क्योंकि, 'जातिपरिवृत्तौ' शब्दके द्वारा जन्म बदलनेसे आगे जन्मोंमें क्रमशः उच्च नीचवर्णका होना बताया है। इस कारण—चत्वारो वर्णा ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राः। तेषां पूर्वः पूर्वो जन्मतः श्रेयान् (१।१।१) आपस्तम्बके ये भी दो सूत्र हैं जिनमें 'जन्मतः' श्रेष्ठता बता कर अपने ही मतकी पुष्टि की गई है। अतः इसमें अन्यथा अर्थ करना भ्रममूलक है ऐसा जानना चाहिये। इस प्रकारसे जातिके साथ जन्म व कर्म दोनोंका ही सम्बन्ध रक्खा गया है और जब आर्य्योंमें ही नीच वर्ण, सात वंशपर्य्यन्त उच्चवर्णका वीर्य्यसम्बन्ध पाने पर, तब उच्च-वर्ण बन सकता है तो अनार्य्यको शुद्ध करके आर्य्य बनाना कैसा उन्माद व अज्ञानका कार्य्य है, इसको विचारवान् पुरुष सोच सकते हैं। भगवान् मनुने कहा है कि :—

जातो नार्य्यामनार्य्यायामार्य्यादार्य्यो भवेद् गुणैः ।
जातोऽप्यनार्य्यादार्य्यायामनार्य्य इति निश्चयः ॥ (१०)

अनार्य्या स्त्रीमें आर्य्य पुरुषसे उत्पन्न पुत्र गुणसे आर्य्य होते हैं और आर्य्य स्त्रीमें अनार्य्य पुरुषसे उत्पन्न पुत्र अनार्य्य होते हैं। इसमें पहिले प्रकारके पुत्र आर्य्य—वीर्य्यके कारण आर्य्यका गुण प्राप्त करेंगे, परन्तु आर्य्यकी जाति उनकी नहीं होगी और दूसरे प्रकारके पुत्र जो अनार्य्य पुरुषसे उत्पन्न होंगे उनमें वीर्य्यका भी प्राधान्य न रहनेसे वे जाति और गुण दोनोंहीसे अनार्य्य होंगे, यही शास्त्रका सिद्धान्त है। इसलिये अनार्य्योंको शुद्ध करके आर्य्य बनाना सर्वथा शास्त्रविरुद्ध और अन्याय है। हाँ, यदि कोई अनार्य्य आर्य्यधर्म्मके महत्वको जानकर इसके अन्तर्गत होना चाहे तो होसकता है. किन्तु चतुर्वर्णमें उसकी गिनती नहीं होगी। ऐसे ही यदि कोई आर्य्यधर्म्मावलम्वी जो भूलसे अन्य धर्म्ममें चले गये थे, पुनः आर्य्यधर्म्ममें आना चाहें, यदि उनका ऐसा कोई उत्कट दोष नहीं हुआ हो जिसका प्रभाव स्थूल शरीरपर भी पड़ गया हो और स्थूल शरीरको अनार्य्यभावोंसे ग्रस्तकर दिया हो, तो उनको प्रायश्चित्त आदि शास्त्रीय विधानोंसे शुद्ध करके पुनः चतुर्वर्णमें ले सकते हैं। अथवा कोई चतुर्वर्णसे ही कर्म्म द्वारा पतित होकर अवान्तर वर्ण बन गया हो और उसका कर्म्म अब शुद्ध व उन्नत वर्णका जिससे कि वह गिर गया था हो गया हो तो उसको भी, यदि ठीक ठीक प्रमाण मिल जाय तो अपने वर्णमें, शुद्ध करके ले सकते हैं, परन्तु ये सब कार्य्य बहुत ही विचार और शास्त्रीय आज्ञा व अनुसन्धानके साथ होने चाहिये जिससे एक वर्णके साथ दूसरा वर्ण मिलनेसे कहीं वर्णसङ्करता न फैल जाय। आज-कल स्वदेशहितैषिता और हिन्दुओंकी संख्यावृद्धिके बहानेसे कोई कोई लोग अनार्योंको शुद्धकर आर्य्य बनाने लग पड़े हैं और वे लोग नीच वर्णको और धर्ममें चले जानेके डरसे उच्च वर्ण बना देते हैं। आर्योंकी संख्यावृद्धि और देशका हित हो यह सबका प्रार्थनीय विषय है; परन्तु ये सब कार्य्य आर्य्यत्वको स्थायी रखकर करना चाहिये। आर्य्योंकी भलाई व उन्नति आर्य्य रहकर ही हो सकती है, आर्य्यत्वको नष्ट करके अनार्य्य बनकर नहीं हो सकती है। यही यथार्थ स्वदेशहितचिन्ता है। धर्म्म व आर्य्यत्वको छोड़कर स्वदेशहितचिन्ता वास्त-विक हितचिन्ता नहीं है, परन्तु अज्ञानकृत अहितचिन्ता है। आर्य्य यदि आर्य्य ही न रहे तो उसकी उन्नति किस कामकी होगी, इस प्रकार अनार्य्योंको आर्य्य बनाकर संख्यावृद्धि करनेसे आर्य्यत्व भ्रष्ट हो जायगा, हिन्दू जाति अहिन्दू हो जायगी। इसलिये इस प्रकारको शुद्धि व संख्यावृद्धिका विचार सर्वथा भ्रमयुक्त है और अन्य धर्म्ममें चले जानेके डरसे नीच वर्णको उच्च वर्ण बना देना भी इसी प्रकार शास्त्र व जातीयतासे विरुद्ध है। इससे वर्णसङ्करता-वृद्धि होकर आर्य्यजाति नष्ट हो जायगी। संख्यावृद्धि अच्छी वस्तु है, परन्तु धर्म्मको छोड़कर

संख्या-वृद्धि ठीक नहीं है। आर्य्यजातिकी जातीयता व उन्नति धर्ममूलक होनी चाहिये, अन्यथा उन्नति कभी नहीं हो सकती है। पूर्व विज्ञानसे सिद्ध किया गया है कि, एक जाति थोड़ीसी शुद्धिसे हो अन्य जाति नहीं बन सकती है। कर्मके अच्छे होनेसे अगले जन्ममें जाकर बन सकती है। इसी सिद्धान्तको लक्ष्यमें रखकर इन जातियोंको शिक्षा देनी चाहिये, उनसे घृणा नहीं करनी चाहिये, उनको विद्या पढ़ानी चाहिये, वे दरिद्रता या लोभसे दूसरे धर्म्मोंमें जाते हैं इसलिये उनकी गरीबी हटानी चाहिये और उनके अधिकारके अनुसार उनको सत्‌शिक्षा देकर उन्नत करना चाहिये। ऐसा करनेसे वे उन्नत और शिक्षित भी होंगे और भिन्न धर्म्मोंमें नहीं जायँगे। इस प्रकारसे धर्म्मकी भी रक्षा होगी और हिन्दूजातिकी संख्या नहीं घटेगी, यही शास्त्रीय सिद्धान्त है। शुद्धिके विषयमें स्थानान्तरमें और भी विचार किया जायगा।

वर्णव्यवस्थाके विषयमें कहीं कहीं यह भी शंका की जाती है कि इसने स्त्री तथा शूद्र वर्णको बहुत नीचा दिखाया है और उनको उन्नतिके पथपर जानेसे रोक दिया है, क्योंकि स्मृतिकारोंने उनके लिये वेदपाठ, वैदिक संस्कार आदि सब कुछ निषेध कर दिया है। यह कटाक्ष ठीक नहीं है। क्योंकि स्त्री तथा शूद्रके लिये वेदपाठका निषेध महर्षियोंने पक्षपात या निष्ठुरतासे नहीं किया है, किन्तु कृपानिमित्त दूरदर्शिताके साथ किया है। महाभाष्यमें लिखा है :—

दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥

वेदमन्त्रके उच्चारणमें जो उदात्त अनुदात्त, लाघव गौरव, स्वर तथा वर्ण आदिका विचार रखना होता है, उसके बिना यदि कोई वेदमन्त्रका अशुद्ध उच्चारण करे तो उससे उसकी तथा उसके कुलकी हानि होती है। सभी लोग जानते हैं कि, स्त्रियोंके कण्ठसे सब स्वर ठीक ठीक उच्चारित नहीं हो सकते और तमोभावके आधिक्यके कारण असम्पूर्ण शरीर तथा अपूर्णकण्ठ शूद्रके द्वारा भी मन्त्रोंका यथार्थ उच्चारण हो ही नहीं सकता है। अतः इनके द्वारा अशुद्ध वेदोच्चारणसे इन्हींकी तथा इनके वंशकी हानि हो सकती है, ऐसा जानकर दूरदर्शी दयालु महर्षियोंने मन्त्रभागको छोड़कर इन्हें और सब शास्त्र पढ़ने कहा है और महाभारतादि ग्रन्थ जो कि पञ्चम वेद कहाता है, इन्हींको लक्ष्य करके बना दिया है, यथा भागवतपुराणमें—

स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा।
कर्मश्रेयसि मूढानां श्रेय एवं भवेदिह।
इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतम्॥

स्त्री, शूद्र और अधम ब्राह्मणोंको वेद पढ़ना या सुनना नहीं चाहिये, इसीलिये महामुनि व्यासदेवने इनके कल्याणके अर्थ पञ्चमवेदरूपी महाभारतकी रचना कर दी। इसमें शूद्रोंकी तरह नीच ब्राह्मणोंको भी वेद पढ़नेका निषेध किया गया है। इसीसे महर्षियोंका पक्षपातरहित उदार समदर्शी भाव विदित हो सकता है। अर्वाचीन पुरुषोंने इस रहस्यको न जानकर कहीं तो सुश्रुतके प्रमाणसे शूद्रोंके लिये जनेऊ और वेदपाठका निषेध कर दिया है और कहीं पर वेदमन्त्रका उलटा अर्थ करके वेदका पढ़ना भी कह दिया है। यथा "शूद्रमपि कुलगुणसम्पन्नं मन्त्रवर्जमनुपनीतमध्यापयेत्" सुश्रुतके सूत्रस्थानके दूसरे अध्यायका यह वचन है। इसमें कुलीन शुभलक्षणयुक्त शूद्रकी वेदके मन्त्रभागको छोड़कर शास्त्रपाठकी आज्ञा दी गई है, सो ठीक ही है। किन्तु 'यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः' इत्यादि यजुः अ० २६।२ के मन्त्रका गलत अर्थ करके स्त्री शूद्र सभीको जो वेद पढ़नेके लिये कहा गया है, यह भूल है। मन्त्र निम्नलिखितरूप है, जिसको उन लोगोंने पूरा कहा ही नहीं है :—

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च। प्रियो देवानां दक्षिणायै दातुरिह भूयासमयं मे कामः समृध्यतामुपमादो नमतु॥

हे जनाः! जनेभ्यः अहं राजा ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय आर्याय स्वाय अरणाय च यथा इमां कल्याणीं वाचं आवदानि, देवानां दक्षिणायै दातुः यथा च प्रियो भूयासं यथा च अयं मे कामः समृद्ध्यतां यथा च उप, मा, अदः, नमतु तथा मद्राज्यस्थिता भवन्तः कुर्वन्तु। जनेषु इभ्यः पूज्यः राजा इति भावः।

इस मन्त्रमें राजा अपनी समस्त प्रजाओंको एकत्रित कर कहता है—हे मनुष्यों! जिस प्रकार मैं राजा ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र, वैश्य अरण इन सबोंके प्रति इनके कल्याण करनेवाली वाणीका उपदेश कर सकूं, जिस प्रकार देवताओं पर दक्षिणा चढ़ानेवालोंके लिये मैं प्यारा बनूं, जिस प्रकार यह मेरी कामना पूर्ण हो और जिस प्रकार परोक्ष सुख मुझको प्राप्त हो उस प्रकार तुम काम करो। इसमें केवल राजा प्रजाका संवादमात्र है, इसमें ईश्वर या वेद पढ़ने पढ़ानेका नाम भी नहीं है। क्योंकि ईश्वरके लिये 'कामना पूर्ण हो', 'सुख प्राप्त हो' आदि शब्दोंका प्रयोग ही नहीं हो सकता है। इसमें अर्वाचीन लोगोंने नीरे गलत अर्थ करके अपना पक्षपात पूरा करना चाहा है, शूद्रवर्णके लिये वेदनिषेधका मन्त्र अथर्ववेद १९।७१।१ में भी मिलता है, यथा—

स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्ती पावमानी द्विजानाम्।
आयुः प्राणं पशुं कीर्त्ति द्रविणं ब्रह्मवर्चसं मह्यं दत्वा व्रजतु ब्रह्मलोकम्॥

मैंने वर देनेवाली वेदमाता गायत्रीकी स्तुति की है, वह मुझे शुभकार्यमें प्रेरित करे। ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यरूपी द्विजोंको पवित्र करनेवाली वह मुझे आयु, प्राण, प्रजा; पशु, कीर्त्ति, धन ब्रह्मतेज देकर ब्रह्मलोकको चली जावे। इसमें वेदका अधिकार द्विजको ही बताया गया है, शूद्रको नहीं। अतः उपनयन तथा वेदका अधिकार शूद्रको नहीं हो सकता। इसी कारण मनुजीने भी कहा है :—

न शूद्रे पातकं किञ्चिन्न च संस्कारमर्हति।
नास्याधिकारो धर्मेऽस्ति न धर्मात् प्रतिषेधनम्॥
धर्मेप्सवस्तु धर्मज्ञाः सतां वृत्तिमनुष्ठिताः।
मंत्रवर्जं न दुष्यन्ति प्रशंसां प्राप्नुवन्ति च॥
यथा यथा हि सद्वृत्तमातिष्ठत्यनसूयकः।
तथा तथेमं चामुं च लोकं प्राप्नोत्यनिन्दितः॥ (१०मअध्याय)

हीन जाति होनेके कारण पाप शूद्रोंको नहीं लगता है, उनके लिये उपनयनादि संस्कार नहीं है, उनका उच्च धर्ममें अधिकार भी नहीं है और सामान्य धर्ममें निषेध भी नहीं है। धर्मज्ञ, सद्वृत्तिसम्पन्न शूद्र धर्मकी इच्छा करके यदि पञ्चमहायज्ञादिक अनुष्ठान वैदिक मंत्र छोड़कर करें तो प्रशंसाके ही पात्र होते हैं और इस तरहसे उत्तम आचरणमें रहने पर इहलोक एवं परलोकमें उन्हे कल्याण प्राप्त होता है। इन बचनोंसे यही प्रमाणित होता है कि, उपनयन तथा वेदादिका अधिकार न होने पर भी अच्छे आचरणमें रहकर शूद्रजाति विशेष उन्नतिको प्राप्त कर सकती है। श्रीभगवान् वेदव्यासने भी वेदान्तसूत्रमें शूद्रोंको वेदाध्यनादिका निषेध किया है, यथा—

संस्कारपरामर्शात्तदभावाभिलापाच्च। अ. १ पा. ३ सूत्र ३६
श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात्स्मृतेश्च। " :: " ३८

उपनयन संस्कार विना वेदाधिकार नहीं होता है, शूद्रका उपनयन नहीं है, अतः वेदाधिकार भी नहीं है। शूद्रको वेदका श्रवण तथा अध्ययन इन दोनोंका निषेध है और स्मृति भी इसी बातका समर्थन करती है। कात्यायन श्रौतसूत्र १।१।१ में भी—'अङ्गहीना-श्रोत्रियषण्डशूद्रवर्जम्' अर्थात् अङ्गहीनअश्रोत्रिय, नपुंसक और शूद्रका यज्ञमें अनधिकार बताया गया है। इसके सिवाय 'वेदाक्षरविचारेण शूद्रश्चाण्डालतां व्रजेत्' इत्यादि कितने

ही स्मृतिवचनोंके द्वारा ऊपर निखित विज्ञानके अनुसार पूज्यचरण महर्षियोंने शूद्रवर्णको वेद न पढ़ाकर अन्यान्य शास्त्रोंके पठनपाठन द्वारा उन्नति करोकी जो आज्ञा दी है, सो कल्याण-विचारसे ही है इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं। यही अर्वाचीन पुरुषोंके द्वारा उपन्यस्त शंकाओंका यथाशास्त्र समाधान है। स्त्रीजातिके वेदपाठ तथा वैदिक संस्कारादिके विषयमें पूर्व प्रकरणमें पहिले ही चर्चाकी जा चुकी है। अब प्रश्नोत्तररूपसे स्पृश्यास्पृश्यादि कुछ आवश्यक विषयों पर विचार किया जाता है।

प्र०—अस्पृश्य जातियाँ कौन कौन हैं और कैसे है ?

उ०—प्रतिलोम संकरतासे उत्पन्न कई एक जातियाँ 'अस्पृश्य' कहाती है। संकरता अनुलोम और प्रतिलोम दो प्रकारकी होती है। उच्चवर्णके पुरुष और निम्नवर्णकी स्त्रीके द्वारा उत्पन्न सन्तान अनुलोमसंकर कहाती है और उच्च वर्णकी स्त्रियाँ बिगड़ कर निम्न-वर्णके पुरुषोंसे जो सन्तान उत्पन्न करती हैं, वह प्रतिलोमसंकर कहाती है। सतीधर्म-प्रधान आर्यशास्त्रमें स्त्रियोंका व्यभिचार अति निन्दनीय बताया गया है। इस कारण ऐसी सन्तान भी—अति अधम तथा अस्पृश्य कहाती है। इनके शरीरकी बिजली (Magnetism) बहुत खराब होनेसे उच्चवर्णके स्त्रीपुरुष अपने शरीरकी उत्तम बिजलीकी रक्षाके लिये इन्हें स्पर्श करना अनुचित समझते हैं। वेदमें भी इस विषयका मन्त्र मिलता है जैसा कि पहिले बताया गया है, यथा—

"य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा"। अर्थात् निन्दित पापकर्मी जन श्वान, शूकर चाण्डालादि निकृष्ट योनियोंमें जन्मलाभ करते हैं। अतः वेदमतानुसार चाण्डालादि योनि नीच योनि सिद्ध हुई किस प्रकार प्रतिलोम सम्बन्धसे ऐसी जातियाँ उत्पन्न होती हैं इस विषयमें मन्वादि स्मृतियोंमें अनेक प्रमाण मिलते है, यथा—

शूद्रादायोगवः क्षत्ता चाण्डालश्चाधमो नृणाम्।
वैश्यराजन्यविप्रासु जायन्ते वर्णसंकराः॥ म० १०-१२

क्षत्रियाद्विप्रकन्यायां सूतो भवति जातितः।
वैश्यान्मागधवैदेहौ राजविप्राङ्गनासुतौ॥ १०-११

ब्राह्मणाद् वैश्यकन्यायामम्बष्ठो नाम जायते।
निषादः शूद्रकन्यायां यः पारशव उच्यते॥ १०-८

कारावरो निषादात्तु चर्मकारः प्रसूयते। १०-३६

शूद्र पुरुषसे वैश्य स्त्रीमें उत्पन्न सन्तान 'अयोगव', क्षत्रिय स्त्रीमें उत्पन्न सन्तान 'क्षत्ता' और ब्राह्मण स्त्रीमें उत्पन्न नराधम सन्तान 'चाण्डाल' कहलाती है। क्षत्रिय पुरुषसे ब्राह्मण स्त्रीमें उत्पन्न सन्तान 'सूत', 'वैश्य पुरुषसे क्षत्रिय स्त्रीमें उत्पन्न सन्तान 'मागध' और ब्राह्मण स्त्रीमें उत्पन्न सन्तान 'वैदेह' कहलाती है। ब्राह्मणपतिसे वैश्यकन्यामें उत्पन्न सन्तान 'अम्बष्ट' और शूद्रकन्यामें उत्पन्न सन्तान 'निषाद' या 'पारशव' कहलाती है ऐसे निषाद पुरुषसे वैदेह स्त्रीमें उत्पन्न सन्तान 'चर्मकार' या 'चमार' कहलाती है। 'डोम भङ्गी' ये सब चाण्डालके ही भेदमात्र है। चमार, डोम, भङ्गी, चाण्डाल ये सभी प्रतिलोमसंकर जातियाँ ऊपर लिखित कारणमें 'अस्पृश्य' कहलाती है।

प्र०—क्या इन जातियोंके उच्च जातियोंके साथ लौकिक वर्तावके विषयमें शास्त्रोंमें कुछ प्रमाण मिलते हैं ?

उ०—बहुत प्रमाण मिलते हैं। मनुसंहिताके ४र्थ अध्यायका २२३वाँ श्लोक है—

नाद्याच्छूद्रस्य पक्वान्नं विद्वानश्राद्धिनो द्विजः।
आददीताममेवास्मादवृत्तावेकरात्रिकम् ॥

विद्वान् ब्राह्मणको शूद्रके हाथका बनाया हुआ पक्कान्न भोजन नहीं करना चाहिये। कदाचित् भोजन न मिलनेकी हालतमें एक दिनके निर्वाहमात्रके लिये शूद्रसे कच्चा सीधा ले सकते हैं। आपस्तम्बके प्र० २, पटल २, खं० २, सूत्र ४ में जो 'आर्या अधिष्ठिता वा शूद्राः संस्कर्त्तारः स्युः' लिखा है इसका अर्थ यह नहीं है कि शूद्र जाति ब्राह्मणोंके यहाँ रसोई करे, जैसा कि अर्वाचीन लोगोंने लिखा है किन्तु केवल संस्कार करना अर्थात् घरमें झाड़ लगाना, बर्त्तन साफ करना आदि कार्य ही इसके द्वारा सूचित होते हैं। और जब शूद्रके हाथका खाना शास्त्रमें मना है तो अस्पृश्य जातियोंके साथ सहभोजन तो कदापि शास्त्रसम्मत नहीं हो सकता है। अतः इन जातियोंको जनेऊ देना, इन्हे वेद पढ़ाना, इनके हाथका जल पीना या इनके साथ सहभोज करना सर्वथा निषिद्ध है। पराशरसंहितामें लिखा है—

चाण्डालदर्शने सद्य आदित्यमवलोकयेत्।
चाण्डालस्पर्शने चैव सचैलं स्नानमाचरेत् ॥

चाण्डाल कहीं दृष्टिपथमें आजाय तो सूर्यदेवको देखकर पवित्र होना चाहिये। चाण्डालसे स्पर्श होजानेपर सचैल स्नान कर शुद्ध होना चाहिये। मनुसंहितामें लिखा है—

चाण्डालश्वपचानां तु बहिर्ग्रामात् प्रतिश्रयः।
अपपात्राश्च कर्त्तव्या धनमेषां श्वगर्दभम् ॥ १०-५१

न तैः समयमन्विच्छेत् पुरुषो धर्ममाचरन्।
व्यवहारो मिथस्तेषां विवाहः सदृशैः सह॥ १०-५३

चाण्डाल और श्वपचोंको ग्रामके बाहर निवासस्थान देना चाहिये इनका भोजन किया पात्र जलाने पर भी शुद्ध नहीं हो सकता है, कुत्ता और गधा इनका धन है। किसी धर्मकार्यके समय इन्हें सामने नहीं आने देना चाहिये। इनका लौकिक व्यवहार तथा विवाहादि आपसमें ही होना कर्त्तव्य है। इत्यादि इत्यादि अनेक प्रमाण शास्त्रमें मिलते हैं।

प्र०—क्या यह सब अस्पृश्य जातियोंके प्रति शास्त्रोंका अनुचित आदेश नहीं है?

उ०—प्रथम दृष्टिमें अनुचितसा प्रतीत होने पर भी धीर होकर विचार करनेसे महर्षियोंकी दूरदर्शिता ही इसमें झलकती है। आजकलके डाक्टरीसायन्समें संक्रामक रोगों [Contagious diseases] के विषयमें कैसे कैसे विज्ञान निकले है यह सभी लोग जानते हैं। चेचक, प्लेग, इनफ्लुयेन्ज़ा, हैजा, मलेरिया आदि सभी रोग आजकल संक्रामक बताये जाते हैं और ऐसे रोगियोंके स्पर्शसे बचे रहनेको डाक्टर लोग कहा करते हैं। आर्यशास्त्रमें भी इस विषयमें स्थूल सूक्ष्म वहुत कुछ विचार किया गया है। यथा सुश्रुत निदानस्थानके ५म अध्यायमें—

प्रसङ्गाद् गात्रसंस्पर्शान्निःश्वासात् सहभोजनात्।
सहशय्यासनाच्चाऽपि वस्त्रमाल्यानुलेपनात्॥
कुष्ठं ज्वरश्च शोषश्च नेत्राभिस्यन्द एव च।
औपसर्गिकरोगाश्च संक्रामन्ति नरान्नरम्॥

एकसाथ आलाप, शारीरिक स्पर्श, श्वास, एकसाथ खाना, सोना या बैठना, पहननेका कपड़ा या माला—इन सबके द्वारा कुष्ठ, ज्वर, शोष, आंखोंका आना, चेचल हैजा, प्लेग, आदि संक्रामक रोग एक शरीरसे अन्य शरीरमें जाते हैं। कूर्मपुराणमें महर्षि वृहस्पतिने नौ प्रकारके संसर्गदोष बताते हैं—

एकशय्यासनं पंक्तिर्भाण्डपक्वान्नमिश्रणम्।
याजनाध्यापनं योनिस्तथा च सहभोजनम्॥
नवधा संकरः प्रोक्तो न कर्त्तव्योऽधमैः सह।
समीपे चाप्यवस्थानात् पापं संक्रमते नृणाम्॥

(कूर्म० १५)

एक शय्यापर सोना, एक आसनपर बैठना, एक पंक्तिमें भोजन, भोजनपात्र या अन्नका मिलाना, याजन, अध्यापन योनिसंसर्ग और सहभोजन ये नौ प्रकारके संसर्ग कहलाते हैं। नीच जनोंके साथ ऐसे संसर्ग नहीं होने चाहिये। समीप रहनेसे एकका पाप दूसरेमें जाता है। महर्षि पराशरने कहा है—

आसनाच्छयनाद् यानाद् भाषणात् सहभोजनात्।
संक्रामन्ति हि पापानि तैलविन्दुरिवाम्भसि॥

जिस प्रकार जलमें तेल फैल जाता है ऐसा ही एक साथ बैठने, सोने, जाने, बोलने और भोजन करनेसे एकका पाप दूसरेमें फैलता है। महर्षि देवलने कहा है—

संलापस्पर्शनिःश्वाससहशय्यासनाशनात्।
याजनाध्यापनाद् यौनात् पापं संक्रमते नृणाम्॥

परस्पर आलाप, स्पर्श, निःश्वास, एकत्र शयन, बैठना, भोजन, याजन, अध्यापन और योनिसम्बन्ध द्वारा एक शरीरसे दूसरेमें पाप जाता है। महर्षि छागलेयने कहा है—

आलापाद् गात्रसंस्पर्शान्निःश्वासात् सहभोजनात्।
सहशय्यासनाध्यायात् पापं संक्रमते नृणाम्॥

आलाप, गात्रस्पर्श, निःश्वास, एकत्र भोजन-शयन-उपवेशन तथा अध्ययनसे एकका पाप दूसरेमें प्रवेश करता है। श्रीभगवान् वेदव्यासने आह्निक आचारतत्त्वमें कहा है—

अप्येकपंक्तौ नाश्नीयात् संवृतः स्वजनैरपि।
को हि जानाति किं कस्य प्रच्छन्नं पातकं महत्॥
भस्म-स्तम्ब-जल-द्वारमार्गैः पंक्तिं च भेदयेत्।

अन्यकी तो बात ही क्या, अपने जनोंसे भी एक पंक्तिमें भोजनके समय भस्म, तृण या जलसे पंक्तिभेद कर लेना चाहिये। क्योंकि कौन जाने किसके भीतर कौन पाप छिपा हुआ है।

इन सब पुष्ट प्रमाणोंसे शंका समाधान अच्छा हो जायगा। अस्पृश्य जातियोंके शरीर मलिन होनेसे उनके द्वारा स्थूल रोगादिका और जन्म पाप मूलक होनेसे उनके संस्पर्श द्वारा अनेक सूक्ष्म रोगोंका फैलना बहुत सम्भव है। संसारमें अच्छे बननेकी अपेक्षा बुरे बननेकी आशङ्का ही अधिक रहती है। इसी कारण इन जातियोंके विषयमें इस प्रकारकी आज्ञाएँ आर्य्यशास्त्रमें मिलती हैं।

अब स्पृश्यास्पृश्यके विषयमें पश्चिमी विद्वानोंके अनुभवके कुछ प्रमाण दिये जाते हैं, यथा :—

Lately in "The Indian Thinker" there was an article reporting the experiments of a great European scientist, which demonstrated that every man according to his culture and race carries an etheric envelop about him, which is a centre of peculiar emanations, peculiar to the individual. Another who may come within his range of that emanation may be affected even psychically. In a previous number of this very Journal, a note about the menstruating woman appeared, which showed that apart from medical consideration there is in that woman a sort of magnetic disturbance, capable of affecting even plants in her contact. The psychic researches amply prove that contracts should be forbidden on spiritual grounds, in order to safeguard and to grow the integrity and virtues of a particular individual or caste. This idea of segregation on spiritual or psychic basis, of caste and individual, was so nicely carried by our ancient Rishis, who were perfect masters of knowledge, that it was adopted in their science of engineering and town planning.

(Sanatanist 11-3-29)

'इण्डियन थिङ्कर' नामक पत्रिकामें एक पश्चिमी वैज्ञानिकका अनुभव प्रकाशित हुआ था। उन्होंने यन्त्रके द्वारा यह विषय प्रमाणित कर दिया है कि प्रत्येक मनुष्य अपनी जाति तथा शिक्षाके अनुसार अपने शरीरमें एक प्रकारकी वैद्युतिक शक्ति धारण करता है, जो कि उसके शरीरके चारों ओर फैली हुई रहती है और जो मनुष्य उस शक्तिके दायरेके भीतर आ जाता है उसपर उस शक्तिका प्रभाव अवश्य ही होता है। ऋतुमती स्त्रीके भीतरसे कैसी बुरी विद्युत्शक्ति निकलती है, जिससे वृक्षके फूल, फल, पत्ते तक नष्ट हो जाते हैं इसका प्रमाण पहिले ही दिया जा चुका है। पूज्य महर्षियोंको इन सब वैज्ञानिक तथ्योंका पूरा अनुभव था, इसी कारण सभी व्यवहारोंमें वे इन सबका प्रयोग करते थे।

एक शरीरसे अन्य शरीरमें स्पर्श द्वारा दोष जानेके विषयमें अति स्पष्ट प्रमाण पराशर भाष्य सप्तम अध्यायमें मिलता है, यथा :—

ज्वराभिभूता या नारी रजसा च परिप्लुता।
कथं तस्या भवेच्छौचं शुद्धिः स्यात् केन कर्मणा॥
चतुर्थेऽहनि संप्राप्ते स्पृशेदन्या तु तां स्त्रियम्।
सा सचेलावगाह्यापः स्नात्वा चैव पुनः स्पृशेत्॥
दशद्वादशकृत्वो वा आचामेच्च पुनः पुनः।
अन्ते च वाससां त्यागस्ततः शुद्धा भवेत्तु सा॥ (महर्षि उशना)

ज्वरग्रस्ता ऋतुमती स्त्री बिना स्नान किये कैसे शुद्ध हो सकती है इसका उपाय यह है कि कोई दूसरी स्त्री उसको स्पर्श करती रहे और सचेल स्नान करती रहे तथा हाथ, पाँव, मुख धोती रहे, इस प्रकारसे दस बारह बार करने पर रजस्वलाके सब दोषको स्पर्श द्वारा दूसरी स्त्री ले लेगी और उस दोषको स्नान तथा हस्तपद प्रक्षालन आचमन द्वारा वह जलमें छोड़ देगी। इस प्रकारसे एकका दोष दूसरीमें और दूसरीसे जलमें जाकर लय होगा। स्पृश्यास्पृश्य विज्ञानकी सत्यताका यह अकाट्य दृष्टान्त है।

Miss Helen M. Mathews of the University of British Columbia demonstrated that bacili were readily transferred from one to another by even hand-shaking or shake-hand.

केवल हाथके साथ हाथ मिलानेसे हजारों कीटाणु एक शरीरसे दूसरे शरीरमें चले जाते है, इस सत्यको कलम्बिया विश्वविद्यालयकी मिस हेलेन साहेबाने यन्त्रके द्वारा प्रमाणित कर दिखाया है। अभी हालमें ही किसी दूसरे वैज्ञानिकने प्रमाणित किया था कि मुखमें मुख लगाने पर भी हजारों कीटाणु एकसे दूसरेके शरीरमें प्रविष्ट हो जाते हैं।

How true it is that one's personality is not cribbed, cabined and confined within the limits of the visible flesh. To come in contact with, to touch another it is not necessary to handle him. Even to shake hands may at times be inconvenient or possibly objectionable.

Perhaps, as you have learnt by sad experience, he has a grasp as of the 'mailed fist' or going to the other extreme he merely extends an open 'paw'. So you just 'wrap yourself in his aura' and if you are at all sensitive, there is a very real spiritual communion.

To get en rapport with our affinities is to draw upon a larger reservior of energy. And some are so magnetic, advanced far beyond the primitive personal consciousness, that they make friends everywhere, with every one, and so have at command a stupendous force which is every irradiating into the auras, the ethers, the atmosphers that surround everything in creation and particularly in the Kingdom of Mankind.

(Frederic. W. Burry—Kalpaka 12-1928)

यह ठीक सत्य है कि मनुष्यकी सत्ता केवल उसीके रक्तमांसकी सीमाके भीतर व्याप्त नहीं रहती है। किन्तु अपनी शक्तिको मनुष्य बहुत दूरतक फैला सकता है। केवल स्पर्श करने या हाथ मिलानेमें ही कभी कभी बड़ी असुविधा होने लगती है। यह अनुभवसिद्ध सत्य है कि किसी किसीमें अच्छी बुरो ऐसी शक्ति होती है कि वह 'शेक हैण्ड' नही बल्कि अपने चङ्गलमें दूसरेको फँसा ही लेता है और जिसको वह स्पर्श करता है, वह निःसन्देह उसकी 'अरा' के आवरणके भीतर आ ही जाता है। ऐसे उत्तम शक्तिमान पुरुष जहाँ जाते हैं वहाँ सबके सब उनके मित्र बन जाते हैं, उनकी असीम शक्ति अपनी अरामें, उससे बाहरके 'इथर' में और सर्वत्र वायुमण्डल तथा आकाशमण्डलमें व्याप्त होती रहती है। इस प्रकारसे समस्त सृष्टि और विशेष कर मनुष्यजगत्में उनकी उत्तम शक्ति व्याप्त हो जाती है।

(फ्रेड्रिक बरे—कल्पक)

ऋक् संहितामें इसी सत्यका प्रमापक मन्त्र मिलता है, यथा :—

'यन्मनसा मनुते तद् वातमपि गच्छति' जो कुछ मनमें चिन्ता होती है उसकी शक्ति वायुमण्डलमें व्याप्त होती है और उसका प्रभाव दूसरेके ऊपर पड़ता है। ('Thought exists in a sense in the vibrations of the air' चिन्ताका तरङ्ग पवनके स्पन्दनमें रहं जाता है ऐसा अलिभार लज साहबने भी कहा है।

"This is the magnetism you are developing for the purpose of healing. This development will require several months of earnest practice. This will give you the psychic force to heal at a mere touch, and the muscles all through your body will vibrate with this power when you treat the sick and cure disease in a very short period of time. You will feel the streams of psychic currents leaving your finger tips

like a flow of water and you will be enabled to heal any disease, even at touch.

(Prof. R. E. Dutton—Kalpaka. 7–1924)

प्रोफेसर आर. ई. डटन साहबने रोग आराम करनेके लिये शक्ति लाभ करनेके बाद क्या होता है सो ही कहा है। आप कहते हैं कि कई महीने तक अभ्यास द्वारा जब अपने भीतर विद्युत् शक्ति उत्पन्न हो जाती है तो केवल स्पर्श द्वारा कठिन रोगोंसे मनुष्यको आराम किया जा सकता है। उस समय अपने शरीरके भीतर उस शक्तिका अनुभव होने लगता है और जलकी धाराकी तरह शक्तिकी धारा हाथोंकी अंगुलियोंसे निकल रही है ऐसा मालूम पड़ने लगता है। और भी—

Both disease and health are catching. If you mingle with unhealthy people and thoughts you will become unhealthy. If you mingle with persons of great health and strength and live in such thoughts you become likewise.

(I bid Kalpaka 6–24)

रोग और स्वास्थ्य दोनों ही स्पर्शसे सम्बन्ध रखते हैं। खराब शरीर तथा अन्तःकरण-वाले मनुष्यके साथ मिलनेसे शरीर तथा मन दोनों हीं खराब होते हैं और अच्छेके साथ अच्छे होते हैं। (कल्पक ६–२४)।

इस प्रकारसे पश्चिमी विद्वानोंने स्पृश्यास्पृश्य रहस्यको प्रमाणित कर दिखाया है। अतः अस्पृश्य जातिके मनुष्योंके विषयमें उनकी आज्ञाएँ सब ठीक तथा वैज्ञानिक सत्यता पर प्रतिष्ठित हैं।

प्र०—क्या देश, काल और मनुष्यकल्याण विचारसे इन आज्ञाओंमें कुछ शिथिलता नहीं की जा सकती है ?

उ०—अवश्य की जा सकती है और आर्यशास्त्रमें इसीके लिये अनुकल्प तथा आपत्कल्पका विधान किया गया है।

प्र०—अनुकल्प, आपत्कल्प या आपद्धर्मका लक्षण क्या है और इसके विषयमें आर्यशास्त्रमें कौन कौन विचार किया गया है ?

उ०—पूज्यपाद महर्षियोंने धर्मके चार भेद किये हैं, तथा साधारण विशेष, असाधारण और आपद्धर्म। धर्मके २४ अङ्ग तथा ७२ अङ्गरूपसे यज्ञ, तप, दानादिका जो वर्णन शास्त्रोंमें पाया जाता है और धृति, क्षमा आदि जो दस लक्षणात्मक धर्म मनुसंहितामें लिखा है यह सब साधारण धर्म है। इसमें पृथिवीके सब मनुष्योंका अधिकार है, इस कारण भी वे साधा-

रण धर्म कहाते हैं। पुरुषधर्म, नारीधर्म, वर्णधर्म, आश्रमधर्म, प्रवृत्तिधर्म, निवृत्तिधर्म, आर्य-धर्म, अनार्यधर्म इत्यादि सब विशेष धर्म हैं। इनमें विशेष विशेष व्यक्तिका अधिकार रहता है। तीसरा असाधारण धर्म कुछ विलक्षण हो है। जैसा विश्वामित्रका ब्राह्मण होना, द्रौपदीका पञ्चपति होना, नन्दिकेश्वरका देवता होना इत्यादि। यह धर्म असाधारण शक्तिसे सम्बन्ध रखता है। इसका वर्णन वेद तथा पुराणोंमें कहीं कहीं आता है। चतुर्थ—अर्थात् आपद्धर्म सबसे विलक्षण है। देश, काल, पात्र तथा भावके अनुसार इसका निर्णय हुआ करता है। आपत्तिमूलक सिद्धान्त इस धर्मनिर्णयके विज्ञानमें सम्मिलित रहता है। इस कारण इसको आपद्धर्म कहते हैं। तात्पर्य्य यह है कि आपत्तिकी असुविधाओंको सम्मुख रखकर देश, काल तथा पात्रके विचारानुसार सद्भावके अवलम्बनसे जो धर्म-निर्णय होता है उसीको आपद्धर्म कहते हैं। कलियुगमें जीवोंकी प्रकृति प्रवृति साधारणतः बहुत ही निम्नाधिकारकी है और कलियुगका देशकाल भी धर्माचरणमें प्रायः प्रतिकूल है। इसलिये मुख्य कल्पके बदले इस युगमें प्रायः अनुकल्पका विधान तथा मुख्य धर्म्मके स्थानपर आपद्धर्मका ही पालन सम्भवपर होता है।

आपद्धर्मपालन में भावकी मुख्यता है। अर्थात् आपत्कालमें यदि कोई साधारणतः गर्हित कर्म भी करना पड़े तो अन्तःकरणमें भावकी शुद्धि रहनेसे असत्कर्म भो सत्कर्म बन जाता है। अतः उससे पतन न होकर उन्नति ही होती है। भाव-शुद्धिके दृष्टान्तरूपसे समझ सकते हैं कि, कामादि पाशविक क्रिया अत्यन्त नीच होनेपर भो देश तथा वंश समुज्वलकारी सुसन्तानोत्पत्तिके सद्भावको लेकर अनुष्ठित होनेके कारण सत्कर्ममें परिणत हो जातो है। इसी प्रकार जीवहिंसा महापाप होनेपर भी राज्यरक्षा या अधिक जीवकी कल्याण कामनासे आचरित जीवहिंसा धर्मरूपमें परिणत हो जाती है; नीचका अन्नग्रहण महापाप होनेपर भी जीवित रहकर जगत्की सेवा करेंगे, इस शुद्ध भावसे दुर्भिक्षादि आपत्कालमें गृहीत नीचका अन्न भी आत्माकी अवनतिका कारण नहीं बनता है। येही सब आपद्धर्म-पालनमें भावकी मुख्यताके दृष्टान्त हैं।

महाभारतके शान्तिपर्वमें आपत्कालमें जीवनोपाय वर्णन करते समय श्रीभगवान् भीष्म पितामहने कहा है—

एवं विद्वानदीनात्मा व्यसनस्थो जिजीविषुः।
सर्वोपायैरुपायज्ञो दीनमात्मानमुद्धरेत्॥
एतां बुद्धिं समास्थाय जीवितव्यं सदा भवेत्।
जीवन् पुण्यमवाप्नोति पुरुषो भद्रमश्नुते॥

विद्वान् व्यक्ति आपद्ग्रस्त होनेपर सभी प्रकारके उपायोंसे अपनेको आपत्से मुक्त करे क्योंकि प्राणकी रक्षा होनेपर मनुष्य पुण्य-सञ्चय द्वारा आपत्कालीन अवैध-कर्म-जनित समस्त दोषको दूर करके कल्याणके अधिकारी हो सकते हैं। इसके अनन्तर धर्माधिकारीको सावधान करनेके लिये उन्होंने कहा है—

विश्वैर्देवैश्च साध्यैश्च ब्राह्मणैश्च महर्षिभिः।
आपत्सु मरणाद्भीतैर्विधिः प्रतिनिधीकृतः॥
प्रभुः प्रथमकल्पस्य योऽनुकल्पेन वर्तते।
न साम्परायिकं तस्य दुर्मतेर्विद्यते फलम्॥

देवता, विश्वेदेवा, साध्य, ब्राह्मण व महर्षिगण आपत्कालमें मृत्यु-भयसे भीत होकर मुख्यकल्पके स्थानपर अनुकल्प द्वारा जीविका-निर्वाह कर सकते हैं। परन्तु मुख्य कल्प-पालनमें समर्थ होनेपर भी जो अनुकल्पके द्वारा जीवन निर्वाह करना चाहते हैं उनको परलोकमें कोई भी सुफल नहीं प्राप्त होता। श्रीभगवान् मनुने भी कहा है—

आपत्कल्पेन यो धर्मं कुरुतेऽनापदि द्विजः।
स नाऽऽप्नोति फलं तस्य परत्रेति विचारितम्॥

जो द्विज अनापत्कालमें भी आपद्धर्मका अनुष्ठान करते हैं वे परलोकमें उस कर्मका फल नहीं पाते हैं। इसलिये सब ओर विचार करके महर्षि याज्ञवल्क्यजीने कहा है—

क्षात्रेण कर्मणा जीवेद्विशां वाप्यापदि द्विजः।
निस्तीर्य तामथात्मानं पाययित्वा न्यसेत्पथि॥

ब्राह्मण आपत्कालमें क्षत्रिय अथवा वैश्यजनोचित कर्मानुष्ठान द्वारा जीवनमात्र करेंगे। परन्तु आपन्मुक्त होतेही अनुकल्प वृत्तिको परित्याग करके उस दीनदशासे अपने आत्माको मुक्त करेंगे। पात्रके विचारसे आपत्कालीन कर्त्तव्यनिर्णय प्रसंगमें श्रीभगवान् मनुने कहा है :—

अजीवंस्तु यथोक्तेन ब्राह्मणः स्वेन कर्मणा।
जीवेत् क्षत्रियधर्मेण स ह्यस्य प्रत्यनन्तरः॥
उभाभ्यामप्यजीवंस्तु कथं स्यादिति चेद्भवेत्।
कृषिगोरक्षमास्थाय जीवेद् वैश्यस्य जीविकाम्॥

जीवेदेतेन राजन्यः सर्वेणाप्यनयं गतः ।
नत्वेव ज्यायसीं वृत्तिमभिमन्यत कर्हिचित् ।
यो लोभादधमो जात्या जीवेदुत्कृष्टकर्मभिः ।
तं राजा निर्धनं कृत्वा क्षिप्रमेव प्रवासयेत् ॥
वरं स्वधर्मो विगुणो न पारक्यः स्वनुष्ठितः ।
परधर्मेण जीवन् हि सद्यः पतति जातितः ॥
वैश्योऽजीवन् स्वधर्मेण शूद्रवृत्त्यापि वर्त्तयेत् ।
अनाचरन्नकार्याणि निवर्तेत च शक्तिमान् ॥
अशक्नुवंस्तु शुश्रूषां शूद्रः कर्तुं द्विजन्मनाम् ।
पुत्रदारात्ययं प्राप्तो जीवेत् कारुककर्मभिः ॥
यैः कर्मभिः प्रचरितैः शुश्रूष्यन्ते द्विजातयः ।
तानि कारुककर्माणि शिल्पानि विविधानि च ॥ (१० अ०)

यदि ब्राह्मण अपने स्वाधिकारानुकूल कर्म द्वारा जीविकाका निर्वाह करनेमें असमर्थ हो तो क्षत्रिय वृत्तिके द्वारा जीविका निर्वाह करे, क्योंकि यहि उनकी आसन्नवृत्ति है। यदि स्ववृत्ति व क्षत्रियवृत्ति दोनोंहीके द्वारा जीविका निर्वाह असम्भव हो जाय तो इस दशामें कृषि गोरक्षा आदि वैश्यवृत्तिके द्वारा जीवन धारण कर सकते हैं। ब्राह्मणकी तरह क्षत्रिय भी आपत्कालमें कृषि, वाणिज्य आदि वैश्यवृत्ति द्वारा जीवन निर्वाह कर सकते हैं। परन्तु कभी ब्राह्मणवृत्ति नहीं कर सकते। यदि कोई अधम जाति उत्तम जातिकी वृत्तिसे जीविका निर्वाह करना चाहे तो राजाका कर्त्तव्य है कि उसका सर्वस्व हरण करके उसे देशसे निर्वासित कर दे। अपना धर्म, निकृष्ट होनेपर भी अनुष्ठेय है और परधर्म उत्कृष्ट होनेपर भी अनुष्ठेय नहीं है, क्योंकि उच्च जातिके धर्म द्वारा जीवन धारण करनेसे मनुष्य शीघ्र ही अपनी जातिसे पतित हो जाता है। वैश्य अपने धर्म द्वारा जीवन धारणमें असमर्थ होनेपर अनाचार परित्याग करके द्विजशुश्रूषादि शूद्रवृत्ति द्वारा जीविका निर्वाह कर सकते हैं, परन्तु आपन्मुक्त होते ही शूद्रवृत्ति परित्याग करना होगा। शूद्र यदि निज वृत्ति द्वारा परिवार प्रतिपालनमें असमर्थ होतो कारु कार्य (शिल्प) आदि द्वारा जीवन धारण कर सकता है। जिस कार्यके द्वारा द्विजसेवा हो सकती है, इस प्रकारके कार्य व शिल्पकार्य इस दशामें शूद्रको करने होंगे। इस प्रकारसे प्रत्येक वर्णके लिये आपत्कालमें

जीवनोपाय निर्द्धारित करके श्रीभगवान् मनुजीने सभी वर्णोंके लिये कुछ साधारण रूपसे आपत्कालीन वृत्तियोंका निर्णय कर दिया है, यथा :—

विद्या शिल्पं भृतिः सेवा गोरक्ष्यं विपणिः कृषिः ।
भृतिर्भैक्ष्यं कुसीदं च दश जीवनहेतवः ॥ (१०–११६)

विद्या, शिल्पकार्य, नौकरी, सेवा, गोरक्षा, वाणिज्य, कृषि, घृति (जो अवस्था हो उसीमें सन्तोष) भिक्षा व सूदग्रहण ये दस प्रकारके जीवनोपाय आपत्कालमें सुविधा व शक्तिके अनुसार सभी वर्णोंके लिये विहित है ।

देश व कालके अनुसार आपद्धर्मका विचार करते हुए महर्षि पराशरजीने अपनी संहितामें कहा है :—

देशभङ्गे प्रवासे वा व्याधिषु व्यसनेष्वपि ।
रक्षेदेव स्वदेहादि पश्चाद्धर्मं समाचरेत् ॥
येन केन च धर्मेण मृदुना दारुणेन च ।
उद्धरेद् दीनमात्मानं समर्थो धर्ममाचरेत् ॥
आपत्काले तु सम्प्राप्ते शौचाचारं न चिन्तयेत् ।
स्वयं समुद्धरेत् पश्चात् स्वस्थो धर्मं समाचरेत् ॥

देशमें विप्लव या दुर्भिक्ष आदि उत्पन्न होनेसे अथवा महामारी आदिका भय होनेसे पहिले शरीरकी रक्षा करके पश्चात् धर्मानुष्ठान करें। आपत्कालमें मृदु या दारुण किसी भी उपायसे दीन आत्माकी रक्षा करनी चाहिये। तदनन्तर जब सामर्थ्य हो तब धर्मानुष्ठान करना चाहिये। पहिले विपत्तिसे अपनेको बचाकर पश्चात् शौचाचारानुकूल धर्मानुष्ठान करना चाहिये। आपत्कालमें भोजनादिके विषयमें लिखा है—

आपद्गतः सम्प्रगृह्णन् भुञ्जानो वा यतस्ततः ।
न लिप्येतैनसा विप्रो ज्वलनार्कसमो हि सः ॥ (मिताक्षरा)
आपत्काले तु विप्रेण भुक्तं शूद्रगृहे यदि ।
मनस्तापेन शुध्येत्तु द्रुपदां वा शतं जपेत् ॥ (पराशरः)

आपत्तिमें पड़कर ब्राह्मण यदि जहां कहींसे अन्न ग्रहण करें या भोजन कर लें तो अग्नि और सूर्यके समान होनेके कारण वे पापभागी नहीं होंगे। आपत्कालमें ब्राह्मण यदि शूद्रके घरका अन्न खालें तो पश्चात्तापसे या सौ गायत्री जप करनेसे शुद्ध होंगे। केवल इतना ही नहीं, इस विषयमें वेदमें भी अनेक प्रसङ्ग आते हैं यथा छान्दोग्योपनिषद्के प्रथम अध्यायके दशम खण्डमें—

मटचीहतेषु कुरुष्वाटिक्या सह जाययोषस्तिर्ह चाक्रायण इभ्यग्रामे प्रद्राणक उवास।

स हेभ्यं कुल्माषान् खादन्तं बिभिक्षे, तं होवाच नेतोऽन्ये विद्यन्ते, यच्च ये म इम उपनिहिता इति।

एतेषां मे देहीति होवाच, तानस्मै प्रददौ हन्तानुपानमिति, उच्छिष्टं वै मे पीतं स्यादिति होवाच।

न स्विदेतेऽप्युच्छिष्टा इति न वा अजीविष्यमिमानखादन्निति होवाच कामो म उदपानमिति।

स ह खादित्वातिशेषाञ्जायाया आजहार, साग्र एव सुभिक्षा बभूव तान् प्रतिगृह्य निदधौ।

स ह प्रातः संजिहान उवाच-यद् बतान्नस्य लभेमहि, लभेमहि धनमात्रां राजासौ यक्ष्यते, स मा सर्वैरार्त्विज्यैर्वृणीतेति।

तं जायोवाच हन्त बत इम एव कुल्माषा इति, तान् खादित्वामुं यज्ञं विततमेयाय।

इन मन्त्रोंका तात्पर्य यह है कि कुरुदेशके वज्राग्निदग्ध होनेपर उषस्ति नामक एक ब्राह्मण दुर्दशाग्रस्त होकर सस्त्रीक इभ्यग्राममें निवासार्थ जाने लगे। रास्तेमें उन्होंने देखा कि एक सुनिर्मल प्रस्रवण (झरना) की धारा बह रही है और उसके पास बैठकर एक हस्तीपक (हाथवान) मसूरकी दाल खा रहा है। कई दिनोंके उपवासी ऋषिने प्राणधारणके लिये और कोई भी उपाय न देखकर उस नीच जाति हस्तीपकसे ही उसकी उच्छिष्ट दाल भिक्षा मांगी और उसका आधा स्वयं खाकर आधा पत्नीको दे दिया। उच्छिष्ट दाल खानेके बाद उसने जब उच्छिष्ट जल देना चाहा तो ऋषिने उसे ग्रहण करना अस्वीकार किया और कहा—"मैं तुम्हारा उच्छिष्ट जल नहीं पिऊंगा।" हस्तीपकने थोड़ा हंसकर

कहा—'आपने उच्छिष्ट दाल तो खा ली उससे आप पतित नहीं हुये और उच्छिष्ट जल पीनेसे ही पतित हो जायंगे ?" इस बातको सुनकर ऋषिने उत्तर दिया—"मैं अनाहारसे मर रहा था इसलिये आपत्कालमें प्राणरक्षार्थं तुम्हारी उच्छिष्ट दाल भी खायी है, परन्तु जल तो सामने ही झरनेसे आरहा है इसलिये जलका क्लेश नहीं है। इस कारण उच्छिष्ट जल पीनेका प्रयोजन नहीं है।" इस प्रकारसे उस दिनके लिये प्राणधारणका उपाय हो जाने पर फिर आगे भिक्षाके लिये पतिपत्नी चले। परन्तु दूसरे दिन कहींकुछ भी नहीं प्राप्त हुआ। उस समय अनाहार पतिको मृत्युमुखमें अग्रसर देखकर ऋषिपत्नीने अपने कपड़ेमें बंधी हुई पहिले दिनकी दाल निकालकर उन्हें दे दी। ऋषिने चकित होकर कहा "क्या तुमने कलकी दाल नहीं खाई थी ?" इसपर ऋषिपत्नीने उत्तर दिया आपने तो कहा था कि अनाहारसे मृतप्राय होनेपर ही अपने हस्तोपकका उच्छिष्ट अन्न खा लिया था। मैं कल मृतप्राय नहीं थी, इसलिये उस उच्छिष्ट अन्नको नहीं खाया था। मैं और एक दिन बिना खाये बच सकती हूँ, परन्तु आपका प्राण जारहा है इसलिये आप इस उच्छिष्ट दालको खाइये।" इस कथाके द्वारा आपत्कालमें कर्त्तव्यनिर्णयका दृष्टान्त अच्छी तरहसे सिद्ध हो जाता है और स्वधर्मसे नीचेका धर्म तथा शौचाचारसे विरोधी व्यवहार भी आपत्कालमें विहित आचाररूपसे परिगणित हो सकता है इस विज्ञानको सम्यक् सिद्धि हो जाती है।

प्र०—छुआछूतके विषयमें इस समय बहुत प्रकारके मतभेद हैं इस सम्बन्धमें शास्त्रों-के क्या क्या सिद्धान्त हैं ?

उ०—देशकालानुसार अनेक कारणोंसे छुआछूत जैसे आचारोंमें तारतम्य हुआ करता है इस सम्बन्धमें शास्त्रोंसे स्पष्ट आज्ञा विद्यमान है। यथा :—

तीर्थे विवाहे यात्रायां संग्रामे देशविप्लवे।
नगरग्रामदाहे च स्पृष्टास्पृष्टिर्न दुष्यति॥ (वृहस्पति)

अर्थात् तीर्थस्नान, विवाहोत्सवकालमें, रेल आदिकी यात्राओंमें, युद्धक्षेत्रमें, राष्ट्र-विप्लवमें, नगर या ग्राममें जब आग लगे उस समयमें, छुआछूतका दोष नहीं लगता।

देवयात्राविवाहेषु यज्ञप्रकरणेषु च।
उत्सवेषु च सर्वेषु स्पृष्टास्पृष्टिर्न विद्यते॥
प्राकाररोधे विषमप्रदेशे, सेनानिवेशे भवनस्य दाहे।
आरब्धयज्ञेषु महोत्सवेषु, नेऽत्रैव दोषा न विकल्पनीयाः॥ (अत्रिस्मृति)

देवताओंकी शोभायात्रा (सवारी) में, विवाहोत्सवकालमें, यज्ञोत्सवके समय और सब प्रकारके उत्सवोंके समय छुआछूतका दोष नहीं हुआ करता है।

किला घिर जानेपर देशमें उपद्रव उठनेपर, सेनाओंसे घेर लिए जानेपर घरमें आग लग जानेके समय, यज्ञके समय और किसी बड़े उत्सवके समय छुआछूतका दोष नहीं लगता।

इसलिये इस समय आपद्धर्म और राजनैतिक परिस्थितिके विचारसे सनातन-धर्मावलम्बिगण नीचवर्ण और आचारभ्रष्ट या अन्त्यज अथवा विधर्मियोंके साथ सभासमितिमें, रेल वगैरहमें, उत्सवकार्योंमें, युद्ध, राष्ट्रविप्लव अथवा ऐसे ही अन्य किसी कार्यमें यदि छुआछूतका पूरा विचार न करें तो वे प्रायश्चित्ती न होंगे। किन्तु यह समय यथार्थमें आपत्काल है या नहीं और राजनैतिक परिस्थितिको देखते हुये बिना ऐसा किये काम चल सकता है या नहीं, इसका खूब विचार करके तब अनुकल्प या आपद्धर्मका आश्रय लेना चाहिये, नहीं तो अवश्य पातित्यदोष होगा। समुद्रयात्राके विषयमें भी यही विचार समझना चाहिये।

प्र०—जिन जातियोंमें विधवाविवाह प्रचलित नहीं है, एकादशीव्रत वगैरह किया जाता है, देवता ओर ब्राह्मणोंकी भक्ति और विधिपूर्वक पितृश्राद्ध इत्यादि किया जाता है, सविधि नामकरण और विवाह होता है, जिनके यहाँ अनेक शताब्दियोंसे सदाचार प्रचलित है, ऐसी जातियोंका जलग्रहण किया जा सकता है कि नहीं?

उ०—ऐसी सदाचारसम्पन्न जाति और जिनके यहाँ अनेक शताब्दियोंसे सदाचार विद्यमान है, अवश्य ही उनका जल ग्रहण किया जा सकता है। पंजाब, राजपूताना, उत्तरभारत और बिहार आदि प्रान्तोंमें अनेक ऐसी जातियाँ हैं, जिनके यहाँ सधवाविवाह, विधवाविवाह दोनों ही साधारणतः प्रचलित हैं, यहांतक कि उनके यहाँ सर्प और चूहेका अखाद्य मांस भक्षण भी किया जाता है, तथापि वे सब जातियां इन सब देशोंमें सर्व साधारणमें जलाचरणी समझी जाती है। ऐसी सदाचारसम्पन्न जातियां काशी आदि स्थानोंमें जब जलाचरणीय समझी जा सकती हैं, तो पहिली जैसी सदाचारसम्पन्न जातियाँ अवश्य जलाचरणीय होंगी। ऐसी जाति यदि भारतके किसी स्थानमें हो, तो इस समय वह जलाचरणीय समझी जा सकती है।

प्र०—जलाचरणीय जाति किन जातियोंको कहा जा सकता है?

उ०—सत्शूद्र मात्र ही जलाचरणीय है। समाजमें जो लोग असत् शूद्र कहे जाते हैं, उनमेंसे अनेक शताब्दियोंसे जिनके यहां सदाचारका पालन होता है, उन लोगोंको भी जलाचरणीय कहा जा सकता है। जिन जातियोंमें पहिले लिखे हुए प्रश्नोत्तरोंके अनुसार

सदाचार विद्यमान है, सामयिक आपद्धर्मानुसार यदि उन लोगोंको भी जलाचरणीय माना जाय तो धर्मविरुद्ध न होगा।

प्र०—राजपूतानेमें चमड़ेके डोलका जल और काश्मीरमें मुसलमानोंका छुआ हुआ जल सदाचारसम्पन्न विद्वान् ब्राह्मणोंके यहां भी चलता है, क्या यह प्रथा निन्दनीय नहीं है ?

उ०—देश कालके अनुसार आचार-विचार भी हुआ करता है, यह स्वभावसिद्ध है। काश्मीर देशमें केवल दो ही जातियाँ विद्यमान हैं, ब्राह्मण और मुसलमान, तीसरी कोई जाति नहीं है, इसलिये मुसलमानोंको ही वहाँपर हिन्दुओंने शूद्र जाति मान ली है। मुसलमानोंका जल वहाँ व्यवहारमें आनेपर भी मुसलमान लोग वहाँ पर जलपात्र छू नहीं सकते और खूली जगहमें जलको वायुसे शुद्ध करके सदाचारसम्पन्न हिन्दू लोग उस जलका व्यवहार करते हैं। (वायुशुद्ध अर्थात् चमड़ेके मशकमें लाया हुआ जल दूसरे ताम्बे या मिट्टीके बर्तनोंमें डाल दिया जाता है।) वहाँके ब्राह्मणोंने जलाचरणके सम्बन्धमें यही मीमांसा की है कि वायुसे जल शुद्ध हो जाता है। उसी प्रकार राजपुतानेमें जलशुद्धिके सम्बन्धमें यही रीति प्रचलित है कि स्रोत द्वारा जल शुद्ध हुआ करता है। इस प्रान्तके अनेक स्थानोंमें जहाँ जलकी कमी है, अस्पृश्य जातिके लोग ऊँटोंकी सहायतासे चमड़ेके डोलसे कूओंमेंसे जल निकालते हैं और एक कुण्डमें जल भरते हैं, उस कुण्डमेंसे बहकर जल दूसरे कुण्डमें जाता है और इस प्रकार प्रवाहित होते ही वह शुद्ध माना जाता है। आपद्धर्मानुसार इन सब सदाचारोंकी सार्थकता मानी जा सकती है। भारतके अन्य स्थानोंमें नलके जलके सम्बन्धमें भी यही नियम माना जा सकता है।

प्र०—अनुन्नत जातिके लोग आक्षेप किया करते हैं कि "सदाचार और कदाचारके द्वारा जाति स्पृश्य अथवा अस्पृश्य होती है। हमारे पूर्वजलोग कदाचार करके पतित हुये थे किन्तु इस समय हिन्दुओंमें उन्नतलोग कदाचार करके भी क्यों पतित नहीं होते ? और हम भी सदाचारी होनेपर अस्पृश्य क्यों रहेंगे ?"

उ०—उन्नत लोगोंको भी कदाचार करनेसे पतित होना चाहिये किन्तु ऐसे पातित्य-को स्थिर करनेके लिये समाजबल और संघशक्तिकी आवश्यकता होती है। जो लोग किसी समय वास्तवमें सदाचारसम्पन्न जातिके अन्तर्गत थे और सदाचारबिरुद्ध आचरण करके पतित हो गये हैं, ऐसी जाति सदाचारसम्पन्न होकर अवश्य ही सदाचारसम्पन्न जातिमें परिणत हो सकती है। किन्तु वह जाति किस प्रकारके कदाचारसे पतित हुई थी इस बातकी विवेचना अवश्य करनी होगी। अनार्य जातिके लोगोंके साथ योनि सम्बन्ध हुआ था या नहीं इसकी विवेचना भी करनी चाहिये।

प्र०—दक्षिण देश (मद्रास आदि प्रान्तों) जिनमें जातियोंके प्रति ब्राह्मण लोग घृणादृष्टिसे देखते हैं उन जातियोंके प्रति क्या व्यवहार होना उचित है ?

उ०—उन लोगोंका आचार देखकर उनसे व्यवहार करना उचित है। दाक्षिणात्यमें ब्राह्मणसे अतिरिक्त कोई जाति जलाचरणीय नहीं है यह भी न्यायसङ्गत नहीं है। उस प्रान्तमें क्षत्रिय, वैश्य और कायस्थादि जो लोग अपने अपने सदाचारकी बहुत दिनोंसे रक्षा करते चले आते हैं, उनके साथ उधरके ब्राह्मणोंका इधरके ब्राह्मण जैसा बर्ताव होना चाहिये। सर्वमत्यन्तं गर्हितम्। उस प्रान्तमें जो शूद्रादि जातियाँ हैं, साधारणतः उनका जल ग्रहण नहीं होना चाहिये, किन्तु उस प्रान्तमें यदि ऐसे शूद्र हों जिनमें विधवाविवाह प्रचलित नहीं है और जो लोग देवता तथा ब्राह्मणमें भक्ति रखते हैं, पितृश्राद्धादि करते हैं और खाद्यका विचार रखते हैं, तो ऐसे सदाचारी जातिका जल अवश्य ग्रहण करना उचित है।

प्र०—दक्षिण देशमें कहीं कहीं ऐसी प्रथा प्रचलित है कि वहांकी शूद्रकन्यायें विवाहिता होनेपर सबसे पहिले ब्राह्मणोंकी भोग्या होती हैं यह बात शास्त्र और युक्ति-सङ्गत है कि नहीं ?

उ०—ऐसी कुप्रथायें अत्याचार-मूलक और अशास्त्रीय हैं तथा इनका संशोधन होना अत्यावश्यक है, क्योंकि ऐसी प्रथाओंसे केवल शूद्रोंकी ही हानि नहीं है, बल्कि ब्राह्मण लोग भी इससे पतित होते हैं।

प्र०—आजकल अनेक स्थानोंमें हिन्दू स्त्री और पुरुषोंको जबरदस्ती अथवा धोखा देकर धर्मच्युत किया जाता है, क्या ऐसे लोग फिर हिन्दुसमाजमें लिये जा सकते हैं ?

उ०—शान्तिप्रिय उदार हिन्दू जातियों पर अनेक बार ऐसे अत्याचार किये जा चुके हैं, इस समय भी हो रहे हैं और भविष्यत्में भी होना सम्भव है। दक्षिण देशमें मोपला नामक मुसलमान जातिने राजद्रोहके समय बहुतसे हिन्दुओंको जबरदस्ती मुसलमान बना डाला था, इस सम्बन्धमें यही आज्ञा दी गई थी कि यथायोग्य प्रायश्चित्त करके ऐसे धर्मच्युत हिन्दुओंको हिन्दूसमाजमें पुनः ले लेना चाहिये। ऐसी आपत्ति उपस्थित होने पर केवल इसी व्यवस्थाका अवलम्बन करना चाहिये। म्लेच्छोंने यदि जबरदस्ती धर्मच्युत कर दिया हो तो सनातनधर्मावलम्वी लोग निम्नलिखित प्रायश्चित्त करके फिरसे अपने समाजमें ग्रहण मरने योग्य हो सकते हैं। ऐसें लोग जिनका यज्ञोपवीत संस्कार हो चुका हो, उनका यज्ञोपवीत संस्कार फिरसे होना विशेष आवश्यक होगा। महर्षि देवलने कहा है :—

बालाद्दासीकृता ये तु म्लेच्छचाण्डालदस्युभिः ।
अशुभं कारिता कर्म गवादिप्राणिहिंसनम् ॥
उच्छिष्टमार्जनं चैव तथोच्छिष्टस्य भोजनम् ।
खरोष्ट्रविड्वराहाणामामिषस्य च भक्षणम् ॥
तत् स्त्रीणां च तथा संगस्ताभिश्च सह भोजनम् ।
मासोषिते द्विजातौ तु प्राजापत्यं विशोधनम् ॥
चान्द्रायणं त्वाहिताग्नेः पराकस्त्वथवा भवेत् ।
चान्द्रायणं पराकम्वा चरेत् सम्वत्सरोषितः ॥
सम्वत्सरोषितः शूद्रः कृच्छ्रपादेन शुद्ध्यति ।
ऊर्ध्वं सम्वत्सरात् कल्प्यं प्रायश्चित्तं द्विजोत्तमैः ॥
सम्वत्सरैश्चतुर्भिश्च तद्भावं स निगच्छति ।

म्लेच्छ, चाण्डाल, डाकू आदि जो दुष्ट जातियाँ हैं वे यदि बलपूर्वक सनातनधर्मियोंको अपने वशमें रखकर उन लोगोंसे ऐसे अविहित कार्य करावें जैसे गोहत्या, जूठे वर्तन माजना, जूठा खाना, गधा, ऊट आदिका माँस खाना, उनकी स्त्रियोंसे संग या सहभोजन ऐसी हालतमें एक मास तक ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य प्राजापत्य व्रत करनेसे शुद्ध होंगे। यदि ऐसे ही अत्याचार अग्निहोत्री ब्राह्मणोंपर हों तो उन्हें चान्द्रायण अथवा पराक व्रत करना होगा। यदि ऐसे ही अत्याचार एक वर्ष तक होते रहें तो उस अवस्थामें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा अग्निहोत्री सबको ही चान्द्रायण अथवा पराक व्रत करना होगा। यदि शूद्र वर्णपर एक वर्ष पर्यन्त ऐसे अत्याचार होते रहें तो वह कृच्छ्रपादकके द्वारा शुद्ध हो सकेगा। एक वर्षसे अधिक दिन बीत जानेपर ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यवर्णके लोगोंका प्रायश्चित्त हो सकता है, किन्तु चार वर्ष बीत जानेपर प्रायश्चित्त नहीं हो सकता क्योंकि तब वे लोग तद्भाव प्राप्त हो जाते हैं। देवलादि स्मृतियोंमें सामान्य दोषोंके विषयमें कहीं कहीं इससे भी अधिक उदारता पाई जाती है, यथा—

गृहीतो यो बलान्म्लेच्छैः पञ्चषट्सप्त वा समाः।
दशादिर्विंशतिं यावत् तस्य शुद्धिर्विधीयते ॥
प्राजापत्यद्वयं तस्य शुद्धिरेषा विधीयते ॥

अर्थात् कोई म्लेच्छ यदि बलपूर्वक किसी आर्यको अपने पास रखले और वह

म्लेच्छके साथ सामान्य संस्पर्शादि सम्बन्ध करे तो पाँच, छ, सात या दश वर्षसे लेकर बीस वर्ष पर्यन्त उसकी शुद्धि हो सकती है। उसको दो प्राजापत्य व्रत करने पड़ेगे।

प्रश्न---कलि कलमष दूषित, आत्मबलमें दुर्बल परन्तु आस्तिक वर्णाश्रमो प्रजाके निमित्त धर्मरक्षाके विचारसे क्या कोई सहज उपाय शास्त्रमें नहीं बताया है, अगर बताया है तो क्या है ?

उत्तर—सर्व हितकारी सनातन-धर्म शास्त्र सबके लिये समान रूपसे हितकारी है। तन्त्र शास्त्रोंमें इसी कारण विभिन्न रूपसे कई आचारोंका वर्णन है। उनमेंसे एक आचार यह है कि—

अपवित्रो पवित्रो वा सर्वावस्थाम् गतोऽपिवा इत्यादि मन्त्रके पाठ करनेसे सब मनुष्य सब समयमें शुद्धिको प्राप्त कर सकते हैं।

अकुंठम् सर्व कार्येषु धर्मकार्यार्थ मुद्यतम् इत्यादि मन्त्रके पाठ करनेसे उनके कर्मोंकी शुद्धि हो जाती है।

मयेव मन आधतस्व मयी बुद्धिम् निवेशयः इत्यादि मन्त्रके पाठ करनेसे और उसके अनुसार चलनेसे उपासनाकी सिद्धि होती है।

इस प्रकारसे सदाचार पालन होता है और कर्मसिद्धि, उपासनासिद्धि तथा ज्ञान सिद्धि बहुत सहज उपायसे असमर्थ मनुष्योंको प्राप्त हो सकती है। अवश्य इन सबोंको आपद्धर्मके अनुसार आचरण करना उचित है। परन्तु वर्णाश्रमधर्म माननेवाली आर्यजातिका लक्ष्य वेद और शास्त्रोंके सब आज्ञाओं पर स्थिर रहना चाहिये। चाहे आकाशयान हो चाहे रेल आदि पृथ्वीयान हो और जहाज आदि जलयान हो चाहे आर्य देश या अनार्य देश हो और चाहे अपवित्र सङ्ग हो सबमें ही आत्मशुद्धि और कर्मोंपासनासिद्धिके लिये ये चारों आज्ञायें बहुत ही सहज हैं।

प्रश्न—वर्णधर्मकी मूल भित्ति क्या है ? किस विज्ञानके अनुसार हम वर्णधर्मके सम्बन्धमें कर्तव्याकर्तव्य निश्चिय कर सकते हैं ?

उ०—वर्णधर्मकी मूल भित्ति रजोवीर्यकी शुद्धि है। ज्ञानके द्वारा अध्यात्मशुद्धि, कर्मके द्वारा अधिदेव शुद्धि और रजोवीर्यके द्वारा अधिभूत शुद्धि हुआ करती है। यद्यपि पूर्वजन्मके कर्मफलानुसार ऊपर कही हुई तीनों प्रकारकी योग्यता मनुष्यको प्राप्त हुआ करती है, तथापि पहिले कही हुई दो प्रकारकी योग्यतायें पुरुषार्थसाध्य हैं, किन्तु रजोवीर्यकी शुद्धि साधारण पुरुषार्थसे साध्य नहीं हो सकती। श्रीगीतोपनिषद्में भगवान्‌ने कहा है—

"चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः"

गुण और कर्म-विभागके अनुसार मैंने चार वर्णोंकी सृष्टि की है। इस भगवत् वाक्यके अनुसार कर्म पुरुषार्थसाध्य हो सकता है, किन्तु त्रिगुणका आधार स्वरूप स्थूल शरीर पुरुषाथसाध्य नहीं हो सकता है, वह पूर्वजन्ममें किये हुये कर्मोंके अनुसार हुआ करता है। महर्षि पतञ्जलिने भी कहा :—

"सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगः"

जन्मजन्मान्तरमें जैसे संस्कार मनुष्योंके होते हैं उन संस्कारोंके फलस्वरूप हो जाति, आयु और भोगोत्पत्ति हुआ करती है। अतएव वर्णधर्म सम्बन्धी कर्तव्याकर्तव्यनिर्णय भी ऊपर लिखे विज्ञानके अनुसार ही समझना चाहिये।

प्र०—खाद्याखाद्यके सम्बन्धमें हिन्दू शास्त्रोंमें अनेक प्रकारकेबन्धन हैं। वर्त्तमान आपत्कालमें ऐसी आज्ञाओंका यथानियम पालन होना सम्भव नहीं है, इस विषयमें धर्म-शास्त्रोंमें किस प्रकारके प्रमाण मिलते हैं ?

उ०—आपद्धर्मके विचारसे सद्‌भावके सहारेसे पापकर्म भी कर्तव्यकर्ममें परिणत हो सकता है, वेदशास्त्रोंमें इसके अनेक प्रमाण हैं। आपद्‌ग्रस्त महर्षि विश्वामित्रने चाण्डालके घरमें जाकर कुत्तेके माँस खानेकी इच्छा की थी, महाभारतमें ऐसा लिखा हुआ है।

भगवान् मनुने कहा है :—

जीवितात्ययमापन्नो योऽन्नमत्ति यतस्ततः।
आकाशमिव पंकेन न स पापेन लिप्यते॥
श्वमांसमिच्छन्नार्तोऽत्तुं धर्माधर्मविचक्षणः।
प्राणानां परिरक्षार्थं वामदेवो न लिप्तवान्॥
क्षुधार्त्तश्चात्तुमभ्यागाद्विश्वामित्रः श्वजाघनीम्।
चाण्डालहस्तादादाय धर्म्माधर्म्मविचक्षणः॥ (अ० १०)

यदि प्राण जानेकी आशङ्कासे कोई व्यक्ति जहाँ तहाँ भोजन करे, तो पङ्कके बीचमें आकाशकी तरह वह कदापि पापलिप्त नहीं होता है। धर्माधर्मके ज्ञातावाम देवने क्षुधाके वशीभूत होकर कुत्तेके मांस खानेकी इच्छा की थी, परन्तु उससे वे पापके भागी नहीं हुए थे। उसी तरह धर्माधर्मके ज्ञाता महर्षि विश्वामित्र क्षुधासे पीड़ित होकर चाण्डालके घरमें कुत्तेके ज़ंघास्थलके मांस खानेके लिये प्रस्तुत हुए थे।

परन्तु जहाँ उत्तम कल्प अथवा अनुकल्पकी सहायतासे धर्माचरणकी सम्भावना हो, वहाँपर आपत्कालकी कल्पना नहीं करनी चाहिये।

प्र०—बंग देशमें नाई अर्थात् हज्जाम लोग मुसलमान का क्षौर बनाते हैं, किन्तु "नमः शूद्रों" का नहीं बनाते, क्या यह चाल धर्मसंगत है ?

उ०—कदापि नहीं। यह अत्याचारमूलक कुप्रथा है। ऐसी चाल भारतके अनेक प्रान्तोंमें है। दक्षिण भारतमें ऐसी चाल है कि मुसलमानो का ईसाइयोंको ब्राह्मणोंके ग्रामोंके रास्तेपर चलनेकी आज्ञा दी जाती है और शूद्रोंको उस राहसे चलनेकी आज्ञा नहीं दी जाती। इन सब कुप्रथाओंका समाजके नेतागण द्वारा दूर कराना अवश्य कर्तव्य है। हमलोग विधर्मियोंसे स्पर्शादिके सम्बन्धमें जैसा आचार रखते हैं, अनुन्नत जातियोंके साथ उससे कम रखना किसी प्रकारसे उचित नहीं है। क्योंकि ऐसा करना प्रकारान्तरसे अनुन्नत जातियोंको विधर्मी बननेके लिये प्रोत्साहित करना है जो कि हिन्दू समाजके लिये अवश्य ही हानिजनक है। अवश्य पदमर्यादाकी ओर दृष्टि रखना भी युक्तियुक्त है इसमें सन्देह नहीं। आर्य्यशास्त्रोंमें सात तरहके वृद्धोंका वर्णन है। यथा ज्ञानवृद्ध, तपोवृद्ध, पर्यायवृद्ध, वर्णवृद्ध. आश्रमवृद्ध, शीलवृद्ध और वयोवृद्ध। इन सात प्रकारकी मर्यादाओंमेंसे ज्ञानवृद्ध, तपोवृद्ध, शीलवृद्ध और वयोवृद्ध इन चार प्रकारके वृद्धोंकी मर्यादा यथा सम्भव करनी चाहिये। यदि ऐसे वृद्धजन अन्य धर्मके हो अथवा निम्नजातिके हो तो उनका यथा योग्य आदर करना शिष्टाचारके अनुकूल होगा।

प्र० वर्तमान अछूतोद्धार या अन्त्यजोद्धार कार्यमें शास्त्रमर्यादाको अटूट रखते हुये हमें कहाँतक अपना कर्तव्य पालन करना चाहिये ?

उ० - कोई जाति चाहे कितनी ही हीन क्यों न हो समाजके विराट् शरीरका एक अंग अवश्य है। इस कारण उच्च नीच सभी जातियोंके प्रति हमारा बहुत कुछ कर्तव्य है। आजकल देखा जाता है कि अनेक स्थानोंमें उच्चवर्णके हिन्दुओंके अनुदार निष्ठुर वर्तावके कारण अनुन्नत जातिके लोग प्रायः विधर्मियोंके भुलावेमें आ जाते हैं, जिससे दिन पर दिन हिन्दूजातिकी संख्या घटकर यह जाति दुर्बल होती जा रही है। हिन्दूजातिको इस दुर्बलतासे अवश्य बचाना चाहिये। भङ्गी, डोम, चमार, धोबी आदि अनुन्नत जातियोंके साथ एक पंक्तिमें भोजन करना, उनके हाथका खाना या जल ग्रहण करना, उन्हें जनेऊ देना, वेद पढ़ना आदि कार्य अवश्य ही निन्दनीय तथा अशास्त्रीय हैं। किन्तु अन्य धर्मके लोगोंके प्रति हम जितनी उदारता दिखाते हैं उससे कम उदारता इन जातियोंके प्रति हमें कदापि नहीं दिखानी चाहिये। इनके लिये देवदर्शन, विद्यालयमें साधारण शिक्षा प्राप्ति, कुएँसे जल ग्रहण आदिकी सुविधा शास्त्रमर्यादा और पीठमर्यादा रखते हुये हमें अवश्य कर देनी

चाहिये। इनके भीतर रामायण, महाभारत पुराणोंकी कथाका प्रचार, व्याख्यानादि द्वारा सनातनधर्मकी जागृति अवश्य करते रहनी चाहिये। प्रयोजन होनेपर पृथक् देवालय और विद्यालय आदि खोलकर इनके लिये हिन्दी आदि भाषा शिक्षा, इनके अधिकारानुसार धर्मशिक्षा, सदाचार शिक्षा, नैतिकशिक्षा, शिल्प आदि शिक्षा जातीयशिक्षा और राजनैतिक शिक्षाका प्रबन्ध अवश्य करा देना चाहिये, जिससे राम, कृष्णादिकी महिमा, सनातनधर्मकी महिमा और भगवान्के प्रति भक्ति इनके भीतर बढ़ जाय और अपने चरित्र, सदाचार आदिकी सुरक्षा कर विधर्मियोंके प्रलोभनसे ये जातियां बच सकें, ऐसा करना चाहिये। यदि सनातनधर्मकी सकल श्रेणीकी सभा समितियाँ तथा उच्च वर्णके सनातनधर्मी इस आवश्यक कर्त्तव्यकी ओर उदारताके साथ अग्रसर होंगे तो इस जातीय दुर्दशाके दिनोंमें हिन्दूजातिको विशेष लाभ पहुंचा सकेंगे इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है।

प्र०—क्या शुद्धि आन्दोलन शास्त्रानुकूल है ?

उ०—अशुद्धको पवित्र बनानेके लिये पुरुषार्थ करना अवश्य ही शास्त्र तथा लौकिक प्रथाके भी अनुकूल है। मलिन वस्त्रको लोग शुद्ध करते ही हैं। किन्तु मलिनताके तारतम्यानुसार शुद्धिमें भी कई भेद होते हैं। सामान्य धूलि आदिसे वस्त्र मलिन हो तो झाड़कर ही उसे शुद्ध किया जाता है। कीचड़ आदिके लग जाने पर जलसें धोकर शुद्ध किया जाता है, अधिक मलिनता, दाग आदि आजाने पर धोबीके घर भेजकर उसे धुलाके शुद्ध किया जाता है। कहीं-कहीं ऐसी भी मलिनता आ जाती है कि इन लौकिक उपायोंसे वस्त्र शुद्ध होता ही नहीं। उस समय वस्त्रको फेंक ही देना होता है। अथवा ऐसा भी यदि मौका हो कि सूतके वस्त्रको रेशमी वस्त्र बनाना पड़े तो इसके लिये जबतक वस्त्रका उपादान 'सूत्र' पूरा न बदला जाय तबतक वस्त्रकी शुद्धि नहीं हो सकती है। इसी दृष्टान्तपर शुद्धिविज्ञानको समझ सकते हैं और इसी कारण मन्वादि स्मृत शास्त्रमें शुद्धिके अर्थ तरह तरहके प्रायश्चित बताये गये है। महापातक, संसर्गज पातक, उपपातक, आदि सभीके पृथक्-पृथक् प्रायश्चित होते है और कहीं-कहीं पर मरणान्त प्रायश्चित भी बताये गये हैं। बलसे, छलसे, प्रलोभनसे यदि विधर्मिगणने किसी हिन्दूको अपने धर्ममें फँसा लिया हो तो संसर्गके न्यूनाधिक्यके अनुसार बीस वर्षतक ऐसे हिन्दू उचित प्रायश्चित द्वारा शुद्ध करके अपने धर्ममें लिये जा सकते हैं, इसका देवलादि स्मृतिका प्रमाण पहिले ही दिया जा चुका है। इसी प्रकार कोई विधर्मी भी यदि आर्य्य धर्मकी उत्तमताको अनुभवकर 'हिन्दू' बनना चाहे तो वह हिन्दू बन सकता है, किन्तु आर्य्यजातिके साथ एकाएक उनका 'रोटी बेटी' का सम्बन्ध नहीं हो सकेगा। ऐसी धर्मपूत जातिका एक पृथक् 'पन्थ' बन सकता है, जिसको हम हिन्दू अवश्य कहेंगे और उनके लिये एक स्वतन्त्र वर्णका विधान हो सकेगा। यदि वर्त्तमान

अनेक पंथोंमेसे कोई एक पन्थ इस कार्य्यंको हाथमें ले ले तो इस आपत्कालमें बड़ा ही लाभ होगा।

प्र०—इन विषयोंके सिवाय हिन्दूसमाज तथा हिन्दूजातिकी उन्नतिके लिये और किन किन सुधारोंकी आवश्यकता है ?

उ०—हिन्दू समाजमें विवाहादिके सम्बन्धमें जो बड़ी बड़ी कुरीतियाँ प्रचलित हैं उनकी ओर हिन्दू नेताओंको सबसे पहिले ध्यान देना उचित है। आर्य जातिकी पवित्रता भ्रष्ट करनेवाली तथा उसको बड़ा भारी धक्का देनेवाली कुरीतियोंमेंसे सबसे बड़ी कुरीति वरसे कन्याकी आयुका अधिक होना है। अनेक स्थानोंमें देखनेमें आता है कि कुलमर्यादा तथा अर्थकामके विचारसे कन्याकी आयु वरसे अधिक होने पर भी माता पिता ऐसे विवाहके करनेमें पाप नहीं समझते हैं। दर्शनशास्त्र तथा स्मृतिशास्त्र दोनोंका ही यह सिद्धान्त है कि इस प्रकारका विवाह केवल पापजनक ही नहीं है किन्तु आर्य्यजातिको नष्ट भ्रष्ट और लोप करनेवाला है। इस कारण सबसे प्रथम सनातनधर्मी नेताओंको इस कुरीतिको एकदम रोक देनेका प्रयत्न करना चाहिये। बहुत स्थानोंमें ऋषिगोत्रके भूल जानेसे लौकिक गोत्रके प्रचार होनेसे प्रमादसे अथवा अर्थकामके लोभसे स्वगोत्रमें विवाह करना भी पापजनक नहीं समझा जाता। दर्शन-शास्त्रद्वारा यह स्पष्ट रूपसे प्रमाणित है कि सगोत्र विवाह द्वारा जाति और वंश अवश्य ही नष्ट हो जाता है। स्मृतिशास्त्र हाथ उठाकर कहता है कि सगोत्रा कन्या माताके तुल्य है। अतः आर्य्यजातिके नेतृवर्गको जहाँ तक होसके आर्ष गोत्रोंके प्रचार कराने तथा सगोत्र विवाहके बन्द करनेके विषयमें सदा प्रयत्न करना उचित है। कन्याविक्रयका पाप गोहत्याके तुल्य स्मृतिशास्त्रमें समझा गया है। अतः कन्याविक्रयीको सनातनधर्मी समाज पतित समझे ऐसा प्रयत्न सदा होना उचित है और ऊपर लिखित सब पापोंके लिये गुरुतर समाजदण्डविधान होना उचित है। कालप्रभावसे आर्य जातिकी अर्थदृष्टि इतनी बढ़ गई है कि ब्राह्मणक्षत्रियादि उच्च वर्णोंमें तिलक और पण आदिके नामसे वरपक्षवाले कन्या पक्षसे इतना धन बलपूर्वक वसूल करते हैं कि जिससे हिन्दूसमाजकी बड़ी भारी क्षति और निन्दा देखनेमें आ रही है। वस्तुतः यह प्रथा भी अशास्त्रीय, अकीर्तिकर और घृणित है। इस प्रथाके द्वारा दिनदिन सद्गृहस्थगण दरिद्र और नीच बनते जाते हैं, तथा विवाहके पवित्र लक्ष्यको एक बार ही भूलते जाते हैं और कुटुम्बोंमें आत्मीयता नाश और अशान्ति कलहकी वृद्धि होती जाती है। अतः सब वर्णके नेतृवर्गको दृढ़व्रत होकर इस सामाजिक कुप्रथाके दूर करनेमें पुरुषार्थ करना चाहिये और साथ ही साथ अपने इहलौकिक और पारलौकिक कल्याण चाहनेवाले स्वधर्मनिरत स्वदेश-हितैषी युवकोंको विवाह करते समय स्वयं इस प्रथाको सामने न आने देना चाहिये।

धार्मिक युवकगण यदि चाहें तो स्वतः ही प्रतिज्ञाबद्ध होकर इस कुप्रथाको अति सुगमरीतिसे दूर कर सकते हैं। एक अच्छी प्रथा जो इस समय कुप्रथामें परिणत हुई है उसका उल्लेख इस स्थानपर अवश्य ही करना उचित है। ब्राह्मणजातिमें एक कौलिन्य प्रथा प्रचलित है जैसा कि बङ्गाल तथा उत्तर-पश्चिम देशके कान्यकुब्ज ब्राह्मण तथा मैथिल ब्राह्मणोंमें अब भी प्रबल रूपसे देखनेमें आती है। प्राचीन कालमें कौलिन्य मर्य्यादा तप, विद्या, विनय और सदाचार आदि गुणावलीके अवलम्बनसे चलाई गई थी। अब उन गुणावलियोंके ऊपर विचार न करके केवल लकीर पीटो जाती है जिससे अब भी समाजमें अनेक अनर्थ होते हैं। अतः शास्त्र, युक्ति और न्याय पर ध्यान देकर इस प्रथाको उठा देना उचित होगा और जिससे गुणकी पूजा समाजमें अधिक बढ़ जाय उसके लिये प्रयत्न करना उचित होगा। उत्तर-भारत और राजपूतानेमें विवाहके समय अति घृणित गाली बकना आदि जो घृणित कुरीतियां प्रचलित है इस प्रकारकी कुरीतियोंको बलपूर्वक दृढ़ शासनके साथ बन्द करना उचित है। इस विषयको सब श्रेणोके लोग ही स्वीकार करेंगे। वक्तव्य यह है कि सबसे प्रथम सामाजिक कुरीतियोंको दूर करके तब अन्याय गुरुतर विषयोंमें ध्यान देना उचित होगा। कुरीतियोंके दूर करनेसे समाजमें आत्मबलकी प्राप्ति होगी और तब अन्यान्य गुरुतर समाज संस्कार सम्बन्धीय विषयोंमें सफलता हो सकेगी।

उपासनातत्त्व और मन्त्रशास्त्र

धर्मके विविध विषय तथा प्रधान धर्माङ्गरूपी कर्मकाण्डके अनेक विषयों पर प्रचुर विवेचन करके अब उपासनाकाण्डके कुछ आवश्यक विषयों पर विवेचन किया जाता है।

अभावकी पूर्ति करनेके लिये मनुष्योंकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। जिसके पास धन नहीं है वह धन कमाकर धनाभावकी पूर्ति करना चाहता है, जिसके पास ज्ञान नहीं है वह ज्ञानी बनकर ज्ञानाभावको मिटाना चाहता है इत्यादि। यही जब जीवका स्वभाव है, तो अल्पायु जीव चिरायु बनना अवश्य ही चाहेगा, अज्ञानी जीव ज्ञानी बनना अवश्य ही चाहेगा, शक्तिहीन जीव शक्तिमान् बनना अवश्य ही चाहेगा और दुःखी जीव आनन्दी बनना अवश्य ही चाहेगा। जीवमें इन सभी वस्तुओंका अभाव है, परमात्मामें ये सभी वस्तुयें पूर्णरूपसे विद्यमान् हे। परमात्माकी आयु अनन्त है, शक्ति अनन्त है, ज्ञान अनन्त है और आनन्द अनन्त है। इस कारण परमात्मासे मिलकर, उनके पास पहुंच कर इन वस्तुओं-के लाभ करनेकी लालसा मनुष्योको लगती है। यह जो उनके पास पहुंचनेकी लालसा है इसीको उपासना कहते हैं। 'उप' अर्थात् समीप, और 'आस्' धातुका अर्थ प्राप्त होना है। अर्थात् परमात्माके समीप जाने या उनके सामीप्य लाभ करनेके उपायोंका नाम उपासना या साधना है।

इस उपासनाको भिन्न भिन्न जाति, अधिकार तथा धर्मके मनुष्य अपनी शक्ति और योग्यताके अनुसार ही कर सकते हैं। यही कारण है कि भिन्न भिन्न धर्ममतोंमें तथा भिन्न-भिन्न अधिकारके मनुष्योंमें उपासनाकी अलग अलग रीतियां प्रचलित हैं ये सभी सत्य हैं, क्योंकि साक्षात् या परोक्षरूपसे इन सबकी गति अद्वितीय महासमुद्रकी ओर शत शत नदियोंकी भिन्न भिन्न पथवाहिनी गतियोंकी तरह अद्वितीय परमात्माकी ओर ही है। महिम्नस्तोत्रमें यही लिखा है—

रुचीनां वैचित्र्यात् ऋजुकुटिलनानापथजुषाम्।
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव॥

अर्थात् प्रकृति प्रवृत्तिके अनुसार रुचिके भेदसे किसी धर्ममतका पथ कुछ सरल और किसीका कुछ कठिन है। किन्तु जिसप्रकार सकल नदियोंकी एकमात्र गति समुद्र ही है, ऐसा ही सब साधनाओंका अन्तिम लक्ष्य परमात्मा ही है। श्रीभगवान्ने गीतामें भी यही कहा है—

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय भजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥
अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥
यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् (९) ॥

और भी—

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥
यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥
स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान् ॥
अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि (७) ॥

किसी देवता, उपदेवता या अपदेवताकी पूजा करो, परोक्षरूपसे परमात्माकी ही पूजा होती है, क्योंकि ये सभी सात्विक, राजसिक या तामसिक रूपसे परमात्माकी ही भिन्न भिन्न विभूतियाँ हैं, केवल पूजाकी विधिमें उच्च या नीच प्रकार भेदमात्र है। इन सभी यज्ञोंके भोक्ता साक्षात् या परम्परारूपसे परमात्मा ही होते हैं, इस रहस्यको जो उपासक नहीं समझता है वहो मतवादके चक्कर तथा संकोर्णतामें पड़कर हीनगतिको पाता है। देवोपासक देवलोकको, पितरोंका उपासक पितृलोकको, प्रेतोपासक प्रेतलोकको पाता है, और जो साक्षात् रूपसे परमातमाकी उपासना करना है उसे ब्रह्मलोक ही प्राप्त होता है। इसी प्रकार उन्होंने और भी कहा है, यथा—अपनी प्रकृतिके वशमें होकर वासनाबद्ध जीव छोटे छोटे देवताओंकी पूजा करता है। परमात्मा जीवकी रुचिके अनुसार उसी पूजामें उसके चित्तको लगा देते हैं और इस प्रकार पूजासे जीवका जो कुछ सकाम फल मिला करता है, सो परमात्मा ही परोक्षरूपसे दिया हुआ फल है। किन्तु इस प्रकारके सब सकाम फल थोड़े दिनोंके लिये होते हैं, इस कारण अल्पबुद्धि मानव ही सकाम फलके लिये

सामान्य देवताओंकी पूजा करता है और दूरदर्शी साधक मोक्षफलके लक्ष्यसे परमात्माकी साक्षात्‌रूपसे उपासना करते हैं। अतः यही सिद्धान्त निश्चित हुआ कि, सभी पूजा, सभी धर्मोंको, सभी सम्प्रयादकी, सभी उपधर्मोंकी और सभी पन्थोंकी अपने २ ढंग पर ठीक ही है, केवल अधिकार भेदानुसार उच्च नीच कोटिका तारतम्यमात्र है। इन्हीं बातों पर विचारकर चिन्ताशील मैक्समूलर साहबने भी कहा है—

"There never was a false god, nor was there ever really a false religion, unless you call a child false man! We are in different classes of the great life-school and we are happiest when we associate with those in our class or consciousness."

(Graphology—Kalpaka 12-1924)

"जिस प्रकार किसी बालकको चाहे वह कितना ही छोटा हो मनुष्य न कहना असत्य है, इसी प्रकार किसी धर्ममत या उसके इष्टदेवताको चाहे वह कितना ही साधारण क्यों न हो धर्म या देवता न कहना असत्य और अनुचित है। संसारमें मिथ्या देवता और मिथ्या धर्म कोई भी नहीं है। जीवोंके अधिकारानुसार सभी धर्मोंकी कहीं न कहीं पर स्थिति अवश्य है। जीवनके महान् विद्यालयमें हम लोग अलग अलग श्रेणीके विद्यार्थी हैं और जो श्रेणी हमारे लायक अर्थात् हमारी शक्तिके अनुकूल है उसीमें रहना ही हमारे लिए उचित तथा सुखदायक है।" अब नीचे क्रमशः इन उपासना श्रेणियोंका विचार किया जाता है।

श्रीभगवान्‌की सबसे निकृष्ट विभूति भूत-प्रेत योनि है। इसलिये भील, कोल आदि असभ्य जातिके लोग प्रेतोपासक होते हैं। उनके पिता मरनेके बाद प्रेत हुये हैं, उनमें बड़ी शक्ति आगई है, वे पूजित होकर उन्हें उन शक्तियों द्वारा मदद दे सकते हैं, ऐसा समझकर वे अपने मकानोंके निकटवर्ती किसी वृक्ष पर उन प्रेतोंका स्थान निर्देश कर रखते हैं और बलिदान, गाना-बजाना, स्तुति, प्रार्थना आदि द्वारा उनकी पूजा किया करते है। वे कभी कभी किसी स्त्री या पुरुष पर उन प्रेतोंके आवेश करानेका प्रयत्न करते हैं और आवेश होगया है ऐसा जब मालूम होता है तो प्रेताविष्ट नर नारीसे क़ई प्रकारकी प्रार्थनायें करते है। प्रोफेसर आर. ई. डटन साहबने इस प्रकारसे 'स्पिरिट' बुलानेको एक विधि बताई है, यथा—

Make your body as passive as you can at certain times, corresponding to each day of the week and hour of the day. Before this practice give yourself in prayer to spirites in earnest; you can never develop psychesin without spirit aid and they will always aid any mortal and heed his prayer if made in true faith.

You are to magnetise a black cloth large enough to cover you. You must always use this cloth, covering it over your head when offering your prayer because it acts as the conductor of magnetism. The prayer and mental forcesent will thoroughly magnetise the article and the spirit can come closer to you when using it.

This magnetised cloth method is a powerful method for the developing of mediumship. The prayer must be given in strong faith and the strength of the method depends upon your belief and strength of faith. In this way you develop stronger than by the ordinary method and if you sit in total darkness you will finally have the cloth lifted from your head by a spirit who will stand revealed in a luminous light. (Duttonism—Kalpaka 8-1924)

"प्रति सप्ताहके भीतर किसी दिन और उसमें भी किसी नियम समयपर अपनेको निष्क्रय उदासीन भावमें रखनेका अभ्यास करो। और इस अभ्याससे पहिले कुछ दिनों तक स्पिरिट अर्थात् किसी परलोकगत आत्माकी पूजा करते रहो। इस प्रकार पूजाके बिना सूक्ष्म शक्ति आती नहीं और यह भी निश्चय है कि सच्ची श्रद्धा विश्वासके साथ पूजा करनेपर परलोकगत आत्मा उपासककी सहायता अवश्य ही करते हैं।

"पूजापर बैठते समय तुम्हें एक बड़ा काला कपड़ा अपने सिरसे नीचे तक डाल रखना होगा। तुम अपनी मानसिक शक्ति तथा पूजा शक्तिका जितना ही प्रयोग करोगे उतना ही वह कपड़ा मेगनितिज अर्थात् सूक्ष्म बिजली शक्तिसे भरपूर होता जायगा। इसी कपड़ेसे उपासनाके समय तुम्हें सदा ही अपनेको ढाकना पड़ेगा। और ज्यों ज्यों वह कपड़ा बिजलीसे पूर्ण होता जायगा त्यों त्यों स्पिरिट तुम्हारे निकटवर्त्ती होते जायेंगे।

"बिजलीभरा यह वस्त्र स्पिरिट बुलानेमें बड़ा ही सहायक होता है। साथ ही साथ श्रद्धा अिश्वासकी गम्भीरता भी परलोकगत आत्माको पास बुलानेमें परम सहायक वनती है। इस प्रकार अभ्यास करते करते किसी दिन जब अन्धकारपूर्ण स्थानमें अपनेको वस्त्रसे ढँककर तुम उपासना करोगे तो अकस्मात् परलोकगत एक आत्मा आकर तुम्हारे वस्त्रको उठावेंगे और अपने ज्योतिर्मय शरीरसे तुम्हें दर्शन देंगे।" यह प्रेत पूजाकी उत्तम विधि है।

इससे उन्नत सभ्यताकी दशामें पितर सब मरकर प्रेत ही होते हैं और वृक्षपर निवास करते हैं, इस प्रकार क्षुद्रभाव मनुष्यमें नहीं रहता है। वे उन्हें चन्द्रलोकवासी उत्तम शरीर नैमित्तिक पितृगण कहकर उनकी उपासना बड़े प्रेमके साथ करने लगते हैं।

जापान, चीन आदि देशवासीगण इस पितृपूजा (Ancestral worship) को बड़े प्रेमके साथ करते हैं और इन्हींकी कृपासे उन्हें सम्पत्ति आदिकी प्राप्ति होती है यह भी उनका विश्वास है। आर्यशास्त्रमें श्राद्ध तर्पण विधिके द्वारा इन नैमित्तिक पितरोंकी पूजा होती है जिसका वर्णन पहिले किया जा चुका है। प्राचीन ग्रीस तथा रोममें वीरपूजा (Heroworship) के नामसे इसी पूजाका प्रचार था। कारलाइल साहबने अपने (Hero and Heroworship) ग्रन्थमें इसी उपासनाका बहुत कुछ वर्णन किया है।

इसके बादकी उन्नत सभ्यता दशामें नैमित्तिकके स्थान पर नित्य पितर, नित्य देवता और नित्य ऋषियोंकी उपासना होने लगती है। उन्नत भावके मनुष्यगण यह विचार करने लगते हैं कि पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि आदि जड़वस्तुओंकी जो नियमितगति देखनेमें आती है, किसी नियामिक (Regulator) के बिना यह नियमित गति (Regular movement) कैसे बन सकती है ? जड़ इञ्जिनमें गाड़ी खींचनेकी शक्ति तो है, किन्तु चेतन सञ्चालक (Driver) के बिना, गाड़ी ठीक नियमसे चल नहीं सकती। स्टेशनमें ठहरना, भयके स्थानपर मन्द गतिसे चलना, कहीं कम कहीं द्रुत वेगसे चलना इत्यादि कोइ भी कार्य जड़, अचेतन गाड़ी चेतन ड्राइवरके बिना नहीं कर सकती। और जब इतना साधारण कार्य भी—बिना चेतनकी सहायताके जड़ वस्तु नहीं कर सकती तो समस्त विश्वव्यापी जल, वायु, अग्नि आदि जड़ वस्तु अपने अपने नियमित कार्यको किसी न किसी चेतन नियामकके बिना कैसे कर सकेंगी ? इसप्रकारसे चिन्ताका तरङ्ग उठते उठते अन्तमें यही सिद्धान्त निश्चित हो जाता है कि समस्त विश्वके सञ्चालनके मूलमें तीन चेतन शक्तियां विद्यमान हैं जिनमें परमात्माकी ही तीन शक्तियां व्याप्त रह कर कार्य कर रही हैं। यथा—अध्यात्मज्ञान राज्यके सञ्चालक ऋषिगण, अधिदैव कर्म्मराज्यके सञ्चालक देवतागण और अधिभूत स्थूल राज्यके सञ्चालक नित्य पितृ अर्य्यमा आदि हैं। मनुष्य केवल स्थूलराज्यपर आधिपत्य कर सकता है। परन्तु जो स्थूल और सूक्ष्मराज्य-दोनोंपर समान-रूपसे आधिपत्य कर सके वही देवता है। ऋषि, देवता और पितृमें यही दैवी शक्ति विद्यमान है। इसी कारण वे दैव जगत्के तीन विभागोंके चालक हैं। जिस प्रकार स्थूल जगत्में भी साम्राज्यके अधिपति सम्राट सबके ऊपर होने पर भी उनके अधीनस्थ भिन्न भिन्न विभागोंके सञ्चालक उन्हींकी शक्तिको लेकर कितने ही काम करनेवाले होते हैं ऐसे ही ईश्वरकी विभूतियोंसे युक्त देवता, ऋषि, पितरोंके विषयमें समझना चाहिये। दैवी-शक्तिका पूरा पता न लगने पर भी जो कुछ लग सका है उसीके अनुसार पारसी लोग समुद्र, अग्नि आदिकी अधिष्ठात्री देवताकी पूजा करते हैं जिसका विधान उनके जोरोष्ट्रियन धर्ममें है। इसी प्रकार रोमन कैथलिक लोग भी एन्जेल (Angil) की पूजा करते हैं जो एक प्रकारकी दैवी-विभूति ही है।

आर्यशास्त्रमें इस विषयपर पूर्ण विवेचन करके कहा गया है कि, प्रत्येक ब्रह्माण्डके नायक ब्रह्मा–विष्णु–महेशरूपी त्रिमूर्ति ही उस ब्रह्माण्डके सगुण ईश्वर हैं, इस कारण ये तीनों, देवता होनेपर भी, अन्यान्य देवताओंकी श्रेणीमें इनकी गणना नहीं हो सकती। प्रधान देवता तेंतीस हैं। यथा —आठ वसु, द्वादशादित्य एकादश रुद्र और इन्द्र प्रजापति।

यजुर्वेद (अ० १४ मं० २० में भी :—"वसवो देवताः रुद्रा देवताः।
आदित्या देवताः त्रयस्त्रिंशाः सुराः।"

आदि कहकर तेंतीस देवताओंका वर्णन किया गया है। इनके नाम यथा महाभारतमें :—

"भगोंऽशश्चार्यमा चैव मित्रोऽथ वरुणस्तथा।
सविता चैव धाता च विवस्वांश्च महाबलः॥
त्वष्टा पूषा तथैवेन्द्रो द्वादशो विष्णुरुच्यते।
इत्येते द्वादशादित्याः कश्यपस्यात्मसम्भवाः॥"

भग, अंश, अर्यमा, मित्र, वरुण, सविता, धाता, विवस्वान्, त्वष्टा, पूषा, इन्द्र और विष्णु—ये द्वादश आदित्य हैं। वसुओंके नाम महाभारतमें :—

धरो ध्रुवश्च सोमश्च विष्णुश्चैवानिलोऽनलः।
प्रत्यूषश्च प्रभासश्च वसवोऽष्टौ क्रमात् स्मृताः॥

धर, ध्रुव, सोम, विष्णु, अनिल, अनल, प्रत्यूष और प्रभाससे अष्टवसु हैं। एकादश रुद्रके नाम श्रीमद्भागवतमें :—

"अजैकपादहिर्ब्रध्नो विरूपाक्षः सुरेश्वरः।
जयन्तो बहुरूपश्च त्र्यम्बकोऽप्यपराजितः॥
वैवस्वतश्च सावित्रो हरो रुद्रा इमे स्मृताः॥"

अजैकपाद, अहिर्ब्रध्न, विरूपाक्ष, सुरेश्वर, जयन्त, बहुरूप, त्र्यम्बक, अपराजित, वैवस्वत, सावित्र और हर—ये एकादश रुद्र हैं।

ये ही तेंतीस देवता प्रत्येक ब्रह्माण्डके रक्षकरूप प्रधान देवता हैं। इनके अधीन अनेक देवता हैं; वे सब देवता सात श्रेणी और चार वर्णमें विभक्त हैं।

इनके चार वर्ण—यथा—महाभारतके शान्तिपर्वमें :—

आदित्याः क्षत्रियास्तेषां विशश्च मरुतस्तथा।
अश्विनौ तु स्मृतौ शूद्रौ तपस्युग्रे समास्थितौ॥
स्मृतास्त्वङ्गिरसो देवा ब्राह्मणा इति निश्चयः।
इत्येतत् सर्वदेवानां चातुर्वर्ण्यं प्रकीर्त्तितम्॥

आदित्यगण क्षत्रियदेवता, मरुद्गण, वैश्यदेवता, अश्विनीगण शूद्रदेवता और आङ्गिरस देवतागण ब्राह्मणदेवता–इस प्रकारसे देवताओंके चार वर्ण हैं।

शास्त्रोंमें कहीं कहीं तेंतीस करोड़ देवता हैं ऐसा भी कहा गया है। 'प्रत्येक ब्रह्माण्डमें देवताओंकी संख्या क्या तेंतीस करोड़ ही नियमित है? इस प्रश्नके उत्तरमें सिद्धान्त यही हो सकता है कि, विज्ञानवित् शास्त्रकारोंने प्रकृतिके परिणामके क्रमके अनुसार और कर्म्मोंकी गतिके साधारण भेदके अनुसार देवताओंकी संख्या अधिकसे अधिक तेंतीस करोड़का होना अनुमान किया है। इससे यह नहीं समझा जा सकता कि प्रत्येक ब्रह्माण्डमें तेंतीस करोड़ ही देवता होते हैं।

जब यह निश्चय है कि बिना चेतनकी सहायतासे जड़ कार्य नहीं कर सकता है, तो यह मानना ही पड़ेगा कि जड़ सृष्टि अथवा जड़ भावापन्न सृष्टिके सब विभागोंके चालक अलग अलग देवता हैं। ग्रहोंके अलग अलग देवता, नक्षत्रके अलग अलग देवता, दसप्राणके अलग अलग देवता, तीनों शरीरोंके अलग अलग देवता, पञ्चकोषके अलग अलग देवता, पीठोंके अलग अलग देवता, ग्राम्य देवता, वन देवता, इन्द्रियोंके देवता, पञ्चतत्त्वके देवता, प्राणके चालक देवता, बड़ी बड़ी नदियोंके देवता, बड़े बड़े पर्वतोंके देवता, उद्भिज योनियोंके अलग अलग देवता, स्वेदज योनियोंके अलग अलग देवता, अंडज योनियोंके अलग २ देवता और जरायुज योनियोंके अलग २ देवता, इस प्रकारसे देवता अनेक हैं। इसी प्रकार दैवी राज्यके रक्षक, प्रेत लोकके नियामक वेताल आदि देवता; नरक लोकके नियामक यमदूत आदि देवता, असुर लोकके नियामक असुर दूत आदि देवता, और देवलोकके नियामक देवदूत आदि देवता, ऐसे छोटे छोटे देवता अनेक हैं। इसके अतिरिक्त देवलोकके उच्च पदधारी तो अनेक हैं ही। अतः ३३ करोड़ देवता कहनेमें कुछ अत्युक्ति नहीं होगी।

वेदादि शास्त्रोंमें देवताओंकी संख्या तथा स्वरूपके विषयमें अनेक वर्णन मिलते हैं। यजुर्वेद (अ० १४ मं० २०) में वर्णन है:—

"अग्निर्देवता वातो देवता सूर्यो देवता चन्द्रमा देवता वसवो देवता रुद्रा

देवता आदित्या देवता मरुतो देवता विश्वेदेवा देवता बृहस्पतिर्देवता इन्द्रो देवता वरुणो देवता।"

इस मंत्रमें देवताओंकी अनेक श्रेणियोंका नामोल्लेख है।

पुनश्च—"त्रयो देवा एकादश त्रयस्त्रिंशाः सुराधसः बृहस्पतिपुरोहिता देवस्य सवितुः सर्वे देवा देवैरवन्तु मा।" (य० अ० २० मं० ११)

"समिद्ध इन्द्र उषसामनीके पुरोरुचा पूर्वकृद्वावृधानः। त्रिभिर्देवैस्त्रिंशता वज्रबाहुर्जघान वृत्रं विदुरो ववार।" (अ० २०, मं० ३६)

प्रधान तीन देवता, एकादश रुद्र या तेंतीस देवता सुरगुरु बृहस्पतिको आगे करके अपनी दैवशक्तिके प्रभावसे सूर्यप्रेरणासे यज्ञानुष्ठानमें प्रवृत्त मेरी रक्षा करें। तेजस्वी वज्रधारी इन्द्रने सूर्य्यकी तरह प्रकाशवान् तेंतीस देवताओंके साथ मिलकर वृत्रका हनन किया। देवताओंकी संख्याके विषयमें उसी वेदमें लिखा है :—

त्रीणि शतानि त्रीणि सहस्राण्यग्निंन् त्रिंशच्च देवा नव चासपर्यन्"

(अ० ३३ मं० ७)

तीन हजार तीन सौ उनतालीस देवता अग्निकी परिचर्या करते हैं।

शाकल्य ब्राह्मणमें--

"त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्रैति महिमा न एवैषामेते त्रयस्त्रिंशदेव देवाः

इस प्रकार कहकर तेंतीस देवता ही प्रधान हैं, बाकी शत सहस्र देवतागण सब इनकी विभूतिरूप हैं—ऐसा ही वर्णन किया गया है। अन्यत्र यह भी वर्णन है :—

तिस्रःकोट्यस्तु रुद्राणामादित्यानां दश स्मृताः।
अग्नीनां पुत्रपौत्रं तु संख्यातुं नैव शक्यते॥"

एकादश रुद्रोंकी विभूति तीन कोटि देवता हैं, द्वादश आदित्योंकी विभूति दस कोटि देवता हैं। अग्नि देवताके पुत्र पौत्रोंकी तो संख्या ही नहीं हो सकती। तदनन्तर अक्षपादने कहा है—

त्रयस्त्रिंशद् यानि तान्येव शतानि विन्दुत्रययुक्तानि, पुनस्तान्येव त्रयस्त्रिंशत् सहस्राणि च विन्दुचतुष्टययुतानि तथा त्रयस्त्रिंशत्कोट्य इत्यर्थः"।

इस प्रकारसे तेंतीस करोड़का हिसाब बन सकता है। महाभारतके आदिपर्वके प्रथम अध्यायमें लिखा है—

"त्रयस्त्रिंशत् सहस्राणि त्रयस्त्रिंशच्छतानि च।
त्रयस्त्रिंशच्च देवानां सृष्टिः संक्षेपलक्षणा॥"

संक्षेपसे देवताओंकी संख्या तेंतीस हजार तेंतीस सौ तेंतीस होती है। निरुक्तके दैवतकाण्डमें देवताओंकी संख्याके विषयमें वर्णन है। यथा :—

"तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः।"
"अग्निः पृथिवीस्थानो वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः सूर्यो द्युस्थानः।"
"तासां महाभाग्यादेकैकस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति॥"
"अपि वा कर्मपृथक्त्वाद् यथा होताध्वर्युर्ब्रह्मोद्गातेत्यप्येकस्य सतः॥"
"अपि वा पृथगेव स्युः पृथग्हि स्तुतयो भवन्ति।"
"तथाभिधानानि।"

देवता तीन हैं। यथा—अग्नि, वायु या इन्द्र और सूर्य्य। अग्निका स्थान पृथ्वी है, वायु या इन्द्रका स्थान अंतरिक्ष है और सूर्य्यका स्थान द्युलोकमें है। इन तीन प्रधान देवताओंके ऐश्वर्य्ययोगसे अनेक देवता होते हैं, जिनके नाम अनेक प्रकारके हैं। कर्मकी पृथक्ताके कारण भी अनेक भेद होते हैं। यथा - होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा उद्गाता इत्यादि। इसके सिवाय और प्रकारसे भी पृथक्सत्ता देवताओंकी होती है, जिस कारण पृथक्-पृथक् देवताओंकी पृथक्-पृथक् स्तुतियाँ भी होती हैं। इस प्रकार पृथक्सत्ताके अनुसार देवताओंके पृथक्-पृथक् नाम भी होते हैं।

यजुर्वेदके (अ० ३९ मं० ६) प्रायश्चित्ताहुति प्रकरणमें लिखा है—

"सविता प्रथमेऽहन्यग्निर्द्वितीये वायुस्तृतीय आदित्यश्चतुर्थे चन्द्रमाः पञ्चम ऋतुः षष्ठे मरुतः सप्तमे बृहस्पतिरष्टमे मित्रो नवमे वरुणो दशम इन्द्र एकादशे विश्वेदेवा द्वादशे।"

प्रथम दिनका सविता देवता है, दूसरे दिनका अग्नि, तीसरे दिनका वायु, चौथे दिनका आदित्य, पञ्चमका चन्द्र, षष्ठका ऋतु, सप्तमका मरुत्, अष्टमका बृहस्पति, नवमका मित्र, दशमका वरुण, एकादशका इन्द्र, द्वादशका विश्वेदेवा। इन देवताओंके निमित्त १२ दिनोंतक प्रायश्चित्तके लिये आहुति दी जाती है। इन देवताओंके स्वरूप तथा वास-स्थान कहाँ होते हैं, इसके विषयमें ऋग्वेद (मं० १० सू० ६३ अ० ४) में लिखा है :—

नृचक्षसो अनिमिषंतो अर्हणा बृहद्देवासो अमृतत्वमानशुः ।
ज्योतीरथा अहिमाया अनागसो दिवो वर्ष्माणं वसते स्वस्तये ॥

कर्मके नियन्ता, अनिमेषनेत्र द्वारा जीवोंके प्रति दृष्टियुक्त, देवताओंने जीवकी परिचर्याके निमित्त अमरत्वको प्राप्त किया है। दीप्तिमान् रथसे युक्त, स्थिरबुद्धि, पापरहित देवतागण स्वर्गलोकके उन्नत देशमें निवास करते हैं। और भी :--

"सम्राजो ये सुवृधो यज्ञमाययुरपरिह्वृता दधिरे दिवि क्षयम् ।"

प्रभुतायुक्त, अतिवृद्धिशाली देवतागण जो यज्ञमें आते हैं उनका निवास दिव्यलोकमें है। देवताओंके प्रभावके यिषयमें निरुक्तके दैवतकाण्डमें लिखा है—

"आत्मैवैषां रथो भवत्यात्माश्व आत्मायुध आत्मेषव आत्मा सर्वं देवस्य देवस्य ।"

आत्मा ही देवताओंका अश्व, रथ, आयुध, वाण और सब कुछ होता है। इनके रूपके विषयमें ऋग्वेद (मं० ३ अ० ४ सू० ५३ म० ८) में लिखा है :--

"रूपं रूपं मघवा बोभवीति मायाः कृण्वानस्तन्वं परि स्वाम् ।
त्रिर्यद्दिवः परिमुहूर्तमागात् स्वैर्मंत्रैरनृतुपा ऋतावा ॥"

मघवा (इन्द्रदेव) जिस जिस रूपके धारण करनेकी इच्छा करते हैं वही रूप उनका हो जाता है, उनमें अनेक रूप धारण करनेकी शक्ति है। इन्द्रकी मन्त्र द्वारा स्तुति करते ही इन्द्रदेव स्वर्गलोकसे एक ही समय अनेकरूप धारण करके अनेक यज्ञमें उपस्थित हो सकते हैं। देवताओंके अनेक रूप धारण करके एक हो समय अनेक यज्ञमें उपस्थित होनेके विषयमें वेदान्तदर्शनका भो सूत्र है। यथा :—

"विरोधः कर्मणीति चेन्नानेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात् ।"

यदि कर्मके विषयमें इस प्रकारसे विरोध माना जाय कि, एक समयपर एक देवता अनेक स्थानोंमें कैसे उपस्थित रह सकते हैं, तो इसका उत्तर यह है कि, देवताओंमें ऐसी शक्ति है कि एक ही समय पर अनेक रूप धारण करके अनेक यज्ञोंमें वे दर्शन दे सकते हैं। देवताओंके रूप कैसे होते हैं, इसके विषयमें निरुक्तके दैवतकाण्डमें लिखा है :--

"अथाकारचिन्तनं देवतानाम् ।"
"पुरुषविधाः स्युरित्येकम् ।"

"अपुरुषविधाः स्युरित्यपरम्।"
"अपि वोभयविधाः स्युः।"

देवताओंके रूप कैसे होते हैं अर्थात् किस रूपमें वे दर्शन देते हैं, इसके विषयमें यह कथन है कि कोई उनको पुरुषके रूपमें दर्शन देनेवाले, कोई उनको स्त्रीके रूपमें या और किसी रूपमें दर्शन देनेवाले और कोई उनको इन दोनों ही रूपोंमें दर्शन देनेवाले कहते हैं। इन्द्रके कार्यके विषयमें निरुक्तमें लिखा है :—

"अथास्य कर्म रसानुप्रदानं वृत्रवधो या च का च बलकृतिरिन्द्रकर्मैव तत्।"

वर्षादि कराना, वृत्रवध और बलसम्बन्धीय अन्य समस्त कार्य इन्द्रदेव का है; क्योंकि, वे देवताओंके राजा हैं। इन सब प्रमाणोंके द्वारा स्पष्ट सिद्धान्त होता है, कि विद्वान्को ही देवता कहनेकी और चतुर्वेदज्ञाताको ही ब्रह्मा कहनेकी जो स्पर्द्धा अर्वाचीन पुरुषोंने की है वह उनका भ्रान्तियुक्त उन्मत्त प्रलापमात्र है।

"विद्वांसो हि देवाः।" (शतपथ ब्राह्मण ३।७-३।१०)

इस मन्त्रका अर्थ अर्वाचीन पुरुषोंने ठीक नहीं किया है। इसका अर्थ यह नहीं है कि विद्वान् ही देवता होते हैं; परन्तु यजुर्वेद (अ० ६, मं० ७) में :—

"देवान् दैवीर्विशः प्रागुरुशिजो वह्नितमान्।"

इस मन्त्रके अर्थमें "दिव्यगुणयुक्त" यह पशु अग्निषोमादि देवताओंके पास गमन करे, जो देवता विद्वान् और अग्नि द्वारा हविकी इच्छा करनेवाले होते हैं, यह जो मन्त्र है, इसपर ही शतपथ ब्राह्मणकी श्रुति है :—

"विद्वांसो हि देवास्तस्मादाहोशिजो वह्नितमानिति।"

देवता विद्वान् हैं, इसलिये उनको उशिज और वह्नितमान् कहा गया है। विद्वान्का नाम ही देवता है, यह उस श्रुति अथवा ब्राह्मणका अर्थ नहीं है। बकरीको चार टाँग होती हैं इसलिये जिस पशुकी चार टांग हो वह बकरी है ऐसा कहना जिस प्रकार मिथ्या है ऐसा ही विद्वान् होते ही उसे देवता कहना मिथ्या है। और चार वेदके ज्ञाता ही ब्रह्मा हैं ऐसा कहना और भी भ्रान्तियुक्त है। ऐसा होनेपर वेदव्यास वशिष्ठ आदि वेदवेत्ता सभी ऋषियोंको ब्रह्मा कहना पड़ेगा।

ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता। (मुण्डक)
हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे यो वै ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्। (श्वेताश्वतर)

तस्मिन् जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः। (मनु)

इत्यादि प्रमाणों द्वारा ब्रह्मकी पृथक् स्थिति सिद्ध होती है।

शास्त्रमें नित्य देवता और नैमित्तिक देवता दो प्रकारके देवता कहे गये हैं।

नित्य देवता वे हैं, कि जिनका पद नित्य स्थायी है। वसुपद, रुद्रपद, आदित्यपद, इन्द्रपद, वरुणपद आदि पद नित्य हैं। ये पदसमूह केवल अपने ब्रह्माण्डमें ही नित्यस्थायी नहीं हैं; किन्तु ऐसा अनुमान किया जाता है कि प्रत्येक ब्रह्माण्डमें इन पदोंका नित्यरूपसे रहना अवश्य सम्भव है। ये पद नित्य होते हैं तथा कल्प और मन्वन्तरादिभेदसे इनमें योग्य व्यक्तियां जाकर अधिकार प्राप्त करती हैं। और वे ही देवता क्रमशः उन्नत अधिकारोंको भी प्राप्त करते रहते हैं। कभी कभी इन पदधारी देवताओंका पतन भी होता है। जैसा महाभारतके शान्तिपर्वमें कहा गया है :—

"हित्वा सुखं मनसश्च प्रियाणि देवः शक्रः कर्मणा श्रैष्ठ्यमाप।
सत्यं धर्मं पालयन्नप्रमत्तो दमं तितिक्षां समतां प्रियञ्च॥
एतानि सर्वाण्युपसेवमानः स देवराज्यं मघवान् प्राप मुख्यम्॥
क्रतुभिस्तपसा चैव स्वाध्यायेन दमेन च।
त्रैलोक्यैश्वर्यमव्यग्रं प्राप्तोऽहं विक्रमेण च॥"

मनके प्रिय सुखोंको त्याग करके, सत्य, धर्म, दम, तितिक्षा और समताके आश्रयसे इन्द्रको मनुष्यशरीरसे इन्द्रपद प्राप्त हुआ था। यज्ञ, तप, स्वाध्याय और दमके द्वारा इन्द्रने त्रिलोकका ऐश्वर्य प्राप्त किया था। नारायणोपनिषद् में लिखा है :—

"यज्ञेन हि देवा दिवं गताः"

"यस्ते नूनं शतक्रतविन्द्रद्युम्नितमो मदः" (सा. वे. ३।१।३।२।)

यज्ञसे ही देवताओंको देवत्वपद मिला है और शतक्रतु होनेसे ही इन्द्रपद इन्द्रको प्राप्त हुआ है। ऋग्वेद १।१११।१ में लिखा है :—

"तक्षन् रथं सुवृतं विद्म नापसस्तक्षन्। हरीं इन्द्रवाहा वृषणवसू।"

आंगिरसके तीन पुत्र रथनिर्माणके कौशलसे देवताओंको तुष्ट कर देवत्वको प्राप्त हो गये थे।

पुनः महाभारतके अनुशासनपर्वमें लिखा है—

"नहुषो हि महाराज राजर्षिः सुमहातपाः।
देवराज्यमनुप्राप्तः सुकृतेनेह कर्मणा॥

अथेन्द्रोऽहमिति ज्ञात्वा अहंकारं समाविशत् ।
स ऋषीन् वाहयामास वरदानमदान्वितः ॥
अगस्त्यस्य तदा क्रुद्धो वामेनाभ्यहनच्छिरः ।
तस्मिन् शिरस्यभिहते स जटान्तर्गतो भृगुः ॥
शशाप बलवत् क्रुद्धो नहुषं पापचेतसम् ।
यस्मात् पदाहतः क्रोधाच्छिरसीमं महामुनिम् ॥
तस्मादाशु महीं गच्छ सर्पो भूत्वा सुदुर्मते ।
इत्युक्तः स तदा तेन सर्पो भूत्वा पपात ह ॥"

राजर्षि नहुषने पुण्यकर्मके फलसे इन्द्रत्व प्राप्त किया था। इन्द्रत्व पानेपर उनको अत्यन्त अहंकार हो गया था और उन्होंने ऋषियोंसे अपना शिविका (पालकी) वाहन प्रारम्भ कर दिया था। एक बार अगस्त्य ऋषि शिविकावहन कर रहे थे, नहुषने उनके सिरपर लात मार दिया। इस पर भृगु ऋषिने नहुषको अभिसम्पात (शाप) किया कि सर्प हो जाओ और नहुष सर्प होकर स्वर्गसे गिर पड़ा।

नैमित्तिक देवता वे कहाते हैं, जिनका पद किसी निमित्तसे कायम किया जाता है और उस निमित्तके नष्ट होनेपर वह पद भी उठ जाता है। नैमित्तिक देवताओंके उदाहरणके लिये कुछ प्रमाणोंका विचार किया जाता है। प्रथम उदाहरण यह है कि ग्रामदेवता, गृहदेवता, वनदेवता आदिका पद। ग्रामके स्थापन होनेके समयसे लेकर जबतक ग्राम नष्ट न हो जाय तबतक ग्रामदेवताका पद बना रहता है। एक वनस्थलीके स्थापन होनेके समयसे लेकर जबतक उस स्थानमें वनका अधिकार पूर्णरूपसे बना रहता है तबतक वनदेवताका पद बना रहता है और उसके बाद वह पद नष्ट हो जाता है। गृहदेवताको भी ऐसा ही समझना उचित है। एक गृहके प्रस्तुत होनेपर यदि गृहपति उस गृहमें शास्त्रविधिके अनुसार गृहदेवताकी स्थापना करें तो उस गृहदेवताके पीठकी स्थापनाके समयसे लेकर जबतक वह गृह बना रहता है और जबतक गृहस्थकी श्रद्धा पीठपर बनी रहती है, तबतक उस गृहदेवताका पद बना रहता है और तदनन्तर वह पद नष्ट हो जाता है। नैमित्तिक देवताओंके उदाहरणमें और भी प्रमाण दिये जाते हैं। उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज और जरायुज—इन चार प्रकारके भूतों की जो अलग-अलग श्रेणियाँ हैं, यथा—जरायुजमें गो, महिष, अश्व, सिंह, वानरादि, अण्डजमें कपोत, मयूर, सर्प आदि, स्वेदजमें जीवरक्षाके विशेष विशेष कृमि अथा रोगोत्पादक विशेष विशेष कृमि और उद्भिज्जमें अश्वत्थ, वट, बिल्व

आदि, इस प्रकारसे चार प्रकारके जोवोंमें जिस ब्रह्माण्डमें जिस प्रकारकी श्रेणियाँ उत्पन्न होती हैं, अथवा जिस देशमें जिस प्रकारकी श्रेणियाँ उत्पन्न होती हैं उनकी रक्षाके लिये एक एक स्वतन्त्र-स्वतन्त्र देवताका पद दिया जाता है और जबतक वे श्रेणियाँ बनी रहती हैं तबतक वह देवताका पद भी बना रहता है। उसके अन्यथा होनेपर वह पद उठा दिया जाता है। नैमित्तिक देवताके सम्बन्धमें और भी उदाहरण दिया जाता है। स्थावर पदार्थ पर्व्वत, नदी आदि—तथा नाना प्रकारके धातु और उपधातु आदि खनिज पदार्थोंके चालक और रक्षक स्वतन्त्र स्वतन्त्र देवता होते हैं। वे पद भी नैमित्तिक हैं। जिस ब्रह्माण्डमें अथवा जिस देश विदेशमें जबतक ये स्थावर पदार्थ अपनी पूर्ण सत्तामें विद्यमान रहते हैं तबतक वे नमित्तिक देवताओंके पद भी विद्यमान रहते है और उसके अन्यथा होनेपर वे पद उठा दिये जाते हैं। यही सब नैमित्तिक देवताओंके उदाहरण हैं।

नैमित्तिक देवताओंके विषयमें शास्त्रमें भी अनेक प्रमाण मिलते हैं। मत्स्यपुराणमें गृहदेवताओं अर्थात् वास्तुदेवताओंका नामोल्लेख तथा पूजाका वर्णन किया गया है। यथाः—

"सर्व्ववास्तुविभागेषु विज्ञेया नवका नव।
एकाशीतिपदं कृत्वा वास्तुवित् सर्व्ववास्तुषु॥
पदस्थाने पूजयेद्देवाँस्त्रिशत्पञ्चदशैव तु।
द्वात्रिंशद् वाह्यतः पूज्या पूज्याश्चान्तस्त्रयोदश॥
नामतस्तान् प्रवक्ष्यामि स्थानानि च विबोधत।
ईशानकोणादिषु तान् पूजयेद्धविषा नरः॥
शिखी चैवाथ पर्जन्यो जयन्तः कुलिशायुधः।
सूर्यसत्यौ भृशश्चैव आकाशो वायुरेव च॥
पूषा च वितथश्चैव गृहक्षतमयावुभौ।
गन्धर्वो भृङ्गराजश्च मृगः पितृगणस्तथा॥"

इत्यादि इत्यादि। समस्त वास्तुविभागमें दोनों ओर नौके हिसाबसे एकाशीति (८१) वास्तु पद जानना चाहिये। इन पदोंमें स्थित तीस और पंद्रह तथा बहिर्दिशामें बत्तीस और बीचमें तेरह—इस प्रकारसे समस्त वास्तु देवताओंकी पूजा करनी चाहिये। शिखी, पर्जन्य, जयन्त, कुलिशायुध, सूर्य्य, सत्य, भृश, आकाश, वायु, पूषा, वितथ, गृहक्षत, मय, गन्धर्व, भृङ्गराज, मृग, पितृगण इत्यादि वास्तु देवतागण हैं, जिनको पूजा ईशानकोणमें होती है। महाभारतके अनुशासमपर्वमें मतङ्गमुनिका इस प्रकार इतिहास मिलता है कि

मतङ्गमुनि अनेक वर्षों तक कठिन तपस्या करने पर भी ब्राह्मण जन्म नहीं प्राप्त कर सके और पश्चात् इन्द्रके वरसे छन्द नामक नैमित्तिक देवता बन गये यथा :—

"छन्दो देव इति ख्यातः स्त्रीणां पूज्यो भविष्यसि।
कीर्त्तिश्च तेऽतुला वत्स ! त्रिषु लोकेषु यास्यति॥
एवं तस्मै वरं दत्वा वासवोऽन्तरधीयत।
प्राणांस्त्यक्त्वामतंगोऽपि सम्प्राप्तः स्थानमुत्तमम्॥"

इन्द्रदेवने मतङ्गको वर दिया "तुम छन्द नामक देवता बनोगे और स्त्रियाँ तुम्हारी पूजा करेंगी। त्रिलोकमें तुम्हारी अत्यन्त कीर्ति होगी।" इतना कहकर इन्द्रदेव अन्तर्धान हो गये और शरीरत्यागान्तर मतङ्ग छन्द देवता नामक उत्तम नैमित्तिक देवताका स्थान प्राप्त हो गये यही सब देवताओंके विषयमें आर्यशास्त्रीय विवेचन है।

नित्य पितृगण भी एक प्रकारके देवता हैं, उनका वासस्थान पितृलोक है। उनका कार्य्य आधिभौतिक जगत्का संरक्षण, आधिभौतिक जगत्के परमाणुओंका नियोजन और आधिभौतिक जगत्की क्रियाओंका यथावत् परिचालन है। संसारमें ऋतुओंके ठीक ठीक होनेसे ही आधिभौतिक शरीरसम्बन्धीय परमाणु तथा शक्तियोंका सुप्रबन्ध रहता है। अतः ऋतुओं तककी सम्हाल करनेमें पितरोंका अधिकार माना गया है। यथा वेदमें :—

"ॐ सोमसदः पितरस्तृप्यन्ताम्, अग्निष्वात्ताः पितरस्तृप्यन्ताम्, बर्हिषदः पितरस्तृप्यन्ताम्, सोमपाः पितरस्तृप्यन्ताम् हविर्भुजः पितरस्तृप्यन्ताम्, आज्यपाः पितरस्तृप्यन्ताम्" इत्यादि।

"नमो वः पितरो रसाय, नमो वः पितरः शोषाय
नमो वः पितरो ऋतवे, नमो वः पितरो जीवाय
नमो वः पितरः स्वधायै, नमो वः पितरो घोराय॥"

सोमसद नामक नित्य पितृगण तृप्त होवे, अग्निष्वात्ता नामक पितृगण तृप्त होवें, बर्हिषद् नामक पितृगण तृप्त होवें, सोमपा नामक पितृगण तृप्त होवें, हविर्भुक् नामक पितृगण तृप्त होवें, आज्यपा नामक पितृगण तृप्त होवें, इत्यादि। वर्षाधिपति पितरोंको नमस्कार, ग्रीष्माधिपति पितरोंको नमस्कार, ऋतुके अधिपति पितरोंको नमस्कार, इत्यादि।

ऋतुओंमें विपर्य्यय न होने देना अथवा मनुष्योंके कर्मोंके उपयोगी ऋतुओंसे स्वरूपमें विपर्य्यय उत्पन्न करना, संसारमें स्वास्थ्यविधान करना, संसारके स्वास्थ्यमें विपर्य्यय उत्पन्न करना, मनुष्यका स्थूलशरीर मातृगर्भमें उत्पन्न करना, मनुष्यके स्थूलशरीरका स्वास्थ्यविधान

करना, मनुष्यके शरीरके स्वास्थ्यमें विपर्य्यय करना इत्यादि सब कार्य पितृगणकी कृपासे हुआ करते हैं। सुतरां, पितृगण ही जीवके कर्मभोगके उपयोगी उसके उत्कृष्ट अथवा निकृष्ट अधिकारके अनुसार स्थूलशरीर बनानेमें जैसी आवश्यकता हो उत्कृष्ट अथवा निकृष्ट तत्त्वोंको चन्द्रलोक अर्थात् पितृलोकसे पर्जन्यादिके द्वारा सुसज्जित करते हुये यथाक्रम मातृपितृशरीरमें होकर रजोवीर्य्यमें परिणत करते हुये मातृगर्भमें पहुंचा देते हैं। यही पितृगणके द्वारा मनुष्यके स्थूलशरीरकी गतिका वैज्ञानिक रहस्य है। दूसरी ओर जिस प्रकार पितृगण प्रत्येक जीवके कर्म्मानुसार तथा उस जीवके मातापिताके कर्म्मानुसार जैसी ही सन्ततिके उपयोगी स्थूलशरीरका मसाला मातृगर्भमें इकट्ठा करते हैं वैसे ही यथायोग्य आत्मा अपने सूक्ष्मशरीरके सहित अन्य सूक्ष्मलोकोंसे देवताओंको सहायताके द्वारा मातृगर्भमें यथासमय पहुंचाया जाता है। यही जीवके सूक्ष्मशरीरके जन्मान्तर होनेके सम्बन्धका वैज्ञानिक रहस्य है। इन दोनों कार्य्योंमें से एक कार्य्य पितरोंका है दूसरा देवताओंका है।

ऋषि, देवता और पितर—ये तीनों श्रेणियां श्रीभगवान्‌के कार्य्यकर्त्ता प्रतिनिधि देवता ही हैं। भेद इतना ही है कि ऋषियोंमें अध्यात्मशक्तिकी प्रधानता, देवताओंमें अधिदैवशक्तिकी प्रधानता और पितरोंमें अधिभूतशक्तिकी प्रधानता रहती है। नित्य पितरोंके एकत्रिंशत् गण और चार वर्णके विषयमें शास्त्रमें अनेक प्रमाण मिलते हैं। यथा मार्कण्डेय पुराण अ० ९६ में :—

विश्वो विश्वभुगाराध्यो धर्मो धन्यः शुभाननः।
भूतिदो भूतिकृत् भूतिः पितॄणां ये गणा नव॥
कल्याणः कल्याणकर्त्ता कल्यः कल्यतराश्रयः।
कल्यताहेतुरवधः षडिमे ते गणाः स्मृताः॥
वरो वरेण्यो वरदः पुष्टिदस्तुष्टिदस्तथा।
विश्वपाता तथा धाता सप्त वैते तथा गणाः॥
महान् महात्मा महितो महिमावान् महाबलः।
गणाः पञ्च तथैवैते पितॄणां पापनाशनः॥
सुखदो धनदश्चान्यो धर्मदोऽन्यश्च भूतिदः।
पितॄणां कथ्यते चैतत् तथा गणचतुष्टयम्॥

एकत्रिंशत् पितृगणा यैर्व्याप्तमखिलं जगत् ।
ते मेऽनुतृप्तास्तुष्यन्तु यच्छन्तु च सदा हितम् ॥

विश्व, विश्वभुक्, आराध्य, धर्म, धन्न, शुभानन, भूतिद, भूतिकृत् और भूति नामक पितरोंके नवविध गण, कल्याणकर्त्ता कल्य, कल्यतराश्रय, कल्यताहेतु और अवध नामक पितरोंके षड्विध गण, वर; वरेण्य, वरद, पुष्टिद, विश्वपाता और धाता नामक पितरोंके सप्तविध गण, महान्, महात्मा, महित, महिमावान् और महाबल नामक पितरोंके पञ्चविध गण और सुखद, धनद, धर्मद तथा भूतिद नामक पितरोंके चतुर्विध गण यही एकत्रिंशत् पितृगण, जो जगत्में व्याप्त हैं, तृप्त होकर सबका कल्याण करें । पितरोंके चार वर्णके विषयमें महाभारतके आदिपर्वमें लिखा है :—

"सोमपा नाम विप्राणां क्षत्रियाणां हविर्भुजः ।
वैश्यानामाज्यपा नाम शूद्राणान्तु सुकालिनः ॥

सोमपा नामक पितृगण ब्राह्मणजातीय हैं, हविर्भुक् नामक पितृगण क्षत्रियजातीय हैं, आज्यप नामक पितृगण वैश्यजातीय हैं और सुरकालीन नामक पितृगण शूद्रजातीय हैं ।

पितरोंका कार्य जिस प्रकार आधिभौतिक सृष्टिकी रक्षा आदिके सम्बन्धसे माना गया है उसी प्रकार ज्ञानमयी सृष्टिके संरक्षणका पूर्ण भार ऋषियोंपर रक्खा गया है । नित्य पितरों और नित्य देवताओंके सदृश नित्य ऋषियोंका पद भी प्रत्येक ब्रह्माण्डमें नियत ही रहता है । हां, इसमें सन्देह नहीं कि मन्वन्तर और कल्पादिके भेदसे जिस प्रकार अनेक पितर और अनेक देवताके पदधारी व्यक्तिमोंका परिवर्तन होता है, उसी प्रकार ऋषियोंके पदधारी व्यक्तियोंका भी परिवर्तन यथानियम हुआ करता है । कार्य्यशैलीके विचारसे इतना अवश्य जानने योग्य है कि पितरोंके अवतार नहीं होते । जब पितरोंको अपना कोई विशेष कार्य सुसम्पन्न करना होता है, तो मातापिताके शरीरमें आविर्भूत होकर उन्हींको अपना अवतार बनाकर पितृगण अपना विशेष कार्य सुसम्पन्न करते हैं: परन्तु भगवदवतारकी नाई देवताओं और ऋषियोंके सब प्रकारके अवतार हुआ करते हैं । ऋषियोंके विभाग सात प्रकारके हैं । यथा :—महर्षि, परमर्षि, देवर्षि, ब्रह्मर्षि, श्रुतर्षि, राजर्षि और काण्डर्षि । व्यासादि महर्षि हैं, भेलादि परमर्षि है, कण्वादि देवर्षि हैं, वशिष्ठादि ब्रह्मर्षि हैं, सुश्रुतादि श्रुतर्षि हैं, ऋतुपर्णादि राजर्षि हैं और जैमिनि आदि काण्डर्षि हैं । प्रत्येक मन्वन्तरमें पृथक् पृथक् सप्तर्षि होते हैं । यथा :—स्वायम्भुव मन्वन्तरमें मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वशिष्ठ । स्वारोचिष मन्वन्तरमें ऊर्ज, स्तम्भ, प्राण, दत्तोलि, ऋषभ, निश्चर और चार्वबीर । उत्तम मन्वन्तरमें—

प्रमदादि सप्त वशिष्ठके पुत्रगण। तामस मन्वन्तरमें—ज्योतिर्धामा, पृथु, काव्य, चैत्र, अग्नि, बलक और पीरव। रैवत मन्वन्तरमें—हिरण्यरोमा, वेदश्री, ऊर्द्ध्वबाहु, वेदबाहु, सुधामा, पर्जन्य और वशिष्ठ। चाक्षुष मन्वन्तरमें—सुमेधा विरजा, हविष्मान्, उन्नत, मधु, अतिनामा और सहिष्णु, इत्यादि ये सब नित्य ऋषिगण हैं। वेदोंके मन्त्रद्रष्टा इस संसारके नैमित्तिक ऋषिगण इन्हीं ऋषियोंके अवतार रूपसे समझे जा सकते हैं। यथा निरुक्तके दैवतकाण्डमें —'एवमुच्चावचैरभिप्रायैः ऋषीणां मन्त्रदृष्टयो भवन्ति' अर्थात् उन्नत अवनत अधिकारमें ऋषियोंकी मन्त्रदृष्टि होती है। इसी दृष्टिसे युग युगमें वेद प्रकट होता है। अतः इस प्रकार कर्म तथा ज्ञानके सञ्चालक नित्यनैमित्तिक ऋषि, देव, पितरोंकी उपासना करना उन्नति चाहनेवाले मनुष्योंका अवश्य कर्त्तव्य है।

इसके अनन्तर उन्नतिके और भी उच्च स्वरमें यह चिन्ता स्वयं ही आने लगतो है कि विश्वका सञ्चालन अलग अलग प्राकृतिक जड़ वस्तु पर अधिष्ठान करनेवाले अलग अलग दैवी विभूतियोंके ही अधीन है, अथवा समस्त विश्वके मूलमें कोई अद्वितीय चेतन सत्ता है जिसकी ही थोड़ो थोड़ो शक्तिको लेकर इस प्रकार देवता, ऋषि और पितृगण कार्य किया करते हैं। और यदि कोई इस प्रकार अद्वितीय विश्वव्यापी चेतनसत्ता है तो उसका अनुभव हो सकता है कि नहीं। हर्बर्ट स्पेन्सरप्रमुख पश्चिमीय पण्डितोंने इस प्रश्नके उत्तर देनेमें असमर्थ होकर यही कह दिया कि it is beyond the range of comprehesion अर्थात् सर्वव्यापक कोई चेतन शक्ति अवश्य है, किन्तु उनको जानना असम्भव है। आनन्दकी बात यह है कि where their philosophy ends-ours begsns अर्थात् जहाँ उस देशके दार्शनिकगण असमर्थ होकर परमात्मा अनुभवसे परे हैं, ऐसा कहकर छोड़ देते हैं वहींसे हमारे देशके पूज्य महर्षियोंकी विचारधारा प्रारम्भ होती है और शतमुखी गंगाकी तरह वह धारा प्रचण्ड गम्भोर वेगसे बहकर अन्तमें सच्चिदानन्द समुद्रमें ही जा मिलती है। सप्त ज्ञानभूमि और सप्त अज्ञानभूमिका रहस्य जो हमारे शास्त्रोंमें है उसके पाठ करनेसे यही प्रतीत होगा कि अज्ञानभूमिसे परे जब ज्ञानभूमिका अनुशोलन प्रारम्भ होता है वहींसे सप्तवैदिक दर्शनोंका विचार प्रारम्भ होता है। उस अचिन्तनीय चेतन सत्ताका अनुभव क्रमशः हमारे सातों दर्शनशास्त्र कराते हुये अन्तमें सप्तम ज्ञान भूमिमें उनका स्वानुभव प्राप्त करा देते है। यह पूर्णता और कहींके दर्शनशास्त्रोंमें नहीं है। उन्नतिके उच्च स्तरमें पहुंचकर ज्ञानपिपासु जीवको यह पता लग जाता है कि कोई अद्वितीय चेतनसत्ता अनन्तकोटि ब्रह्माण्डमें सर्वत्र व्याप्त है, देवता ऋषि आदिको शक्ति उसीको शक्ति है और वह तीन प्रकारसे साधकोंकी दृष्टि या अनुभवके मार्गमें आ सकतो है। एक माया पर अधिष्ठान करके स्थूल रूप धारण द्वारा यथा श्रीगीतामें —

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥

जन्मरहित, अव्यय तथा जीवोंका अधीश्वर होने पर भी प्रकृतिको अपने वशमें करके मायाके आश्रयसे परमात्मा शरीरधारी बनते हैं। सज्जनोंकी रक्षा और दुर्जनोंके नाशके लिये और युगानुसार धर्मधाराको व्यवस्थित करनेके लिये इस प्रकारसे प्रति युगमें उनका अवतार होता है। और भो श्रीमद्भागवतमें--

कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानं चाखिलात्मनाम् ।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया ॥

कृष्ण भगवान् सकल जीवोंके भीतर व्याप्त परमात्मा हैं, जगत्के कल्याणके लिये मायाका आवरण ऊपर डालकर शरीरधारीकी तरह दीखते हैं। उनका दूसरा रूप सगुण ब्रह्म ईश्वरका है जो तत्त्वभेदानुसार विष्णु, शिव, शक्ति, सूर्य और गणपति इन पाँच मूर्त्तियोंमें प्रकट होता है और उनका तीसरा रूप निर्गुण, निराकार अव्यक्त अचिन्त्य परब्रह्म है जो कि योगियोंको निर्विकल्प समाधि दशामें अनुभवमें आता है। अवतारके भावको लेकर बौद्धधर्मवालोंने उपासनाका मार्ग निकाला है और जैनधर्मवालोंने भी तीर्थङ्कर आदि विभूतियोंकी और उनके आदिपुरुष ऋषभदेवकी पूजाकी प्रतिष्ठा की है। अन्य धर्ममतोंमें कहीं पर परमात्माके पुत्र और कहीं पर परमात्माके दूत रूपसे इसी भावका ही इङ्गित किया गया है। और सगुण ब्रह्म तथा निर्गुण ब्रह्मका यथार्थ तत्त्व आर्यशास्त्रमें ही पूर्ण रूपसे वर्णित तथा योगबलसे अनुभवगम्य सिद्ध किया गया है। इस प्रकारसे उपासनाके क्रमोन्नत सप्त अधिकारोंमें परमात्मासे शक्तिलाभ करनेकी, ज्ञानलाभ करनेकी और शाश्वत सुखलाभ करनेकी विधियां वर्णित की गई हैं और इन्हीं विधियोंके भीतर जैसा कि ऊपर बताया गया है, संसारके समस्त सम्प्रदाय, समस्त पन्थ और समस्त मजहब या धर्ममत समाविष्ट किये जा सकते हैं। अवतारके रहस्यके विषयमें आगेके प्रकरणमें विस्तृत वर्णन किया जायगा।

पहिले ही कहा गया है कि अभावकी पूर्तिके लिये मनुष्योंकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। हमलोग अपने ही दोषसे नित्य नवीन अभावोंकी सृष्टि करते है। योगशास्त्रमें लिखा है—

देहाद् बहिर्गतो वायुः स्वभावाद् द्वादशांगुलिः ।
गायने षोड़शांगुल्यो भोजने विंशतिस्तथा ॥

चतुर्विशांगुलिः पान्थे निद्रायां त्रिंशदंगुलिः ।
मैथुने षट्त्रिंशदुक्तं व्यायामे च ततोधिकम् ॥
आयुक्षयोऽधिके प्रोक्तो मारुते चान्तराद्गते ।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन प्राणायामं समाचरेत् ॥

मनुष्योंका स्वाभाविक श्वास १२ अंगुल है। जिसके हिसाबसे दिनरात भरमें २१६०० बार श्वास चलता है। श्वासके साथ प्राणका सम्बन्ध रहनेसे श्वासका परिमाण जितना घटता है आयु उतनी बढ़ती है और श्वासका परिमाण जितना अधिक होता है आयु उतनी घटती है। प्राणायामादि द्वारा कुम्भक अभ्यास करनेसे श्वास घटता है, १२ अंगुलसे ११, १०,९, ८, इत्यादि हो जाता है, जिससे योगीको आयु तथा शक्ति बढ़ती है। किन्तु शरीरमें किसी प्रकारका वेग उत्पन्न होते ही श्वासका परिमाण बढ़ जाता है। इसी कारण काम, क्रोध, लोभ, मोहादि वृत्तियोंके वशीभूत स्त्री पुरुष रोगी तथा अल्पायु होते हैं। हम लोग वृत्तियोंके वशमें होकर रातदिन इस तरह आयु तथा शक्तिको खोते हैं, किन्तु इसकी पुष्टि तथा पुनः प्राप्तिका भी क्या कोई उपाय है ? इसी उपायके खोजमें ही सगुण ब्रह्मोपासनाका रहस्य है।

केनोपनिषद्में एक मन्त्र आता है, यथा :—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति नो चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः ।
भूतेष भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥

मनुष्यजन्म पाकर यदि परमात्माकी उपलब्धि हुई तभी जन्म सार्थक हुआ, नहीं तो सभी कुछ नष्ट हुआ जानना चाहिये, इसलिये धीर पुरुषगण साधना द्वारा सकल भूतोंमें ब्रह्मका अनुभव करके अमृतत्व लाभ करते हैं। श्रीभगवान् शङ्कराचार्यने भी कहा है—

लब्ध्वा कथञ्चिन्नरजन्म दुर्लभं
तत्रापि पुंस्त्वं श्रुतिपारदर्शनम् ।
यः स्वात्ममुक्त्यै न यतेत मूढधीः
स आत्महा स्वं विनिहन्त्यसद्ग्रहात् ॥

नीचेकी अनेक योनियोंमें घूमनेके बाद दुर्लभ मनुष्य जन्म हुआ, पुरुषयोनिमें भी जन्म मिला, शास्त्रमें भी प्रवेशलाभ हुआ, फिर भी जो मन्दमति जीव मोक्षलाभके लिये, परमात्माके साक्षात्कारके लिये यत्न नहीं करता है, वह निश्चय ही आत्मघाती है। इसी आत्महत्यारूपी महापापसे जीवको बचाकर परमानन्दमय अमृतपदका आस्वादन करानेके लिये सगुणब्रह्मो-

पासनाके अन्तर्गत मूर्तिपूजा ही प्रथम सोपानरूप है। अज्ञानीजीवको ज्ञानकी पिपासा स्वाभाविक है, दुर्बल जीवको बलीयान् बननेकी लालसा स्वाभाविक है, दुःखी जीवको सुखकी लालसा स्वाभाविक है, अल्पायु जीवको चिरायुः बननेकी इच्छा स्वाभाविक है। अतः जिस प्रकार अग्निके समीप जानेसे शरीरमें स्वभावतः ही उत्तापका सञ्चार होता है, उसी प्रकार ज्ञानरूप, आनन्दरूप, सर्वशक्तिमान्, चिर अमर परमात्माके समीपस्थ होकर ज्ञान-सुख शक्ति-शान्ति तथा चिर अमरता लाभ करके मनुष्यजन्मको सार्थक करनेके लिये ही मूर्तिपूजाका विधान किया गया है। इसी सत्यको प्रमाणित करनेके लिये विसचफ साहब लिखते हैं, यथा -

Man is the greater radio and is able to connect himself with the Higher Foree. When the is once rightly demodstrated and understood, it will turn him from slave to Master. Then man comes to himself and comperehends the fact that he is the Son of Man and knows that in himself lies all foree. He is a Mastee Foree and all the elements will hear his voice. (Fred. F. Bischoff--Kalpaka 1-1938

मनुष्यके भीतर यह योग्यता है कि सर्वशक्तिमान् परमात्माके साथ अपने आत्माका सम्बन्ध जोड़ ले। इस तत्त्वके ठीक समझने और कर लेने पर मनुष्य देवता बन सकता है। उस समय मनुष्यको यह अनुभवमें आ जाता है कि वह दिव्यशक्तिका केन्द्र बन गया है, वह स्वयं महान् शक्तिमान् है और तभी प्राकृतिक समस्त पदार्थ उसकी आज्ञासे कार्य करेंगे।

श्रीभगवान् मनुने कहा है—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि सम्प्रवर्द्धन्त आयुर्विद्यायशोबलम् ॥ (मनु० द्वि० अ० १२१)

वृद्धों तथा पूज्योंके चरणस्पर्श तथा नित्य प्रणाम सेवा करनेवालोंमें उनकी चार शक्ति-आयु-विद्या-यश-बल प्रवेश करती है। जब लौकिक गुरुओंकी पूजा करनेसे आयु, ज्ञान, यश, बल मिलते हैं तो जगद्गुरु परमात्माकी पूजा करनेसे ये शक्तियाँ अवश्य ही प्राप्त होंगी और भक्त भगवान्‌की पूजा करके आनन्दमय मोक्षलाभ अनायास ही कर सकेंगे इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है।

किन्तु परमात्मा दीखते नहं, बहुत दूर हैं, प्रकृतिसे परे हैं, उनके पास एकाएक कैसे जाया जाय, उपासना किस तरह की जाय, ऐसे प्रश्नोंके उत्तरमें ही श्री भगवान्ने अर्जुनको गीताके द्वादशाध्यायमें साकार निराकार उपासनाका रहस्य बताया था, यथा—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे भक्ततमा मताः॥
ये त्वक्षरमनिदश्यमव्यक्तं पर्य्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यञ्च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥
क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥

जो लोग मेरी साकार मूर्तिमें मन बाँधकर एकान्तरति हो प्रेम भक्तिके साथ पूजा करते हैं वे श्रेष्ठ भक्त हैं मन, बचन, बुद्धि तथा प्रकृतिसे परे, सर्वव्यापी, अक्षर, निर्गुण, निराकार परमात्माकी जो उपासना करता है, वह तभी उनको पा सकता है, जब कि उसकी समस्त इन्द्रियाँ पूरे वशमें आ जायं, सर्वत्र समबुद्धि प्राप्त हो और सकल जीवोंके हितमें चित्त मग्न हो जाय। इतना होने पर भी निराकार ब्रह्मकी प्राप्ति बहुत ही क्लेशसे होती है। क्योंकि 'मेरा शरीर, मेरी इन्द्रियाँ' इस प्रकार देहके प्रति अभिमानसे युक्त जीव निराकार ब्रह्मकी प्राप्ति बहुत ही दुःखसे कर सकता है। श्रीभगवान्‌के इन बचनोंसे निश्चय होता है कि जबतक इन्द्रियाँ पूरी वशमें न आ जायं और देहाभिमान नष्ट होकर पूर्ण वैराग्यकी प्राप्ति न हो जाय, तबतक निराकारकी उपासना असम्भव है। इसी कारण मध्यम अधिकारीकी सुविधाके लिये महर्षियोंने साकार मूर्त्ति पूजा बताई है। जिस प्रकार यदि कोई मनुष्य सूर्यका अधिक उत्ताप लेना चाहे तो उसके लिये कर्त्तव्य होगा कि दोनों हाथोंमें पंख बांधकर सूर्यके समीप उड़कर जानेकी कोशिश करे और यदि इतनी सामर्थ्य न हो तो सीधा उपाय यह है कि एक आतशी सोसा (medium) लेकर सूर्यके सामने धरे और जहाँ उसका उत्ताप केन्द्रीभूत (fcus) हो वहाँसे उत्तापको लेवे, ठोक उसी प्रकार जिस साधक में ज्ञान और वैराग्यका पंख जम गया है वही सीधा निराकारके पास उड़कर जा सकता है। नहीं तो मूर्तिरूपी केन्द्र या आश्रय medium) के द्वारा ही परमात्माकी शक्तिको प्रकट करके उपासना करना ही युक्तियुक्त होगा। यही मध्यम अधिकारीके लिये मूर्त्तिपूजा बतानेका हेतु है।

मूर्त्ति तो पत्थर, लकड़ी, लोहे आदिकी होती है। उसकी पूजासे भगवान्‌की पूजा कैसे होगी ? यह प्रश्न हो सकता है। इसका उत्तर यह है कि मूर्त्ति 'की' पूजा नहीं करते

हैं किन्तु मूर्त्ति 'में' पूजा करते हैं। हम प्रतिमाके मसाले पत्थर, लकड़ी आदिकी पूजा या स्तुति नहीं करते हैं, किन्तु इन मसालोंसे प्रतिमा बनाकर उसमें परमात्माकी शक्तिको प्रकट कर उस दिव्य शक्तिकी पूजा स्तुति करते हैं। श्रीमद्भागवतमें आठ प्रकारकी प्रतिमा बताई गई है, यथाः—

शैली दारुमयी लौही लेप्या लेख्या च सैकती।
मनोमयी मणिमयी प्रतिमाष्टविधा स्मृता ॥

पत्थरकी प्रतिमा, काष्ठनिर्मित प्रतिमा, लोहे की प्रतिमा, लेपन द्वारा बनाई हुई प्रतिमा, चित्रांकित प्रतिमा, बालूकी प्रतिमा, मानसी प्रतिमा और मणिकी प्रतिमा— ये आठ प्रकारकी प्रतिमायें हैं। इसमें वैदिक प्राणप्रतिष्ठाकी प्रक्रियासे परमात्माकी शक्ति आकर्षित की जाती है। कापिल तन्त्रमें लिखा है :—

गवां सर्वाङ्गजं क्षीरं स्रवेत् स्तनमुखाद् यथा।
तथा सर्वागतो देवः प्रतिमादिषु राजते ॥

जिस प्रकार गऊ माताके समस्त शरीरमें उत्पन्न हुआ दूध स्तनके द्वारा निकलता है, उसी प्रकार परमात्माकी सर्वव्यापक शक्ति प्रतिमामें अधिष्ठानकरती है। यह शक्ति आती किस विधिसे है इस विषयमें लिखा है :—

आभिरूप्याच्च विम्बस्य पूजायाश्च विशेषतः।
साधकस्य च विश्वासाद् देवतासन्निधिर्भवेत् ॥

प्रतिमाके ध्यानानुसार सुन्दर तथा ठीक ठीक बननेसे, प्राणप्रतिष्ठा और पूजा विशेष-रूपसे होनेसे तथा भक्तोंमें श्रद्धा विश्वास पूरा पूरा होनेसे प्रतिमामें दिव्यशक्ति आ जाती है। प्रह्लादमें विश्वास और भक्ति की शक्ति थी इसीसे उन्होंने भगवान्‌की दिव्य शक्तिको नृसिंहरूपसे स्तम्भके द्वारा प्रकट करा दिया था। भगीरथमें तपस्याकी शक्ति थी, तभी उन्होंने स्वर्गसे गङ्गादेवीकी दिव्य शक्तिको मृत्युलोकमें आकर्षण किया था। इसी प्रकार पूजाकी शक्ति, भक्तोंकी विश्वास-भक्तिरूपी विषम (negative) शक्त भगवान्‌की सम (positive) शक्तिको प्रतिमारूपी आधार medium) द्वाराआकर्षण करती है। Negative Positve का इस प्रकार परस्पर आकर्षण सायन्समें प्रसिद्ध है। इस प्रकार ठीक ठीक आकर्षण होने पर प्रतिमा चमकने लगती है और अनेक चमत्कार भी देखनेमें आते हैं, यथा-सामवेदके ३६वें ब्राह्मणमें लिखा है :—

देवतायतनानि कम्पन्ते दैवतप्रतिमा हसन्ति रुदन्ति नृत्यन्ति स्फुटन्ति स्विद्यन्त्यु-मीलन्ति निमीलन्ति।

देवताओंके स्थान काँपते हैं, देव प्रतिमा हसती है,रोती है, नाचती है, किसी अङ्गमें स्फुटित हो जाती है, पसीजती है, नेत्र खोलती है, बन्द करती है। और भी अथर्व-वेदमें— (२-१३-४)

एहि अश्मानमातिष्ठ अश्मा भवतु ते तनु।

हे भगवन् ! आओ इस पाषाणनिर्मित प्रतिमामें अधिष्ठान करो, तुम्हारा शरीर यह पाषाणमयी प्रतिमा हो जाय।

इन सब प्रमाण तथा विचारोंसे सिद्ध हुआ कि हम लोग मूर्तिकी पूजा नहीं करते हैं, हम 'बुतपरस्त' नहीं हैं, किन्तु मूर्तिमें भगवान्‌की दिव्य शक्तिको प्राण प्रतिष्ठा द्वारा आकर्षित करके उस शक्तिकी पूजा करते हैं और इस प्रकार मूर्त्ति रूपी आधारके द्वारा परमात्माके समीप पहुंचने पर हमें आयु, ज्ञान, विद्या, शक्ति तथा आनन्द प्राप्त होता है और अन्तमें मोक्ष मिलता है।

प्राणप्रतिष्ठाके प्रमाण में 'आभिरूप्याच्च विम्बस्य' यह जो शब्द कहा गया है इसका भावार्थ विचार करने योग्य है। इसका भावार्थ यह है कि प्रतिमा यदि सुन्दर तथा ध्यानके अनुसार हो तभी उसमें प्राणप्रतिष्ठा द्वारा भगवान्‌की शक्ति आती है। विष्णु, शिव, दुर्गा, गणेश आदिके जो कुछ ध्यान शास्त्रमें मिलते हैं वे किसीकी कपोलकल्पना नहीं हैं, किन्तु प्रकृतिके साथ उन देवताओंका जिस प्रकार सम्बन्ध है उसीके अनुसार ही उनके ध्यानानुकूल मूर्त्तियाँ बनाई जाती हैं। दृष्टान्तरूपसे समझ सकते हैं कि ब्रह्मा, विष्णु और रुद्रकी जो मूर्त्तियाँ बनाई जाती हैं वे उनके सृष्टि स्थिति प्रयल कार्यके अनुसार ही हैं। ईश्वर प्रकृतिके रजो-गुणके साथ मिलकर ब्रह्मारूपसे संसारकी सृष्टि करते हैं, सत्त्वगुणके साथ मिलकर विष्णु रूपसे संसारकी स्थिति करते हैं और तमोगुणके साथ मिलकर रुद्ररूपसे संसार का प्रलय करते हैं। इन्हीं क्रियाओंके अनुसार ही ब्रह्मा-विष्णु-महेशकी मूर्त्तियाँ बनी हुई हैं। सृष्टि रजोगुणसे होतो है, रजोगुणका रंग लाल है इसलिये ब्रह्माजीका रङ्ग भी लाल है। सृष्टि अन्तःकरणकी शक्तिसे होतो है, अन्तःकरणके मन बुद्धि चित्त अहङ्कार ये चार अङ्ग हैं, इसो लिये ब्रह्माजोके भी चार मुख हैं। बिना ज्ञानकी सहायताके कम ठीक ठीक नहीं हो सकता है, कर्ममें गलती हो सकती है, इस कारण ज्ञानशक्तिरूपिणी सरस्वतीको हृदयमें धारण करके तथा ज्ञानके सूचक वाहनरूपी हंसकी सहायतासे ब्रह्माजोने सृष्टि को। यही हंसवाहन तथा सरस्वती देवीके साथ उनके सम्बन्ध बतानेका हेतु है। सृष्टिकार्यमें नाभि

मुख्य स्थान है, नाभिके बलसे ही सृष्टि होती है इसलिये परमात्माकी नाभिसे सृष्टिकर्त्ता ब्रह्माकी उत्पत्ति बताई गई है। इस प्रकारसे ब्रह्माजीकी मूर्त्ति उनकी क्रियाके अनुसार बनाई जाती है। विष्णु स्थितिके देवता और रुद्र लयके देवता हैं। स्थिति विश्वकी यौवन दशा और लय वृद्ध दशा है। इस कारण विष्णु मूर्त्ति यौवनमयी तथा महेशमूर्त्ति वृद्ध बनाई जाती है जो समस्त संसारको नष्ट करके श्मशान बनाते हैं उनका निवास घरमें न होकर श्मशानमें ही होना चाहिये, इस कारण शिव श्मशानवासी हैं। जीव तथा संसार प्रलयमें जलकर भस्म हो जाता है। इस कारण शिवजीके बदनमें भस्म लिपा हुआ है। शिव नाश-कर्त्ता हैं इस कारण नाशकारी कालसर्प उनका भूषण है। चाहे कोई कितना ही बलवान् हो काल सभीका वध करता है, इस कारण सबसे बलवान् जन्तु शेरकी भी खाल खींचकर शिव जी पहने हुये हैं। अन्य पक्षमें स्थितिके देवता विष्णु पर्यङ्कपर लेटे हुये हैं, लक्ष्मी उनकी पदसेवा कर रही हैं, उनके सारे शरीरमें रत्नमय अलङ्कार हैं, वे सब स्थिति दशाको शोभाके ही सूचक हैं। उनके चार हाथमें धर्म-अर्थ काम-मोक्ष प्रदानके लिये चक्र, गदा, पद्म और शंख हैं। चक्रयुक्त हाथ धर्मका, गदायुक्त हाथ अर्थका, पद्मयुक्त हाथ कामका और शंखयुक्त हाथ मोक्षका सूचक है। उनके गलेमें माला इस लिये है कि—

> मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति धनञ्जय !
> मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ (गीता)

जिस प्रकार एक ही सूत्रमें मालाके सब दाने रहते हैं, उसी प्रकार अद्वितीय भगवान् विष्णु सूत्ररूपसे सर्वत्र व्याप्त हैं और प्राकृतिक जीव उन्हींके ऊपर गूंथे हुए हैं। यही सब ध्यानानुसार विष्णुमूर्त्ति और शिवमूर्त्तिका तात्पर्य है। इसी प्रकार दुर्गामूर्त्तिमें भी अपूर्व भाव भरा हुआ है। दुर्गा परमात्माकी शक्ति है। परमात्मा सर्वव्यापक है इस कारण उनकी महाशक्ति भी दशोदिशामें व्याप्त है। इसीको सूचित करनेके लिये देवीके दस हाथ हैं। शक्ति धन, बल, विद्या और बुद्धि इन चार वस्तुओंके बिना पूर्ण नहीं होती है. इस कारण महाशक्तिके एक ओर धनकी देवी लक्ष्मी और बलके देवता कार्तिकेय और दूसरी ओर विद्याकी देवी सरस्वती तथा बुद्धिके देवता गणपति स्थित हैं। इस प्रकार पूर्णशक्तिसे सम्पन्न होकर ही देवी महिषासुरको मार रही हैं। महिषासुर तमोगुणका रूप है, तमोगुण रजोगुणके द्वारा ही दबाया जाता है। इस प्रकार रजोगुणरूपी सिंहके द्वारा महिषासुरको दबाकर सत्त्वगुणमयी देवी उसे मार रही है। यही देवी मूर्त्तिका भाव है। गणेश बुद्धिके अधिष्ठाता हैं इस कारण गजेन्द्रवदन हैं। क्योंकि पशुओंमें हाथी ही सबसे बुद्धिमान् होता है और उसी पशुराज्यके साथ गणेशका अधिदैव सम्बन्ध है। गणेश सुबुद्धिके देवता

है, चूहा कुतर्कका रूप हैं। क्योंकि जिस प्रकार विषयकी मर्यादा न समझकर केवल उसे काट देना ही कुतर्कका लक्षण है, ठीक उसी प्रकार चूहा भी अच्छे अच्छे वस्त्रोंको काट देता है, सुबुद्धि इस कुतर्कको दबा रखती है, इस कारण सुबुद्धिके अधिष्ठाता गणेशने कुतर्करूपी चूहेको वाहनरूपसे दबा रक्खा है। सुबुद्धि जितनी बढ़ती है, कुतर्क उतना ही घटता है। यही कारण है कि गणेशजी इतने मोटे और चूहा इतना छोटा है।

महादेवकी पञ्चमुख मूर्तिके अतिरिक्त शिवलिंगकी जो उपासना बहुतायतसे की जाती है इसका रहस्य समझने योग्य है। बहुतसे अज्ञानी जन इस रहस्यको न समझकर सनातनधर्मियोंको 'लिंगपूजा' का कलंक लगाते हैं। अतः योगशास्त्रके सिद्धान्तानुसार इसकी व्याख्या की जाती है। पृथ्वी, जल, अग्नि आदि पाँच तत्त्वोंमेंसे पृथिवी तत्त्वके साथ शिवभगवान्‌का अधिदैव सम्बन्ध है। इसी कारण पृथिवीके सार हिमालयके अन्तर्गत कैलाशमें शिवका स्थान और हिमालयदुहिता सतीको उनकी शक्ति रूपसे शास्त्रमें बताया गया है। जिस प्रकार समष्टि जगत्‌में ऐसे ही मनुष्यदेहमें भी पृथिवीतत्त्वका तथा शिवशक्तिका स्थान लययोगशास्त्रमें वर्णित है। यथा—

अथाधारपद्मं सुषुम्नास्यलग्नं
ध्वजाधो गुदोर्ध्वं चतुः शोणपत्रम्।
अधोवक्त्रमुद्यत्सुवर्णाभवर्णै-
र्वकारादिसान्तैर्युतं वेदवर्णैः॥
अमुष्मिन् धरायाश्चतुष्कोणचक्रं
समुद्भासि शूलाष्टकैरावृतं तत्।
लसत् पीतवर्णं तड़ित्कोमलाङ्गं
तदङ्के समास्ते धरायाः स्वबीजम्॥

वज्राख्या वक्त्रदेशे विलसति सततं कर्णिकामन्यसंस्थं,
कोणं तत् त्रैपुराख्यं तडिदिव विलसत्कोमलं कामरूपम्।
कन्दर्पो नाम वायुर्निवसति सततं तस्य मध्ये समन्तात्,
जीवेशो बन्धुजीवप्रकरमभिहसन् कोटिसूर्यप्रकाशः॥
तन्मध्ये लिङ्गरूपी द्रुतकनककलाकोमलः पश्चिमास्यो,
ज्ञानध्यानप्रकाशः प्रथमकिसलयाकाररूपः स्वयम्भूः॥

विद्युत्पूर्णेन्दुबिम्बप्रकरकरचयस्निग्धसन्तानहासी—
काशीवासी विलासी विलसति सरिदावर्त्तं रूपप्रकारः ।
तस्योद्‌र्ध्वे बिसतन्तुसोदरलसत्सूक्ष्मा जगन्मोहिनी,
ब्रह्मद्वारमुखं मुखेन मधुरं संछादयन्ती स्वयम् ।
शङ्खावर्त्तनिभा नवीनचपलामालाविलासास्पदा,
सुप्ता सर्पसमा शिवोपरि लसत्सार्द्धत्रिवृत्ताकृतिः ॥

अर्थात् मूलाधार पद्म गुदाके ऊपर लिंगमूलके नीचे सुषुम्नाके मुखमें संलग्न है। इसमें रक्तवर्ण चतुर्दल है और इस पद्मको कर्णिका अधोमुख है। उज्वल सुवर्णकी तरह इन दलोंकी दीप्ति है और व, श, ष, स, ये चार वर्ण इनमें रहते है। इस पद्मकी कर्णिकामें चतुष्कोणरूप पृथिवी मण्डल है जो पीतवर्ण, उज्ज्वल, कोमल तथा अष्टशूलके द्वारा आवृत है। उस मण्डलके बीचमें पृथिवी वीज 'लं' है। आधार पद्मकी कर्णिकाओंके गह्वरमें वज्रा नाड़ीके मुखमें त्रिपुरसुन्दरीके अधिष्ठानरूपी एक त्रिकोण शक्तिपोठ विद्यमान् है जो कामरूप, कोमल और विद्युत्के समान तेजःपुञ्ज हैं। इस त्रिकोणके मध्यमें उसे व्याप्त करके कन्दर्प नामक वायु रहता है जो जोवका धारण करनेवाला, बन्धुजीवपुष्पसे भी अधिक रक्तवर्ण और कोटि सूर्यको तरह प्रकाशमान है। उसके बीचमें अर्थात् कन्दर्प वायुपूर्ण कामरूपी त्रिकोणके मध्यमें स्त्रयम्भू लिंग विद्यमान है जो पश्चिममुख, तप्त-काञ्चनतुल्य कोमल, ज्ञानध्यानप्रकाशक, कोमलकिसलयाकार, ज्योतिर्मय, जलावर्त्ततुल्य गोलाकार काशी विश्वनाथके रूप है। स्वयम्भूलिङ्गके ऊपर मृणालतन्तुतुल्या सूक्ष्मा, शंखवेष्टनयुक्ता सार्द्धत्रिवलयाकारा, सर्पतुल्यकुण्डलाकृति, विद्युत्प्रकाशमयी कुलकुण्डलिनी अपने मुखसे स्वयम्भूलिङ्गमुखको आवृत करके निद्रिता रहती है। लययोगके साधकको कुण्डलिनी जागरणके बाद जब मूलाधार पद्म दीखता हे तो यह पृथिवी तत्त्व, उसके भीतरका त्रिकोण पीठ और उस पीठ परका स्वयम्भू लिङ्ग तथा साढ़े तीन चक्करवाली कुलकुण्डलिनी—सब कुछ दोख जाते है। यही योगशास्त्रीय शिवलिंग है और इसकी पूजा की जाती है। अतः पञ्चानन शिव और स्वयम्भू लिंग एक ही वस्तु है और दोनोंकी पूजासे एक ही फल होता है। यथा स्कन्दपुराणमें :—

आकाशं लिङ्गमित्याहुः पृथिवी तस्य पीठिका।
आलयः सर्वदेवानां लयनाल्लिङ्गमुच्यते ॥

ब्रह्मादिस्थावरं यत् सर्वं लिङ्गे प्रतिष्ठितम्।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन स्थापयेल्लिङ्गमैश्वरम् ॥

और भी लिङ्गपुराणमें—

लिङ्गवेदी महादेवी लिंगं साक्षान्महेश्वरः।
तयोः संपूजनान्नित्यं देवी देवश्च पूजितौ ॥
लयनाल्लिङ्गमित्युक्तं तत्रैव निखिलं सुराः ॥

आकाशरूप ब्रह्म लिङ्ग है और पृथ्वीरूपिणी जगदम्बा उसकी पीठिका है। समस्त देवताओंका निवासस्थान तथा समस्त जीवभावका लय कारण होनेसे उसका नाम लिङ्ग है। ब्रह्मासे चराचर तक सभी सृष्टि लिङ्गमें प्रतिष्ठित है, अतः सकल प्रयत्नसे शिव-लिङ्गकी स्थापना करनी चाहिये। लिङ्गकी वेदी जगदम्बा और लिङ्ग साक्षात् महेश्वर है, इनके पूजनसे प्रकृति और परमात्माकी पूजा होती है। सकल भूतोंका लयस्थान होनेसे इसका नाम लिङ्ग है। इन सब प्रमाण तथा विचारोंसे शिवलिङ्ग पूजाका रहस्य उपासकोंको अवश्य ही मालूम हो जायगा।

भगवान् ब्रह्मा, भगवान् विष्णु और भगवान् रुद्र तथा भगवती दुर्गा तथा शिव-लिंगके विज्ञान तथा भगवान् गणपतिके रूपका विज्ञान जो ऊपर आया है उससे यही प्रतीत होगा कि मूर्तिपूजाके प्रत्येक ध्यान कपोल कल्पित नहीं हैं सब सत्यमूलक हैं! इसी प्रकार भगवान् सूर्यदेवके सप्त अश्व ज्योतिके सप्तविभागरूपी सप्तरंगके परिचायक हैं। शिव उपा-सनामें जिस प्रकार शिव लिंगका तात्पर्य अनादि अनन्त सर्व व्यापक परमात्माके चिन्मय लिंगसे तात्पर्य रक्खा गया है उसी प्रकार सूर्योपासनामें उस चिन्मय तथा मन बुद्धिसे अगोचर चिन्मयज्योतिका ही जीव बुद्धिगम्य और मन द्वारा ग्रहणीय स्थूल तेजकी उपा-सनाका सम्बन्ध बाँधा गया है। शिवोपासना सत्भावमूलक, विष्णु उपासना चित्भावमूलक, देवी उपासना शक्तिभावमूलक, गणपति उपासना बुद्धितत्त्वमूलक और सूर्य उपासना तेजतत्त्वमूलक हैं। इनही पाँचोके अवलम्बनसे उपासक, जिसकी रुचि हो उसी भावको सामने रखकर अपनो चित्तवृत्तिका निरोध करता हुआ परमात्माका सांनिध्य प्राप्त कर सकता है। और सिद्ध अवस्थामें चित्तवृत्तिको एकबार ही निरुद्ध करके मन और बुद्धिसे अतीत परमात्माका स्वानुभव प्राप्त करता है। यही सगुण पञ्चोपासनाका मौलिक विज्ञान है। जिसका रहस्य वैदिक मतावलम्बी आर्य्योंके सिवाय और किसीको विदित नहीं है। भावतत्त्व अन्तिम तत्त्व है। और नामका रूपसे घनिष्ट सम्बन्ध है। मनोवृत्तिके एक ओर नाम और दूसरी ओर भाव रहनेसे सब सतभावमूलक अधिदेव रूप सत्य हैं। और उपा-

सना द्वारा उनके सांनिध्य प्राप्त करने पर उपासक भगवत्सांनिध्य प्राप्त कर लेता है। भगवत्सांनिध्य प्राप्त करना ही उपासनाका फल है।

ध्यानानुसार निर्मित मूर्तिमें श्रद्धा-क्रिया मन्त्रकी सहायतासे प्राणप्रतिष्ठा कर उसकी पूजा करनेसे क्या क्या फल होता है, इस विषयमें पूर्व पश्चिम दोनों ही देशोंमें बहुत कुछ विचार तथा अनुभव प्राप्त हो चुका है। योगदर्शनमें महर्षि पतञ्जलिने 'स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः' इस सूत्रके द्वारा यही बताया है कि मन्त्रजप, पुरश्चरण, स्तुति पाठसे इष्टदेवताका दर्शन होता है। सामवेदमें —

उपह्वरे गिरिणां सङ्गमे च नदीनां। धिया विप्र अजायत ॥

इस मन्त्रके द्वारा यही रहस्य बताया गया है कि पर्वत प्रान्त या नदीसंगमके स्थान पर स्तुति गान करनेसे इन्द्रदेवके दर्शन मिलते हैं। श्रीमद्भागवतमें भी लिखा है —

त्वं भावयोगपरिभावितहृत्सरोज-
आस्से श्रुतेक्षितपथो ननु नाथ पुंसाम्।
यद् यद् धिया त उरुगाय विभावयन्ति,
तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय ॥

हे नाथ! भाव तथा भक्तिके साथ उपासना करने पर तुम भक्तके नयनपथमें आते हो और जिस भावनासे भक्त तुम्हारी स्तुति पूजा करता है उसीके अनुरूप मूर्ति धारण करके तुम भक्तको दर्शन देते हो। स्तुति करने पर स्तुतिके शब्दोंके भावानुसार मूर्ति आजाती है इसका प्रमाण यन्त्रोंकी सहायतासे पश्चिमियोंने भी अब प्राप्त कर लिया है। अभी थोड़े दिन हुये फ्रान्स देशमें एम मेडम 'फ़िनलांग' नामकी बहुत अच्छी विदुषी हुई है। इसने अपने जीवनके बहुत बड़े भागको विद्याभ्यासमें लगाया, और अन्तमें शब्दविकार शास्त्रमें अच्छी प्रवीणता प्राप्त की। एक बार उसने इस बातकी परीक्षा करनेके लिये स्वयमेव एक 'वीणा तैयार की और नीचेकी ओर तारोंके सिरे पर विधि पूर्वक सुधा, शलाकाओं (चाँक) की योजना की और उसके आगे एक छोटा सा बोर्ड लगा दिया। फिर उसने गानेके अनुसार ठीक उसी स्वर पर 'वीणा' को बजाया, उसका परिणाम यह हुआ कि उन शलाकाओंके द्वारा उस बोर्ड पर अस्पष्टरूपसे कुछ चित्रसे खिंच गये। तब उसने शब्दविकारकी ओर अधिक ध्यानपूर्वक श्रम किया, और यही जान लिया कि प्रत्येक राग और गानमें प्रतिपादित अर्थके अनुसार उन सुधा शलाकाओंके द्वारा उस छोटेसे बोर्ड पर कभी मनुष्यकी आकृति और कभी-कभी पशु और पक्षियोंकी आकृति खिंच जाती है। इस परीक्षासे उसने यह

सिद्धान्त स्थिर किया कि शब्दोंके भावानुसार मूर्ति बन सकती है। तदनन्तर उस विदुषीने रोमन कैथलिक मतके किसी मनुष्यको अपने यहाँ गीत गानेके लिये बुलाया। उसने वहाँ एक गीत गाया, जिसका नाम एवमैरियाँ प्रसिद्ध है। इस गीतके गाये जाने पर बोर्डके ऊपर गोदमें बालक सहित एक स्त्रीका चित्र खिंच गया। यह स्त्री 'मरयम' थी और उसकी गोदमें बालक 'यीशु ख्रीस्ट' था। जो गीत रोमन कैथलिक महाशयने गाया था, उसमें 'यीशु ख्रीस्ट' की स्तुति, और वह हमारे ऊपर अनुग्रह करे इत्यादि वर्णन विस्तार पूर्वक था। उस गीतमें जो कुछ भाव था उसका पूरा चित्र बोर्डके ऊपर स्पष्ट रूपमें अङ्कित हो गया। इसके बाद उस विदुषीने एक बंगाली विद्यार्थीको जो उससमय वहाँ पढ़नेके लिये गया हुआ था, अपने पास घर पर बुलाया और उससे यह कहा कि आप अपने धर्मग्रन्थ और वेदोंके कुछ मन्त्र ठीक स्वर और उच्चारणके साथ विधिपूर्वक गाइये। परन्तु वह विद्यार्थी वेदोंका एक मन्त्र भी नहीं जानता था। अस्तु उस विद्यार्थीने उससमय यही कहा कि मैं वेदमन्त्र तो नहीं जानता परन्तु मुझे एक संस्कृतका स्तोत्र याद है। बचपनमें स्कूल-प्रवेशके पहिले मेरे पिताने मुझे याद कराया था। यह स्तोत्र आदि—शङ्कराचार्य प्रणीत 'कालभैरवाष्टक' के नामसे प्रसिद्ध है। जब उस छात्रने यह स्तोत्र गाया और विदुषीने ठीक उसीके अनुसार अपनी वीणाको बजाया, तब उस बोर्डके ऊपर एक कुत्तेके साथ बड़ी भयङ्कर मूर्ति अङ्कित हो गई। यह वही मूर्ति थी जिसका विस्तारपूर्वक वर्णन उस स्तोत्रके अन्दर पूर्णरूपसे किया गया है। बनारसमें कालभैरव मन्दिरमें जो मूर्ति स्थापित की हुई है, वह सर्वथा उसी प्रकारकी है, जैसी कि मूर्ति वीणाके शब्द द्वारा वोर्ड पर अङ्कित हुई। यह समाचार उसी समय 'साइन्स सिफ्टिंग्स' नामक पत्रिकामें प्रकाशित हुआ था। भावके अनुसार मूर्तिदर्शनका यह अकाट्य प्रमाण है।

इस विषयमें और भी रहस्य पश्चिमदेशके प्रमाणोंके साथ लिखा जाता है—

"Sounds as we know. are vibrations; and are said to give rise to definite forms. Each sound produces a form in the invisible world, and combinations of sounds create complicated shapes. The text books of science describe certain experiments which show that notes produced by certain instruments trace out on a bed of sand definite geometrical figures. It is thus demonstrated that rhythmical vibrations give rise to regular geometrical figures. The Hindu books on music tell us that the various musical tunes (Ragas and Raginis) have each a particular shape, which the books graphically describe. For

instance, the Megha Raga is said to bear a majestic figure seated on an elephant. The Basanta Raga is described as a beautiful youth decked with flowers. All this means that the particular Raga or Ragini, when accurately sung, produces aerial and etheric vibrations which create the particular shape said to be characteristic of it. This view which at first sight seems hopelessly chimerical, has recently received unexpected corroboration from the experiments carried on by Mrs. Watts Hughes, the gifted author of "Voice Figures." She recently delivered an illustrated lecture before a select audience in Lord Leighton's Studio to demonstrate the beautiful scientifie discoveries on which she has lighted as the result of many years of patient labour. Mrs. Hughes sings into a simple instrument called an "Eidophone," which consists of a tube, a receiver and a flexible membrane, and she finds that each note assumes a definite and constant shape as revealed through a sensitive and mobile medium. At the outset of her lecture, she placed tiny seeds upon the flexible membrane and the air vibrations set up by the notes she sounded, "danced" them into definite geometric patterns. Afterwards she used dusts of various kinds, Lycopodium dust being found particularly suitable. A reporter describing the shape of the notes speaks of them as remarkable revelations of geometry, perspective and shading. "Stars, spirals, snakes, wonders in wheels, and imagination rioting in a wealth of captivating, methodical designs—such were what were first shown. Once when Mrs. Hughes was singing a note a daisy appeared and disappeared, and 'I tried' she said, 'to sing it back for weeks before at last I succeeded.' Now she knows the precise inflections of the particular note that is a daisy, and it is made constant and definite by a strange method of coaxing—an alteration of crescendo and diminuendo. After the audience had gazed enraptured at a series of 'daisies,' some with succeeding rows of petals and some with the petals delicately viewed, they were shewn other notes, and these were

'pansies' of great beauty. How 'wonderful,' how lovely! were the audible exclamations that arose in the late Lord Leighton's studio, as exquisite form succeeded exquisite form on the screen. The flowers were followed by 'sea monsters' as some one called them—serpentine forms of swelling rotundity full of light and shade and detail, feeding in miles of perspective. After these notes came others and those were trees, trees with fruit falling, trees with a fore-ground of rocks, trees with the sea behind. 'Why' exclaimed people in the audience, they are just like Japanese landseapes!"

The above experiments demonstrate the following facts:—[a] Sounds produce shapes, [b] particular notes give rise to particular forms, [c] if you want to reproduce a particular form, you must recite a particular note in a particular pitch, [d] that for that purpose no other note and no other pitch, chanting even the identical note, will avail.

Now apply these facts to Mantras and see how they bear out the directions given in the sacred books. Let us take a concrete Mantra; Agnim Ila Purohitam—Suppose you transpose the words and say Ila Agnim Purohitam or substitute Bahni for Agni which is the same thing [both words meaning fire]. The efficacy of the Mantra is gone. You cannot therefore, transpose or translate a Mantra. If you do, it will cease to be a Mantra. We therefore find the Rishis, for instance Jaimini in his Mimansa Darshana laying special stress on this. In a Mantra, the vibrations to be produced by notes are all-important, and the meaning or absence of meaning of the words used is of no consequence. And as a matter of fact, there are a great many Mantras which are absolutely meaningless. To this class belong the Tantric Beeja Mantras and the un-etymological vocables which occur in the Mantra portion of the Atharva Veda. From this point of view, the supposed puerilities discovered by Orientalists in the Vedas, which have induced them to

regard these latter as the babblings of a child humanity become a matter of indifference. We also see why the ancient writers laid such emphasis on the rhythm (Swara) as well as the sound (Varna), of a Mantra for they say that when a Mantra is defective either in Swara, or Varna, it is incorrectly directed and may produce a result just contrary to what was intended.

The Sanskrit name for sound is Varna, which literally means colour. Why is this so ? Because in the invisible world all sounds are accompanied by colours, so that they give rise to many-hued shapes. In the same way colours are accompanied by sounds. In the Sanskrit. therefore, the sun, who is the synthesis of all colours is called Rabi which is the same word as Raba-sound. We have seen that in the experiments of Mrs. Hughes the shapes produced by her notes were characterised by delicate shades of colouring.

We have also seen that in order to produce a particular form, a particular note must be used and that different notes give rise to different shapes. This fact is not lost sight of in the science of Mantras, and you use different Mantras for the purpose of invoking different gods. If you worship Mahadeva, you use a particular Mantra, but in worshipping Vishnu or Shakti the Mantra has to be changed. What happens when a Mantra is recited ? The repeated recitation of the Mantra gradually builds up the form of the Deva or the special manifestation of the Deity whom you seek to worship and this serves as a focus to concentrate the benign influence of the being which, radiating from the centre, penetrates the worshipper. It is therefore said that the Mantra of a Deva is the Deva. This may explain the much mis-understood dictum of the Mimansa philosophers that the gods do not exist apart from the Mantras (mantratmaka Devata). This really means that when a particular Mantra appropriated to a particular god is properly recited, the vibrations so set up create in

the higher planes special form which that god ensouls for the time being.

Thus we see the latest discoveries of Science serving to corroborate the ancient teachings of the Shastras.

(Hirendranth Datta. Sanatanist 2-4-31)

इसका संक्षिप्त तात्पर्य निम्नलिखित है—शब्दमात्र ही कम्पनरूप है और उससे आकारकी उत्पत्ति होती है। अदृश्य जगतमें प्रत्येक शब्दसे आकार उत्पन्न होता है और कई आकार मिलकर मूर्त्ति बन जाती हैं। साइन्सके ग्रन्थोंमें ऐसे प्रमाण मिलते हैं कि संगीत-यन्त्रसे जो शब्द निकलते हैं बालू के ऊपर उनके कुछ आकार बन जाते हैं और नियमित राग बजाने पर मूर्त्ति भी व्यवस्थितरूपसे बन जाती है राग रागिणीके रूपके विषयमें आर्य संगीतशास्त्रमें वर्णन भी किया गया है। यथा—हस्तीबाहन गम्भीर मूर्त्ति मेघ रागकी है, पुष्प सुशोभित सुन्दर युवकमूर्त्ति वसन्त रागकी है, इत्यादि। ये सब बातें अब तक काल्पनिक मालूम होती थीं किन्तु हाल ही में शब्दमूर्त्ति (Voice Figures) नामक उत्तम ग्रन्थ-कर्त्री मिस वाट्स् ह्यघने इस विषयमें मन्त्रद्वारा परीक्षा करके समस्त सन्देह दूर कर दिया है। उन्होंने लार्ड लीटन शिल्पसदनमें इस विषयका एक व्याख्यान दिया था और उसमें संगीतयन्त्रमें बजाकर कई एक आश्चर्यजनक घटनायें श्रोताओंको दिखा भी दी थीं। उनके यन्त्रका नाम 'इडोफोन' है जिसे वह बजाती जाती थीं और तरह-तरहके रूप बनते जाते थे। एक बार 'डेसी' नामक एक सुन्दर फूलका आकार देखनेमें आया और उनको यह भी पता लग गया कि किस प्रकार बजानेसे ऐसा हो गया। दर्शकगण विस्मित होकर डेसीके मधुररूप देख ही रहे थे इतनेमें 'पैनसी' नामक मधुर पुष्प देखनेमें आगया। इसके बाद क्रमशः समुद्रके कितने ही जीव, सर्पकी तरह कुण्डलाकार कितने ही जीव, कितने ही फलभरे वृक्ष, पत्थर तथा समुद्रके पासके वृक्ष—मानो जापानके सागरदृश्य ही देखनेमें आगये, जिनने दर्शकोंको विस्मयसागरमें डुबा दिया। शब्दसे आकार, भिन्न भिन्न शब्दसे भिन्न भिन्न मूर्त्तिका विज्ञान इससे स्पष्ट प्रमाणित हो जाता है।

वेदमन्त्रोंके शुद्ध उच्चारण द्वारा देवता आवाहनका विज्ञान भी इससे प्रमाणित हो जाता है। शास्त्रकी इस विषयमें जो आज्ञा है कि मन्त्रका उच्चारण स्वर तथा वर्णके अनुसार ठीक होना चाहिये और उसमें पदविन्यास भी ठीक होना चाहिये 'अग्निमीळे पुरोहितम्' इसके स्थान पर ईले अग्निम् या ईले वह्निम् इस प्रकार पाठ भेद या विन्यास भेद नहीं होना चाहिये तभी मन्त्रोंमें सिद्धि तथा देवदर्शन हो सकते हैं, यह सभी तत्त्व ऊपर कथित विज्ञानके अनुसार यथार्थ प्रमाणित हो जाता है। संस्कृत भाषामें 'शब्द' का नाम 'वर्ण' है और वर्णका अर्थ रङ्ग भी होता है इस प्रकारसे सूर्यको भी 'रवि' कहते हैं, रवि

शब्द 'रव' से बना है, जिसका भी अर्थ शब्द होता है और सूर्य या रवि समस्त मौलिक रङ्गोंका आदि कारण है यह भी विज्ञानानुसार प्रमाणित हो चुका है। अतः मिस ह्यघके शब्द और मूर्तिविज्ञान सत्य सिद्ध होगये।

पञ्चोपासनामें जो मन्त्रजप और स्तुतिगानका विधान है ये सब भी इस प्रकारसे सत्य, सार्थक तथा साइन्स अनुकूल प्रमाणित हो जाते हैं। क्योंकि इन देवताओंके मन्त्रोंका जप तथा स्तुतियोंका गान करनेसे यह निश्चय है कि शब्दोंके कम्पनके अनुसार तत्तद्-देवताओंकी मूर्त्ति बन जायगी, जैसा कि श्वानवाहन सहित भैरवकी मूर्त्ति बननेकी बात पहिले कही गई है और उसी मूर्त्तिमें मन्त्रशक्ति तथा प्रार्थनाशक्तिके कारण इष्टदेवकी शक्ति (Positive) भी प्रकट होजायगी जैसा कि पहिले रहस्य बताया गया है। अतः आधुनिक विज्ञानके अनुसार आर्यशास्त्रवर्णित प्रतिमापूजन और मन्त्र रहस्य पूर्णरूपसे सिद्ध हो गया। शब्द और रङ्गके विषयमें और भी कई एक वैज्ञानिकोंने अनुसन्धान किया है, यथा—

Dr. H. Lundborg, a Swadish Physician, has been studying the gift of "colour-hearing" in which certain sounds induce colour sensation, the same colours, being called up by the same sounds throughout life. Dr. Julius Donash of Budapest observed a person gifted with lively powers of both colour smell and colour-hearing. (Kalpaka 1-1924)

स्यूडेन देशके डाक्टर एच्. लण्ड्वर्ग इस शब्द—रंगविज्ञानकी चर्चा कर रहे हैं और उन्हें मालूम होगया है कि खास खास शब्दोंके खास खास रंग हुआ करते है। बुडापेष्टके डाक्टर जुलियस डोनास साहबने एक ऐसे मनुष्यको देखा है जिसमें रंगकी गन्ध सूंघने तथा रंगके शब्द सुननेकी शक्ति थी। इसके सिवाय ध्यान, पूजा आदिसे साधकको कितनी शक्ति मिलती है इस पर भी पश्चिमी लोगोंने विचार किया है, यथा :—

When one enters the state of meditation, the vrillic flow is greatly intensified. The deeper one goes into meditation the more marked is the effect. The concentration of the mind upwards sends a rush of this force through the top of the head and the response comes as a fine rain of soft magnetism. The feeling arising from the downpower sends a wonderful glow through the body, and one feels as though bathed in a soft kind of electricity.

(Victor E. Cromer—Kalpaka 12–1925.)

परमात्माके ध्यानमें निविष्ट होने पर अपने भीतरकी सूक्ष्म शक्ति बहुत ही बढ़ जाया करती है और जितना ही भक्त ध्यानमग्न होता है उतनी ही वह शक्ति वृद्धिगत होने लगती है। ऊपरकी ओर मनोनिवेश करनेसे शक्तिकी भी ऊद्ध्वंगति होती है और प्रति-क्रियामें भगवत् शक्तिकी पवित्र वर्षा अपने ऊपर होने लगती है। इसका ऐसा सुन्दर अनुभव होता है कि शरीरके भीतर आश्चर्यजनक ज्योति मालूम होने लगती है और भक्तको कोमल भगवद्-विद्युद्धारामें स्नानका आनन्द अनुभवमें आजाता है। यही सब परमात्माकी सगुण मूर्तिकी उपासनासे प्राप्त परमलाभ तथा परम आनन्दका दिग्दर्शन है। ध्यानके अन्तमें ध्याता, ध्यान, ध्येयकी एकता होने पर समाधि हो जाती है जिसको मन्त्रयोगशास्त्रमें भावसमाधि कहा गया है। इष्टदेवमूर्त्तिके दर्शनसे भी मन प्राण उसमें विलिन होकर इस प्रकारकी समाधिका उदय हो सकता है। समाधिदशामें मूर्त्तिका दर्शन नहीं होता है, केवल साधक आनन्दमयमें विलीन होकर आनन्दरूप हो जाता है जिसके विषयमें उपनिषद्में लिखा है :—

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि यत् सुखं भवेत्।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं यदन्तःकरणेन गृह्यते।।

और भी गीतामें—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते।।

समाधिद्वारा पवित्र तथा आत्मामें निविष्ट अन्तःकरणमें जो अपार आनन्द होता है उसका वर्णन शब्दके द्वारा नहीं हो सकता है, केवल मन ही मन उसका अनुभव होता है। इस अनुपम लाभके सामने और कोई भी लाभ अधिक नहीं मालूम होता है, इस अनुपम सुखमयी स्थितिमें रहने पर प्रारब्धजन्य कोई भी क्लेश साधुको व्यथित नही कर सकता है। मन्त्रयोग और मूर्त्तिपूजाकी यह समाधि सविकल्प समाधि कहलाती है। इसके बाद निर्विकल्प समाधि-भूमिमें साधक प्रवेशलाभ करता है। इस भूमिमें प्रविष्ट होने पर स्थूल प्रतिमादि पूजनकी आवश्यकता नहीं रहती है। उन्नत योगी इस अवस्थामें राजयोगकी षोडश प्रक्रियाओंके अनुसार सर्वतोव्याप्त निर्गुण, निराकार सत्-चित्-आनन्द सत्तामें धारणा, ध्यान करते हुये अन्तमें निर्विकल्प समाधि लाभ किया करते हैं और उन्हें 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन' सब ही विश्व ब्रह्मरूप है, एक ब्रह्मके सिवाय द्वितीय वस्तु कोई नहीं है यही अनुभव हो जाता है। राजयोगका प्रकरण आगेके अध्यायमें बताया जायगा।

शास्त्रमें सगुण ब्रह्म ईश्वरकी पञ्चोपासना बताई गई है, यथा—विष्णु, शिव, शक्ति, सूर्य और गणेश, ये पाँच मूर्त्ति ही ईश्वरकी मूर्त्ति है। इनको देवता नहीं समझना चाहिये। क्योंकि पञ्चोपासनामें इनका ध्यान ईश्वररूपसे ही होना है। ईश्वर एक होने पर भी उनकी पाँच मूर्त्तियाँ क्यों बनाई जातो हैं, इसका तात्पर्य यह है कि पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पाँच तत्त्वोंसे मनुष्यका शरीर बनता है, इनमेंसे जिसके भीतर जो तत्त्व प्रबल रहता है उसोके अनुसार पाँचमेंसे किसी एक मूर्त्तिमें उसको स्वाभाविक रुचि होतो है। यथा कापिल तन्त्रमें :—

आकाशस्याधिपो विष्णुरग्नेश्चैव महेश्वरी।
वायोः सूर्यः क्षितेरीशो जीवनस्य गणाधिपः॥

आकाशतत्त्वके साथ विष्णुका, अग्नितत्त्वके साथ महाशक्तिका, वायु तत्त्वके साथ सूर्य भगवान्‌का, पृथिवीतत्त्वके साथ शिवका और जलतत्त्वके साथ गणपति भगवान्‌का सम्बन्ध है। जिसके शरीरमें आकाश तत्त्व प्रधान है उसकी रुचि स्वभावसे ही विष्णु या कृष्णकी ओर होती है, जिसके शरीरमें अग्नितत्त्व प्रधान है उसकी रुचि स्वभावतः दुर्गा, काली आदि पर होती है इत्यादि इत्यादि। जिस मूर्त्तिमें जिसकी स्वाभाविक रुचि है उसे उसकी उपासना बताना युक्तियुक्त है, जों सद्‌गुरु शिष्यकी परीक्षाकर बता सकते हैं। यही कारण है कि प्रकृति-भेद तथा तत्त्व-भेदके अनुसार एक ही ईश्वरकी पाँच मूर्तियोंमें उपासना होतो है। ये पाँच जब ईश्वरकी ही मूर्त्तियाँ हैं तो शिव बड़े और विष्णु छोटे हैं, विष्णु बड़े और शक्ति छोटी है इस प्रकारसे साम्प्रदायिक लोग जो झगड़ा मचाया करते हैं सो केवल अज्ञानमूलक भ्रान्ति और पक्षपात मात्र है। ऐसा पक्षपात उपासनाजगत्‌में कभो नहीं होना चाहिये। इससे अपनी भी हानी है और समाजकी भी हानि है।

अर्वाचीन पुरुषोंने मूर्त्तिपूजाके ऊपरलिखित तत्त्वको न जानकर उसपर अनेक कटाक्ष किये हैं; परन्तु वे सब कटाक्ष इतने साधारण हैं कि मूर्त्तिरहस्यके जान लेनेपर वे खुद ही दूर हो जायेंगे। केवल दो तीन भ्रान्तिजनक कटाक्षोंपर विचार किया जाता है। वे कटाक्ष निम्नलिखित हैं, यथा—(१) मन्दिरमें व्यभिचार होता है इसलिये मूर्त्तिपूजा उठा देनी चाहिये, (२) यदि मूर्त्तिमें शक्ति रहती तो मुसलमानोंके आक्रमणसे तथा चूहे आदिके चढ़नेसे मूर्त्तिने अपनेको बचाया क्यों नहीं, (३) यदि आवाहन करनेसे मूर्त्तिमें देवता आते तो मूर्त्ति चैतन्य क्यों न हो जाती और इस प्रकारसे मरे हुए पुत्रके शरीरमें जीवको क्यों नहीं बुला सकते। प्रथम कटाक्षका उत्तर निम्नलिखित है। मन्दिर जैसे देवस्थानमें वेश्याका नृत्य, व्यभिचार या अन्यान्य असत्कार्य होना बहुत हो निन्दनीय है क्योंकि इसमें

केवल स्थानकी पवित्रता नष्ट होती है और दैवीशक्तिका अपमान होता है यही बात नहीं, अधिकन्तु जिस देवमन्दिरमें इस प्रकार तामसिक कर्म और तामसिक भाव उत्पन्न होते हैं वहाँ पर प्रतिमामें दैवीशक्ति ठहर नहीं सकती है और ऐसी प्रतिमाके पूजन द्वारा उपासना-का फल नहीं प्राप्त होता है। यह बात पहिले ही कही गई है कि भावके अनुसार बनी हुई मूर्त्तिमें दैवीशक्तिका विकाश तभी हो सकता है जब उपासक और भक्तोंकी श्रद्धा विश्वासकी शक्ति उस मूर्त्तिपर एकाग्र (Concentrated) हो। श्रद्धा और विश्वासकी सात्त्विक शक्ति ही श्रीभगवान्‌की सर्वव्यापिनी दैवीशक्तिको मूर्त्तिके द्वारा प्रकट कर लेती है अतः जिस मन्दिरके पुरोहित सदाचारी और भक्त होंगे, संयमशील तथा पूजापरायण और क्रियाकाण्ड-निपुण होंगे और जिस मन्दिर-स्थित मूर्तिपर मनुष्योंकी श्रद्धा और भक्ति होगी वहीं प्रतिमामें दैवीशक्ति आकृष्ट होगी। अन्यथा यदि मन्दिरके पुरोहित दुराचारी और अभक्त तथा मूर्ख होंगे और वेश्यागान, व्यभिचार आदि तामसिक भावोत्पादक कार्य होगा जिससे लोगोंमें सात्त्विक भाव उत्पन्न न होकर श्रद्धा और भक्ति ही नष्ट हो जायगी तो उस मन्दिर-की प्रतिमामें श्रीभगवान्‌की दिव्यशक्ति कभी नहीं प्रकट हो सकेगी और पूर्वप्रकाशित दैवीशक्ति भी प्रतिमारूपी केन्द्रको छोड़कर व्यापक शक्तिमें मिल जायगी। अतः मन्दिरमें व्यभिचार वेश्यानृत्य आदि दुराचरण कभी नहीं होना चाहिये। परन्तु इससे यह सिद्धान्त नहीं होता है कि व्यभिचारके डरसे मन्दिरको ही तोड़ दिया जाय। किसीकी आँखमें यदि फोड़ा हो तो फोड़ेके भयसे आँख फोड़ देना बुद्धिमत्ता नहीं है; किन्तु फोड़ेकी ही चिकित्सा करके आराम करदेना बुद्धिमत्ता होगी। इसी प्रकार यदि मन्दिरमें व्यभिचार होता हो तो व्यवस्थाके साथ व्यभिचारको दूर करना, और वेश्यानाच आदि कुरीतियोंको नष्ट करना ही धर्म होगा और मूर्त्ति और मन्दिरको तोड़ देना धर्म नहीं होगा। आजकल प्रायः देखा जाता है कि धनीलोग मन्दिर बनवाकर उसीमें एक मूर्ख पुरोहितको नौकर रख देते हैं और पीछे कुछ पूजा होती है कि नहीं इसकी खबर नहीं लेते, जिसका यह फल प्रायः होता है कि विद्याभक्तिशून्य वह पुरोहित अपनेको उस मन्दिरका तथा सम्पत्तियोंका मालिक समझ लेता और यथेच्छ आचरण करता है। इस प्रकार पुरोहितोंके अत्याचारसे अनेक मन्दिर भ्रष्ट हो जाते हैं और दैवीशक्तिकी अवमानना होती है इसलिये मन्दिर प्रतिष्ठाताको चाहिये कि इस प्रकार मन्दिरका सुधार करें, योग्य पुरुषको पुरोहित रक्खें, नित्यपूजा आदिका प्रबन्ध ठीक-ठीक करें, सम्पत्तिके कुछ अंशके द्वारा पुरोहित-विद्यालय स्थापन करके योग्य पुरोहित प्रस्तुत करें, दर्शक नर-नारियोंके प्रतिमादर्शनकी व्यवस्था युक्तिपूर्वक कर देवें ताकि सभ्यताविरुद्ध किसी प्रकारके व्यवहारका मौका ही न होने पावे—इत्यादि इत्यादि प्रकारसे मन्दिरोंकी व्यवस्था करनेपर व्यभिचार आदिकी सम्भावना नष्ट हो जायगी और सभी

मनुष्य अपने अपने अधिकारके अनुसार मन्दिरोंमें देवदर्शन, देवपूजा आदि द्वारा परम कल्याण प्राप्त कर सकेंगे। अतः अर्वाचीन पुरुषोंका प्रथम कटाक्ष युक्तियुक्त मालूम नहीं होता। उनका दूसरा कटाक्ष यह है कि यदि मूर्त्तिमें शक्ति होती तो मुसलमानोंके आक्रमणसे तथा चूहे आदिके चढ़नेसे वह अपनी रक्षा अवश्य करती। इस बातके विचार करनेसे पहिले मूर्त्तिमें जो शक्ति आवाहन की जाती है उसकी प्रकृति कैसी है सो विचार करना चाहिये। संसारमें स्थूल या सूक्ष्म समस्त शक्ति ही दो प्रकारकी होती हैं—एक स्वतः क्रियाशील और दूसरी परतः क्रियाशील। इन्हीं दो प्रकारकी शक्तियोंको पाश्चात्य विज्ञानके अनुसार एक्टिव (Active) और प्यासिव (Passive) शक्ति (Energy) कहते हैं। स्वतः क्रियाशील शक्ति वह होती है जिसमें स्वयं कार्य करनेकी प्रकृति हो और परतः क्रियाशील शक्ति वह होती है जिसमें स्वयं कार्य करनेकी प्रकृति न हो केवल दूसरी ओरसे प्रेरणा होने पर प्रेरणाकी शक्तिके अनुसार उसमेंसे फल प्राप्त हो। श्रीभगवान्‌की जो दैवी-शक्ति समष्टि प्रकृतिकी आवश्यकता और प्रेरणाके अनुसार किसी अवतार या विभूतिके द्वारा प्रकट होती है उसके स्वतः क्रियाशील होनेके कारण अवतार या विभूतिके द्वारा संसारमें धर्मसंस्थापन और अधर्मनाशके लिये अनेक कार्य होते हैं; परन्तु मूर्त्तिमें श्रद्धा क्रिया और मन्त्रद्वारा जो व्यापक दिव्यशक्ति प्रकट की जाती है जिसकी प्रक्रिया ऊपर वर्णित की गई है। वह शक्ति स्वतः क्रियाशील नहीं होती है; परन्तु अग्निकी तरह परतः क्रियाशील होती है। जिस प्रकार अग्निमें दग्ध करनेकी शक्ति रहनेपर भी अग्नि स्वेच्छासे किसी वस्तुको दग्ध नहीं करती है या किसीका अन्नपाक नहीं कर देती है; परन्तु जब दूसरी ओरसे किसी मनुष्यके द्वारा इस प्रकारकी प्रेरणा हो अर्थात् कोई मनुष्य अग्निके द्वारा किसी वस्तुको दग्ध करना या अन्नपाक करना चाहे तो उस अग्निको अनुकूलताके साथ काममें लाकर स्वकार्य सिद्ध कर सकता है; ठीक उसी प्रकार मूर्त्तिमें जो दैवीशक्ति एकत्रित होती है वह स्वयं किसीको शाप या वरप्रदान नहीं करती है, क्योंकि उसमें इस प्रकारकी अवतारकी शक्तिकी तरह स्वतः क्रियाशीलता नहीं होती है। वह शक्ति केवल भाव और पूजाके द्वारा उपासकके आत्माके अनुकूल किये जानेपर अनुकूलताके अनुसार अर्थात् भाव और पूजाके अनुसार फलप्रदान करती है। उस फलप्रदानमें मूर्त्तिमें विराजमान शक्तिकी स्वयं चेष्टा कुछ भी नहीं रहती है; परन्तु उपासककी भाव प्रेरणा ही उसमें एकमात्र कारण होती है। जहाँ मूर्तिमें विराजमान शक्तिके प्रति कोई भाव नहीं है वहाँ उस शक्तिके ऊपर चाहे चूहा ही चढ़ जाय, चाहे उसके सामने व्यभिचार ही हो और चाहे विधर्मी या और कोई पापी उसपर आक्रमण ही करे, उस मूर्त्तिमें विराजमान शक्तिकी ओरसे कोई भी क्रिया नहीं होगी क्योंकि उसपर चढ़नेवाले, कुकर्म करनेवाले या आक्रमण करनेवालोंकी

हृदयगत शक्तिके साथ मूर्तिगत शक्तिका भावराज्यमें कोई भी सम्बन्ध नहीं है। इसमें केवल इतना ही होगा कि जिस प्रकार किसी अग्निमय गोलेको तोड़ देनेपर अथवा उसपर जल डाल देनेपर वह अग्नि तोड़नेवाले वा जल डालनेवालेको आघात न करके व्यापक अग्निमें मिल जाया करती है उसी प्रकार जिस मन्दिरमें व्यभिचार आदि कदाचार होगा या पापीका आक्रमण या मूर्त्ति तोड़ी जायगी उस मन्दिरकी मूर्तिमें विराजमान शक्ति उस केन्द्रको छोड़कर व्यापक दिव्यशक्तिमें मिल जायगी। केवल अत्याचार करनेवाले मनुष्य दिव्यशक्तिकी अवमानना करनेके कारण प्रत्यवायी होंगे। यही कारण है कि मूर्तिपर चूहे चढ़नेसे भी विधर्मी तथा देवमूर्त्तियोंके शत्रुका आक्रमण होनेपर भी उसमें दिव्यशक्ति स्वयं कूदकर आत्मरक्षा करने नहीं लग गई थी या विपक्षियोंसे लड़ने नहीं लग गई थी, अतः अर्वाचीन पुरुषोंको चूहेके डरसे धर्मत्याग नहीं करना चाहिये; परन्तु मूर्तिपूजाके यथार्थ रहस्यको समझ करके प्रकृतिस्थ होना चाहिये। अर्वाचीन पुरुषोंका तीसरा कटाक्ष यह है कि यदि आवाहन करनेसे मूर्त्तिमें देवता आते तो मूर्ति चेतन क्यों न हो जाती, परमेश्वरमें आना जाना कैसे सम्भव हो सकता है और यदि सम्भव हो तो मरे हुये पुत्रके शरीरमें जीवको क्यों नहीं बुला सकते ? इसका उत्तर यह है कि पहिले ही वेदप्रमाणके द्वारा बताया गया है कि मूर्तिमें प्राण-प्रतिष्ठा यथार्थ रीतिसे होनेपर उसमें चमत्कार देखा जाता है। यथा मूर्त्ति हँसती है, रोती है, इत्यादि; परन्तु मूर्तिमें आवाहनकी हुई दैवी शक्ति स्वतः क्रिया-शील न होनेसे मनुष्यकी तरह चेतनाका कार्य्य उसमें आ नहीं सकता है; क्योंकि मनुष्यका शरीर प्रारब्ध कर्मके अनुसार जीवात्मासे युक्त होनेके कारण कर्मशक्तिके द्वारा माननीय कार्य होता है और मूर्त्तिमें केवल साधककी श्रद्धा-पूजा आदिके अनुसार व्यापक शक्तिका आविर्भाव होनेके कारण और उसमें किसी प्रकार कर्म सम्बन्ध न होनेके कारण उसके द्वारा इस प्रकार कार्य होनेका कोई भी हेतु नहीं हो सकता है। हाँ, जिस समय वही दैवी शक्ति समष्टि प्रकृतिके कर्मसंस्कारको आश्रय करके अवतार या विभूतिरूपसे प्रकट होती है तब उसके द्वारा संसारमें अद्भुत कार्य होते हैं जो मनुष्योंके द्वारा भी नहीं हो सकते हैं; अतः मूर्त्तिमेंसे उस प्रकार चैतन्य क्रियाकी आशा विज्ञान-विरुद्ध है। अवश्य भक्त उपासकमें भावशक्तिके अनुसार मूर्त्तिके द्वारा जो चाहे सो क्रिया उत्पन्न हो सकती है जैसा कि पुराणादिमें भक्तवत्सल भगवान्‌की अपूर्व लीलाओंके विषय और भक्तकी प्रार्थनाके अनुसार भगवन्मूर्त्तिमें भक्तके साथ अनेक लीलाविलासके विषय पाये जाते हैं; परन्तु इसमें भक्तका भाव ही मुख्य रहता है और उसी भावके अनुसार ही इच्छारहित और स्वतःक्रियारहित भगवन्मूर्त्तिमें क्रिया उत्पन्न होती है। द्वितीय सन्देह अर्थात् परमेश्वरमें आना-जाना सम्भव कैसे हो सकता है इसके विषयमें यह वक्तव्य है कि इसमें आनेकी तो कोई बात ही

नहीं है, केवल गोमाताके सर्वशरीरगत दुग्धके स्तनद्वारा क्षरणकी तरह सर्वव्यापिनी भगवत्शक्तिका मूर्त्तिरूपी आधार (Medium) के द्वारा विकाशमात्र है। इसमें कहींसे कहीं जानेका कोई प्रयोजन नहीं पड़ता है। केवल सर्वत्र पूर्ण भगवान्की शक्ति स्वच्छ केन्द्रके द्वारा प्रकाश होना मात्र पड़ता है। जिस प्रकारकी सूर्यकी ब्रह्माण्डव्यापिनी शक्ति यदि आतशी कांचके द्वारा प्रकट हो तो सूर्यमेंसे शक्ति कम नहीं हो जाती उसी प्रकार भगवत्-शक्ति सर्वतः पूर्ण होनेसे चाहे कितने ही केन्द्रके द्वारा वह शक्ति विकाशको प्राप्त हो उससे न भगवान्की पूर्णशक्तिमें कुछ कमी ही आती और न उसपर कहींसे कहीं जाने आनेका कलङ्क लगता क्योंकि ये सब बातें देश काल वस्तु परिच्छिन्न ससीम वस्तुपर ही घटती हैं और सर्वव्यापी असीम वस्तुपर ये बातें नहीं घटती हैं। तृतीय सन्देह अर्थात् यदि मूर्त्तिमें प्राण-प्रतिष्ठा करना सम्भव हो तो मरे हुए मनुष्यके शरीरमें जीवको क्यों नहीं बुला सकते इसका उत्तर निम्नलिखित है। मनुष्य तभी मरता है जब जिस कर्म्मके अनुसार जो शरीर प्राप्त हुआ था उस कर्मका भोग उस शरीरके द्वारा समाप्त हो जाता है, अतः वह शरीर पुनः उस जीवात्माका भोगायतन बनने लायक नहीं रहता है। इसलिये मृत पुत्रके शरीरमें पुनः उसकी आत्माको बुलाना कर्म्मविज्ञानसे विरुद्ध और असम्भव है। हां, यदि कोई शक्तिमान् पुरुष या योगी अपनी शक्तिके द्वारा उस प्रकार शरीरको भोगायतन बना सके तो उसमें वह परलोकगत आत्माको बुला सकता है। इसका दृष्टान्त शास्त्रमें बहुत मिलता है। श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रने अपने लोकलीलागुरु सान्दीपन मुनिके मृतपुत्रके भीतर इसी तरहसे जीवात्माका सन्निवेश किया था। भगवान् शङ्कराचार्यने इसी प्रकार मण्डनमिश्रकी स्त्रीसे शास्त्रार्थ करनेके बीचमें एक मृत राजाके शरीरमें अपने आत्माको प्रवेश कराकर उसे जीवित कर दिया था। सती सावित्रीने भी अपने मृत पतिको इसी तरहसे जिला दिया था, अतः अर्वाचीन पुरुषोंका ऐसा कटाक्ष निरर्थक है। इसके सिवाय तान्त्रिक शवसाधनमें मृत-शरीरके भीतर दूसरी जीवशक्तिको आवाहन करके शवसाधनकी रीति अब भी प्रचलित है और सत्य है। इस प्रक्रियामें शवदेह चेतनदेहकी तरह खाने-पीने और बोलने लगता है। अतः मूर्त्तिमें प्राणप्रतिष्ठाके विषयमें कोई भी सन्देह नहीं होना चाहिये। प्रतिमामें प्राणप्रतिष्ठाके द्वारा दैवीशक्ति लानेकी महिमाके विषयमें अथर्ववेदमें एक सुन्दर मन्त्र आता है, यथा—

"न घ्रंसस्तताप न हिमो जघान प्रनभतां पृथिवी जीरदानुः आपश्चिदस्मै घृतमित् क्षरन्ति यत्र सोमः सदमित् तत्र भद्रम्।" (७-१९-२)।

इसका अर्थ निम्नलिखित है —(यत्र) जहांपर (सोमः) प्रतिमानिहित दैवीशक्ति

रहती है (तत्र) वहांपर (सदमित्) सदा ही (भद्रं) कल्याण होता है। (ध्वंस) सूर्य (न तताप) कठिन तथा दुःखदायो उत्ताप नहीं देता है (हिमः) शिलावृष्टि (न जघान) आघात नहीं करती है, पृथिवी (जीरदानुः) शीघ्र शीघ्र अन्न उत्पन्न करती है (आपश्चित्) जल भी (अस्मै) उपासकको (घृतमित्) घृत ही (क्षरन्ति) देता है (प्रनभताम्) हे सोम ! तुम आसुरी शक्तिका नाश करो। इस मन्त्रके द्वारा मूर्तिव्यापिनी दैवीशक्ति द्वारा पृथिवीका सम्पूर्ण कल्याण साधन तथा आसुरीशक्तिका नाश ऊपरलिखित वर्णनके अनुसार प्रमाणित होता है। अतः ऊपर लिखित मूर्त्तिविज्ञानके द्वारा स्पष्ट सिद्धान्त हुआ कि श्रीभगवान्ने अनन्त भावोंमेंसे कुछ भावको लेकर प्रकृतिभेदानुसार साधारण अधिकारी साधकोंके कल्याणके लिये जो मूर्त्तिकी प्रतिष्ठा वेदादि शास्त्रोंसे सिद्ध होती है उसके द्वारा समस्त मनुष्य ही आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक सब प्रकारके लाभको प्राप्त करते हुए अन्तमें निर्गुणोंपासनाके अधिकारी बनकर ब्रह्मस्वरूपको प्राप्त कर सकते हैं।

अर्वाचीन राजनैतिक दृष्टि रखनेवाले व्यक्ति आजकल एक नई बात यह पैदा करना चाहते हैं कि हरेक देवमन्दिरमें हरेक व्यक्ति जा सकता है। जैसे भगवान् सबके हैं वैसे ही देवमन्दिरमें ब्राह्मणसे लेकर चाण्डालादि निम्नश्रेणीके मनुष्य भी क्यों नहीं जा सकते, अवश्य जा सकते हैं। अफसोस यह है कि ऐसे राजनैतिक प्रभावसे विपथगामी व्यक्ति न शुद्धाशुद्धके विज्ञानको समझते हैं और न पीठ रहस्यको समझते हैं। उपासक जब अपने शरीरमें भूतशुद्धि करके उसमें देवताको बुलाकर पुनः देवताको मूर्त्तिमें प्राण प्रतिष्ठा करके बैठाता है तभी देवमूर्ति आदि पूजने योग्य होती है। सुतरां प्राण प्रतिष्ठा करनेवाले व्यक्तिके संस्कार उस दैवीपीठमें रहा करते हैं। उस दैवीपीठरूपी मूर्तिके संस्कारके विरुद्ध उस संस्कारको विगाड़नेवाला यदि कोई कार्य उस पीठमें होवे तो पीठको अवश्य हानि पहुंचेगी। संस्कारविरुद्ध चित्तको धक्का पहुंचानेवाला कार्य यदि बार बार किसी बलवान् व्यक्तिके सामने होता रहे तो वह बलवान् व्यक्ति जैसे निस्तेज और शक्तिहीन हो जाता है वैसे ही संस्कार विरुद्ध आचारके द्वारा दैवीपीठ भी दुर्बल हो जाया करते हैं। अतः अर्वाचीन व्यक्तियोंका यह दुराग्रह शास्त्र विरुद्ध ही नहीं है, बल्कि दार्शनिक युक्ति और वैज्ञानिक सिद्धान्तके भी विरुद्ध है। जिस देवमन्दिरमें जो आचार सदासे चला आता है वहां वैसा ही रहना चाहिये। हाँ, कोई नया मन्दिर नये संस्कारके साथ जैसा चाहें वैसा स्थापित हो सकता है।

पहिले ही कहा गया है कि मूर्त्तिमें श्रद्धा-पूजा-क्रिया द्वारा श्रीभगवान्‌की शक्तिको बुलाकर उसके सुरक्षित रखनेसे ही उस मूर्तिके द्वारा शक्तिलाभ हो सकता है। अतः

यह सिद्धान्त अनायास ही प्राप्त होता है कि जिन जिन उपायोंसे मूर्त्तिमें शक्तिकी रक्षा हो सके उन्हें अवश्य करने चाहिये। अब नीचे कुछ आवश्यक उपायोंके वर्णन किये जाते हैं—

(१) मूर्त्तिमें जिस कलाकी और जिस प्रकारकी शक्ति है उससे उच्चकोटिके शक्ति-वालेको उस मूर्त्तिको प्रणाम नहीं करना चाहिये। उससे मूर्त्तिको हानि होती है अर्थात् मूर्त्तिकी शक्ति नष्ट हो जाती है। यही कारण है कि किसी छोटी जातिके संकल्प द्वारा प्रतिष्ठित मूर्त्तिको उच्च जातिके उत्तम पुरुष प्रणाम नहीं करते हैं और उत्तम दण्डी स्वामी किसी भी मूर्त्तिको शरीरसे प्रणाम न करके दण्ड स्पर्श करा देते हैं। नैपालमें ऐसी एक घटना भी हो चुकी है जिसमें एक दण्डी स्वामीके गणपति मूर्त्तिको प्रणाम शरीरसे करने पर वह मूर्त्ति खण्डित हो गई थी।

(२) मन्दिरमें व्यभिचार, वेश्यानृत्य, खराब गाना आदि नहीं होना चाहिये और मन्दिरके पुजारीको सच्चरित्र, सदाचारी, विद्वान् कर्मकाण्डी तथा श्रद्धाभक्तिपरायण होना चाहिये। चरस, अफोम, भङ्ग आदि मादकद्रव्यसेवी उसे कभी नहीं होना चाहिये।

(३) पुजारी हो, मन्दिरका अधिकारी हो या और कोई भी हो अशुचि अवस्थामें मन्दिरके भीतर किसीको नहीं जाना चाहिये। ऋतुमती स्त्रीको कदापि मन्दिरके भीतर प्रवेश नहीं करना चाहिये।

(४) प्रतिलोम संकरतासे उत्पन्न चाण्डालादि जातिके मनुष्योंको मूर्त्तिके निकटवर्ती स्थानमें नहीं जाना चाहिये। वे उतनी ही दूर तक जा सकते हैं, जहाँ तक और धर्मवालोंके जानेकी आज्ञा है। इसका कारण 'वर्णविज्ञान और स्पृश्यास्पृश्यविचार' नामक प्रबन्धमें पहिले ही कहा गया है। अवश्य उनमें भक्ति प्रेम श्रद्धा कायम रखनेके लिये देवदर्शनकी सुविधा कर देनी चाहिये। यह तीन प्रकारसे हो सकता है—

(क) मन्दिरके पास ऐसा स्थान रक्खा जाय जहाँसे देवदर्शन हो सके। (ख) मन्दिरके ऊपर केवल दर्शनार्थ भीतरकी जैसी दूसरी मूर्त्ति रख दी जाय। (ग) उनके लिये पृथक् मन्दिर बना दिया जाय। नहीं तो उनके स्पर्श द्वारा मूर्त्तिकी शक्ति लुप्त हो जानेपर मूर्त्ति पुनः पत्थर ही रह जायगी और ऐसी मूर्त्तिकी पूजासे न उनको ही कोई फललाभ होगा और न अन्य जातिके मनुष्यको ही कोई फललाभ होगा। अतः इस प्रकार दुराग्रह केवल अधर्म ही है।

(५) मन्दिरकी वनावट, गर्भगृह आदि ऐसे होने चाहिये जिसमें मूर्त्तिमें विराजमान दैवी-शक्तिकी रक्षा हो सके। आजकल कहीं कहीं पर सुन्दर बँगले जैसे जो मन्दिर बनाये जा रहे हैं, यह शास्त्रानुकूल नहीं है, यथा:—

In erecting temples rules of Silpa anp in conducting worship

rules of Agama Shastras (of which Silpa is a part) were followed. A study of the rules proves to us that the ancient sages who were perfect masters of all occult sciences took particular care to preserve the halo and the psychic impressions left by sages within the holy apartment and to prevent it from getting poluted or dissipated. The crude reforms of certain temple trustees, who introduce the un-spiritual notions of ventilation in Garbhagriha and suggest opening windows in its walls are all absurd. Sages knew ventilation well, perhaps even better than we know; for be-hold the wonderful windy halls and tower gates ! But for the Sanctum Sanctorum they followed spiritual principles of *tele-reservation* and suggestion. The *Sannidhya* or the living presence of God is very important and can work marvels sometimes. Similarly it is also now becoming a fashion to introduce electrical lights or powerful gas lights into our temples. That is again nonsense. We learn from psychic science that psychic manifestations surely get disturbed in such lights; and it is also shown that eertain *oils* (if burned) are efficacious in evoking manifestations successfully. These and more ideas were present in the minds of our sages when they framed rules for our temples. (Sanatanist 23–5–29)

अर्थात् "मन्दिर निर्माणमें शिल्पनीतिके साथ शास्त्रकी नीति भी महर्षिगण काममें लाते थे। मूर्त्तिकी दिव्य ज्योति और सूक्ष्म शक्ति जिससे पूरी बनी रहे इसीके अनुकूल मन्दिरका निर्माण हुआ करता था। आज गर्भगृहको हवादार बनानेकी जो नई युक्ति सूझ रही है वह शास्त्रानुकूल नहीं है। महर्षियोंको स्वास्थ्य-विज्ञानका पूरा पता था और इसी लिये वे मन्दिरका फाटक तथा सामनेका प्राङ्गण बहुत हो हवादार, खुला बनाते थे, किन्तु मूर्त्ति विराजनेके स्थानके विषयमें जिससे दिव्यशक्ति और देवअधिष्ठानमें कुछ हानि न हो, इसी प्रकारसे उस स्थानको बनवाते थे। आजकल गर्भगृहमें गेसकी या बिजलीकी रोशनी करनेकी जो रीति चल पड़ी है, इससे सूक्ष्मशक्तिके प्रकटमें अवश्य ही बाधा होती है, सूक्ष्मजगत्के ज्ञाता लोग इस रहस्यको जानते हैं। इसके सिवाय गव्यघृतकी रोशनी तथा विशेष प्रकार तेलकी रोशनीमें दिव्यशक्ति प्रकाशनकी शक्ति है, वह भी गेस आदिकी रोशनीमें बिगड़ जाती है।" इत्यादि अनेक कारणोंसे शास्त्रानुसार मन्दिर निर्माण होना चाहिये।

(६) देवताको चेताने अर्थात् मूर्तिमें चेतन दिव्यशक्ति प्रकट करनेके लिये अनुष्ठान, पुरश्चरण, अभिषेक, यज्ञ आदि होते रहने चाहिये। ऐसा होते रहनेसे मूर्ति दिव्यशक्तिकी आधार बन जाती है, कितने ही मनुष्योंको उत्तम स्त्रप्न, स्वप्नमें औषधि आदि देती है, उसके सामने प्रार्थना पूजा, धर्ना आदि करनेसे रोगनाश, सम्पत्तिलाभ आदि होने लगते हैं। इसके विषयमें बहुत प्रमाण भी मिलते हैं, यथा :—

Daily hundreds of Hindus to-day pilgrimage to one or another of the sacred shrines in India. They hope to be cured of some physical or psychical malady or other ; and invariably their hope is not disappointed Tirupati (Balaji) Palni and a few others have become pan-Indian in their fame for this purpose.

Dr. C. L. D. Avoine recently delivered a lecture pointing out the curative efficacy of one of the Roman catholic shrines at Lourdes. Many genuine miracles of cure are reported and verified there. Besides Lourdes, La salette is widely visited. It is reported that here till now 40,000 miracles have taken place. Lourdes however out-beats it to-day. The Doctor said that shrine cures had been known since the dawn of history and suffering humanity had always resorted to wonderful shrines for the cure of their ailments. Such shrines abounded in Egypt. Greece, Rome, Crete, Persia and India.

(Sanatanist 20-5-1930)

प्रतिदिन शत-शत हिन्दू भारतके पवित्र मन्दिरोंमें दर्शन पूजाके लिये जाते हैं और वहाँ पर विराजमान मूर्तियोंकी दिव्यशक्तिके प्रभावसे स्थूल सूक्ष्म अनेक रोग आराम हो जाते हैं यह उनका विश्वास है। उनका यह विश्वास असत्य नहीं है, क्योंकि बालाजी, पाल्नी आदि कितने ही मन्दिरोंमें ऐसी शक्ति भारत प्रसिद्ध है। अभी हाल ही में डाक्टर डी. एभैनने लोर्डेके एक रोमन कैथलिक उपासनालयकी ऐसी शक्तिको बताकर व्याख्यान दिया था। उसमें कितने ही चमत्कार तथा रोगनाशके व्यापार देखनेमें आते हैं। ला सेलेटेके उपासनालयमें अब तक चालीस हजार चमत्कार देखनेमें आये हैं। लोर्डेमें अब उससे भी अधिक हो गया है।

डाक्टर साहबका कहना है कि अति प्राचीनकालसे देवस्थानोंकी ऐसी रोगनाशिनी शक्ति प्रसिद्ध है और रोगग्रस्त दुःखी लोग उनमें दुःख मिटानेको एकत्रित होते हैं।

मिसर, ग्रीस, रोम, पारस्य, भारत आदि कितने ही देशोंमें ऐसे अनेक देवस्थान विद्यमान हैं।

(७) मन्दिरमें खास खास धूप, सुगन्ध द्रव्य आदि जलाते रहने चाहिये। यज्ञादिकी पवित्र तथा रोगनाशकारी और अपदेवताकी प्रवेशनाशक धूप जितनी ही मन्दिरकी चारों ओर व्याप्त रहेगी उतनी ही दिव्यशक्तिका सञ्चार, मन्दिरमें बना रहेगा, इसमें इस देशके अतिरिक्त पश्चिमदेशके विद्वानोंने भी बहुत कुछ तत्त्व अन्वेषण कर लिया है, यथा :—

Material and occult scientists agree that perfumes expand the consciousness and under proper conditions, may exalt the sense faculties or craftily selected from gross and sensual ingredients may as powerfully degrade. From ancient times incense has been employed to summ ondiscarnate entities and exorcismal aromatics used to banish demoniac spirits. We are most careless in our use of odors and particularly in the use of incense, selecting at random the least magical, least exalting as well as the least religious in favour of voluptuous and heavy odors, ignorant of the gross base of these odors and their effect upon our astral bodies as well as of the sensual and material entities which they attract. Yeats counsels us to 'steep the mind in odors as in color and sound to produce vision.' Oriental and occidental occultists improvise reactions upon the astral plane thru use oj incense, inducing entranced reveries and stimulating prenatal memory and the retrospect of myriad incarnations and conjuring psychic visions for "like a magic mirror the spirals of filmy vapor unfold an aerial perspective of spirit realms." Certain ingredients in incense are rendered magical in effect thru elemental influence. The extract of certain plants fermented or distilled is a special link between the physical and the clemental life. It opens the door by which the physical and astral worlds are separated. Depending upon the nature of incense and perfumes employed, lofty intelligences are invited or obsessing entities attracted. Here enters the law of sympatby and antipathy and the quality of phenomena resultsing and vibratory conditions induced.

The reason why the rose and the poison oak may grow in the same soil and extract therefrom and from the air different qualities is due to the seal or signature which is in the seed which permits the use of certain combinations only and forccs the concentration according to the effect of the signature.

In certain plants and animals, as in certain groups of humanity, the fiery element is concentrated; in others the watery; airy or earthly element predominates. Every element must follow its seal. The sensation produced by smell, taste, sight, etc. is idiosyncratic in its varying influence, individual reaction depending upon the manner in which the human elemental is effected by the seal. Naturally the human elemental is most agreeably affected by those gems, colors, odors and tones which have a seal similar to his own. Incense identifies with the fire spirit as renovator and purifier. In Temple Teachings the writer has endeavoured to present the rationale of Incense, outlining its full significance and effect, showing precisely why odor in certain walks of life is so potently employed for evil. As a sanitary measure incense is unrivalled. From the days of the early Christian martyrs who used it as an antiseptic fume in the catacombs, its power has been recognized in nullifying devastating epidemics Genuine incense is distinctly hostile to all negative vibrations such as worry, inharmony and grief. The mystic employs incense in the demagnetization of rooms whenever an unpleasant atmosphere has been created or when undesirable astral conditions prevail. That even the Occident is being gradually awakened to the subtle influence of incense as shown by its use in Roosevelt Memorial Park, the uniqe cemetry in Los Angels where no monument or other reminder of death will ever rise, but where every evening at sunset the world's largest pipe organ will be heard within a radius of five miles, and as the deep-throated tones of the organ crescendo into a volume of

sound, two enormous braziers above the entrance of the building will send forth continuous spirals of incense. Inner harmony, the attunement of soul to its individual keynote, perforce expresses only harmony on the objective plane. The Mystic or true Occultist instinctively selects those names, numbers, colors, gems, perfumes and incense which are the natural expression of his inner being and are attuned to his individual key. Many earnest students seeking spiritual unfoldment, mental development and material success are floundering thru a maze of self-imposed inharmonies, unconsciously affording thru an unhappy selection of color, gem, number, perfume or similar agency, a perfect channel for the expression of his most malefic planetary influences. And so let us remember, that the physical, mental and spiritual conditions which environ us are the result of harmonies or discords played upon us by our NAMES, NUMBERS, the SELECTION of GEMS, PERFUMES, INCENSE, etc. Untaught, we may evoke jarring discord which with UNDERSTANDING we may transform into sweetest melody for "Nature is conquered by obedience and all her mighty forces can be used at our bidding directly we have the knowledge to work WITH the LAW and not against it" And so when made of gums and essences the undulatory rate of which harmonizes with spiritual devotional vibrations incense burning becomes an invocation, the soft prayer of aspiration, of devotion, from which emanates a tangible beauty uniting the soul to the Infinite source of Beauty.

(The Necromancy of the Brazier—Artic Mae
Blackburn—Kalpaka 10-1934.)

इसका सारांश यह है—स्थूल सूक्ष्म दोनों विज्ञानशास्त्रके ज्ञाताओंने गन्ध द्रव्यकी अद्भुत शक्तिके विषयमें बहुत कुछ कहा है। इन्द्रियोंकी शक्ति इसके उत्तम प्रयोगसे बढ़ती और अधक प्रयोगसे घटती है, भूत प्रेत आति अपदेवताओंके हटानेके काममें भी इसका उपयोग होता है। पूर्व पश्चिम दोनों देशोंके परलोक विद्यावाले कहते हैं कि सूक्ष्मजगत्

पर गन्ध द्रव्योंका बड़ा ही प्रभाव होता है, क्योंकि स्थूल-सूक्ष्म दोनों जगत्का परस्पर सम्बन्ध है और इनके अन्तर्गत जीव तथा देवताओंका भी परस्पर सम्बन्ध है। गन्ध द्रव्य तथा उसकी धूम आदिद्वारा इस सम्बन्धका विशेष प्रकाश होता है जिस कारण सूक्ष्मजगत्के देवतागण स्थूलजगत्में आकृष्ट होते हैं और ऐसी क्रिया करनेवालेके अतःकरणमें बड़ी दूर दूरकी बातें सूझ जाती हैं। पृथिवी, जल, अग्नि, वायु इन चार तत्त्वोंमेंसे प्रत्येक मनुष्यमें एक न एक तत्त्व प्रबल रहता है। रत्न रङ्ग गन्ध शब्द-इनका प्रभाव इसी तत्त्वके विचारसे मनुष्यों पर पड़ता है अग्नितत्त्वप्रधान जीव पर गन्धद्रव्यका अधिक प्रभाव पड़ता है। मन्दिरशिक्षा के विषयमें यह विदित ही है कि गन्धद्रव्यके प्रयोगसे भूतबाधा-निवृत्ति होती है और स्थूल रूपमें कीटाणुनाशकी शक्ति गन्धद्रव्यमें आश्चर्यजनक है, जिसका उपयोग इसाई लोग भी करते हैं। चिन्ता, दुःख, विषमता आदिके 'नेगेटिभ' स्पन्दन उत्तम गन्ध द्रव्यसे शीघ्र नष्ट हो जाते हैं। इसलिये इन कारणोंसे तथा सूक्ष्मजगत् सम्बन्धी अन्य कारणोंसे वायुमण्डल या कोई घर जब खराब होने लगता है तो सूक्ष्मविद्या वाले लोग गन्धप्रयोगद्वारा उसे दूर कर देते हैं। पश्चिम देशमें गन्धद्रव्यका प्रयोग अब अधिक बढ़ने लगा है। और इसका प्रभाव उन्हें अधिक मालूम होने लगा है। लज् एन्जिलिसके रोजभेल्ट नामक प्रसिद्ध कबरस्थानमें अब कोई स्मारक मकान नहीं बनाया जाता है, केवल पांच मील तक शब्द पहुंचानेवाला एक बड़ा भारी 'अर्गान' बाजा बजता है, और बगीचेके फाटकके ऊंचे स्थान पर प्रचुर गन्धद्रव्य मोटे-मोटे पीतलके बर्तनमें रख कर खूब धूँए किये जाते हैं। अन्तरात्मा और बहिःप्रकृतिका सामञ्जस्य ही समस्त शान्ति और आध्यात्मिक उन्नतिका मूल है। इस सामञ्जस्यकी रक्षामें नाम, संख्या, रंग, रत्न, गन्ध और गन्धद्रव्य इनकी बड़ी ही उपयोगिता है, जिसको सूक्ष्म विद्यावाले जानते हैं। और सभी मनुष्योंको स्थूल-सूक्ष्म कल्याण के लिये इस तत्त्वका ज्ञान होना चाहिये। अतः दैवी शक्तिकी वृद्धिके लिये गन्धद्रव्य का प्रयोग अवश्य कर्तव्य है।

अन्तमें 'बलिदान रहस्य' पर कुछ कह कर इस प्रकरणका उपसंहार किया जायगा। इष्टपूजाके षोडश उपचारोंमेंसे बलिदान प्रधान उपचार है जिसके बिना पूजा पूरी ही नहीं होती है। इसका कारण यह है कि उपासकने यदि उपासनाके अन्तमें, पूजकने पूजाके अन्तमें उपास्य पूज्य इष्टदेवमें अपना सब कुछ बलिदान देकर उपास्यदेवसे अपना भेद भाव मिटा न दिया, उपास्य में विलीन, तन्मय होकर तद्रूप ही न हो गया, 'ब्रह्म विद् ब्रह्मैव भवति' 'शिवो भूत्वा शिवं भजेत्' यही भाव न प्राप्त हुआ, 'दासोऽहं' का 'दा' नष्ट होकर 'सोऽहं' ही न हो गया तो पूजाकी पूर्णता क्या हुई! इसी कारण बलिदान पूजाका प्रधान अंग है। बलिदानके बिना न जगन्माता ही प्रसन्न होती है और न भारतमाता ही प्रसन्न हो सकती

है। जिस देशमें जितने बलिदान करनेवाले देशसेवक, देशनेता उत्पन्न होते हैं, उस देशकी उतनी ही सच्ची उन्नति होती है। यह बलिदान चार प्रकारका होता है। सबसे उत्तम कोटिका बलिदान—आत्मबलिदान—कहलाता है। इसमें साधक जीवात्माको काट कर परमात्मा पर आहुति चढ़ा देता है। इस बलिदानके द्वारा परमात्मासे अज्ञानवश जीवात्माकी जो पृथक्ता थी सो एक बारगी नष्ट हो जाती है और साधक स्वरूपस्थित होकर अद्वितीय ब्रह्मका साक्षात्कार करता है। जबतक यह न हो सके तब तक द्वितीय कोटिका बलिदान करना चाहिये। इसमें कामरूपी बकरा, क्रोधरूपी भेंड़, मोहरूपी महिषका बलिदान किया जाता है। अर्थात् षड्रिपुका बलिदान ही द्वितीय कोटिका बलिदान है। तृतीय कोटिमें इतना न हो सकने पर किसी न किसी इन्द्रियप्रिय वस्तुका बलिदान होता है। प्रत्येक विशेष पूजाके अन्तमें जिसको जिस वस्तु पर लोभ है उसका बलिदान अर्थात् संकल्पपूर्वक त्याग कर देना चाहिए। यही तृतीय कोटिका बलिदान है। इस प्रकारसे मिठाई, प्याज, लहसुन, मादक वस्तु आदिके प्रति आसक्ति छूट सकती है। यदि ऐसा भी न हो सके तो क्रमशः छुड़ानेके लिये चतुर्थ कोटिका बलिदान है, यथा श्रीमद्भागवतमें—

लोके व्यवायामिषमद्यसेवा नित्यास्तु जन्तोर्न हि तत्र चोदना।
व्यवस्थितिस्तासु विवाहयज्ञसुराग्रहैरासु निवृत्तिरिष्टा॥

मैथुन, मांसभक्षण, मद्यपान—इसमें लोगोंकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है, इसके लिये किसीको बताना या प्रेरणा करना नहीं पड़ता है। मनुजीने 'प्रवृत्तिरेषा भूतानां' कह कर इसी सिद्धान्तकी पुष्टि की है। किन्तु 'निवृत्तिस्तु महाफला' अर्थात् मनुष्यको प्रवृत्ति छोड़ कर क्रमशः मोक्षफलदायक निवृत्तिकी ओर अग्रसर होना चाहिये। इसी कारण व्यवस्था बाँधकर इन वृत्तियोंको क्रमशः नियमित करते हुए इनसे निवृत्ति करानेके अर्थ विवाह, यज्ञ, और सोमपान आदिका विधान राजसिक अधिकारमें किया गया है। यही कारण है कि विवाहके समय स्त्री-पुरुष प्रतिज्ञाबद्ध होते हैं कि संसारसे कामभाव उठाकर अपनेहीमें केन्द्रीभूत करके क्रमशः निवृत्तिपथके पथिक बनेंगे। राजसिक वैदिक, तान्त्रिक यज्ञमें हिंसादिका भी यही समाधान है। अर्थात् स्वभावतः सात्त्विक प्रकृति मनुष्योंके लिये यह यज्ञ नहीं है। जो लोग मांसादि सेवन पहिलेसे करते हैं वे पूजादिके नियमके बद्ध होकर क्रमशः मांसाहार छोड़ दें यही इसका आशय है। जब वेद पूर्ण पुस्तक है तो इसमें केवल सात्त्विक नहीं, किन्तु सकल अधिकारियोंके कल्याणके लिये विविध-विधान होना चाहिये, इसी कारण राजसिक अधिकारीको क्रमशः सात्त्विक बनानेकी इस प्रकारकी विधियाँ यज्ञरूपसे शास्त्रमें बताई गई हैं। किसीके संहार, मारण, मोहन आदिके लिये विधिहीन,

अमन्त्रक पूजादि तामसिक है। पूजामें भी दक्षिणाचारके अनुकूल सात्त्विक पूजामें पशुबलि नहीं है, किन्तु कूष्माण्ड, इक्षु, निम्बू आदिकी बलि है। केवल वामाचारके अनुकूल राजसिक पूजामें पशुबलिका विधान है, यथा महाकालसंहितामें—

सात्त्विको जीवहत्यां हि कदाचिदपि नाचरेत्।
इक्षुदण्डं च कूष्माण्डं तथा वन्यफलादिकम्॥
क्षीरपिण्डैः शालिचूर्णैः पशुं कृत्वा चरेद्बलिम्।

सात्त्विक अधिकारके उपासक कदापि पशुबलि देकर जीवहत्या नहीं करते हैं, वे ईख, कोंहड़ा या अन्य फलोंकी बलि देते हैं अथवा खोआ, आटा या चावलके पिण्डका पशु बनाकर बलि देते हैं। यह सब भी रिपुओंके बलिदानका निमित्तमात्र ही है, यथा महानिर्वाणतन्त्रमें—

"कामक्रोधौ द्वौ पशू इमावेव मनसा बलिमर्पयेत्।
कामक्रोधौ विघ्नकृतौ बलिं दत्त्वा जपं चरेत्"॥

काम और क्रोधरूपी दोनों विघ्नकारी पशुओंका बलिदान करके उपासना करनी चाहिये। यही सब शास्त्रोक्त बलिदान रहस्य है।

अब मन्त्रशास्त्रके विषयमें दिग्दर्शन कराया जाता है। आदि मन्त्र प्रणवके विषयमें 'नित्यकर्म' नामक प्रबन्धमें पहिले ही बहुत कुछ कहा गया है। योगशास्त्रमें लिखा है—

साम्यस्थप्रकृतेर्यथैव विदितः शब्दो महानोमिति,
ब्रह्मादित्रितयात्मकस्य परमं रूपं शिवं ब्रह्मणः।
वैषम्ये प्रकृतेस्तथैव बहुधा शब्दाः श्रुताः कालतः,
ते मन्त्राः समुपासनार्थमभवन् बीजानि नाम्ना तथा॥

सत्त्व रज तम तीनोंकी साम्यावस्थासे जब वैषम्यावस्थाका होना प्रारम्भ हुआ तो सबसे प्रथम हिल्लोल जो हुआ जिस समय तीनों गुण एक साथ स्पन्दित हुए उस हिल्लोलकी ध्वनि ही ओंकार है जैसा कि पहिले बताया गया है। जिस प्रकार साम्यावस्थासे सम्बन्ध रखनेवाली प्रकृतिका शब्द ब्रह्मा, विष्णु, शिवात्मक ओंकार है, उसी प्रकार वैषम्यावस्थापन्न प्रकृतिके नाना शब्द हैं, वे ही नाना शब्द उपासनाओंके अनेक बीजमन्त्र हैं।

भगवान् पतञ्जलिने ॐकारको ईश्वरका वाचक कहा है, यथा योगदर्शनमें—

"तस्य वाचकः प्रणवः" "तज्जपस्तदर्थभावनम्"
"ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च"

ॐकार ईश्वरका वाचक है, ॐकारका जप तथा अर्थभावनाके द्वारा ईश्वरप्राप्ति तथा विघ्नविनाश हुआ करता है। जिस प्रकार प्रिय नाम लेकर पुकारनेसे लोग प्रसन्न होकर उत्तर देते हैं उसी प्रकार श्रीभगवान्‌का प्रिय नाम ॐकार उच्चारण करके उनको बुलानेसे भगवान् भी प्रसन्न होकर दर्शन देते हैं। ॐकार ही ईश्वर का मन्त्र है।

अब वर्तमान प्रकरणका यह प्रतिपाद्य विषय है कि किस प्रकारसे ऊपर लिखित वर्णनोंके अनुसार शब्दराज्यमें ॐकारके साथ ईश्वरका और अन्याय मन्त्रोंके साथ अन्याय देवताओंका अधिदैव सम्बन्ध है जिस कारण ॐकारके जपसे ईश्वर तथा अन्याय मन्त्रोंके जपसे तत्तद्देवता प्रसन्न होते हैं। यह बात वेदसम्मत है कि प्रलयके समय समस्त जीवोंका संस्कार प्रकृतिमें और प्रकृति ईश्वरमें लय ही रहती है। पुनः प्रलयविलीन जीवों के समष्टि संस्कार फलोन्मुख होनेसे ईश्वरमें यह स्वतः इच्छा होती है कि "मैं एकसे बहुत हो जाऊँ और संस्कारानुसार सृष्टि करूँ" उस समय भगवान्‌में सृष्टिका संकल्प उदय होते ही उनकी अद्वैतसत्तामें त्रिगुण समावेशके अनुसार ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर रूपी त्रिभावकी सत्ता परिस्फुट होने लगती है और उनके संकल्पसे उत्पन्न प्राणशक्तिकी प्रेरणासे ब्रह्माण्डप्रकृतिमें जहाँ पर अभी तक सत्त्वरजस्तमोगुणकी समता थी त्रिगुणका वैषम्य होने लगता है। त्रिगुणमयी प्रकृतिका गुणसाम्य प्रलयदशाका लक्षण है और वैषम्य सृष्टिदशाका लक्षण है। अतः उस समय परमात्माके संकल्पके साथ-साथ मूलप्रकृतिमें कम्पन होने लगता है, जैसा कि योगशास्त्रमें कहा गया है कि जहाँ कार्य होता है वहाँ कम्पन होता है और जहाँ कम्पन होता है वहाँ शब्द होता है। इस सिद्धान्तके अनुसार मूल प्रकृतिमें सृष्टिकार्यकी सूचना होते ही त्रिगुणमें कम्पन होता है और जिस प्रकार एक थालीमें जल रखकर थालीके हिलानेसे एकबार समस्त जल हिल उठता है और पश्चात् जलके भिन्न-भिन्न देशमें कम्पन होकर भिन्न-भिन्न तरंग उठते हैं उसी प्रकार सृष्टिकी सूचना होते ही समस्त ब्रह्माण्डकी मूल प्रकृतिके एकदम हिल जानेसे कम्पनजनित प्रथम एक शब्द होता है उसीका नाम ॐकार है। इस कारण अधिदैव जगत्‌में प्रथम शब्द होनेसे ॐकारके साथ ईश्वरका वाच्य-वाचक सम्बन्ध है। पहिले कहा गया है कि सृष्टिके समय यह क्रम निश्चय हुआ—परमात्माके अन्तःकरणमें सिसृक्षा—तदन्तर त्रिगुण समतायुक्त प्रकृतिमें वैषम्यजनित गुणस्पन्दन तथा ॐकार नादका प्रकाश, अतः ॐकारके साथ परमात्माका साक्षात् दैवसम्बन्ध है—मानो ॐकार उनका नाम ही है; क्योंकि गुणातीत साम्यावस्था प्रकृतियुक्त निष्क्रिय ब्रह्मभावमें जब सिसृक्षा उत्पन्न हुई तो वही भाव सगुण ब्रह्म अर्थात् ईश्वरभाव कहाया। उसी भावके साथ जो साक्षात् सम्बन्ध रखनेवाला शब्द होगा सो अवश्य ही ईश्वरका वाचक अर्थात् प्रथम नाम होगा। इसी प्रकार वैषम्यावस्था प्रकृति के प्रधान विभागोंके साथ जिन शब्दोंका

सम्बन्ध है वे बीजमन्त्र हैं। यही ॐकारके अकार, उकार, मकारके साथ त्रिदेवसम्बन्ध और समस्त मन्त्रोंके साथ देवताओंके सम्बन्धका कारण है। जब प्रकृति सृष्टि—अभिमुखीन हो गई तो त्रिगुणोंमें पुनः स्पन्दन होगा; क्योंकि त्रिगुणोंके विकारके द्वारा ही समस्त सृष्टि होती है, अतः आधिभौतिक राज्यमें गुणस्पन्दन द्वारा पञ्चतत्त्व आदिके क्रमविकाससे जड़-चेतनात्मक जगत्की सृष्टि होगी और शब्दराज्यमें प्रकृतिके नाना प्रकारके स्पन्दनोंके द्वारा नाना प्रकारके शब्द उत्पन्न होंगे। यही सब शब्द प्रथम अवस्थामें नाना बीजमन्त्र और उसके बादके परिणाममें देवनागरी वर्णमाला और नाना भाषाके शब्द हैं। प्रकृतिके प्रथम स्पन्दन द्वारा ॐ बीज उत्पन्न हुआ और तदनन्तर द्वितीय स्पन्दनमें आठ प्रकृतिके अनुसार अष्ट बीजमन्त्रकी उत्पत्ति हुई। गीता में लिखा है—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥

भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार, परमात्माकी मायाशक्ति इसी अष्टभागमें विभक्त है। इसी प्रकार प्रकृतिके अष्ट स्पन्दनानुसार अष्ट बीजमन्त्र हैं और तदनन्तर प्रकृतिके भिन्न-भिन्न अंगमें अनेक स्पन्दन और तदनुसार अनेक मन्त्र होते हैं और इससे यह भी बात स्वतः सिद्ध हो जाती है कि जिस प्रकार समस्त ब्रह्माण्ड प्रकृतिके स्पन्दनजनित शब्द ओंकारके साथ ब्रह्माण्डनायक ईश्वरका अधिदैव सम्बन्ध होने से ओंकार उनका मन्त्र है, उसी प्रकार प्रकृतिके जिस विभागके कम्पन से जो मन्त्र उत्पन्न होंगे उस विभागके अधिष्ठाता देव या देवीके साथ उस मन्त्रका अधिदैव सम्बन्ध रहनेसे उस देवता या देवीके साधनके लिये वे ही मन्त्र होंगे। महर्षिगणने जिस प्रकार प्रकृतिके भिन्न-भिन्न विभागमें संयम करके तत्तद्विभागोंपर अधिष्ठात्री देवताओंकी मूर्ति बताई है उसी प्रकार प्रकृतिके उन विभागोंके स्पन्दन द्वारा उत्पन्न शब्दों को भी संयमद्वारा सुनकर तत्तद्देवताओंके मन्त्ररूपसे उन उन शब्दोंका विधान किया है। प्रकृतिका जो प्रथम स्पन्दन व्यापक प्रकृतिमें एक महान् शब्द उत्पन्न करता है उसीके ही परिणामरूपसे अनेक शब्द उत्पन्न होते हैं ऐसा सिद्धान्त ऊपरलिखित शब्दोत्पत्ति-विज्ञानके द्वारा स्पष्ट होता है। इसलिए प्रथम महान् शब्द ओंकारसे ही अन्याय समस्त मन्त्रों की उत्पत्ति हुई है और संसारके जितने शब्द और वर्णमालाके वर्ण हैं सभी ओंकाररूपी महाशब्दके विकारसे उत्पन्न हुए हैं ऐसा समझना शास्त्रसम्मत होगा।

इस प्रकारसे ॐसे लेकर समस्त मन्त्रोंकी उत्पत्ति समष्टि प्रकृतिकी तरह व्यष्टि प्रकृति में होती है। केवल इतना ही नहीं, अधिकन्तु व्यष्टि प्रकृति समष्टि प्रकृतिकी ही

प्रतिकृति या प्रतिबिम्ब होनेसे समष्टि प्रकृतिके प्रत्येक स्पन्दनका आघात व्यष्टि प्रकृतिमें और व्यष्टि प्रकृतिके प्रत्येक स्पन्दनका आघात समष्टि प्रकृतिमें होता है और व्यष्टि प्रकृतिके प्रत्येक स्तरका समसम्बन्ध समष्टि प्रकृतिके उसी अधिकारके स्तरके साथ रहता है। इसलिये इसके नादका प्रतिबिम्ब उसमें और उसके नादका प्रतिबिम्ब इसमें आ गिरता है। इसलिये साधक अपनी व्यष्टि प्रकृतिके जिस जिस स्तर पर चित्तको संयत करता है उसीमें ही समष्टि प्रकृतिके तत्तत् स्तरका नाद सुन सकता है। दृष्टान्तरूपसे समझ सकते हैं कि साम्यावस्था प्रकृतिका प्रथम शब्द प्रणव होनेसे जिस समय साधक अपनी व्यष्टि प्रकृतिको भी साम्यावस्था पर पहुँचावेंगे उसी समय अपनी प्रकृतिमें ही समष्टि प्रकृतिके प्रथम नाद ओंकारको सुन सकेंगे। वह नाद मूलाधार चक्रस्थित कुलकुण्डलिनीसे निकलकर सहस्रारमें जा लय हो जायगा। उसी प्रकार अपनी व्यष्टि प्रकृतिकी पूर्ण साम्यावस्थाके अतिरिक्त जिस-जिस स्तर पर संयम करेंगे उस स्तरके साथ समष्टि प्रकृतिके जिस स्तरका समसम्बन्ध है उस स्तरके नादका प्रतिबिम्ब अपनी प्रकृतिमें अनुभव करेंगे। इसी प्रकारसे महर्षिगण अपनी प्रकृतिमें ही समष्टि प्रकृतिके नादको सुनते हैं और उन्हीं नादोंके अनुसार ही श्रीभगवान् तथा उनकी शक्तिस्वरूप भिन्न-भिन्न देवताओंके साधनार्थ मन्त्रसमूह और संस्कृत-वर्णमालाओंका आविष्कार उन सब अतीन्द्रियदर्शी महर्षियोंके द्वारा हुआ है। समष्टि प्रकृतिके प्रथम स्पन्दन द्वारा प्रणवमन्त्रकी उत्पत्तिके अनन्तर द्वितीय स्पन्दनमें जो गीतोक्त वर्णनके अनुसार अष्टप्रकृतिका कम्पन हुआ है उससे प्रधान अष्ट बीजकी उत्पत्ति हुई है। इनके नाम मन्त्रशास्त्रमें, यथा—

बीजमन्त्रास्त्रयः पूर्वं ततोऽष्टौ परिकीर्तिताः।
गुरुबीजं शक्तिबीजं रमाबीजं ततो भवेत् ॥
कामबीजं योगबीजं तेजोबीजमथापरम् ।
शान्तिबीजं च रक्षा च प्रोक्ता चैषां प्रधानता ॥

बीजमन्त्र प्रथम तीन और तदनन्तर आठ हैं, यथा—गुरुबीज, शक्तिबीज, रमाबीज, कामबीज, योगबीज, तेजबीज, शान्तिबीज और रक्षाबीज। क, ल, ई और मकारसे कामबीजका अनुभव होता है। क, र, ई और मकारसे योगबीजका अनुभव होता है। आ, ए और मकारसे गुरुबीजका अनुभव होता है। हकार, रकार, ईकार और मकारसे शक्तिबीजका अनुभव होता है। शकार, रकार, ईकार और मकारसे रमाबीजका अनुभव होता है। टकार, रकार, ईकार और मकारसे तेजबीजका अनुभव होता है। सकार, तकार,

रकार, ईकार और मकारसे शान्तिबीजका अनुभव होता है और हकार, लकार, ईकार और मकारसे रक्षाबीजका अनुभव होता है। योगशास्त्रमें लिखा है—

अष्टौ प्रकृतयः प्रोक्ताः कारणब्रह्मणो यथा।
याभिराविर्भवेदिदं कार्यब्रह्म सनातनम् ॥
तथा प्रधानभूतानि बीजान्यष्टौ मनीषिभिः।
अष्टौ प्रकृतयः प्रोक्ताः कार्यरूपस्य ब्रह्मणः ॥

जिस प्रकारकी कारण ब्रह्मकी आठ प्रकृति है, जिससे कार्यब्रह्म उत्पन्न हुआ है, वैसे ही शब्दब्रह्मके ये आठ बीज प्रकृति हैं। ये ही प्रधान बीज कहाते हैं ये सब प्रकारकी उपासनामें कल्याणकारी हैं। शास्त्रान्तरमें इनके नाम भेद भी पाये जाते हैं। इसके अनन्तर प्रकृतिके विस्तारके साथ साथ अनेक मन्त्र निर्णीत किये जाते हैं जो भिन्न भिन्न देवताओंके प्रीत्यर्थ निर्दिष्ट हैं।

शास्त्रमें मन्त्रोंकी असाधारण शक्ति बताई गई है, जिससे भगवान् प्रसन्न, देवता वशीभूत और अनेक प्रकारकी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, यथा योगशास्त्रमें—

मन्त्रयोगी मन्त्रसिद्धया तपःसिद्धया हठान्वितः।
ऐशीं विभूतिमाप्नोति लययोगी च संयमैः ॥
मन्त्रसाधनतो देवा देव्यः संयान्ति वश्यताम्।
विभवाश्चैव जगतो यान्ति तस्योपभोग्यताम् ॥

मन्त्रयोगी मन्त्रसिद्धि द्वारा, हठयोगी तपःसिद्धि द्वारा और लययोगी संयमसिद्धि द्वारा ऐशी विभूतियोंका लाभ किया करते हैं। मन्त्रसाधनद्वारा देव-देवीगण स्वतः ही वशीभूत हो जाते हैं और मन्त्रयोगमें सिद्धिप्राप्त योगीको संसारके सब वैभव सुलभ हो जाते हैं। श्रीभगवान् पतञ्जलिने योगदर्शनमें मन्त्रके द्वारा सिद्धि प्राप्त होती है ऐसा लिखा है यथा—

"जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः"

पूर्वकर्मके वेगसे कभी कभी जन्मसे ही सिद्धि प्राप्त होती है, औषधिके द्वारा सिद्धि प्राप्त होती है, मन्त्रके द्वारा सिद्धि प्राप्त होती है और तपस्या और समाधिके द्वारा सिद्धि प्राप्त होती है। प्रकृति श्रीभगवान्की शक्तिस्वरूपिणी होनेसे उनमें अनन्त शक्ति भरी हुई है। उस शक्तिका विकाश सूक्ष्मसे स्थूलपर्यन्त समस्त प्राकृतिक पदार्थमें विद्यमान है। प्रत्येक वस्तुकी शक्ति जितनी ही वह वस्तु स्थूलसे सूक्ष्मताको प्राप्त होती उतनी ही विकाशको

प्राप्त होती है। दृष्टान्तरूपसे समझ सकते हैं कि अन्तःकरणके विकाशरूप स्थूलदेहमें जितनी शक्ति है उससे अनेकगुण शक्ति सूक्ष्मदेह अन्तःकरणमें विद्यमान है। शरीर तीन वर्षमें जहाँ पर नहीं जा सकता है, मन शरीरसे सूक्ष्म होनेसे इतनी शक्ति रखता है कि एक पलमें ही वहाँ पर चला जा सकता है। इस तरह अन्यान्य सूक्ष्म वस्तुमें भी समझ सकते हैं। जलमें जो शक्ति है; जलके सूक्ष्म परिणामरूप वाष्प तथा वाष्पपुञ्जरूप मेघमें इससे अनेक अधिक शक्ति है जो बिजलीके रूपसे मेघमालामें विलास किया करती है। जब प्रकृतिके विविध विकारके द्वारा उत्पन्न लौकिक शब्दके भीतर ही इतनी शक्ति विद्यमान है कि उसके द्वारा मनुष्य वशीभूत होते हैं और केवल मनुष्य ही नहीं राग-रागिनीके साथ उसे प्रयोग करने पर क्रूर सर्प और मदमत्त हस्ती पर्यन्त वशीभूत हो जाते हैं, तो प्रकृतिके विशेष स्पन्दनके द्वारा उत्पन्न दिव्य शब्दोंके भीतर बहुत ही शक्ति होगी इसमें क्या संदेह हो सकता है; क्योंकि प्रकृतिके स्पन्दनजनित मन्त्रसमूह प्रकृतिके सूक्ष्मराज्यका परिणाम है इसलिये सूक्ष्म दिव्य नामरूपी मन्त्रोंमें अनन्तशक्तिरूपिणी प्रकृतिमाताकी अनन्तशक्ति भरी हुई है। जिस प्रकार समस्त सूक्ष्म ब्रह्माण्डप्रकृतिको कँपा कर प्रणव नादकी उत्पत्ति होनेसे उसमें समस्त ब्रह्माण्डप्रकृतिकी अनन्त शक्ति भरी हुई है; उसी प्रकार अन्यान्य जो मंत्र प्रकृतिके जिस विभागको कँपाकर उत्पन्न होता है, उस मंत्रमें प्रकृतिके उस सूक्ष्म विभागकी शक्ति निहित रहती है। प्रत्येक सूक्ष्म राज्यके विभागके जो अधिष्ठात्री देवता हैं वे ही उक्त राज्यसंबंधीय शक्तिके अधिनायक हैं; क्योंकि बिना दैवसंबंधके शक्तिका प्रयोग नहीं हो सकता है। पहिले हो सिद्ध किया गया है कि जड़ कर्मके चालक देवतागण हैं। दैवी सहायतासे ही शक्ति उत्पन्न होकर कर्मकी उत्पत्ति तथा कर्मफलकी प्राप्ति होती है। अस्तु, मंत्रके साथ जब दैवीशक्तिका साक्षात् संबंध है तो मंत्रकी सहायतासे यथावत् शक्तिका प्रकाश होना स्वतः सिद्ध है। यही मंत्रोंमें शक्तिके आविर्भावका विज्ञान है। जिन अक्षरोंके परस्पर समन्वयसे मंत्र बनते हैं वे इस तरहसे मिलाये जाते हैं कि जिस प्रकार धातु और रासायनिक पदार्थोंको विचारपूर्वक मिलानेसे उसमेंसे बिजलीकी शक्ति प्रकाश होती है उसी प्रकार शक्तिमान् उन अक्षरसमूहके सूक्ष्म विचारपूर्वक मिलनेके द्वारा अद्भुत दैवीशक्ति मंत्रमें प्रकाशित हो जाती है। इसके सिवाय जिस प्रकार शब्दप्रयोक्ताकी प्राणशक्ति और हार्दिक शक्तिके द्वारा शब्दमें अपूर्व शक्ति आ जाती है जिसके द्वारा श्रोताओंके ऊपर प्रभाव पड़ जाता है, उसी प्रकार साधकके अंतःकरणकी शुद्धशक्ति, भावशक्ति, प्राणशक्ति और संयमशक्तिके द्वारा मंत्र प्रयुक्त होनेपर उसमें असाधारण शक्ति बन जाती है जिससे वह मंत्र चाहे जहाँपर प्रयोग किया जाय ईप्सित फल प्रदान किये बिना नहीं रहता है; परंतु जिस प्रकार शब्दमें शक्ति होनेपर भी दुष्ट उच्चारण द्वारा

तथा प्राणहीन, हृदयहीन मनुष्यके द्वारा उच्चारित होनेसे एतादृश फल प्राप्ति नहीं होती है, ठीक उसी प्रकार मंत्र भी स्वरसे या वर्णसे ठीक-ठीक उच्चारित न होनेपर तथा मंत्रप्रयोग-कर्त्तामें प्राणशक्ति, संयमशक्ति और हार्दिकशक्तिकी हीनता होनेपर यथार्थ फलको नहीं दे सकता है। उल्लिखित किसी प्रकारका दोष यदि न हो और अन्तःकरणकी पूर्णशक्तिके साथ साध्य वस्तुको लक्ष्य करके प्रयुक्त हो तो अवश्य ही मन्त्र ईप्सित फलको उत्पन्न करेगा इसमें कोई सन्देह नहीं है। वर्त्तमान समयमें जो अनेक स्थलपर मन्त्र ठीक फल नहीं देता है इसके लिये ऊपर लिखित प्रयोग-दोष ही कारण है। जिस साधकने पुरश्चरण आदि प्रक्रिया द्वारा मन्त्रचैतन्य करके ठीक ठीक साधन किया है वह अवश्य ही मन्त्रशक्तिको अपने अनुकूल करके संसारमें असाधारण दैवी शक्तियोंको प्राप्त करेगा इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है। वह अपनी प्राणशक्तिके साथ मंत्रशक्तिका प्रयोग करके जो चाहे सो कर सकेगा। शास्त्रवर्णित सभी सिद्धियाँ इस तरहसे प्राप्त होती हैं। मन्त्रशक्तिके बलसे दैवजगत् पर प्रभाव डालकर तत्तत् प्रकृतिके अधिनायक देवताको इस प्रकारसे मन्त्रद्वारा वशीभूत किया जा सकता है और आसुर प्रकृतिपर विराजमान पिशाच, दैत्य, भूत, प्रेत, डाकिनी, शाकिनी आदि तामसिक शक्तियोंको भी इस प्रकारसे मन्त्रशक्तिके द्वारा साधक वशीभूत कर सकते हैं। यथा अथर्ववेद भूतयोनि सूक्त ८।६ में—

यौ ते मातोन्ममार्ज जातायाः पतिवेदनौ।
दुर्णामा तत्र मागृधदलिंश उत वत्सपः॥

हे बन्धु! तेरे जन्मसमयमें तेरी माताने जिन दुर्नाम अलिंश वत्सर नामक भूतोंको मन्त्रमार्जनसे भगाया था वे इस गर्भावस्थामें तेरे पास न आवें। सीमन्तोन्नयनमें इस मन्त्रका प्रयोग होता है। इसके सिवाय विविध प्रकारकी अस्त्रसिद्धि भी इस प्रकारसे मन्त्रशक्तिके द्वारा हो सकती है जैसा कि आर्यशास्त्रमें वर्णित किया गया है। रामायण और महाभारतमें जो दिव्यास्त्र, ब्रह्मास्त्र, पाशुपतास्त्र, आग्नेयास्त्र आदि अस्त्रोंके प्रयोगका प्रमाण मिलता है सो इसी प्रकारसे मन्त्रशक्तिके द्वारा सिद्ध अस्त्रसमूह हैं। मन्त्रसमूहको चैतन्य करके अपनी प्राण शक्तिके साथ शत्रु पर प्रयोग करनेसे प्राणशक्ति और मन्त्रशक्तिसे पूर्ण अस्त्रसमूह लक्ष्यस्थल पर जाकर अवश्य ही ईप्सित फल उत्पन्न करेंगे इसमें कोई भी सन्देह नहीं है। कोई कोई अर्वाचीन पुरुष अस्त्र सिद्धि पर इस तरह कटाक्ष करते हैं कि जब मन्त्रमें शक्ति है तो उच्चारण करने वालोकी जिह्वा क्यों नहीं जल जाती। उनके इस बालवत् प्रलाप पर धन्यवाद है? सामान्य दृष्टान्तके द्वारा समझ सकते हैं कि जिस प्रकार सूर्य्यकिरणमें दग्ध करनेकी शक्ति होने पर भी जहां-तहां वह शक्ति दग्ध नहीं कर सकती है, परन्तु आतशी

कांचके द्वारा आकृष्ट होकर जहाँ पर वह शक्ति केन्द्रीभूत (focus) की जाती है वहाँ पर ही वस्तुको दग्ध करती है, उसी प्रकार मंत्रमें शक्ति होने पर भी वह शक्ति मंत्रमें साधारण-रूपसे व्याप्त रहती है परन्तु जिस वस्तु पर लक्ष्य करके अंतःकरणकी एकाग्रता और प्राण-शक्तिके द्वारा वह मंत्र अस्त्रकी सहायतासे प्रयुक्त होता है वहीं जलाना, मार देना, मुग्ध कर देना, आदि अद्भुत क्रियाओंको कर सकता है। प्रत्येक मंत्रकी सिद्धि, साध्य वस्तु पर भावशक्तिके द्वारा केंद्रीकरण (focus) होनेसे तब हो सकती है, जहाँ तहाँ नहीं हो सकती है। जिस साधकके अंतःकरणमें भावशक्ति तथा प्राणशक्तिकी जितनी प्रबलता होगी, मंत्रोंके द्वारा अस्त्रप्रयोग मंत्रसाधन द्वारा आसुरी शक्ति तथा देवताओंका वशीकरण और श्रीभग-वान् तककी भी प्रसन्नता-प्राप्ति वह उतना ही कर सकेगा।

अब इन विषयों पर पश्चिमी विद्वानोंके किये हुये विचार उद्धृत किये जाते हैं—

"In Sanskrit, as well as in Hebrew and all other alphabets, every letter has its occult meaning and its rationale; it is a cause andian effect of a preceding cause, and a combination of these very often produces the most magical eflects. The VOWELS especially contain the most occult and magical potencies."

(H. P. B.—Secret Doctrine.)

It is true that when the number-mystic knows the vowels comprising your name centres, he knows not only your weak points, but understands as well your strength and possibilities, how you may unfold your inherent (though perhaps undreamed) talents, and how you may attune your life to rythmic vibration and at what periods of the day you are in harmony with the great Cosmic Color Currents sweeping the Earth's surface.

In reading music, the keynote governs the musical composition and in Number-Mysticism, the VOWELS are the keynotes determining the general trend of planetary influences operating thru the name. relating the individual to a definite Cosmic Color Current and indicating the time of day of his closest attunement with these mighty forces.

AII LOSS IS THE RESULT OF A SCATIERING CONSCIOUSNESS. AII GAIN is the result of ACCUMULATIVE CONSCINUSNESS—the focused, concentrated, one-pointed consciousness. It is thru employment of this metnod, concentrating his powers at his hour of perfect attunement; that man easily wins victories, develops that power or money consciousness and visuelizes, develops and meterialises the things of his desire on the material plane; but the second form is most desireable for those who would know more of the REAL SELF, who would establish UNION with that self. This latter form is the one employed by those who quickly develop clairsentience, who function consciously upon levels higher than the purely physical, who penetrate the interstellar spaces and who develop cosmic consciousness.

STELLAR-NUMEROLOGY.

(Artie Mae Blackburn, B. L.I.—Kalpaka 11–1924.)

मेडम् ब्लाभाटस्कीकी सम्मति है—

"संस्कृत तथा हिब्रु भाषामें प्रत्येक अक्षरके भीतर सूक्ष्म भावपूर्ण अर्थ होता है, वे किसी पूर्व कारणके कारण तथा फलस्वरूप भी होते हैं और इन अक्षरोंके युक्तिपूर्ण मिलनके द्वारा अनेक समय जादूकासा प्रभाव उत्पन्न हो जाता है। व्यञ्जनकी अपेक्षा स्वरवर्णकी सूक्ष्म शक्ति अधिक हुआ करती है।"

"संख्या रहस्यके जाननेवाले विद्वान्को यदि पता लग जाय कि तुम्हारे नाममें स्वरवर्ण कितने हैं तो वे तुम्हारी कमजोरीको भी जान जायँगे और यह भी उनको पता लग जायगा कि तुममें कौन-कौन खास शक्तियाँ हैं और व्यापक शक्तिके साथ दिनके किस-किस समय पर तुम्हारी नैसर्गिक एकता हो जाती है। जिसप्रकार सङ्गीतके कुछ शब्द ऐसे होते हैं जिन पर सारे संगीतका गाना निर्भर करता है, उसी प्रकार नाममें जो स्वरवर्ण होता है उस से ग्रहोंका प्रभाव तथा समष्टि शक्तिके साथ व्यक्तिगत शक्तिके सामञ्जस्यका भाव बना रहता है।"

"अपने भीतरकी सूक्ष्म शक्तिको चारों ओर बिखरी हुई रखनेसे ही सकल प्रकार हानि होती है और उसे सब ओरसे बटोर कर एक स्थान पर केंद्रीभूत करनेसे ही सकल प्रकार लाभ होता है। जो मनुष्य ऐसा कर सकता है उसके लिये संग्राममें विजयलाभ,

अर्थप्राप्ति, शक्तिलाभ, मनकी कामनाओंकी पूर्त्ति इत्यादि कोई भी वस्तु अलभ्य नहीं रह जाती है। इसके अतिरिक्त जो मनुष्य इस शक्तिकी सहायतासे अतींद्रिय परमात्माके राज्यमें पहुंचना चाहे उसके लिये भी यह बहुत ही सुगम उपाय है और इन प्रकार शक्तिके केंद्रीकारण द्वारा साधकके अंतःकरणमें असीमबलकी प्राप्ति तथा सर्वशक्तिमान् भगवान्की सान्निध्य-प्राप्ति अवश्य ही हो जाती है।"

(आर्टि मी ब्लाकबर्न—कल्पक ११-२४)

यही सब दिव्यनामरूपी मंत्रोंके गूढ़ रहस्यके विषयमें प्राचीन तथा आधुनिक वैज्ञानिक विचार है। मूर्त्तिकी तरह मंत्रके आश्रयसे साधना करते करते अंतमें मंत्र और देवताका भेद भूलकर साधक दैवीप्रकृति पर विराजमान इष्ट देवतामें अंतःकरणको अवलीन कर भावसमाधि लाभ करता है। जिस नाम और रूपके द्वारा जीव संसारमें बद्ध हो गया था उसी नाम और रूपके सुकौशल पूर्ण अवलम्बनसे जीव इस तरहसे नामरूपनिर्मुक्त ब्रह्म-पदको प्राप्त करता है। नामरूपमय मन्त्रयोगकी साधनाके द्वारा अन्तमें सविकल्प समाधिरूप महाभाव समाधिको प्राप्त करके साधक चिन्मय निराकार तथा निर्गुण ब्रह्मकी राजयोगोक्त साधनाका अधिकार लाभ करता है और गुरुमार्गप्रदर्शित नियमित षोडशाङ्कके साधनद्वारा अन्तमें निर्विकल्प समाधि पदवीको प्राप्त करके साधक मुक्त हो जाता है। यही सकल साधनाका अन्तिम फल है।

मूर्त्तिविषयक प्रमाण वैदिक वेद तथा वेदसम्मत शास्त्रोंमें मूर्त्तिपूजाके विषयमें अनेक प्रमाण मिलते हैं, जिनपर विचार करनेसे साकार मूर्त्तिके ऊपर किये हुए अर्वाचीन पुरुषोंके सभी कटाक्ष व्यर्थ जान पड़ते हैं। अब नीचे उदाहरणार्थ कुछ प्रमाण उद्धृत किये जाते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद्के चतुर्थ अध्यायके तृतीय ब्राह्मणमें लिखा है :—

द्वे वाव ब्राह्मणो रूपे मूर्त्तं चैवामूर्त्तञ्च, मर्त्यंचामृतं च, स्थितं च यत् च।

ब्रह्मके दो रूप हैं—एक मूर्त्त दूसरा अमूर्त्त; एक मर्त्य दूसरा अमृत, एक स्थिर दूसरा सचल।

उभयं वा एतत् प्रजापतिर्निरुक्तश्चानिरुक्तश्च परिमितश्चापरिमितश्च तद् यद् यजुषा करोति यदेवास्य निरुक्तं परिमितं रूपं तदस्य तेन संस्करोत्यथ यत्तुर्ष्णीं यदेवास्यानिरुक्तमपरिमितं रूपं तदस्य तेन संस्करोतीति ब्राह्मणम्।

शतपथ का० १४, अ० १, ब्रा० २, मं० १८।

परमेश्वर दो प्रकारका है, परिमित और अपरिमित, निरुक्त और अनिरुक्त, इस कारण जो यज्ञ उपासनादि कर्म यजुर्वेदके मन्त्रोंसे करता है, उसके द्वारा परमेश्वरके उस

रूपका संस्कार करता है, जो निरुक्त और परिमित है और जो तुष्णी अर्थात् सूक्ष्मचिन्ता-परायण है, वह उससे परमेश्वरके उस रूपका संस्कार करता है, जो अनिरुक्त और अपरिमित है। इस मन्त्रसे परमात्माके साकार निराकार दोनों रूप सिद्ध होते हैं। केनोपनिषद्के तृतीय खण्डमें लिखा है—

'स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमानामुमां हैवतीं तां होवाच'

इत्यादि।

देवराज इन्द्रने आकाशमें परमशोभामयी सुवर्णाङ्गी जगन्माता उमाको देखा और उनसे बात किया। इस मन्त्रसे देवी दुर्गाका साकाररूपमें दर्शन देना सिद्ध होता है।

कैवल्योपनिषद्के सातवें मन्त्रमें लिखा है—

ऊमासहायं परमेश्वरं प्रभुं त्रिलोचनं नीलकण्ठं प्रशान्तम्।
ध्यात्वा मुनिर्गच्छति भूतयोनिं समस्तसाक्षिं तमसं परस्तात्॥

देवी उमाके पति, त्रिलोचन, नीलकण्ठ, प्रशान्तमूर्त्ति परमेश्वर प्रभु शिवका ध्यान करते-करते मुनि मायासे परे परमात्मपदको पा लेते हैं। इसमें हरपार्वतीका सम्बन्ध तथा महादेवका साकाररूप बताया गया है। ऋग्वेदके ८।८।१३।३ में मन्त्र है, यथा—

अदो यद्दारुः प्लवते सिन्धोः पारे अपूरुषम्।
तदारभस्य दुर्हणस्तेन गच्छ परस्तरम्॥

वह जो समुद्र तटपर अलौकिक दारु अर्थात् काष्ठमूर्त्ति जगन्नाथजीकी है, दुर्हण अर्थात् कठिनतासे पाने योग्य उस मूर्त्तिकी उपासना करनेपर परमपद प्राप्त होता है। वेदमें 'प्रतिमा' शब्द कहीं देवप्रतिमा या ईश्वरप्रतिमा अर्थमें और 'उपमा' अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। यथा—कृष्णयजुर्वेद तैत्तिरीयारण्यक ४ प्रपाठक ५ अनुवाकमें—

'मा असि प्रमा असि प्रतिमा असि'

यहाँ महावीरकी ईश्वरको प्रतिमा करके वर्णन किया गया है।

'सहस्रस्य प्रतिमा असि'—अ० १५।६५

यहां भी परमात्माको सहस्रोंकी प्रतिमा कहा गया है। शतपथ ११।१।८।३ में है—

"अथैतमात्मनः प्रतिमामसृजत यद् यज्ञं तस्मादाहुः प्रजापतिर्यज्ञ इत्यात्मने ह्येतं प्रतिमामसृजत।"

ईश्वरने अपनी प्रतिमा यज्ञनामको उत्पन्न किया, इसलिये कहा जाता है कि, ईश्वर यज्ञरूप है।

'न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद् यशः' यजु० अ० ३४ मन्त्र ४३

जिस परमात्माका नाम और यश महत् है उसकी 'उपमा' किसीके साथ नहीं हो सकती है। इस मन्त्रमें प्रतिमाका अर्थ उपमा है मूर्ति नहीं है। इसको न समझकर अर्वाचीन जनोंने जो इस मन्त्रमें प्रतिमाका निषेध समझा है यह उनकी पूरी भूल है। वहाँ प्रकरण देखनेपर भी यही निश्चय होता है। इसी प्रकार—

यद्वाचा नाभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥

इत्यादि केनोपनिषद्के मन्त्रोंमें जो उपासनाका निषेध किया गया है वह निर्गुण ब्रह्मके लिये है, सगुण ब्रह्म ईश्वरके लिये नहीं है, क्योंकि मनवाणी प्रकृतिसे परे निर्गुण अद्वैत ब्रह्म उपास्य-उपासकरूपी द्वैतभावके द्वारा प्राप्त नहीं हो सकता है। यही इन मन्त्रोंका तात्पर्य है। अतः इसमें भी अर्वाचीन पुरुषोंने भूल की है। ऋग्वेद, अ. ८, अ. ७, व. १८, मं. ३ में लिखा है—

'कासीत् प्रमा प्रतिमा किं निदानमाज्यं किमासीत्' इत्यादि।

यथार्थ ज्ञान कौन है, प्रतिमा कौन है, निखिल जगत्का निदान कौन है और घृतके समान सार वस्तु कौन है ? इसमें भी प्रतिमाका अर्थ 'ईश्वरमूर्ति' है। यजु. अ. १५, मं. ५४ में लिखा है—

उद्बुध्यस्वाग्ने प्रतिजागृहि त्वं इष्टापूर्त्ते संसृजेथामयञ्च'

हे अग्ने ! तुम सावधान तथा जागृत हो, इस यजमानको भी इष्ट तथा पूर्त्त कर्ममें प्रवृत्त करो। स्मृतिशास्त्रमें इष्ट और पूर्त्त कर्मके निम्नलिखित लक्षण लिखे हैं—

अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानामुपलम्भनम्।
आतिथ्यं वैश्वदेवं च इष्टमित्यभिधीयते॥
वापीकूपतडागादि देवतायतनानि च।
अन्नप्रदानमारामः पूर्त्तमित्यभिधीयते॥ (अत्रिस्मृति ४४-४५)

अग्निहोत्र, तप, सत्य, वेदपाठ, आतिथ्य और वैश्वदेव कर्म इष्ट कहाता है। लोकहितार्थ बावड़ी, कूँआ, तालाब, देवमन्दिर, अन्नदान और बगीचे लगा देनेको पूर्त्त कर्म कहते हैं। अतः देवमन्दिर बनाना वेदसम्मत सिद्ध हुआ। शतपथ ब्राह्मणमें लिखा है—

अथ मृत्पिण्डमुपादाय महावीरं करोति—१४-१-२-१७
अथैनान् धूपयति—१४-१-२-२०
मुखमेवास्मिन्नेतद्दधाति—१४-३-२-१७
नासिके एवास्मिन्नेतद्दधाति—ब्रा. श. १७
अक्षिणी एवास्मिन्नेतद्दधाति—ब्रा. १७

इन मन्त्रोंमें मिट्टीसे महावीरकी मूर्त्ति बनानी तथा उसमें मुख, नाक आदिका स्थापन करना लिखा है। ऐसे-ऐसे वैदिक प्रमाणोंके होते हुए भी मूर्त्तिपूजाका खण्डन करना केवल दुराग्रह मात्र है।

नाम माहात्म्य : अर्वाचीन पुरुषोंने मूर्त्तिकी तरह नामकी भी निन्दा की है, किन्तु वेदादि शास्त्रोंमें नामकी महिमा बहुत कुछ बताई गई है। ऋग्वेदमें सू. २४ मं० १ में लिखा है—

'कतमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम'

नाशरहित परमात्माके सुन्दर नाम हम लेते हैं।

'यस्य नाम महद् यशः' यजु. ३२-३.

जिनका नाम तथा यश महत् है। छान्दोग्योपनिषद्में लिखा है—

नाम उपास्व, स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते····अस्य कामचारो भवति।

नामकी उपासना करनी चाहिये, नामरूपी ब्रह्मकी जो उपासना करता है वह सर्वत्र इच्छानुसार भ्रमण कर सकता है, जैसा कि देवर्षि नारद करते थे। गीतामें भी लिखा है—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्॥

एकाक्षर ब्रह्मरूपी 'ॐ' मन्त्रका उच्चारण तथा परमात्माका स्मरण करते-करते प्राण छोड़नेपर परम गति प्राप्त होती है। नाम-नामीका परस्पर सम्बन्ध रहनेसे प्रेमके साथ नाम तथा मन्त्रद्वारा भगवान्को पुकारनेसे भगवान्की कृपा होती है और इसी परमकृपाको पाकर साधक अनायास ही संसारसिन्धु पार कर जाता है।

—☆—

मुद्रक—जय भारत प्रेस, नीसफाटक (फूल बाजार) वाराणसी

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित

गीतार्थ चन्द्रिका

धर्मविज्ञानके रचयिता श्रीस्वामीजीकी विद्वत्ता किसीसे छिपी नहीं। उन्होंने बहुत ही परिश्रम करके श्रीमद्भगवद्गीतापर यह अपूर्व टीका लिखी है। केवल हिन्दी भाषाके जाननेवाले भी इसकेद्वारा गीताके गूढ़ रहस्यको जान सकें, इसी लक्ष्यसे यह टीका लिखी गयी है। इसमें मूल श्लोक, श्लोकके प्रत्येक शब्दका हिन्दी अनुवाद, समस्त श्लोकका सरल अर्थ और अन्तमें एक अति मधुर चन्द्रिकाद्वारा श्लोकका गूढ़ तात्पर्य बतलाया गया है। इस चन्द्रिकामें किसीका पक्ष न लेकर कर्म, उपासना और ज्ञान तीनोंका समन्वय किया गया है। भाषा सरल और सारगर्भित है। इस ग्रन्थके पाठ करनेसे गीताके विषयमें कुछ भी जाननेको बाकी नहीं रह जाता। हिन्दी में गीताकी ऐसी अपूर्व टीका अबतक नहीं निकली है। मूल्य २।) है।

भारतवर्षका इतिवृत्त

प्राचीन भारतका यह अपूर्व इतिहास है। इसमें ब्रह्माण्डकी सृष्टिसे लेकर महाभारत युद्धके पूर्व पर्यन्त प्राचीन भारतके सम्बन्धमें जानने योग्य सभी विषय शास्त्र और युक्तिसे प्रतिपादित किये गये हैं। सूचीके कुछ विषय यह हैं—ब्रह्माण्ड और भारतवर्ष, ब्रह्माण्डका मानचित्र, जगद्गुरु भारतद्वीप, सृष्टिप्रकरण और कालचक्र, मनुष्यसृष्टिका आदिस्थान और वर्णाश्रमबन्ध, भारतद्वीपका सामाजिक संगठन, वेद और शास्त्रका अनादित्व, भारतद्वीपका धर्म और उसकी ज्ञानगरिमा, राजानुशासन विज्ञान, प्राचीन भारतद्वीपकी शिक्षाप्रणाली रामायण और महाभारतका आधुनिक रिसर्च-स्कालर लोग हमारे प्राचीन भारतके विषयमें अर्थका जो अनर्थ कर डालते हैं, उसका उत्तम समाधान इस पुस्तकमें किया गया है। वर्तमान हिन्दी साहित्य और आधुनिक ऐतिहासिक गवेषणा शैलीमें यह ग्रन्थ युगान्तर उपस्थित करेगा। मूल्य ३)

संन्यासधर्मपद्धतिः

यह पुस्तक संस्कृतमें है। संन्यासियोंकेलिये यह पुस्तक परमोपयोगी है। अनेक धार्मिक अनुष्ठानोंका विस्तृत विवरण रहनेसे यह पुस्तक विद्वानोंके भी मनन करने-योग्य है। मूल्य १।।)

मिलनेका पता—

श्रीभारतधर्ममहामण्डल,

लहुराबीर, वाराणसी

जय भारत प्रेस, (फूल बाजार) बाँसफाटक, वाराणसी